प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

सन् १९५८ : संवत् २०१५ : शाक १८७९

द्वितीय वार

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत



अथर्ववेदके सुभाषित

वेदमंत्रोंमें सुभाषित यह उनका मुख्य भाग, मुख्य आत्मा ही है। ये सुभाषित वारंवार मनन करनेके योग्य होते हैं, व्यक्तिशः अथवा संघशः पुनः पुनः जपने योग्य होते हैं। इनके ध्यानमें धरनेसे वेदमंत्रोंको ध्यानमें धारण करनेका फल प्राप्त हो सकता है। वेदमंत्रोंमें जो ध्यानमें धरने योग्य भाग होता है, वेही "वैदिक सूक्तियां" हैं। वेदमंत्रोंका भाव मनमें धारण करना, वाणीसे उसका वारंवार उच्चार करना, मनसे उसका वारंवार मनन करना और अन्तमें उसको अपने आचरणमें धारण करना आवश्यक है। इससे मानवोंके आचरणमें वेद आ सकते हैं। ऐसे वेद आचरणमें आ गये, तो मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। यह होनेके लिये वैदिक सूक्तियोंका संग्रह विषयानुसार अर्थके साथ देना चाहिये। यही प्रयत्न यहां किया है। इस अथर्ववेदके द्वितीय विभागके ये सुभाषित अब देखिये—

सर्वसाक्षी प्रभु

बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति (४।१६।१)— इन सबका एक बडा अधिष्ठाता है जो समीपसे सबको देखता है।

यस्तायन् मन्यते चरन्— जो फैला है और सर्वत्र विचरता है, वह सब जानता है।

सर्वं देवा इदं विदुः— ज्ञानी इस सबको जानते हैं।

यस्तिष्ठति, चरति, यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति, यः प्रतङ्कं, द्वौ संनिपद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः (४।१६।२) — जो ठहरता है, जो चलता है, जो ठगाता है, जो गुप्त व्यवहार करता है, अथवा जो खुला व्यवहार करता है, दो जन साथ बैठकर जो गुप्त मंत्रणा करते हैं, उस सबको तीसरा वरुण राजा- सबका प्रभु- जानता है।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः (४।१६।३)— यह भूमि इस वरुण राजाकी है।

उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्तः— और यह दूर अन्तर पर दीखनेवाला द्युलोक भी उसीका है।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी— और ये दोनों समुद्र वरुणकी कोखें हैं।

उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः— इस थोडेसे जलमें भी वह प्रभु लीन हुआ है।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात् न मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः (४।१६।४) — जो द्युलोकके परे भी चला जाय तो भी वह इस प्रभुके शासनसे छूट नहीं सकता।

दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिं— इस दिव्य देवके दूत इस जगत्में संचार करते हैं वे सहस्र आंखोंसे इस भूमिको देखते हैं।

सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (४।१६।५) — वह राजा वरुण वह सब देखता है जो इस द्यावापृथिवीके अन्दर और परे है।

संख्याता अस्य निमिषो जनानां, अक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि— सब मनुष्योंकी पलकोंकी झपकोंको भी उसने गिना है जिस तरह जुआडी पासोंको गिनता है।

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः । छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं, यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु (४।१६।६) — हे वरुण देव ! तेरे जो पाश सात सात तीन प्रकारसे रहे हैं वे तेजस्वी पाश असत्य बोलनेवालेको छिन्न-भिन्न करें । पर जो सत्यवादी है उसको वह छोड दें ।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः (४।१६।७)- सैकडों पाशोंसे हे वरुण ! तू इस पापीको बांध ले । हे मानवोंको देखनेवाले प्रभो ! असत्यभाषी तेरेसे न छूटे ।

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते विशोविशः प्रविशिवांसं ईमहे स नो मुञ्चत्वंहसः । (४।२३।१) — जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस पञ्चजनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी, प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवाले (प्रभु) का हम मनन करते हैं, वह हमें पापसे बचावे ।

देवेभ्यः सुमतिं न आवह— देवोंसे उत्तम मति हमें प्राप्त हो ।

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा (४।२३।५)— जिसके साथ रहनेसे ऋषि बलको प्राप्त करते रहे ।

येनासुराणामयुवन्त मायाः— जिसकी सहायतासे असुरोंकी कपट युक्तियां दूर होती हैं ।

येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय— जिस तेजस्वीकी सहायतासे इन्द्रने पणियोंको जीता । पणिः- व्यापार व्यवहार कपटसे करनेवाले ।

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् (४।२३।६)— जिसकी सहायतासे देवोंने अमृतत्वको प्राप्त किया था ।

येन देवाः स्वराभरन्— जिसकी सहायतासे देवोंने आत्मिक बल प्राप्त किया ।

य उग्रबाहुः उग्राणां ययुः, यो दानवानां बलमारुरोज (४।२४।१)— जो वीरोंमें अधिक वीर्यबाहु है और जो दानवोंके बलको तोडता है ।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः (४।२४।६)—जो प्रथम कर्म करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है ।

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी (४।२४।७)— जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंको युद्धमें ले जाता है ।

तव व्रते निविशन्ते जनासः (४।२५।१)— तेरे व्रतमें सब लोग रहते हैं ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने (४।२६।६)— द्यु और पृथिवी मुझे सुख देनेवाली हों ।

सर्वसाक्षी प्रभुका वर्णन ये सुभाषित कर रहे हैं । ऐसे सुभाषित और भी हैं, पर यहां नमूनेके लिये इतने ही दिये हैं । इनको तोडकर छोटे-छोटे सुभाषित भी बना सकते हैं ।

बृहन्नेषां अधिष्ठाता— इन सबका महान् एक अधिष्ठाता है ।

अन्तिकादिव पश्यति— वह सबको अति समीपसे देखता है ।

राजा तद्वेद वरुणः— वरुण राजा वह सब जानता है ।

भूमिर्वरुणस्य राज्ञः— यह भूमि वरुण राजाकी है ।

न मुच्याते वरुणस्य राज्ञः— राजा वरुणके पाशसे कोई छूटता नहीं ।

दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य— इस दिव्य देवके दूत सर्वत्र संचरते हैं ।

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे— वह राजा वरुण सब देखता है ।

ते पाशा ... छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं— तेरे पाश असत्य भाषीको छिन्न भिन्न करें ।

मा ते मोच्यनृतवाङ्— असत्य भाषी तेरे से न छूटे ।

विशोविशः प्रविशिवांसं ईमहे— प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवालेका मनन हम करते हैं ।

यो दानवानां बलमारुरोज— जो प्रभु असुरोंका बल तोडता है ।

यः प्रथमः— जो सबसे प्रथम हुआ था ।

इस तरह बडे सूक्तवचनोंमें छोटे सूक्तवचन रहते हैं । ये सूक्तियां वारंवार मनन करने तथा मनमें रखने योग्य हैं । इसका जो बोध है वह जहांतक हो सके वहांतक मानवोंको आचरणमें लाना आवश्यक है । और देखिये—

ब्रह्म

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् (४।१।१)— सबसे प्रथम ब्रह्म प्रकट हुआ ।

वि सीमतः सुरुचो वेन आवः (४।१।१)- उस (ब्रह्म) की सीमासे उत्तम प्रकाश फैला है ऐसा ज्ञानीने देखा ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः- (४।१।१) उस (ज्ञानी) ने इस प्रज्ञके आधारस्थानमें उपमा देने योग्य (सूर्यादिकोंको) देखा (और ये सूर्यादिक गोल हैं) ऐसा जाना।

सतश्च योनिं असतश्च वि वः (४।१।१)— उसने सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको विशद किया।

इयं पित्र्या राष्ट्री एत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः (४।१।२)— यह भुवनमें रहनेवाली तेजस्वी पितृशक्ति प्रथम जन्मके लिये आगे बढती है।

तस्मा एतं सुरुचं व्हारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे— उस पहिले सर्वाधारके लिये इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबानेवाले, हीनत्वसे रहित यज्ञको करें। उसकी प्रीतिके लिये प्रशस्ततम कर्म करें।

प्र यो जज्ञे विद्वान् अस्य बन्धुः विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति (४।१।३)— जो विद्वान् इसका भाई होता है वह सब देवोंके जन्मोंका वर्णन करता है।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यात्— ब्रह्मके मध्यसे ज्ञान प्रकट हुआ।

नीचैः उच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ— नीचेसे, उच्च भागसे अपनी धारणशक्तियां फैल रही हैं।

स हि दिवः स पृथिव्याः ऋतस्थाः (४।१।४)— वह (प्रभु) द्युलोक और वही पृथिवीके ऊपर सत्य नियमोंका प्रवर्तक है।

मही क्षेम रोदसी अस्कभायत्— उसीने आकाश और पृथिवीरूपी घर स्थिर किया।

महान् मही अस्कभायत् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः— उस महान् (प्रभुने) द्युलोक और पृथिवीको-अन्तरिक्षको-घरके समान सुस्थिर किया।

बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् (४।१।५)— ज्ञानका स्वामी प्रभु इस सबका सम्राट् है।

द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः— तेजस्वी ज्ञानी उत्तम रीतिसे यहां रहते हैं।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम (४।१।६)— इस प्राचीन महान् प्रभुके धामका वर्णन ज्ञानी ही करता है।

एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु— यह बहुतोंके साथ उत्पन्न हुआ, (पर यह विशेष ज्ञानी हुआ) और बाकीके लोग आधे आकाशमें सूर्य आनेपर भी सोते रहे। (इस कारण वे उन्नत नहीं हुए।)

यो अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव गच्छात्— (४।१।७) जो स्थिर पिता देवोंके बन्धु ज्ञानी प्रभुको नमस्कार करके उसको ठीक तरह जानता है।

त्वं विश्वेषां जनिता असः— ' हे प्रभो ! तू सबका जनक हो ' (ऐसा जानता है।)

कविर्देवो न दभायत् स्वधावान्— (उस ज्ञानीको) अपनी धारण शक्तिवाला देव कभी दबाता नहीं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (४।२।१)-जो आत्मिक सामर्थ्य और बल देता है, और सब देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं (ऐसा एक देव है।)

योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक स्वामी है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वा एको राजा जगतो बभूव— (४।२।२)- जो प्राण धारण करनेवाले और आंखें मूंदनेवाले जगत्का एकमात्र राजा है।

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः— जिसके आश्रयमें रहना अमरत्व प्राप्त करना है, और (जिसका आश्रय छोडना) मृत्यु प्राप्त करना है (वह जगत्का एक राजा है।)

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने (४।२।३)— लडने भिडनेवाली दो सेनाएं जिसकी शरण जाकर संरक्षण प्राप्त करती है।

भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्— डरनेवाले आकाश और पृथिवी सहायार्थ जिसको पुकारते हैं।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः— जिसकी प्राप्तिका यह रजोलोकका मार्ग विशेष माननीय है।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वन्तरिक्षम्। यस्यासौ सूरो विततो महित्वा (४।२।४)— जिसकी महिमासे यह द्युलोक बडा है, यह विस्तृत

अन्तरिक्ष है और यह पृथिवी विशाल है। जिसने यह बडा सूर्य प्रकाशसे फैलाया है।

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा—(४।२।५)- जिसकी महिमासे यह हिमवान् पर्वत खडे हैं।

समुद्रे यस्य रसामिदाहुः— समुद्रमें यह पृथिवी रही है (यह जिसके सामर्थ्यसे हुआ है।)

इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहु— यह दिशा उपदिशाएं जिसके बाहु हैं।

यासु देवीष्वधि देव आसीत् (४।२।६)— जिन सब दैवी शक्तियोंपर एक अधिष्ठाता यह देव है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे (४।२।७)— प्रारंभमें सुवर्णके समान चमकनेवाले पदार्थोंको अपने पेटमें धारण करनेवाला (एक देव था।)

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्— वह भूतमात्रका एकमात्र स्वामी था।

स दाधार पृथिवीमुत द्याम्— (४।२।७)- उसी एक देवने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया है।

एक देव सब विश्वका कर्ता, धर्ता, उत्पत्ति कर्ता, पालन कर्ता धारण-पोषण कर्ता है, उसीको शरण जाना योग्य है। वही प्रभु सबका पालन करता है और शासन करता है। इसलिये वही एक प्रभु सर्वाधार है। उसीकी भक्ति सबको करनी चाहिये।

श्रेष्ठ देव

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो यज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः (५।२।१)— वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, जहांसे उग्र तेजोबल प्रकट हुआ।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्— वह तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंको दूर करता है।

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुः दासाय भियसं दधाति (५।२।२)— बलसे बढनेवाला बहुत सामर्थ्यवान् शत्रु दासको ही भय दिखाता है। (वह श्रेष्ठको भय नहीं दिखा सकता।)

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः (५।२।४)— प्रत्येक युद्धमें धनोंको जीतनेवाले तुझको ज्ञानी अनुमोदन करते हैं।

ओजीयः शुष्मिन् स्थिरमातनुष्व— हे बलवान् वीर! स्थिर बल फैलाओ।

मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः— दुराचारी शोक करनेवाले शत्रु तुझे न दबावें।

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि (५।२।५)— युद्धमें प्राप्त होनेवाले बहुत धनोंको देखते हुए तेरे साथ हम रणोंमें रहकर शत्रुका नाश करेंगे।

चोदयामि त आयुधा वचोभिः— तेरे आयुधोंको वचनोंसे मैं प्रेरित करता हूं।

सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि— तेरी गतियोंको मैं ज्ञानसे प्रेरित करता हूं।

महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा (५।२।८)— बडे गो-रक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर यह रहता है।

तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान्— वेगवान् तपस्वी देव विश्वमें भ्रमण करता है। (विश्वको देखता है।)

श्रेष्ठ देवका यह वर्णन है। विश्वमें श्रेष्ठ देव एक ही है उसको ब्रह्म, आत्मा, देव, राजा आदि नामोंसे पुकारते हैं। इसका सामर्थ्य जानना चाहिये। इसका मनन करना चाहिये और इसके गुण सदा मनमें रखने चाहिये। यही सबका राजा है।

राजा

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव (४।८।१)— जो प्रजाजनोंको दुग्धादि (खाद्यपेय) देता है वह सब प्रजाजनोंका अधिपति होता है।

स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्— वह राजा राज्यकी अनुमतिसे चले।

अभिप्रेहि, माप वेन उग्रश्चेता सपत्नहा (४।८।२)— आगे बढ, पीछे न हट, प्रतापी, चेतना देनेवाला और शत्रुनाशक बन।

आतिष्ठ मित्रवर्धन— हे मित्रोंको बढानेवाले राजन्! तू अपने स्थानपर स्थिर रह।

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन्- (४।८।३)— राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें।

श्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः— लक्ष्मीको वह (राजा) धारण करता है और स्वकीय तेजसे युक्त होकर (अपने राज्यमें) घूमता है।

महत्तद् वृष्णो असुरस्य नाम— उस बलवान् प्राणरक्षकका ही यह यश है।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ— अनेक रूपोंको धारण करके यह अनेक अमरभावोंमें रहता है।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः— (४।८।४) – व्याघ्रके समान क्रूर स्वभाववाले दुष्टोंपर व्याघ्र बनकर विशाल दिशाओंमें विशेष पराक्रम कर।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजाएं तुझे चाहें।

यथा सो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् (४।८।६) — जिससे तू मित्रोंको बढानेवाला हो सकेगा वैसा तुझे सूर्य करे।

आ त्वा हार्षमन्तरभूः ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः (६।८७।१) — तुझे मैंने यहां राजगद्दीपर लाया है, तू यहां स्थिर रह, चंचल मत् बन।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजा तेरी ही इच्छा करे।

मा त्वत् राष्ट्रमधि भ्रशत्— तुझसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो।

इहैवैधि, मापच्योष्ठाः- (६।८७।२)—यहां आ, कभी मत गिर जा।

पर्वत इवाविचाचलिः— पर्वतके समान स्थिर रह।

इह राष्ट्रमु धारय— यहां राष्ट्रका धारण कर।

ध्रुवो राजा विशामयं— प्रजाओंका यह राजा स्थिर है।

राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्— राष्ट्रको स्थिर रूपसे धारण करो।

ध्रुवो अच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्— स्थिर और न गिरनेवाला होकर शत्रुओंका नाश कर।

शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व (६।८८।३) — शत्रुता करनेवालोंको नीचे गिरा दे।

ध्रुवाय ते समितिः कल्पयतामिह— तेरी स्थिरताके लिये यहां यह समिति समर्थ हो।

प्रभु विश्वका राजा है। और पृथ्वीपरके छोटे राज्यका शासक है। इन दोनोंमें समान गुण चाहिये।

विश्वशकटका चालक

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्, अनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम् (४।११।१)— पृथिवी, द्यु और यह विशाल अन्तरिक्षको आधार देनेवाला एक बैल (सामर्थ्यवान् प्रभु) है। (अनड्वान्- विश्वशकट चलानेवाला, विश्वका संचालक।)

अनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश— यह विश्वसंचालक सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है।

भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि (४।११।२)— भूत, भविष्य और वर्तमान कालके पदार्थोंको दुहता है और सब देवोंके व्रतोंको चलाता है।

यः विश्वजित् विश्वभृत् विश्वकर्मा (४।११।५)— जो विश्वको जीतनेवाला, विश्वका भरणपोषण करनेवाला और सबका कर्ता है।

इन्द्रो रूपेणाग्निः वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् (४।११।७)— विश्वका स्वामी अग्नि है, वही प्रजापालक, परमस्थानमें रहनेवाला विराट् है। अग्निः- अग्रणी।

सोऽदृंहयत सोऽधारयत— उसने सबको बलवान् बनाया और धारण किया है।

संपूर्ण विश्व एक गाडी है, रथ है, उसका संचालन करनेवाला बैल या घोडा है। वही प्रभु है। विश्वका संचालन इससे अधिक उत्तम रीतिसे करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। यहां बैलकी उपमा ईश्वरको दी है वह उसका संचालक विश्वंभर है यह बतानेके लिये यह उत्तम उपमा है।

जनक देव

सो अपश्यज्जनितारमग्रे (४।१४।१) प्रारंभमें उसने सबके उत्पन्नकर्ता देवको देखा।

स्वर्ज्योतिरगामहम् (४।१४।३)- मैं आत्मिक ज्योतिको प्राप्त हुआ हूं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्। (४।१४।५)— हे अग्ने! तू देवोंमें प्रथम है, तू देवोंका और मानवोंका आंख है।

सबका उत्पन्नकर्ता वह एक प्रभु है। सब देवोंमें वह प्रथम है। वह एक ही एक है, वह अद्वितीय है। इस विश्वका जनिता एक ही है क्योंकि सर्वत्र एक जैसा नियम है, सर्वत्र संचालनकी व्यवस्था एक ही है। उत्पत्ति स्थिति लयमें एक ही नियम सर्वत्र है। यह एक नियम जिन ऋषियोंने देखा

वे उसका वर्णन करने लगे कि वह एक अद्वितीय है। सर्वत्र यह एक नियम देखा जा रहा है। इस नियमको देखना और उस नियमके संचालकका सामर्थ्य जानना अत्यावश्यक है।

क्षत्रिय-राजा

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं मे (४।२२।१)— हे इन्द्र! मेरे इस क्षत्रियको बढाओ।

इयं विशामेकवृषं कृणु त्वं— प्रजाओंमें इसको अद्वितीय बलवान् कर।

निरमित्रान् अक्ष्णुह्यस्य सर्वान्— इस वीरके सब शत्रुओंको शत्रुताहीन कर।

तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु— स्पर्धाओंमें इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

वर्ष्म क्षत्राणां अयमस्तु राजा (४।२२।२)— यह राजा क्षात्र गुणोंकी मूर्ति बने।

शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै— इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

अयमस्तु धनपतिर्धनानां— (४।२२।३) यह सब धनोंका स्वामी हो।

अयं विशां विश्पतिरस्तु राजा— यह प्रजाओंका पालक राजा हो।

अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेहि—हे इन्द्र! इस राजामें बडे तेजोंको स्थापन कर।

अवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य— इसके शत्रुको निस्तेज कर।

अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् (४।२२।४)— यह राजा प्रभुको प्रिय हो।

येन जयन्ति न पराजयन्ते— (४।२२।५)— जिससे जय होता है और कभी पराजय नहीं होता (वह ज्ञान मैं तुम्हें देता हूं।)

यस्त्वा करदेकवृषं जनानां उत राज्ञामुत्तमं मानवानां— जो तुम्हें जनोंमें अद्वितीय बलवान्, राजाओंमें उत्तम तथा मानवोंमें श्रेष्ठ बनाता है।

उत्तरस्त्वं अधरे ते सपत्नाः ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते (४।२२।६)— तू ऊंचा हो, तेरे शत्रु नीचे हों, हे राजन्! तेरे शत्रु अधःपातको जांय।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वाः- (४।२२।७) सिंहके समान सब प्रजाओंसे भोग ग्रहण कर।

व्याघ्रप्रतीको अव बाधस्व शत्रून्— व्याघ्रके समान शत्रुको बाधा पहुंचाओ।

जिगीवां शत्रूयतामाखिदा भोजनानि— विजयी होकर शत्रुता करनेवालोंके भोग खींच ले आओ।

इस तरह क्षत्रिय राजा क्या करे, कैसा उन्नत हो, किस रीतिसे विजयको प्राप्त हो इस विषयमें वेदमंत्रोंमें सुभाषितों द्वारा उपदेश मिलता है। मनुष्य अपनेमें वीरता बढावे, शत्रुको दूर करे, यश कमावे और वंदनीय बने। सब लोग इसकी प्रशंसा करें ऐसा यह वीर अपना बर्ताव रखे।

शत्रु

हिरुङ् नमन्तु शत्रवः (४।३।१)— हमारे शत्रु नीचे रहकर नम्र हों।

परेणैतु पथा वृकः (४।३।२)— हमसे दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे (वह हमारे पास न आवे)।

परेणेत तस्करः— चोर हमसे दूर रहे।

परेण दत्वती रज्जुः— दांतवाली सांपीन हमसे दूर हो।

परेणाघायुरर्षतु— पापी हमसे दूर रहे।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि (४।३।४)— दांतवालोंमें हम पहिले व्याघ्रको नष्ट करते हैं।

आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम्—चोर, सांप, भेडिये और यातना देनेवालेको हम नष्ट करते हैं।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति— (४।३।५) आज जो चोर हमारे पास आता है, वह चूर्ण होकर दूर जाता है (इतनी स्वसंरक्षणकी) हमारी तैयारी है।

पथापध्वंसनेनैतु— (वह चोर आदि) विनाशके मार्गसे चला जाय।

इन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्— इन्द्र वज्रसे शत्रुको मारे।

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते, सर्वं तं रंधयामसि (६।६।१)— हे ज्ञानी देव! जो दुष्ट हमें अभिमानसे नीचे देखता है उस सबका हम नाश करते हैं।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर (६।६।३)— जो सजातीय अथवा नीच हमें दास बनानेकी इच्छा करता है उसके बलको नीचे कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति, वज्रेणास्य मुखे जहि (६।६।२)— हम उत्तम बोलनेपर भी जो दुष्ट हमें पराधीन करना चाहता है, उसके मुखपर वज्रका आघात कर।

पराशर ! त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दय (६।६५।१)— हे दूरसे बाण मारनेवाले वीर ! तू उन शत्रुओंके बलको दूर करके नाश कर।

अधा नो रयिमा भर— और हमें धन भर दो।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थन (६।६६।२)— शत्रु हस्तरहित हों।

अङ्गेषां ग्लापयामसि (६।६६।३)— हम इनके अंगोंको निर्बल बनाते हैं।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो विभजामहै— हे इन्द्र ! अब हम इनके धनोंको आपसमें बांट देंगे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् (६।६७।१) —शत्रुकी सेना दूरतक घबरा जाय।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः (६।६७।२)- सिर टूटे सांपके समान शत्रु मूढ होकर विचरें।

तेषां वो अग्निमूढानां इन्द्रो हन्तु वरं वरं— उन मूढ बने वीरोंके श्रेष्ठ श्रेष्ठ वीरको इन्द्र मारे।

इस तरह युक्तिसे शत्रुका पराभव किया जाय और अपने जयका संपादन किया जाय।

आत्मबल

सूर्यो मे चक्षुः, वातः प्राणो, अन्तरिक्षमात्मा, पृथिवी शरीरं, अस्तृतो नामाहमयमस्मि (५।९।७)— सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा है, पृथिवी शरीर है, अमर नामवाला मैं हूं।

सत्यमहं गभीरः काव्येन, सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः (५।११।३)— मैं काव्य बनानेके कारण गंभीर हूं यह सत्य है, यह काव्य होनेसे मुझे जातवेदा कहते हैं।

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये— जो व्रत मैं धारण करता हूं उसको महत्वके कारण न दास तोड सकता, न आर्य तोड सकता है।

न त्वदन्यः कवितरो, न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावान् (५।११।४)— हे वरुण ! तेरेसे भिन्न कोई दूसरा अधिक ज्ञानी नहीं है, न मेधासे अधिक धीर और अपनी धारणशक्तिसे युक्त है।

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ- तू उन सब भुवनोंको जानता है।

स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय- कपटी मनुष्य तुझसे डरता है।

त्वं ··· विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते— तू सब जन्मोंको जानता है।

अधोवचसः पणयो भवन्तु (५।११।६)— दुष्ट व्यवहार करनेवाले बनिये नीच मुख करनेवाले हों।

नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिं— दास लोग नीचेसे भूमिपर चलें।

आत्माका बल इन सूक्तियोंके मननसे बढ सकता है। पाठक इस कारण इनका मनन करें।

आत्मोन्नति

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः, तासामिदेकां अभ्यंहुरो गात् (५।१।६)— ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। इनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया जाय तो मनुष्य पापी होगा।

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन् (५।१।७)— व्रतका धारण करके मैं अमर प्राणके बलसे युक्त होऊंगा।

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे (५।१।८)— पुत्र अपने रक्षक पिताकी स्तुति करता है।

ज्येष्ठं मर्यादं अह्वयन्त्स्वस्तये— मर्यादाकी स्थापना करनेवाले श्रेष्ठका कल्याण होनेके लिये प्रार्थना करता है।

सात मर्यादाओंका पालन करना आत्मोन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह जितना पालन किया जाय उतना लाभ होगा। हिंसा न करना, चोरी न करना, कुटिलतासे दूर रहना, व्यभिचार न करना, असत्य न बोलना, वारंवार पाप न करना आदि मर्यादाएं हैं जो मनुष्यको अपनी उन्नतिके साधन करनेके लिये पालन करना अत्यंत आवश्यक है। ' अमृतासुः ' मैं बनूंगा। प्राण मेरे शरीरमें दीर्घकालतक रहे। इस सब अनुष्ठानका यही उद्देश्य है।

आत्मशुद्धि

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा (४।१९।१) — देवजन मुझे पवित्र करें, मननशील ज्ञानी मुझे बुद्धिसे पवित्र करें, सब भूत मुझे पवित्र करें, वायु मुझे पवित्र करे ।

पावमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे, अथो अरिष्टतातये । (४।१९।२)— पवित्र करनेवाला देव पुरुषार्थ, दक्षता, दीर्घायुष्य तथा कल्याण होनेके लिये मुझे पवित्र करे ।

तात्पर्य यह है कि अपनी पवित्रताका साधन हरएकको करना चाहिये, स्वयं ही यह अनुष्ठान करना चाहिये । आत्मशुद्धिमें शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, अन्तःकरणकी शुद्धि है । यह स्वयं जिसकी उसीने करनी चाहिये । अतः आत्मशुद्धि करनेके लिये हरएकको दक्षतासे सिद्ध रहना चाहिये ।

उत्कर्ष

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना (४।४।२)— उषा, सूर्य ये जैसे उदयको प्राप्त होते हैं, वैसा प्रजाका पालक राजा और मेरी घोषणा उत्कर्षको प्राप्त हों ।

उषा, सूर्य ये कैसे उदयको प्राप्त होते हैं। ये स्वयं अपना उदय करते हैं, ये स्वयं प्रयत्नशील हैं । उस तरह हरएक अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न करे । सूर्यका आदर्श लोग अपने सामने सदा रखें।

प्रजाका पालक राजा अपना उत्कर्ष करनेकी पराकाष्ठा करे और वह सब प्रजाका उत्कर्ष करनेके साधन सबको सहज प्राप्त हों ऐसा करे । इससे सब प्रजाका उत्कर्ष हो सकेगा ।

ज्ञानी लोग स्वयं (मामकं वचः) अपना भाषण ऐसा करें कि सुननेवालोंके सामने उत्कर्षका मार्ग खुला हो । इस तरह सबकी उन्नति हो सकती है ।

उत्तम बनना

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्मां अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिव अहं भूयासमुत्तमः ।(४।१५।२)— अपना भाई हो या दूसरा हो, जो हमें दास बनाता है, वृक्षोंमें जैसी वह उत्तम है वैसा मैं उनमें उत्तम होऊंगा ।

किसीने दास नहीं बनना है । सबने आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनना है । इसलिये यदि कोई किसीको दास बनानेका यत्न करता है तो वह सफल न हो, ऐसा करना हरएकका कर्तव्य है ।

तथा हरएकने मनमें ऐसा विचार रखना चाहिये कि ' अहं भूयासं उत्तमः ' मैं उत्तम बनूंगा । मैं सबमें उत्तम बनूंगा । यह विचार प्रयत्न करके मनुष्यको अपने मनमें धारण करना चाहिये और वैसा आचरण करना चाहिये। और यत्न करके सबमें श्रेष्ठ बनना चाहिये ।

उत्साहसे वीरत्वकी वृद्धि

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि (४।३१।२)— अग्निके समान हे उत्साह ! तू तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर । हे समर्थ ! तू प्रार्थना करनेपर हमारा सेनापति हो ।

हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेदः— शत्रुको मारकर धनको बांट ।

ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व— अपनी शक्ति बढाकर शत्रुको हटा दो ।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे (४।३१।३)— हे उत्साह ! हमारे शत्रुको परास्त कर ।

रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्— शत्रुओंको तोडता, मारता, कुचलता हुआ शत्रुओंपर चढाई कर ।

उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे— तेरा उग्र तेज निश्चयसे शत्रुको रोकेगा ।

वशी वशं नयासा एकज त्वं— तू संयमी अद्वितीय वीर होकर शत्रुको वशमें करेगा ।

एको बहूनामसि मन्य ईडिता (४।३१।४)— हे उत्साह ! तू अकेला बहुतोंमें सत्कार पाता है।

विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि— तू प्रत्येक मनुष्यको युद्धके लिये शिक्षित कर ।

अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि— अटूट प्रकाशवाले ! तेरे साथ हम हर्षयुक्त घोष विजयके लिये करेंगे ।

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह (४।३१।५)— हे उत्साह ! तू विजय करनेवाला, इन्द्रके समान उत्तम बोलनेवाला होकर यहां हमारा स्वामी हो।

प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि— हे समर्थ ! तेरा प्रिय नाम हम लेते हैं।

संसृष्टं धनं उभयं समाकृतं अस्मभ्यं धत्तां (४।३१।७)— एकत्रित किया दोनों प्रकारका धन हमारे लिये दे दो।

भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्तां— हृदयोंमें भयको धारण करनेवाले शत्रु पराभूत होकर दूर भाग जावें।

यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् (४।३२।१)— हे वज्रादि शस्त्रयुक्त उत्साह ! जो तेरा सेवन करता है वह सब बल और सामर्थ्यको पुष्ट करता है।

साह्याम दासमार्यं त्वया युजा— तेरे साथ हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे।

वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता— हम बलको बढानेवाले सामर्थ्यसे युक्त होंगे।

मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः (४।३२।२)— मनुष्योंकी प्रजाएं उत्साहकी प्रशंसा करते हैं।

पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः— हे उत्साह ! उत्साह युक्त किये तपसे हमारा रक्षण कर।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् (४।३२।३)— हे मन्यो ! तू महा शक्तिवाला यहां आ। अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर।

अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः (४।३२।३)— दुष्ट शत्रु और चोरका नाश कर और हमें सब धन ला दे।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः (४।३२।४)— हे उत्साह ! तू विजयी बलसे युक्त हो, अपनी शक्तिसे रहनेवाला तेजस्वी और शत्रुका पराभव करनेवाला है।

विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयान् अस्मास्वोजः पृतनासु धेहि— तू सबका निरीक्षण, समर्थ और बलवान् हमारी सेनामें बलको रख।

तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि (४।३२।५)— हे उत्साह ! कर्महीनसा होकर मैं तेरे पास आ गया हूं। हमें अपने शरीरसे बल दे। (हमें उत्साहित कर।)

मन्यो वज्रिन् अभि आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः— हे शस्त्रयुक्त उत्साह ! तू हमारे पास आ। मित्रोंको पहचानो, हम शत्रुओंको मारें।

अभि प्रेहि (४।३२।६)— आगे बढ।

नः दक्षिणतः भव— हमारे दाहनी ओर हो जा।

नोऽधा वृत्राणि जंघनाव भूरि— अब हम अपने सब शत्रुओंको बहुत संख्यामें मारेंगे।

इस तरह शत्रुको परास्त करनेके सुभाषित हैं। ये बडे बोधप्रद, मार्गदर्शक और प्रत्यक्ष लाभका मार्ग दिखानेवाले हैं।

ऋणको दूर करना

इदं तदग्ने अनृणो भवामि (६।११७।१)— हे अग्ने ! मैं उऋण होता हूं।

अनृणा अस्मिन्, अनृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम (६।११७।३)— इस लोकमें उऋण, परलोकमें उऋण, और तीसरे लोकमें भी हम उऋण होंगे।

सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम— सब मार्गोंपर उऋण होकर रहेंगे।

बन्धान्मुंचामि बद्धकं (६।१२१।४)— बन्धनसे बंधे हुएको छोडता हूं।

ऋणसे मुक्त होना चाहिये। मनुष्य बालपनमें विद्या सीखता है वह ऋण ही है। विद्या दान करनेसे यह ऋण दूर हो सकता है। हरएक यह देखें कि मैं जो ऋण कर रहा हूं वह मैं वापस करता हूं या नहीं। इसीका विचार करे और अन्तमें मैं ऋणसे मुक्त हो गया हूं ऐसा देखे। उऋण होना हरएकका कर्तव्य है।

मैं – आत्मशक्ति

अहं रुद्रेभिर्वसुभिः चरामि, अहं आदित्यैरुत विश्व-

देवैः (४।३०।१)— मैं रुद्रों, वसुओंके साथ चलता हूँ, मैं आदित्यों और सब देवोंके साथ चलता हूं ।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि, अहं इन्द्राग्नी, अहमश्विनोभा— मैं दोनों मित्र वरुणको, इन्द्र-अग्निको और दोनों अश्विनौको धारण करता हूं ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् (४।३०।२)— मैं तेजस्विनी राष्ट्रशक्ति धनोंको एकत्रित करनेवाली हूं । पूजनीयोंमें पहिली पूजाके योग्य हूं ।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः— उस मुझको बहुत उत्साहको धारण करनेवाले देवोंने अनेक प्रकारसे धारण किया है ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् (४।३०।३)— मैं स्वयं यह कहती हूं जो देवों और मानवोंको सेवा करने योग्य है ।

यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्— जिसको मैं चाहती हूं उसको शूरवीर, ब्रह्मा, ऋषि और उत्तम मेधावान् बनाती हूं ।

मया सोऽन्नमत्ति, यो विपश्यति, यः प्राणति, य ईं शृणोत्युक्तम् (४।३०।४)— जो यह देखता है वह मेरी कृपासे अन्न खाता है, तथा वह जीवित रहता है जो मेरा भाषण सुनता है ।

अमन्तवो मां त उपक्षयन्ति, श्रुधि श्रुत, श्रद्धिवं ते वदामि— मेरा अपमान करनेवाले नाशको प्राप्त होते हैं, हे श्रद्धावान्! श्रवण कर, तुझे यह मैं कहता हूं ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ (४।३०।५)— ज्ञानके विद्वेषी, घातपातीको मारनेके लिये, मैं रुद्रको धनुष्य तनाकर देती हूं ।

अहं जनाय समदं कृणोमि— मैं जनोंके हितके लिये युद्ध करती हूं । (मैं लोगोंके लिये हर्ष बढानेकी बात करता हूं ।)

अहं दधामि द्रविणा हविष्मते (४।३०।६)— मैं हवन करनेवालेको धन देती हूं ।

अहं सुवे पितरं अस्य मूर्धन्— (४।३०।७) मैं इस राष्ट्रके सिरपर पालकको रखती हूं ।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा (४।३०।८)— सब भुवनोंको बनानेवाली मैं ही वायुके समान सर्वत्र फैलती हूं ।

परो दिवा पर एना पृथिव्या एतावती महिम्ना सं बभूव— द्युलोकसे परे, इस पृथिवीसे भी परे अपनी महिमासे फैलती हूं ।

यह परमात्माका वर्णन है, शरीरधारी जीवात्माका भी यही वर्णन है । क्योंकि मानव शरीरमें ये सब देवताएं रहती हैं और उनका धारण जीवात्मा करता है । यह ज्ञान आत्मशक्तिका सामर्थ्य बता रहा है । मनुष्य इसका वारंवार विचार करे और विश्वदेही परमात्मामें भी यह देखे और अपनेमें भी देखे और दोनों स्थानोंमें यह वर्णन समान रीतिसे लगता है इसका अनुभव करे । आत्मशक्तिका महत्त्व इस रीतिसे जाना जा सकता है ।

तीन देवियां

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तां इडा सरस्वती मही भारती गृणाना । (५।२७।९)— तीन देवताएं अन्तःकरणमें बैठें, वाणी (मातृभाषा), सरस्वती (मातृसभ्यता) और भारती (राष्ट्रभूमि भारती) ।

मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमि ये तीन देवियां हैं जो हरएक मनुष्यके मनमें आदरके साथ रहनी चाहिये । प्रत्येक मनुष्य मातृभूमिकी भक्ति करे, मातृसभ्यताके विषयमें सदा आदरभाव मनमें रखे और मातृभाषाका उत्तम अध्ययन करे ।

ये तीन देवियां मानवका उद्धार कर सकती हैं ।

सत्यका बल

तान् सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा । यो नो दुरस्यात् दिप्साच्चाथो यो नो अरातीयात् (४।३६।१)— सत्यके बलवाला वैश्वानर बलवान् अग्नि उनको जलावे जो हमें बुरी अवस्थामें डाले, जो हमारा नाश करे, और जो शत्रुता करे ।

यो नो दिप्साददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति । वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तं (४।३६।२) —जो नाश न करनेवाले हमारा नाश करे, जो विनाशकको कष्ट देता है, उसको हम वैश्वानर अग्निके जबडेमें देते हैं ।

क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे (४।३६।२)— जो मांसभोजी दूसरोंको कष्ट देते हैं, उन सबका हम अपने बलसे पराभव करते हैं।

सहे पिशाचान्त्सहसा एषां द्रविणं ददे (४।३६।४)- रक्त पीनेवालोंका अपने बलसे पराभव करता हूं और उनका धन मैं लेता हूं।

सर्वान् दुरस्यतो हन्मि— सब दुष्टोंको मारता हूं।

सं म आकूतिर्ऋध्यताम्— मेरा संकल्प सफल हो।

तपनो अस्मि पिशाचानां— रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला मैं हूं।

ते न्यञ्चनं न विन्दते— वे दुष्ट अपने लिये रक्षण प्राप्त नहीं करते।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः— रक्त पीनेवालों चोरों और डाकुओंसे मैं मेल करना नहीं चाहता।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे (४।३६।७)— रक्त पीनेवाले उस ग्रामसे दूर होते हैं जिसमें मैं जाता हूं।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम, पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते (४।३६।८)— मेरा बल और सामर्थ्य जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है, उस ग्रामसे सब रक्त पीनेवाले नष्ट होते हैं और वे पापको भी जानते नहीं।

ये मा क्रोधयन्ति लपिता तानहं मन्ये दुर्हितान्— जो बडबडनेवाले मुझे क्रोधित करते हैं उनको मैं दुःखमें रहनेवाले करता हूं।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्ताम् (४।३६।१०)— उन दुष्टोंको नाश ही प्राप्त हो।

मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते— जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है वह पाशोंसे नहीं छूटता।

सत्यका बल प्राप्त करके इस तरह अपनी शक्ति बढाकर शत्रुको दूर करना चाहिये।

विजय

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु (५।३।१)— हे अग्ने! मेरा तेज युद्धोंमें प्रकाशित होता रहे।

वयं त्वेन्धानाः तन्वं पुषेम— हम तुझे प्रदीप्त करके अपने शरीरको पुष्ट बनावें।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः— चारों दिशायें मेरे सामने नमें।

त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम— तेरी अध्यक्षतामें हम संग्रामोंमें विजय पायेंगे।

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां (५।३।२)— हे अग्ने! शत्रुओंके क्रोधको दूर कर।

त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः— तू हमारा रक्षक होकर चारों ओरसे हमारा पालन कर।

अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवः— दुःखदायी दुष्ट लोग दूर चले जांय।

अमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्— हम प्रबुद्ध दुष्टोंका चित्त विनष्ट होवे।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां— देव मेरे पास धन ले आवें।

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः— अपने शरीरसे नीरोग तथा उत्तम वीर्यवान् हम बनें।

मा नो विदद्‍भिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या (५।३।६)— निर्वीर्यता, अकीर्ति, द्वेषके योग्य पाप हमारे पास न आवें।

मा हास्महि प्रजया— हम संतानहीन न हों।

मा तनूभिः— शरीरसे कृश न बनें।

मा रधाम द्विषते— शत्रुके कारण हम पीडित न हों।

मा नो रीरिषो मा परा दाः- हमारा नाश न हो, हमारा त्याग न हो।

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः (५।३।९)— धारणकर्ता, निर्माणकर्ता, भुवनका पति, सबका प्रसव करनेवाला, शत्रुनाशक वह देव है।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु- जो शत्रु हैं वे दूर हों।

उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत (५।३।१०)- उग्रवीर चेतना उत्पन्न करनेवालेको अधिराजा बनाया है।

तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः (६।९२।२)— हे घोडे! उस बलसे बलवान् होकर युद्धमें जय प्राप्त करो और संग्रामके पार हो जा।

इन्द्रो जयाति न पराजयातै (६।९८।१)- इन्द्र जीतता है, कभी पराजय नहीं होता।

अधिराजो राजसु राजयातै— राजाओंमें तेजस्वीताके लिये वह प्रसिद्ध अधिराजित नहीं होता है।

समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरः (६।१२६।३)— घोडोंपर बैठे हमारे वीर हमला चढावें।

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु— हे इन्द्र! हमारे रथी जीत लें।

कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः (६।१२९।१)— मुझे भाग्यशाली बनाओ, हमारे शत्रु दूर हों।

वीर्यबल

सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् (४।४।४)- हे शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र! पुरुषोंके वीर्यका बल इस पुरुषमें धारण कर।

पुरुष वीर्यवान् बनें और पराक्रम करें।

दुन्दुभीका घोष

शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः। (५।२०।३)— शोकसे शत्रुओंका हृदय वींध, वे शत्रु डरसे भयभीत होकर ग्राम छोडकर भाग जावें।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृत् बहुधा ग्रामघोषी (५।२०।९)— बडा शब्द करनेवाला, घोषणा करनेवाला, सेनाका विजय करनेवाला, चेतना देनेवाला, ग्रामोंमें घोषणा करनेवाला दुन्दुभीका शब्द होता है।

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्। वाग्वीव मंत्रं प्र भरस्व वाचं संग्रामजित्यायेषमुद् वदेह। (५।२०।११)— शत्रुको जीतनेवाला, नित्य विजयी, वैरियोंको वशमें करनेवाला, शत्रुको खोजनेवाला, बलवान्, शत्रुको उखेडनेवाला, तू ढोल शब्दको भर दे जैसा वक्ता अपने विचारको श्रोतामें भर देता है। इसलिये युद्धमें विजय कमानेके लिये यहां बडी घोषणा कर।

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे (५।२१।१)— शत्रुओंमें मनकी व्याकुलता तथा निरुत्साह उत्पन्न कर।

विद्वेषं कश्मलं भयं नि दध्मसि— द्वेष, पाप, भय शत्रुओंमें रख दे।

धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः— शत्रु डरसे भागें।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान् अभिक्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय (५।२१।४-६)— इस तरह तू हे ढोल! गर्जना कर, डरा, और उनके चित्तोंको मोहित कर।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः अमित्रान्नो जयन्तु। (५।२१।१२)— यह सूर्य झंडोंवाली देवसेना शत्रुओंको जीते।

प्रामूं जय, अभीमे जयन्तु (६।१२६।३)— इस शत्रुका पराभव कर, ये वीर विजय प्राप्त करें।

केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु— झण्डेवाला दुन्दुभी बडा शब्द करे।

अपने दुन्दुभीका घोष सुनकर सैनिकोंमें वीरता बढती है और ढोलके शब्दके साथ एक एक सैनिक व्यक्तिशः और संघशः बडे शौर्यके कार्य करता है। इस कारण सैन्यके साथ दुन्दुभीका अत्यंत महत्व है।

रथ

वनस्पते वीड्वंगो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (६।१२५।१)— हे वृक्षसे बने रथ! तू सुदृढ बना है, तू हमारा मित्र, तू तारक और वीरोंसे तू युक्त हो। गोचर्मकी रस्सियोंसे बंधा है, हमें सुदृढ कर, तुझपर चढनेवाला वीर जीतने योग्य धन प्राप्त करे।

युद्धमें विजय कमानेके लिये उत्तम रथका महत्व बहुत है।

रक्षण

असम्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत। दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्यञ्जन (४।९।६) - बुरी मंत्रणासे, बुरे स्वप्नसे, दुष्ट कर्मसे, पापसे, बुरे हृदयसे तथा घोर दृष्टिसे हमारा बचाव कर।

स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः (४।१०।१)— वह सुवर्णसे बना हुआ तेजस्वी शंख हमें पापसे बचावे।

शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्रिणो वि षहामहे (४।१०।२)— शंखसे रोगकृमियोंको मारकर हम (रक्त-) भक्षकोंको पराभूत करते हैं। (रक्षः- रोगकृमि, रोगबीज। अत्रिः- भक्षक, रक्तभक्षक।)

शंखेनामीवाममतिं शंखेनोत सदान्वाः (४।१०।३)— शंखसे आमरोग, बुद्धिहीनता तथा शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोग दूर होते हैं।

शङ्खो नो विश्वभेषजः, कृशनः पात्वंहसः— शंख सब रोगोंका औषध है वह कृशता दूर करनेवाला हमें पापसे बचावे।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचः, ता अस्मन्नाशयामसि (४।१७।५)- बुरे स्वप्न, दुःखदायी जीवन, रोगकृमि, निर्बलता, निस्तेजता, दुष्ट नामवाले रोग, यह सब हमसे दूर हों और नष्ट हों। (हमारा उत्तम संरक्षण हो।)

क्षुधामारं तृष्णामारं अगोतां अनपत्यतां, अपामार्ग। त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे (४।१७।६)— क्षुधा और तृष्णाके रोग, वाणीके दोष, संतान न होना आदि दोष हे अपामार्ग! तेरी सहायतासे वह सब हम दूर करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासां एक इद्वशी, तेन ते मृज्म आस्थितं, अथ त्वं अगदश्चर। (४।१७।८)— हे अपामार्ग! तू सब औषधीयोंको वश करनेवाला है, इस कारण तेरे द्वारा हम शरीरस्थित रोगको दूर करते हैं। हे रोगी! अब तू नीरोग होकर चल।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः (४।१८।८)— यातना देनेवाले तथा निस्तेजता बढानेवाले (रोगबीजको हम अपामार्गसे दूर करते हैं।)

उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः (४।१९।३)— हे अपामार्ग! तू परिपक्वताका रक्षक और रोगकृमियोंका नाशक है।

यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ (४।२८।६)— जो हिंसक है, जो मूलको काटता है ऐसे यातना देनेवालेपर तुम दोनों वज्र मारो।

दुष्टोंसे अपना रक्षण होना चाहिये। अपना सामर्थ्य बढना चाहिये। अपने साधन उत्तम रहने चाहिये। उत्तमसे उत्तम शस्त्र और अस्त्र अपने पास रहने चाहिये। जिससे अपना रक्षण होगा और हम विजयी हो सकेंगे।

पापमोचन

अप नः शोशुचदघम् (४।३३।१)— हमारा पाप दूर हो।

अग्ने शुशुग्ध्या रयिं— हे अग्ने! धनको शुद्ध कर।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे (४।३३।२)— उत्तम क्षेत्र, उत्तम भूमि तथा धनसे यज्ञ करते हैं।

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् (४।३३।४) — हे अग्ने! जो तेरे विद्वान् हैं, वैसे हम हो जायेंगे।

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः (४।३३।५)— बलवान् अग्निके किरण जैसे चारों ओर फैलते हैं। (वैसा हमारा तेज फैले।)

त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि (४।३३।६) — तू सब ओर मुखवाला हो। तू सब ओरसे चारों ओर हो (तू सर्वत्र व्यापक हो।)

द्विषो नो विश्वतोमुख अति नावेव पारय (४।३३।७)- हे सब ओर मुखवाले, शत्रुओंसे हमें पार कराओ, जैसे नौकासे सागर पार करते हैं।

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये— (४।३३।८)— वह हमें नौकासे सागरको पार करते हैं वैसे कल्याण प्राप्त करनेके लिये हमें दुःखसे पार करे।

एकता

सं जानीध्वं (६।६४।१)— मिलकर रहनेका ज्ञान प्राप्त करो।

सं पृच्यध्वं— मिलकर एक होकर रहो।

सं वो मनांसि जानताम्— अपने मनोंको शुभसंस्कारसंपन्न करो।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते— प्राचीनकालके ज्ञानी लोग जिस तरह अपने कर्तव्यका भाग स्वयं करते थे, वैसा तुम करो।

समानो मन्त्रः (६।६४।२)—तुम्हारा विचार समान हो।

समितिः समानी— तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो।

समानं व्रतं— तुम्हारा सबका एक व्रत हो।

सह चित्तमेषां— इन सबका चित्त समान हो।
समानी व आकूतिः (६।६४।३)— तुम्हारा संकल्प एक हो
समाना हृदयानि वः— तुम्हारे हृदय एक हों।
समानमस्तु वो मनः— आपका मन समान हो।
यथा वः सुसहासति— इससे तुम सब मिलकर रह सकोगे।
सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतिर्नमामसि (६।९४।१) —तुम्हारे मन, व्रत और संकल्पोंको एक विचारसे युक्त करता हूं।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामासि— यह जो परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उन तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं।
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि (६।९४।२)-- मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको एक विचारसे युक्त करता हूं।
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत— मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको मिला दो।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि— मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं।
मम यातमनु वर्त्मान एत— मेरे मार्गके अनुकूल तुम चलो।

अपने समाजमें और राष्ट्रमें, सब पक्षोंमें, जनतामें, या जातियोंमें एकता रहनी चाहिये। एकतासे बल बढता है, शक्ति बढती है और विजय मिलता है।

संयम

एजदेजद् अग्रभं चक्षुः (४।५।४)— चंचल आंखका मैंने निग्रह किया है।
प्राणं अजग्रभं— प्राणका मैंने संयम किया है।
रात्रीणां अति शर्वरे सर्वा अंगानि अजग्रभं— रात्रीके उत्तर भागमें मैं अपने सब अंगोंका निग्रह करता हूं।

अपनी एकाग्रता होनी चाहिये। इन्द्रियों और मनका निग्रह किया तो ही यह एकाग्रता सिद्ध हो सकती है।

मृत्युको दूर करना

यं ओदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिः तपसा ब्रह्मणे अपचत् । (४।३५।१)— जिस अन्नको सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक प्रजापति तपसे ब्रह्मके लिये पकाता रहा।
यः लोकानां विधृतिः— जो लोकोंका धारण करता है।
तेन ओदनेनाति तराणि मृत्युं (१-७)— इस अन्नसे मैं मृत्युको तरता हूं।
येन अतितरन् भूतकृतोऽति मृत्युम् (४।३५।२)— जिससे भूतोंको बनानेवालोंने मृत्युको पार किया।
यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण— जिसको तप तथा श्रमसे प्राप्त किया था।
यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं (४।३५।३)— जिसने सबको भोजन देनेवाली पृथिवीका धारण किया।
यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन— जिसने रससे-जलसे-अन्तरिक्षको भर दिया।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना— जिसने द्युलोकको अपनी महिमासे धारण किया है।
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः (४।३५।४)— जिसने तीस दिनवाले महिने बनाये।
संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः— जिससे बारह मासोंका वर्ष बना है।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुः— चलनेवाले दिन और रात्र जिसको प्राप्त कर नहीं सकते।
यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव— जो जीवन देनेवाला प्राणदाताओंका स्वामी हुआ है।
यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव— जिस पके हुएसे अमृत उत्पन्न हुआ है।
यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव— जो गायत्रीका स्वामी हुआ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः— जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं।
अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं (४।३५।७)— देवताके विनाशक शत्रुओंको मैं दूर करता हूं।
सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु— जो मेरे शत्रु हैं वे दूर हों।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः— विश्वको जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न मैं पकाता हूं सब देव श्रद्धावान् मेरा यह भाषण सुनें।

मृत्युको दूर करनेका अर्थ दीर्घ आयु प्राप्त करनी है। अतः देखिये कि दीर्घायुके विषयमें सुभाषित कैसे हैं—

दीर्घायु

स नो हिरण्यजाः शंखः आयुष्प्रतरणो मणिः (४।१०।४)— वह सुवर्णयुक्त शंख हमारा आयु बढानेवाला मणि हो।

प्र ण आयूंषि प्रतारिषत् (४।१०।६)—(शंख) हमारी आयु बढावे।

देवानामस्थि कृशनं बभूव (४।१०।७)— शंख देवोंकी अस्थि है, वह तेज है।

तदात्मन्वच्चरति अप्सु अन्तः— वह आत्मबलवाला जलोंमें (शंख रूपसे) चलता रहता है।

तत्ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु— वह शंखमणि मैं तुझे बांधता हूं। इससे तेरी आयु, तेज, बल, दीर्घायु सौ वर्षकी आयु हो। यह शंखमणि तेरा रक्षण करे।

प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा (५।३०।५)— इस औषधका सेवन कर, तुझे मैं वृद्धावस्था-तक रहनेवाला बनाता हूं।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्मं अङ्गेभ्यो अंगज्वरं तव— (५।३०।८)— मत डर, तू नहीं मरेगा, वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं। तुम्हारे अंगोंसे ज्वर और यक्ष्मरोगको दूर करता हूं।

ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः, तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्। (५।३०।१०)— बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, एक सुस्तीरहित है और दूसरा जागता है। ये दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं। वे दिन रात जागते रहें।

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि। (५।३०।११)— गंभीर मृत्युसे ऊपर उठ, गहरे अन्ध-कारसे प्रकाशमें आ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः। यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे। स च त्वानु ह्वयामसि, मा पुरा जरसो मृथाः। (५।३०।१७)— यह लोक अपराजित है अतः देवोंको प्रिय है। हे पुरुष ! तू मृत्युको प्राप्त होनेवाला इस लोकमें उत्पन्न होता है। वह तुझे बुलाता है। पर तू वृद्धा-वस्थातक न मर।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय (६।५।२) —इसे धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त हो, और इसको वृद्ध अवस्थातक ले जा।

वृद्ध अवस्थाके पश्चात् मृत्यु हो। उससे पूर्व कोई न मरे। अर्थात् जो दुष्ट कर्म करनेवाले हैं वे मरेंगे। इसमें संदेह नहीं है। परंतु शुभ कर्म करनेवालोंके लिये यह आश्वासन है कि वे जल्दी नहीं मरेंगे।

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः (४।१३।१) — हे देवो ! इसके शरीरमें अवनति हुई है, इसको पुनः उन्नत करो।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः— हे देवो ! इसने पाप किया है, अब इसको पुनः जीवित करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः— दो वायु हैं, एक समुद्रसे और दूसरा भूमिपरसे बहता है। इन-मेंसे एक तुझे बल देवे और दूसरा दोषको दूर करे।

आ वात वाहि भेषजं (४।१३।३)— हे वायो ! तू औषध ले आ।

वि वात वाहि यद्रपः— हे वायो ! जो दोष है उसको दूर कर।

त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे- तू सर्व औषध-रसवान् हो। तू देवोंका दूत होकर बहता है।

त्रायन्तामिमं देवाः, त्रायन्तां मरुतां गणाः। त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् (४।१३।४) — इस रोगीका रक्षण सब देव करें, मरुतोंके गण-प्राण-इसका रक्षण करें। सब भूत इसका रक्षण करें जिससे वह निर्दोष होगा।

आ त्वा गमं शंतातिभिः, अथो अरिष्टतातिभिः (४।१३।५)— शान्तिदायक और दोष दूर करने-वाले गुणोंके साथ, हे रोगी ! मैं तेरे पास आया हूं।

दक्षं त उग्रमाभारिषं, परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरे लिये मैं श्रेष्ठ बल लाता हूं और तुझसे रोग मैं दूर करता हूं।

अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः (४।१३।६)— यह मेरा हाथ भाग्यवान् है और यह दूसरा हाथ अधिक भाग्यवान् है।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः— यह मेरा हाथ सब औषधी गुणोंसे युक्त है और यह हाथ शुभ करनेवाला है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी। अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि (४।१३।७)— दस शाखावाले इन मेरे दोनों हाथोंसे- ये नीरोगता करनेवाले हाथोंसे तुझे मैं स्पर्श करता हूं और जिह्वासे प्रेरक शब्द बोलता हूं। (इस स्पर्शसे तुम्हारा रोग दूर होगा।)

हस्तस्पर्शसे रोग दूर होते हैं, मनकी शक्ति उस हस्तस्पर्शके साथ लगानी चाहिये। जो मनकी शक्तिको हाथोंके साथ बर्त सकते हैं वे ही यह कर सकते हैं।

गौ

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् (४।२१।१)— गौवें आ गयी और उन्होंने कल्याण किया।

प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः— उनको प्रजा होकर वे यहां अनेक रूपवाली हों।

उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः (४।२१।४)— वे गौवें यज्ञ करनेवाले मनुष्यके लिये प्रशंसनीय निर्भयता करती हैं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चित् (४।२१।६)— तुम गायो दुर्बलको भी पुष्ट करती हैं।

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकं— निस्तेजको गौवें सुंदर बनाती हैं।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः— हे उत्तम शब्द करनेवाली गौवो! तुम घरको कल्याणमय बनाती हैं।

बृहद् वो वय उच्यते सभासु— सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः (४।२१।७)— गौवें प्रजाके साथ उत्तम घासमें घूमती हैं, और शुद्ध जल उत्तम जलस्थानमें पीती हैं।

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु— चोर और पापी तुम्हारा स्वामी न बने, रुद्रका शस्त्र तुमसे दूर रहे।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ (४।२७।३)— कविलोग गौओंसे दूध, औषधियोंसे रस, घोडोंसे वेग प्राप्त करते हैं।

विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु (४।३४।८)— मेरी गाय इच्छनुसार दूध देनेवाली, अनेक रंगरूपवाली हो।

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्। (५।१८।१)— उन देवोंने इस गौको तुम्हारे खानेके लिये नहीं दिया है। हे क्षत्रिय! ब्राह्मणकी गौको खाना योग्य नहीं, इसे न खा। (गौका दूध आदि सेवन करना योग्य है।)

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः। स ब्राह्मणस्य गां अद्यात् अद्य जीवानि मा श्वः (५।१८।२)— जुवाडी क्षत्रिय वह पापी और पराजित है, जो ब्राह्मणकी गौको खावे वह आज जीवे पर कल नहीं।

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य (५।१८।४)— जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह सांपका विष पीता है।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा (५।१८।९)— तीखे बाणवाले, अस्त्रवाले ब्राह्मण जिस बाणको भेजता है वह असत्य नहीं होता।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (५।१८।१०)— वे वैतहव्य ब्राह्मणकी गौको खाकर पराभूत हुए।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति, परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते

(५।१९।६)— राजा अपने आपको शूरवीर मानकर ब्राह्मणको सताता है, वह राष्ट्र गिर जाता है जहां ब्राह्मणको कष्ट होते हैं।

ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तत् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना। (५।१९।८)— जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचते हैं वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति, यो ब्राह्मणस्य सत् धनं अभि नारद मन्यते (५।१९।९)— जो ब्राह्मणके धनको अपना मानता है, उसको वृक्ष भी अपनी छायामें आने नहीं देते।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि, अकर्ता अश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु (६।१४१।२) —लोहेकी शलाकासे पशुओंके कानोंपर चिन्ह कर। अश्विदेव यह चिन्ह करें, यह पशुके संतानोंके लिये बहुत हितकर है।

गौ अपने दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, मूत्र, गोमय आदिसे मनुष्योंके शरीरके रोग दूर करती हैं। मूत्रसे पेटके प्रायः सब रोग दूर होते हैं। ऐसी यह गौ हितकारिणी है।

रोगकृमिनाशन

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे (४।३७।१)- तेरे द्वारा अथर्वाने, हे औषधे ! रोगकृमियोंका नाश किया।

त्वया जघान कश्यपः त्वया कण्वो अगस्त्यः— तेरे द्वारा कश्यप, कण्व और अगस्त्यने (रोगकृमियोंका नाश किया।)

त्वया वयं अप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अज-शृंग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय (४।३७।२)- तेरे द्वारा हम अप्सरा और गंधर्व नामक रोगबीजोंको हटाते हैं। हे अजशृंगि! सब रोगकृमियोंको तू अपने गन्धसे नष्ट कर।

तत् परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन (४।३७।३)- जलमें फैलनेवाले कृमि दूर हुए यह जान जाओ।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः। ताभि-र्हविरदान् गन्धर्वान् अवकादान्व्यृषतु॥ (४।३७।९)— सूर्यके सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें सैकडों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं, उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगकृमियोंका नाश करते हैं।

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्। अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वं (४।३७।१२)— हे गन्धर्वो ! तुम्हारी स्त्रियां अप्सराएं हैं, तुम उनके पति है। हे अमरो ! यहांसे भागो, मनुष्योंको न पकडो।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति, यो नासे परिसर्पति, दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जंभयामसि (५।२३।३)— जो रोगकृमि आखों, नाक तथा दांतोंमें जाता है, उसका नाश हम करेंगे।

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा, दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वान् च प्रमृणन् क्रिमीन् (५।२३।६)— सबको दीखनेवाले और न दीखनेवाले कृमियोंको मारनेवाला सूर्य आगे आरहा है, वह दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब कृमियोंको मारता है।

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् (६।५२।१)— रोगकृमियोंका नाश करता हुआ सूर्य उदयको प्राप्त होता है।

सूर्यकिरणसे अग्निसे रोगकृमि नष्ट होते हैं। हवनसे चिकित्सा भी इसी कारण होती है।

रोगनाशन

अस्थिस्रंसं परुस्रंसं आस्थितं हृदयामयम्। बलासं सर्वं नाशय अंगेष्ठा यश्च पर्वसु (६।१४।१)- अस्थिमें, जोडोंमें, हृदयमें जो रोग हैं, कफक्षय जो शरीरमें है उस सबको दूर कर।

वृष्टि

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वात-जूतानि यन्तु (४।१५।१)— बादलसे युक्त दिशाएं उमड जांय, वायुसे चलाये मेघ मिलकर आवें।

महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु— महाबलवान् गर्जना करनेवाले बादलोंसे गतियुक्त जलधाराएं पृथिवीकी तृप्ती करें।

अपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् (४।१५।२)— जलोंके अन्दरके रस औषधियोंके साथ मिलें।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायंतामोषधयो विश्वरूपाः— वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें और विविध रूपवाली औषधियां उत्पन्न हो।

समीक्षयस्व गायतो नभांसि (४।१५।३)— गायन करनेवाले मेघोंसे भरे आकाश देखो।

त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षम् (४।१५।६ — तूने उत्पन्न की बहुत वृष्टि होती रहे।

आशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्— आश्रयकी इच्छा करनेवाला कृषक अपने घर जाय।

अभिक्रन्द, स्तनय, अर्दयोदधिं— गर्जना कर, विद्युतका कडका हो, समुद्रको हिला दे।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा पृथिवीं अनुवर्षन्तु (४।१५।७)— वायुसे चलाये मेघ पृथिवीपर अनुकूल वृष्टि करें।

स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि (४।१५।१०)— वह अग्नि द्युलोकके अमृतको जो प्रजाओंके लिये प्राणरूप है वह वर्षाके रूपसे हमें देवे।

बैल

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जंघाभिरुत्खिदन्। श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः (४।११।१०)— बैल पावोंसे भूमीपर चलता है, जांघोंसे अन्नको उत्पन्न करता है। परिश्रम करके बैल और किसान अन्न उत्पन्न करनेके लिये चलते हैं।

मित्रका लक्षण

अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखासि (५।११।१०)— मैं तेरे योग्य मित्र हूं और तू सात पांव साथ चलकर मित्र हुआ है।

मेधा

यां ऋषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु। (६।१०८।४) — बुद्धिमान् और भूतकालका इतिहास करनेवाले ऋषियोंने जिस मेधाको जाना था उस मेधासे मुझे बुद्धिमान् कर।

जाग्रती

जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः(४।५।७)— इन्द्रके समान मैं नाशरहित और क्षयरहित होकर जागता रहूं।

निद्रा

प्रोष्ठेशयाः तल्पेशया वह्यशीवरी या नारीः या पुण्यगन्धा स्त्रियः ताः सर्वाः स्वापयामसि (४।५।३)— जो मञ्चकोंपर सोती है, जो बिछाने पर सोती है, जो हिंडोलोंपर सोती है, ऐसी जो स्त्रियां उत्तम सुगन्धसे युक्त हैं, इन सबको मैं सुलाता हूं।

जलचिकित्सा

जालाषेणाभि षिंचत जलाषेणोप सिंचत। जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे। (६।५७।२) — जलसे सिंचन करो, जलसे उपसिंचन करो, जल बडा तीव्र औषध है, उससे हमें दीर्घजीवनके लिये सुखी कर।

आप इद्वा उ भेषजीः आपो अमीवचातनीः, आपो विश्वस्य भेषजीः तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् (६।९१।३)— जल औषध है, जल आमरोग दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी दवा है, वह जल तेरी चिकित्सा करें।

रोहिणी वनस्पति

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति (४।१२।१)— तू रोहिणी है, कटी हुई हड्डीको बढानेवाली है। तू इसको भर दे। (घावको भरकर ठीक कर दे।)

स उत्तिष्ठ, प्रेहि, प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः। (४।१२।६)— हे रोगी! तू उठ, चल, उत्तम चक्रवाला, नाभिवाला, लोहेकी पट्टीवाला रथ चलता है वैसा ऊंचा खडा रह और दौड। (रोहिणी वनस्पति शरीरको स्वस्थ करती है।)

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान। ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः।

(४।१२।७)— यदि आरा गिर गया, यदि किसीके मारे पत्थरसे घाव हुआ, तो सुतार जैसे रथके अंगोंको ठीक करता है इस तरह यह वनस्पति अंगोंको ठीक करे। (रोहिणी वनस्पतिसे शरीरकी जखम या व्रणकी दुरुस्ती होती है।)

लाक्षा वनस्पति

यस्त्वा पिबति जीवति, त्रायसे पुरुषं त्वं (५।५।२) — जो तुझे पीता है वह जीवित रहता है, मनुष्यका रक्षण तू करती है।

असमृद्धि

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि (५।७।७)—हे असमृद्धि! तू दूर चली जा, तेरे शस्त्रको हम दूर करते हैं।

पिप्पली

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु॒तातिविद्ध भेषजी, तां देवाः समकल्पयन् इयं जीवितवा अलम् (६।१०९।१)— पिप्पली उन्माद रोगकी औषधि है, यह महाव्याधिकी औषधि है, देवोंने इसको सामर्थ्यवान् बनाया है और कहा है कि यह जीवनके लिये पर्याप्त है।

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि, यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः (६।१०९।२)— जन्मसे पिप्पली औषधियां आपसमें बोलती हैं कि जिस जीवको हमें दिया जाता है वह मनुष्य मरता नहीं।

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः, वातीकृतस्य भेषजीं अथो क्षिप्तस्य भेषजीम् (६।१०९।३)— असुरोंने इस औषधिको खोदा और देवोंने पुनः लगाया था, यह पिप्पली वातकी और उन्मादकी औषधि है।

दूत

त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः (५।१२।१)— तू दूत कवि और ज्ञानी है। (दूत ज्ञानी और विद्वान् हो।)

पत्नी प्रेम

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे। एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः (६।८।१)—जिस तरह वृक्षपर बेल लपेटती है, इस तरह तू मुझे आलिंगन दे। मेरी इच्छा सफल करनेवाली हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो।

वरवधूको आशीर्वाद

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥३॥
(६।७८।२-३)

ये वधू तथा वर दूध पीकर पुष्ट हों, वे दोनों अपने राष्ट्रके साथ बढें, सहस्रों प्रकारके धनोंसे ये युक्त हों। त्वष्टाने स्त्री बनायी है, त्वष्टाने ही तुझ पतिको इस स्त्रीके साथ संयुक्त किया है। वह विश्वनिर्माता प्रभु तुम्हें सहस्र प्रकारके सुखोंके साथ दीर्घ आयु देवे।

स्वर्गलोकमें स्त्रैण

नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् (४।३४।२)— इनका शिश्न अग्नि कैसा जलाता नहीं जिनका स्वर्गलोकमें भी बहु स्त्रैण व्यवहार रहता है।

स्वर्गलोकमें घीके हौज

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः (४।३४।६)— घीके हौज, मधुररसके नद, शुद्ध उदकसे भरे, घीसे परिपूर्ण, दहीसे भरे हौज हैं ये सब तुम्हें प्राप्त हों।

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः— तुझे ये मधुररसकी नदियां प्राप्त हों।

चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना (४।३४।७)— चार घडे, दूध, दही और जलसे भरे चार प्रकारसे मैं देता हूं।

ब्राह्मणकी स्त्री

भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् (५।१७।६)— ब्राह्मणकी भगाई पत्नी

भयंकर होती है, वह कृत्य परमधाममें दुःख देनेवाला है।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः, ब्रह्मा चेद्धस्तं अग्रहीत् स एव पतिरेकधा। (५।१७।८)— ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके पति दस होते हैं, पर ब्राह्मणने उसका पाणिग्रहण किया तो वह उसका एक ही पति होता है।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य, तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः (५।१७।९)— ब्राह्मण ही पति है, क्षत्रिय और वैश्य पति नहीं होता, पांचों मानवोंको यह सूर्य कहकर चलता है।

गर्भ

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे (५।२५।१०-१३)- हे धातादेव ! इस स्त्रीके गर्भाशयमें श्रेष्ठरूपके साथ पुरुष गर्भको स्थापन कर जो दसवें महिने उत्पन्न हो जाय।

पुत्रकी उत्पत्ति

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि (६।११।१)— शमीपर अश्वत्थ चढा है, वहां पुंसवन किया है। वह पुत्रप्राप्तिका निश्चय है। वह स्त्रियोंमें हम भर देते हैं। (शमी वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगा, उसका पंचांग सेवन करनेसे पुत्र होता है। शमी संयमी स्त्री और घोडेके समान पुरुष, इनका सम्बन्ध पुत्र निर्माण करता है।)

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते, तद्वै पुत्रस्य वेदन तत्प्रजापतिरब्रवीत् (६।११।२)— पुरुषमें रेत होता है, वह स्त्रीमें सींचा जाता है। वह पुत्रप्राप्तिका साधन है ऐसा प्रजापतिने कहा है।

पुत्रोंकी सुरक्षा

वीरान्नो अत्र मा दभन् (४।७।७)— हमारे पुत्रपौत्रोंको यहां कष्ट न पहुंचे।

इस तरह इस द्वितीय विभागमें उत्तम ध्यानमें धरने योग्य सुभाषित हैं। पाठक इससे लाभ प्राप्त करें।



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

चतुर्थं काण्डम्

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

तृतीय वार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी

*

संवत् २०१६, शक १८८१, सन १९६०

जागते रहो !!

*

* *

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति

म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑ ।

ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था

पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन्नु ॥

(अथर्ववेद ४।१।६)

' निश्चयसे ज्ञानी ही इस प्राचीन महादेवका धाम प्राप्त करता है । यह ज्ञानी बहुतोंके साथ जन्मा था, परंतु जिस समय (उस धामका) पूर्व द्वार खुल गया था, (उस समय अन्य लोग) सोये पडे थे, (और केवल यह ज्ञानी ही जागता था), इसलिये इस ज्ञानीका अन्दर प्रवेश हुआ और दूसरे बाहर ही रह गये । '

प्रकाशक और मुद्रक : वसंत श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,

स्वाध्याय मण्डल, भारत-मुद्रणालय, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ', पारडी [जि. सूरत]



अथर्ववेदका स्वाध्याय।

चतुर्थ काण्ड।

इस चतुर्थ काण्डका प्रारंभ 'ब्रह्म' शब्दसे हुआ है। यह ब्रह्म शब्द अत्यंत मंगल है और इस शब्द द्वारा परममंगलमय परब्रह्मकी विद्या इसमें कही है।

अथर्ववेद प्रथम काण्डका प्रारंभ 'शं' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद द्वितीय काण्डका प्रारंभ 'वेनः' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद तृतीय काण्डका प्रारंभ 'अग्निः' शब्दसे हुआ है।
अथर्ववेद चतुर्थ काण्डका प्रारंभ 'ब्रह्म' शब्दसे हुआ है।

ये प्रारंभके शब्द कुछ विशेष भावके सूचक निःसंदेह हैं। यद्यपि अथर्व प्रथम काण्डका प्रारंभ 'ये त्रिषप्ताः' से होता है और '**शं नो देवी**' सूक्त छठवां है, तथापि ब्रह्मयज्ञपरिगणनमें, महाभाष्यमें तथा अन्यत्र भी '**शं नो देवी**' सूक्तसे अथर्ववेदका प्रारंभ माना है, इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रथमके पांच सूक्त भूमिकारूप हैं।

इस चतुर्थ काण्डमें चालीस सूक्त हैं और इसके पांच सूक्तोंका एक अनुवाक, ऐसे आठ अनुवाक हैं। यह चतुर्थ काण्ड प्रधानतया सात मंत्रोंवाले सूक्तोंका है, तथापि इसमें अधिक मंत्रवाले सूक्त भी हैं, इसकी गिनती इस प्रकार है—

७ मंत्रवाले	२१	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१४७	है,
८ मंत्रवाले	१०	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	८०	है,
९ मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	२७	है,
१० मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	३०	है,
१२ मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	२४	है,
१६ मंत्रवाले	१	सूक्त हैं,	जिनकी	मंत्रसंख्या	१६	है,
कुल सूक्तसंख्या	४०			कुल मंत्रसंख्या	३२४	

इस प्रकार काण्डमें २१ सूक्त ही सात मंत्रवाले हैं, और शेष १९ सूक्त आठ या आठसे अधिक मंत्रवाले हैं। प्रथम काण्डके १५३ मंत्र, द्वितीय काण्डके २०७ मंत्र, तृतीय काण्डके २३० मंत्र और चतुर्थ काण्डके ३२४ मंत्र हैं, इस प्रकार क्रमशः मंत्रसंख्या बढ रही है।

पहले तीन काण्डोंमें प्रत्येकमें दो प्रपाठक और छः अनुवाक थे, परन्तु इस चतुर्थ काण्डमें तीन प्रपाठक और आठ अनुवाक हैं। इस प्रकार सब मिलकर चतुर्थ काण्डकी समाप्तितक नौ प्रपाठक और छब्बीस अनुवाक हुए हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१ प्रथमोऽनुवाकः। सप्तमः प्रपाठकः।				
१	७	वेनः	बृहस्पतिः। आदित्यः	त्रिष्टुप्।
२	८	वेनः	आत्मा	त्रिष्टुप्; ६ पुरोऽनुष्टुप्; ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः
३	७	अथर्वा	रुद्रः। व्याघ्रः	अनुष्टुप्; १ पंक्तिः; ३ गायत्री। ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद्बृहती।
४	८	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ पुरउष्णिक्; ६,७ भुरिजौ।
५	७	ब्रह्मा	(स्वापनं) ऋषभः	अनुष्टुप्; २ भुरिक्; ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्।

(४)

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
२ द्वितीयोनुवाकः।				
६	८	गरुत्मान्	तक्षकः	अनुष्टुप्।
७	७	गरुत्मान्	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ स्वराट्।
८	७	अथर्वांगिराः	चन्द्रमाः। आपः (राज्याभिषेकः)	अनुष्टुप्; १,७ भूरिक् त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः।
९	१०	भृगुः	त्रैककुदाञ्जनं	अनुष्टुप्; २ ककुम्मती; ३ पथ्यापंक्तिः।
१०	७	अथर्वा	शंखमणिः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्ति, ७ पञ्चपदा परानुष्टुप्शक्वरी।
३ तृतीयोऽनुवाकः।				
११	१२	भृग्वंगिराः	अनड्वान्। इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १, ४ जगती, २ भुरिक्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जागतानिचृच्छक्वरी; ८-१२ अनुष्टुभः।
१२	७	ऋभुः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री, ७ बृहती।
१३	७	शंतातिः	चन्द्रमाः। विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्।
१४	९	भृगुः	आज्यं। अग्निः	त्रिष्टुप्;२,४ अनुष्टुभौ; ३ प्रस्तारपंक्तिः; ७,९ जगती; ८ पञ्चपदातिशक्वरी।
१५	१६	अथर्वा	मरुत्। पर्जन्यः	त्रिष्टुप्; १, २, ५ विराड् जगती, ४ विराड् पुरस्ताद् बृहती ७ (८), १३ (१४) अनुष्टुप्, ९ पथ्यापंक्तिः; १० भुरिग्; १२ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा भुरिग्; १५ शंकुमत्यनुष्टुब्।
४ चतुर्थोऽनुवाकः।				
१६	९	ब्रह्मा	वरुणः (सत्यानृतोऽन्वीक्षणं)	त्रिष्टुप्; १ अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ७ जगती; ८ त्रिपान्महाबृहती; ९ विराण्नामत्रिपाद्गायत्री।
१७	८	शुक्रः	अपामार्गः। वनस्पतिः	अनुष्टुप्।
१८	८	शुक्रः	अपामार्गः। वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ६ बृहतीगर्भा।
१९	८	शुक्रः	अपामार्गः। वनस्पतिः	अनुष्टुप्; २ पथ्यापंक्तिः।
२०	९	मातृनामा	मातृनामादेवता	अनुष्टुप्; १ स्वराज्; ९ भुरिक्।
५ पंचमोऽनुवाकः। अष्टमः प्रपाठकः।				
२१	७	ब्रह्मा	गावः	त्रिष्टुप्; २-४ जगती।
२२	७	वसिष्ठः; अथर्वा।	इन्द्रः	त्रिष्टुप्।
२३	७	मृगारः	प्रचेता अग्निः	त्रिष्टुप्; ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती; ४ अनुष्टुप्; ६ प्रस्तारपंक्तिः।
२४	७	मृगारः	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १ शक्वरीगर्भा पुरःशक्वरी।
२५	७	मृगारः	वायुः। सविता	त्रिष्टुप्; ३ अतिशक्वरीगर्भाजगती, ७ पथ्या बृहती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
६ षष्ठोऽनुवाकः ।				
२६	७	मृगारः	द्यावापृथिवी	त्रिष्टुप्; १ परोऽष्टिर्जगती; ७ शाक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः ।
२७	७	मृगारः	मरुतः	त्रिष्टुप् ।
२८	७	मृगारः (अथर्वा)	भवशर्वौ । रुद्रः	त्रिष्टुप्; १ द्व्यतिजागतगर्भा भुरिक् ।
२९	७	मृगारः	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप्; ७ शाक्वरीगर्भाजगती ।
३०	८	अथर्वा	वाक्	त्रिष्टुप्; ६ जगती ।
७ सप्तमोऽनुवाकः । नवमः प्रपाठकः ।				
३१	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	त्रिष्टुप्; २, ४ भुरिक्; ५-७ जगती ।
३२	७	ब्रह्मा स्कन्दः	मन्युः	त्रिष्टुप्; १ जगती ।
३३	८	ब्रह्मा	पाप्मा । अग्निः	गायत्री ।
३४	८	अथर्वा	ब्रह्मौदनं	त्रिष्टुप्; ४ भुरिक्; ५ त्र्यवसाना सप्तपदा कृतिः; ६ पंचपदातिशक्वरी; ७ भुरिक्शक्वरी; ८ जगती ।
३५	७	प्रजापतिः	अतिमृत्युः	त्रिष्टुप्; ३ भुरिग्जगती ।
८ अष्टमोऽनुवाकः ।				
३६	७	चातनः	सत्यौजाः । अग्निः	अनुष्टुप्; ९ भुरिक् ।
३७	१२	बादरायणिः	अजशृंगी । अप्सराः	अनुष्टुप्; ३ त्र्यवसाना षट्पदात्रिष्टुप्; ५ प्रस्तारपंक्तिः; ७ परोष्णिक्; ११ षट्पदा जगती; १२ निचृत् ।
३८	७	बादरायणिः	अप्सराः । ऋषभः	अनुष्टुप्; ३ षट्पदात्र्यवसाना जगती, ५ भुरिगत्यष्टिः; ६ त्रिष्टुप्; ७ त्र्यवसाना पञ्चपदानुष्टुब्गर्भापुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती ।
३९	१०	अंगिराः	सामनस्यं । नानादेवताः	पंक्तिः; १,३,५,७ महाबृहती; २,४,६,८ संस्तारपंक्तिः; ९,१० त्रिष्टुप् ।
४०	८	शुक्रः	बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ जगती; ८ जगती पुरोतिशक्वरी पादयुग् ।

ये सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

१ अथर्वा— ३, ४, १०, १५, (२२, २८), ३०, ३४ ये आठ सूक्त ।
२ मृगारः— २३-२९ ये सात सूक्त ।
३ ब्रह्मा— ५, १६, २१, ३३ ये चार सूक्त ।
४ शुक्रः— १७-१९, ४० ये चार सूक्त ।
५ भृगुः— ९, १२, १४ ये तीन सूक्त ।
६ गरुत्मान्— ६, ७ ये दो सूक्त ।
७ बादरायणिः— ३७, ३८ ये दो सूक्त ।
८ ब्रह्मा स्कन्दः— ३१, ३२ ये दो सूक्त ।
९ वेनः— १, २ ये दो सूक्त ।
१० अङ्गिराः— ३९ यह एक सूक्त ।
११ अथर्वाङ्गिरसः— ८ यह एक सूक्त ।

१२ चातनः— ३६ यह एक सूक्त।
१३ प्रजापतिः ३५— यह एक सूक्त।
१४ भृग्वङ्गिराः— ११ यह एक सूक्त।
१५ मातृनामा— २० यह एक सूक्त।
१६ वसिष्ठः— २२ यह एक सूक्त।
१७ शंतातिः— १३ यह एक सूक्त।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं, अब देवतक्रमानुसार सूक्तक्रम देखिये—

१ वनस्पतिः— ४, ७, १२, १७-१९ ये छः सूक्त।
२ अग्निः— १४, २३, ३३, ३६ ये चार सूक्त।
३ अपामार्ग— १७-१९ ये तीन सूक्त।
४ इन्द्रः— ११, २२, २४ ये तीन सूक्त।
५ अप्सराः— ३७, ३८ ये दो सूक्त।
६ ऋषभः— ५, ३८ ये दो सूक्त।
७ चन्द्रमाः— ८, १३ ये दो सूक्त।
८ नानादेवताः— ३९, ४० ये दो सूक्त।
(बहुदेवताः) ३९, ४० ये दो सूक्त।
९ मन्युः— ३१-३२ ये दो सूक्त।
१० मरुत्— १५, २७ ये दो सूक्त।
११ रुद्रः— ३, २८ ये दो सूक्त।
१२ अजशृंगी— ३७ वां एक सूक्त।
१३ अञ्जनं— ९ वां एक सूक्त।
१४ अतिमृत्युः— ३५ वां एक सूक्त।
१५ अनड्वुत्— ११ वां एक सूक्त।
१६ आज्यं— १४ वां एक सूक्त।
१७ आत्मा— २ रा एक सूक्त।
१८ आदित्यः— १ ला एक सूक्त।
१९ आपः— ८ वां एक सूक्त।
२० गावः— २१ वां एक सूक्त।
२१ तक्षकः— ६ वां एक सूक्त।
२२ द्यावापृथिवी— २६ वां एक सूक्त।
२३ पर्जन्यः— १५ एक सूक्त।
२४ पाप्मा— ३३ वां एक सूक्त।
२५ प्रचेता अग्निः— २३ वां एक सूक्त।
२६ बृहस्पतिः— १ ला एक सूक्त।
२७ ब्रह्मौदनं— ३४ वां एक सूक्त।
२८ भवाशर्वौ— २८ वां एक सूक्त।
२९ मातृनामा— २० वां एक सूक्त।
३० मित्रावरुणौ— २९ वां एक सूक्त।
३१ वरुणः— १६ वां एक सूक्त।
३२ वाक्— ३० वां एक सूक्त।
३३ वायुः— २५ वां एक सूक्त।
३४ विश्वेदेवाः— १३ वां एक सूक्त।
३५ व्याघ्रः— ३ रा एक सूक्त।
३६ शंखमणिः— १० वां एक सूक्त।
३७ सत्यौजा अग्निः— ३६ वां एक सूक्त।
३८ सविता— २५ वां एक सूक्त।
३९ स्वापनं— ५ वां एक सूक्त।

इनके सिवाय ' बहुदेवताः, नाना देवताः, विश्वेदेवाः ' इन देवताओंके अन्दर कई अन्य देवतायें हैं उनको पाठक मंत्रोंके अन्दर देख सकते हैं। अब इस चतुर्थ काण्डके सूक्तोंके गण देखिये—

१ अंहोलिंगगण— २३-२९ ये सात सूक्त।
२ अपराजितगण— १९, २१, ३१ ये तीन सूक्त।
३ रौद्रगण— ३ यह एक सूक्त।
४ आयुष्यगण— १३ यह एक सूक्त।
५ दुःस्वप्ननाशनगण— १७ यह एक सूक्त।
६ पाप्मगण— ३३ यह एक सूक्त।
७ कृत्याप्रतिहरणगण— ४० यह एक सूक्त है।

इस काण्डके सूक्तोंका शांतियोंके स्थान संबंध देखना हो तो निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

१ बृहच्छान्तिः— १, १३, २३-२९ ये नौ सूक्त।
२ ऐरावती महाशान्ति— ९ यह एक सूक्त।
३ वारुणी महाशान्ति— १० यह एक सूक्त।
४ प्राजापत्या महाशान्ति— १५ यह एक सूक्त।
५ वायव्या महाशान्ति— २५ यह एक सूक्त।
६ गांधर्वी महाशान्ति— ३७ यह एक सूक्त।

इस काण्डके सूक्तोंका अध्ययन करनेके समय इन गणोंका पाठक अवश्य विचार करें। क्योंकि इन गणोंका जो परिगणन पूर्व आचार्योंने किया है वह स्वाध्यायशील पाठकोंके हितार्थ ही किया है।

इतनी भूमिकाके साथ अब इस काण्डके सूक्तोंका विचार प्रारंभ करते हैं।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

चतुर्थ काण्ड।

ब्रह्म-विद्या।

[सूक्त १]

(ऋषिः - वेनः । देवता - बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः ॥ १ ॥

इ॒यं पित्र्या॑ रा॒ष्ट्र्ये॑त्वग्रे॑ प्रथ॒माय॑ ज॒नुषे॑ भुवने॒ष्ठाः ।
तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्यं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्रथ॒माय॑ धा॒स्यवे॑ ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सु-रुचः सीम-तः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको भी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

(इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री) यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त चमकनेवाली बुद्धि (प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु) मुख्य जीवनके लिये आगे होवे। (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेके लिये (एतं सुरुचं ह्वारं अ-ह्यं घर्मं श्रीणन्तु) इस तेजस्वी, दुष्टोंको दबानेवाले, हीनतासे रहित, यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देखकर सत् और असत्के मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेकी इच्छासे आगे बढे। तथा वह बुद्धि सबके मुख्य धारणकर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतुसे तेजस्वी, दुष्टोंको दूर करनेवाले, उच्च और श्रेष्ठ यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥
स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान्मही अस्कभायद्वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥
स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥
नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥

अर्थ- (यः विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य बन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मोंको कहता है। (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है। उसके (मध्यात् नीचैः उच्चैः) मध्यसे, निम्न भागसे और उच्च भागसे (स्व-धाः अभि प्र तस्थौ) उसकी निज धारक शक्तियां फैली हैं ॥ ३ ॥

(सः हि दिवः) वह ही द्युलोकका और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे ठहरानेवाला है। उसीने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) बडे द्युलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है। (महान् जातः) वह बडा देव प्रकट होता हुआ (द्यां पार्थिवं सद्म रजः च) द्युलोक, पृथिवीके निवासस्थानको और अंतरिक्षलोकको (मही अस्कभायत्) विस्तृत रूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जनुषः अग्रं अभि आष्ट्र) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है। (अथ यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट) अब जो ज्योतिसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निश्चयसे (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देवका वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है। (इत्था बहुभिः साकं एषः जज्ञे) इस प्रकार बहुतोंके साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वे अर्धे वि-सिते) पूर्व दिशाका आधा द्वार खुला, तव उनमेंसे प्रत्येक (ससन् नु) सोता ही रहा ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी इस परमात्माका बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है। परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच्च अर्थात् सब अंगोंसे धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

वही एक देव द्युलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करनेवाला है। उसीने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है। उसी प्रकट हुए महान देवने द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और इस हमारे घरके समान भूलोकको विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुदृढ किया है ॥ ४ ॥

इस जगत्का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है। उसकी ज्योतिसे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवका वह प्रसिद्ध महान् धाम प्राप्त करता है। वस्तुतः ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रयत्नसे ज्ञानीके लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार थोडासा खुल जाता है, उस समय जाग्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है, परन्तु अन्य लोग बाहर ही सोये पडे रहते हैं ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान् ॥ ७ ॥

अर्थ— (यः) जो (अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं) निश्चय पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अव गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जानें। ' (त्वं विश्वेषां जनिता असः) तू सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान् देवः न दभायत्) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता ' ॥ ७ ॥

भावार्थ— मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निश्चल बृहस्पतिका नम्रताके साथ की हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि ' हे देव ! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है ' ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी विद्या।

इस सूक्तमें ' ब्रह्मकी विद्या ' बडी मनोहर रीतिसे कही है। जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बडा बोधप्रद होगा। इसका पहिला कथन यह है—

प्राचीन देव।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम्। (सू. १, मं. १)

' सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पना की जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे वह परब्रह्म अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। ' जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनी पडती है। इसके अति प्राचीन होनेके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै धास्यवे। (सू. १, मं. २)
२ अग्रं स बुध्न्यात् जनुषः अभि आगुः। (सू. १, मं. ५)
३ पूर्व्यस्य अस्य देवस्य तत् धाम। (सू. १, मं. ६)

' (१) सबसे पहिला वह धारक है। (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससे भी पहिले वह चारों ओर व्याप्त है। (३) सबसे पुराने इस देवका यह स्थान है। '

इन मंत्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निश्चयात्मक वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि यह देव स्वयंसिद्ध अथवा स्वयंभू, सर्वाधार और सब जगतकी उत्पत्ति होनेके पूर्वकालसे भी विद्यमान है।

इसका ज्ञान।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र बडी सहायता देता है—

सुरुचः सीमतः वेनः वि आवः। (सू. १, मं. १)

' (सु-रुचः) उत्तम प्रकाशमान (सीमा-तः) सीमाओंसे ही (वेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है। ' जिस प्रकार बादलोंसे छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकनेवाले किनारोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादियोंके पीछे रहकर सूर्यादियोंको चमकानेवाला यह देव इन गोलोंका चमकाहटसे ही जाना जाता है। ' जिसको सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं, वह ब्रह्म है। ' अर्थात् सूर्यादियोंके सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्माका ज्ञान होता है। सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है। उसके ज्ञानके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

इसके लिये उपमा।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, सृष्टीमें उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसा—

अस्य उपमाः बुध्न्याः वि-स्थाः। (सू. १, मं. १)

' इसके लिये उपमाएं (बुध्न्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वे ही हैं। ' अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो ' वह सूर्यका भी सूर्य है, ' ' वह चन्द्रमाका भी चन्द्रमा है ' इस प्रकार किया जाता है। अर्थात् सूर्यादिकोंकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है। या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका

कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी वह प्रकाशक है इसलिये वह सूर्यका भी सूर्य है ऐसा जाने। यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है।

आदि कारण।

सबका आदि कारण वह परमात्मा ही है। सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल-आदि कारण वह है। देखिये—

सतः असतः च योनिं सः वि वः। (सू. १, मं. १)

'सत् और असत्का आदि कारण वह है इस विषयमें यथायोग्य विवरण ज्ञानी ही करता है।' अन्य मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता। वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं।

श्रेष्ठ जीवन।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बडे महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है वह इस समय देखिये—

**इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे॥** (सू. १, मं. २)

'मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम श्रेणीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढे और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लिये ही इस सुन्दर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे।' इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं—

१ **भुवनेष्ठाः (भुवने-स्थाः)** = भुवनमें रहनेवाली। 'भुवन' शब्दका अर्थ है— 'मनुष्य, मानवजाति, प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान और अभ्युदयको प्राप्त स्थिति।' इनमेंसे यहां 'मनुष्य अथवा मानवजाती यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति **(प्रथमाय जनुषे)** प्रथम श्रेणीका जीवन व्यतीत करनेके लिये **(अग्रे एतु)** आगे बढे अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है। मानवेतर प्राणी या पदार्थोंमें इसकी संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थ ही यहां अपेक्षित है।

२ **पित्र्या राष्ट्री= (पित्र्या)** पितासे आनुवंशिक शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत **(राष्ट्री)** तेजस्वी सुप्रकाशित बुद्धि।

इस प्रकारकी बुद्धि मनुष्यके अन्दर शुभ संकल्प सुदृढ करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य बलवान बनकर **(प्रथमाय जनुषे)** प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करनेका उत्साह अपने मनमें बढावे। उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करें। बीचमें कोई प्रलोभन आवे तो उसमें न फंसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे। अर्थात् शुभाशुभ अवस्थाएं प्राप्त होनेपर भी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोडे। इसके पश्चात्—

प्रथमाय धास्यवे घर्मं श्रीणन्तु। (सू. १, मं. २)

'सबके मुख्य आधारभूत परमात्माके लिये यज्ञ सिद्ध करे।' अर्थात् यज्ञ करे और वह उसको समर्पण करनेकी बुद्धिसे ही करे, क्योंकि यज्ञका पुरुष वही है और सभी यज्ञ उसीके लिये किये जाते हैं।

यज्ञका लक्षण।

इसी मंत्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दों द्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ **अ-ह्यं- (अहीनं)**= जिसमें हीनता नहीं है; जिसमें हीन या त्याज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उच्चभावसे युक्त है।

२ **सुरुचं** = अत्यंत तेजस्वी। तेजस्विता बढानेवाला।

३ **ह्वारं**= दबानेवाला, बुराइयोंको और दुष्टताको दबाकर टेढा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर उठानेके लिये अवसर न देनेवाला।

'**घर्म**' यह यज्ञवाचक शब्द यहां है, इसका अर्थ 'उष्णता, सूर्यप्रकाश, यज्ञ' ऐसा है। यहां उष्णताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी उष्णता अर्थात् उत्साहशक्ति है। जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरुषार्थ प्राप्ति विषयक उत्साह बढता है उस यज्ञकर्मका नाम 'घर्म' है। पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवनको सार्थक करे।

परमात्माका सामर्थ्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि वही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत्को ठहरा रखा है—

१ **स हि दिवः पृथिव्याः च ऋतस्थाः।** (सू. १, मं. ४)

२ **सः मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्।** (सू. १, मं. ४)

३ **द्यां पार्थिवं सद्म रजः च स जातः मही अस्कभायत्।** (सू. १, मं. ४)

'(१) उसने द्युलोक और पृथ्वीलोकको सत्य नियमोंसे धारण किया है। (२) वही द्यावा पृथिवीको उसीने सुखपूर्ण किया है, और (३) द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षको उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विस्तृत और सुदृढ बनाया है।'

इस संपूर्ण जगत्का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ करता है। इसी विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यहां देखिये—

त्वं विश्वेषां जनिता असः। (सू. १, मं. ७)

'तू सबका उत्पन्न कर्ता है' इसमें असंदिग्ध रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है। यही बात भिन्न शब्दों द्वारा तृतीय मंत्रमें भी कही है—

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार। (सू. १, मं. ३)
मध्यात् नीचैः उच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ।
(सू. १, मं. ३)

'ब्रह्म ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, उसीके मध्यसे, निम्नभागसे और उच्च भागसे उसकी अपनी धारकशक्तियां चारों ओर फैली हैं।' ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट होता है, और उसीसे अनंत धारकशक्तियां उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ज्ञान, मंत्र, वेद, ब्राह्मण, भक्त, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रजापति' ये हैं। यहां एक 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'आत्मा, ज्ञान, बुद्धि, तप' आदि हैं। ब्रह्मके अन्दर 'स्व-धा' निजधारकशक्ति है वही सबका धारण करती है। इसमें निजशक्ति होनेसे किसी अन्यकी शक्तिकी अपेक्षा यह नहीं करता। यही दूसरोंको शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है। इसीसे ये सूर्यचन्द्रादि तेजके गोले बने हैं और उसीकी शक्तिसे अपने अपने स्थानमें स्थित हैं।

ज्ञानी।

इस परमात्माका जो बंधु होता है अर्थात् जो भाई जैसा इसके साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

यः विद्वान् अस्य बन्धुः जज्ञे,
सः देवानां जनिमा विवक्ति॥ (सू. १, मंत्र ३)

'जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्यादिके विषयमें यथायोग्य विवरण कर सकता है।' क्योंकि वही मनुष्य ठीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है। उसका भाई बननेका तात्पर्य उच्चाधिकारसे संपन्न होना है। जीवात्मा उस परमात्माका जैसा 'अमृतपुत्र' है, वैसा ही उसका 'बंधु' भी है। ये शब्द जीवात्माकी उन्नतिके दर्जे बताते हैं। वस्तुतः भाई आदि संबंध वहां लाक्षणिक ही हैं, ये संबंधवाचक मनुष्यकी उन्नतिकी अवस्था बतानेवाले हैं।

यह मनुष्यकी योग्यता किस रीतिसे बढती है इस विषयमें पञ्चम मंत्रका एक वचन बडा मनोरंजक है; वह अब देखिये—

अथ यत् ज्योतिषा शुक्रं अहः जनिष्ट
(तेन) द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु। (सू. १, मं. ५)

'जो परमात्माकी ज्योतिका प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकारसे रहें,' अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे बंधा होना चाहिये। विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे ही उनकी योग्यता बढती है। इनको परमात्माके प्रकाशसे प्रज्वलित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये। जहां वे विचरें वहां परमात्माकी अखंड ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये। उसीके उजालेसे उसके व्यवहारका मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, तभी उन्नतिकी संभावना है।

सूर्यके प्रकाशसे जो 'दिन' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले 'दिन' के साथ तुलना करनेसे वह दिन कहलानेके भी योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इसलिये परमात्माके प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेष ही है।

ज्ञानीकी जाग्रती।

जो विद्वान् इस प्रकारके मार्गसे अपनी उन्नति करनेका इच्छुक है उसको उचित है कि वह जाग्रत रहे, प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेता जाय। ऐसा करनेसे ही उसकी निःसन्देह उन्नति होती है। यदि अवसर आनेपर वह सो जावे तो वह पीछे रहेगा; इस विषयमें छठा मंत्र बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ एष बहुभिः साकं इत्था जज्ञे। (सू. १, मं. ६)
२ (परंतु) अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः
धाम काव्यः नूनं हिनोति। (सू. १, मं. ६)
३ (अन्ये) पूर्वे अर्धे विसिते ससन् नु।
(सू. १, मं. ६)

'(१) यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ-साथ उत्पन्न हुआ था, (२) परंतु प्राचीन देवका वह श्रेष्ठ धाम यही अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ जन्मे

हुए अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया था उस समय सोये पडे थे।' द्वार खुल जानेके समय ज्ञानी जागता था इस कारण ज्ञानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पडे थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके। यह मंत्र अवसरके महत्त्वका वर्णन कर रहा है।

जिस दिन ज्ञानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे, परंतु योग्य अवसरको गवां देनेस अन्य मनुष्य पीछे रह गए और जागता हुआ ज्ञानी प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेनेक कारण आगे बढ सका। मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको जागते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है। जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेक इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें।

नमन और गुणचिंतन।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें ज्ञानी बननेके मुख्य दो साधन कहे हैं, एक परमात्माको भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना। इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा अवगच्छात्। (सू. १, मं. ७)

' निश्चल परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वज्ञ देव है, उसको जो मनुष्य नमन करता है वही उसको जानता है।' भक्तिसे परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिससे कि मनुष्य उच्च होता रहता है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। नम्र होनेके सिवाय आत्माकी शक्ति विकसित नहीं हो सकती। नम्रतापूर्ण अंतःकरणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ त्वं विश्वेषां जनिता असः। (सू. १, मं. ७)
२ कविः स्वधावान् देवः न दभायत्। (सू. १, मं. ७)

' हे देवाधिदेव! तू ही सबका एक उत्पादक है। हे देव! तू ज्ञानी, निजसामर्थ्यसे युक्त है, इसलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता।' इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुणगान करना चाहिये। इसी प्रकार—

तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः। (सू. १, मं. ५)

' इस जगत्का सचा एक सम्राट् बृहस्पति देव है।' यहां बृहस्पतिदेव परमात्मा ही है। ' बृहस्पति ' का अर्थ ' ज्ञानका स्वामी, बडे विश्वका प्रभु ' ऐसा होता है। इस सूक्तका यही देवता है। जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वज्ञताका वर्णन कर रहा है।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी प्राप्तिका उपाय इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जो पाठक ब्रह्मविद्याके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

किस देवताकी उपासना करें ?

[सूक्त २]

(ऋषिः - वेनः। देवता - आत्मा)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें ? (यः आत्म-दाः बल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मानते हैं और (यः अस्य द्विपदः, यः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है। इसीकी पूजा सबको करनी योग्य है ॥ १ ॥

भावार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें ? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संपूर्ण अन्य देव करते हैं, जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक मात्र प्रभु है ॥ १ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥
यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥
यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥
यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें ? (यः प्राणतः निमिषतः जगतः) जो श्वास उच्छ्वास करनेवाले और आंखे मूंदनेवाले जगत्का (महित्वा एकः राजा बभूव) अपनी महिमासे एक ही राजा हुआ है । (यस्य छाया अमृतं) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करना ही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें ? (चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः) लडने भिडनेवाली दो सेनायें जिसकी शरण जाती हैं और (भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) डरनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः) जिसके लोकको जानेका यह मार्ग विशेष संमान बढानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम यजन द्वारा उपासना करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (उर्वी द्यौः) विस्तीर्ण द्युलोक, (च मही पृथिवी) और बडी पृथ्वी तथा (यस्य अदः उरु अन्तरिक्षं) जिसकी महिमासे यह लंबाचौडा अन्तरिक्ष और (यस्य असौ सूरः विततः) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम पूजा करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमवाले पहाड खडे हैं और (यस्य समुद्रे इत् रसां आहुः) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है । (इमाः च प्रदिशः यस्य बाहू) और ये दिशायें जिसकी बाहु हैं उस देवकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अपनी सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंख मूंदने और न मूंदनेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है ॥ २ ॥

लडनेवाली दोनों सेनाएं विजय प्राप्त्यर्थ जिसकी शरण जाती हैं, ये द्यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं, तथा जिसकी प्राप्तिका मार्ग उसपरसे चलनेवालेकी योग्यता बढानेवाला होता है ॥ ३ ॥

जिसकी महिमासे द्युलोक विस्तीर्ण हुआ है, यह पृथ्वी बडी बनी है और यह अंतरिक्ष लंबा-चौडा बना है तथा जिसकी सामर्थ्यसे सूर्य प्रकाशता है ॥ ४ ॥

जिसके बलसे ये हिमयुक्त ऊंचे पर्वत खडे हुए हैं, प्राणियोंके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बनी है और सब दिशा उपदिशाएं जिसकी बाहुओंके समान फैली हैं ॥ ५ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥
हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥
आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? (ऋतज्ञाः अमृताः) सत्य नियमसे चलनेवाली जीवनशक्तिसे युक्त और (गर्भं दधानाः आपः) गर्भको धारण करनेवाले जलने (अग्रे विश्वं आवन्) प्रारंभमें विश्वको गति दी थी। (यासु देवीषु अधि देवः आसीत्) जिन दैवी शक्तियोंके ऊपर एक देव विराजता है उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥ ६ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? जो (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें सुवर्ण जैसे चमकनेवाले पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाला था, (भूतस्य एकः पतिः आसीत्) भूतमात्रका एक ही स्वामी था, (सः दाधार पृथिवीं उत द्यां) उसीने भूमि और द्युलोकका धारण किया है, उस एक देवकी हम सब पूजा करें ॥ ७ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना करें ? (अग्रे वत्सं जनयन्तीः) जगतके प्रारंभमें बालकको जन्म देनेवाली (आपः गर्भं समैरयन्) जलधाराओंने गर्भको प्रेरित किया (उत तस्य जायमानस्य) उस उत्पन्न होनेवाले बालकका जो (हिरण्ययः उल्बः आसीत्) सुवर्ण जैसा झिल्लीरूप था, उसकी हम सब उपासना करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली, गर्भ धारण करके प्रजा उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूप जलकी धाराएं जब विश्वरचनाके लिये आगे बढीं तब उनका संचालन करनेवाला जो एक देव था ॥ ६ ॥

जिसके अन्दर सूर्यके समान हजारहां चमकनेवाले गोले रहते हैं, इस उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत्का जो एक ही सच्चा स्वामी है और जिसने द्यावापृथिवीका धारण किया है ॥ ७ ॥

प्रारंभमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले मूल प्रकृतिके प्रवाह जब प्रेरित हुए, उस समय उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रका, गर्भके ऊपरकी झिल्लीके समान जो तेजस्वी संरक्षक था; उसीकी सबको उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हरएक उपासकके सन्मुख 'हम किस देवताकी उपासना करें' यह प्रश्न आता है, और हरएक धर्मने इसका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है। वेदके सन्मुख भी यही प्रश्न आया है; चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बडी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है। इस सूक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतने ही मंत्रों द्वारा विभिन्न पहलुओंसे इसका उत्तर दिया है। यह विषय बडे महत्त्वका है इसलिये इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है।

वस्तुतः यह सूक्त अति सरल है; तथापि इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख है, इसलिये 'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहां करते हैं।

प्रश्नका महत्त्व।

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (सू. २, मं. १-८)

'किस देवके लिये हविसे करें' यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविसे क्या करेंगे वह यहां कहा नहीं है। हविसे हवन करते हैं, हवनका अर्थ 'आहुति समर्पण' है। हवनमें हवन

सामग्रिकी आहुतियां डाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देनेके समय कहते हैं कि—

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम।

इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम।

' अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं। इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है।' ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविसे जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उसपरका अपना अधिकार छोडा जाता है। यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि 'किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें; किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवताके लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहें' यह सार इस प्रश्नका है। जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इसलिये उस देवताका पता हमें कैसे लगेगा इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोजके लिये उस देवताके निम्न लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ **यः आत्मा-दाः**— जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्थात् अपने समान बननेकी योग्यतासे युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अंदर रखा है।

२ **यः बल-दाः**— जो बल देनेवाला है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक बल जिससे प्राप्त होता है।

३ **विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते**— सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगत्में, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान् राष्ट्रमें और नेत्रादि इंद्रियशक्तियां शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं। तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं।

४ **यः द्विपदः चतुष्पदः ईशे**— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है। सब पशुपक्षियोंका जो एक जैसा पालन करता है।

५ **यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव**— जो प्राणियों तथा अन्योंका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है। इसीका शासन सर्वोपरि है।

६ **यस्य छाया अमृतं**— जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है।

७ **यस्य (अच्छाया) मृत्युः**— जिससे विमुख होना मृत्यु है। यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोडना आदि समझना चाहिये।

८ **यस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः**— परस्पर विरोध करनेवाले और आक्रोशके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं।

९ **भियसाने रोदसी यं अह्वयेथां**— भय प्राप्त होनेपर द्यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं। भयके समय किसी दूसरेकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं।

१० **यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः**— जिसके लोकको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवालेकी योग्यता बढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पहुंचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है। जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता बढ जाएगी।

११ **यस्य द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्षं उरु**— जिसके प्रभावसे द्यौ, पृथ्वी और अंतरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं।

१२ **यस्य महित्वा असौ सूरः विततः**— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है।

१३ **यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः**— जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खडे हुए हैं।

१४ **यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः**— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं।

१५ **यस्य बाहू इमाः प्रदिशः**— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं।

१६ **ऋतज्ञाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्वं आयन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्**— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली मूल प्रकृतिकी प्रवाहकी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था।

१७ **हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत**— जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है।

१८ **भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्**— सब जगत्का जो एकमात्र स्वामी प्रसिद्ध है।

१९ स दाधार पृथिवीं उत द्याम्— जिसने पृथ्वी और द्युलोकका अर्थात् सब विश्वका धारण किया है ।

२० आपः गर्भं वत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययः उल्बः आसीत्- मूल प्रकृतिकी जलधाराएं अपने अंदरसे- गर्भसे- जगत् रूपी बछडा उत्पन्न करती हुई जब आगे बढीं तब उस जन्मे हुए विश्वरूपी बछडेका सुवर्णके समान चमकनेवाला झिल्लीके समान संरक्षक था ।

उसकी उपासना करो ।

पूर्वोक्त वीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबको करनी चाहिये । इससे भिन्न किसीकी भी उपासना करनी योग्य नहीं है ।

ये सब बीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक इससे अपने उपास्य देवको जानें और उसकी उपासना करके उत्तम गति प्राप्त करें ।

इन बीस लक्षणोंमें पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं । मनुष्यके अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते हैं । इसके पश्चात्के पांच लक्षणोंमें वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्यको अंतिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है । शेष लक्षणोंमें प्रायः परमात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है । दसवें लक्षणमें परमात्मप्राप्तिके मार्गका महत्व है । जो इस मार्गसे जाते हैं उनका सम्मान बढ जाता है । यह विशेष बात इसमें कही हैं । यह एकाग्र चित्तसे मनन करने योग्य हैं ।

कई लोक ' कस्मै देवाय हविषा विधेम । ' इस वाक्यसे यह अनुमान करते हैं कि इस सूक्तकी रचना करनेवालेको ईश्वरके विषयका निश्चित ज्ञान नहीं था, वह ईश्वरकी खोज कर रहा था । परंतु यह कथन निर्मूल है क्योंकि पूर्वोक्त वीस लक्षण परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इसके पूर्व ' ब्रह्म जज्ञानं० ' (सू० १) सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है । इसलिये ' अज्ञात देव ' की प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बडी भारी भूल है ।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले ' एक अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनी चाहिये ' यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है । जो उपासकोंके लिये बडा बोधप्रद और असंदिग्ध रीतिसे मार्गदर्शक है । आशा है कि विचारी पाठक इससे उचित बोध प्राप्त करेंगे ।

शत्रुओंको दूर करना ।

[सूक्त ३]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - रुद्रः, व्याघ्रः)

उदि॒तस्त्रयो॑ अक्रम॒न्व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑ ।
हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग्दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ्नमन्तु॒ शत्र॑वः ॥ १ ॥

अर्थ— (व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) बाघ, भेडिया और चोर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहांसे भागकर चले गये । (सिन्धवः हिरुक् यन्ति) नदियां नीचेकी गतिसे जाती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे भगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें ॥ १ ॥

भावार्थ— बाघ, भेडिया और चोर यहांसे भाग जावें । जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचेकी ओर जाते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः । परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥
अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि । आत्सर्वान्विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥
व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि । आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥
यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति । पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥
मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः । निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥
यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः । इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (परेण पथा वृकः एतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जावे । (उत परमेण तस्करः) और उससे भी दूरसे चोर चला जावे । (परेण दत्वती रज्जुः) दूरसे दांतवाली रस्सी अर्थात् सांपीन चली जावे । और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

हे व्याघ्र ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आंखोंको, (च ते मुखं) तेरे मुखको, (आत् च सर्वान् विंशतिं नखान्) और तेरे सब बीसों नखोंको (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

(दत्वतां प्रथमं व्याघ्रं) दांतवालोंमें पहिले वाघका, (आत् उ अहिं) और सांपका, (अथो वृकं) और भेडियेका, (स्तेनं अथो यातुधानं) चोर और लुटेरेका (वयं जंभयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर आवे, (संपिष्टः सः अप अयति) चूर चूर किया हुआ वह हट जावे और वह (पथा अप ध्वंसेन एतु) मार्गोंके विनाशसे अर्थात् मार्गको भूलकर चला जावे, और (इन्द्रः वज्रेण तं हन्तु) इन्द्र वज्रसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

(मृगस्य दन्ताः मूर्णा) हिंस्र पशुओंके दांत तोडे गये, (अपि पृष्टयः शीर्णा उ) और उसकी पसलियां टूट गयीं हैं । (ते गोधा निम्रुक् भवन्तु) तेरी गोह नीचे हो जावे, और (मृगः शशयुः नीचा अयत्) हिंस्र पशु लेटता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत् संयमः न वियमः) जिसका संयम किया हो उसको विशेष दबावमें न रखो, परन्तु (यत् न वियमः संयमः) जिसको विशेष दबावमें न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयममें रखो । यह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जंभनं असि) अथर्वविद्यासे व्याघ्रादिको दबानेका उपाय है ॥ ७ ॥

भावार्थ— भेडिया, चोर, सांप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाएं ॥ २ ॥

वाघकी आंखें, मुखके दांत और उसके बीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

तीक्ष्ण दांतवालोंमें वाघको, भेडियेको और सांपको तथा दुष्टोंमें चोर और लुटेरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

आज जो चोर हमपर हमला करेगा उसका पूर्ण नाश होगा और यदि वह बचेगा तो घबराकर अपना मार्ग भूलेगा । फिर शूर पुरुष अपने शस्त्रसे उसको काटेगा ॥ ५ ॥

हिंस्र पशुके दांत तोडे गये और पसलियां काटी गई हैं । सब हिंस्र पशु नीचे मुख करके डरसे भाग जावें ॥ ६ ॥

जिसको उत्तम प्रकारसे काबु किया है उसको और अधिक दबावमें न रखो, परंतु जिसको काबु नहीं किया है उसको अच्छी प्रकारसे दबावमें रखो । यह इन्द्र सोम और अथर्वाका दुष्टोंको दमन करनेका उपाय है ॥ ७ ॥

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है। यह सूक्त बडे व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसको पढनेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा। अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये-

अथर्वविद्याका नियम ।

१ यत् सं-यमः, न वि यमः,

२ यत् न वि यमः, सं-यम । (सू. ३, मं. ७)

' जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिलकुल न किया हो तो उसका संयम अवश्य किया जावे। ' यह अथर्वविद्याका नियम है—

आथर्वणं व्याघ्रजम्भनम् । (सू. ३, मं. ७)

' यह अथर्वविद्यासंबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है। ' यह दो प्रकारसे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः । (सू. ३, मं. ७)

' इन्द्र अर्थात् इंद्रियोंका अधिष्ठाता जो मन अथवा अंतः-करण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाली (**इन्द्र-जाः**) अंतः-शक्तिसे एक दमन होता है और (**सोमजाः**) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिसे एक दमन किया जाता है। ' दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं।

इस संपूर्ण सूक्तमें ' (१) **व्याघ्रः** (वाघ), (२) **वृकः** (भेडिया), (३) **अहिः** (सांप), (४) **दत्वती रज्जुः** (दांतवाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् सांपिन), (५) तथा अन्य दांतवाले, नाखूनोंवाले हिंस्र **मृगः** (हिंस्र-पशु) और **गोधा** (गोह) ' इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं। तथा ' **तस्करः, स्तेनः पुरुषः** (चोर मनुष्य), **अघायुः** (पापी), **यातुधानः** (लुटेरा), **शत्रुः** (वैरी) ' ये दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है.उसी प्रकार हिंस्र पशु आदियोंको भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये। यहां जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट होंगे उनको इसी विधिसे काबू करना चाहिये, और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये। यह इस सूक्तका आशय है।

वाघ, सांप और सांपिनके दांत उखाडकर उनको सौम्य बनानेका उपाय तीसरे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दांतो और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके शमनके लिये वर्ता जाने योग्य है।

सांप, वाघ, भेडिया आदि हिंसक प्राणी आ जायं तो उनको पीटना चाहिये, उनकी पसलियां तोडनी चाहिये, उनको मरने तक मारना चाहिये, यह बात मंत्र ३ से ६ तकके चार मंत्रोंमें बतायी है। तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर, लुटेरे, डाकू, दुष्ट आदि समाजघातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचाने लगें तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है।

इस दण्डेकी मारसे इन सब दुष्टों, हिंसकों और शत्रुओंको शान्त या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्तद्वारा उपदेश दिया है। परंतु वाघ, शेर, चोर, लुटेरे ये बाहरके समाजमें ही रहते हैं ऐसा मानना यही भारी भूल है। ये जैसे बाहर हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्तमें वाघ, भेडिया, चोर आदि बाहरके शत्रुओंके शमनके उपदेशके मिषसे वस्तुतः आन्तरिक हिंस्र पशुओंका और आंतरिक शत्रुओंका ही शमन करनेका उपदेश किया है। सप्तम सूक्तके ' संयम ' शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है।

मनुष्यके अंतःकरणके क्षेत्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेदमें पशु ही गिना है—

उलूकयातुं शुशुलूक यातुं जहि श्वयातु-
मुत कोकयातुम् । सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋग्वेद ७।१०४।२२)

' (**सुपर्ण-यातुं**) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, (**गृध्रयातुं**) गीधके समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (**कोक-यातुं**) चिडियोंके समान आचार अर्थात् काम, (**श्वयातुं**) कुत्तेके समान वर्ताव अर्थात् स्वकीयोंसे मत्सर या द्वेष, (**उलूक-यातुं**) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूढता, (**शुशुलूक-यातुं**) भेडियेके समान क्रूरता ये छः पशु मनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश वैसा करना चाहिये जैसा पत्थरोंसे पक्षियोंका करते हैं। ' काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ' ये छः शत्रु हैं, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये। इनके संयम करनेका यह उपाय सप्तम मंत्रमें कहा है—

१ जिनका संयम हो जाय उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये।

२ और जिनका संयम न हुआ हो उनको संयमके अंदर लाना चाहिये।

यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं। गाडीके घोडे पहिले केवल पशु होते हैं, पश्चात् उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर वे गाडीमें जोते जाते हैं। जो घोडे अच्छे नियमसे

चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको विना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीडित किया जाय तो वे बिगड बैठते हैं। अति दंडन इस प्रकार घातक होता है। इंद्रियोंके विषयमें भी यही बात है। जो इंद्रिय संयमित होती हैं, यदि उनको और कडे नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है और इस कारण उनके बिगड जानेकी संभावना हो जाती है। इसलिये संयममें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इंद्रियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परंतु साथ ही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये ताकि वे कुमार्गपर न जांय और संयममें ही स्थिर रहें। इस प्रकार संयमित इंद्रियों और वृत्तियोंसे बर्ताव करना चाहिये। परंतु जो संयममें स्थित नहीं हैं उनको नियमोंसे बांध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्वोक्त रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए संयमके मार्गमें सुरक्षित चलाना चाहिये।

खेलोंमें जो सिंह, व्याघ्रादियोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न करवाते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। शिक्षित हो जानेपर उनपर बाहरसे बहुत दबाव न डालते हुए, परंतु किसी भी प्रकार वे मर्यादाका उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्थासे उनकी पालना करते हैं। संयमके पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है वह बडी उपयोगी है।

मनुष्यके अंतःकरणमें जैसे ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। इस विषयमें योग्य बोध पाठक प्राप्त करें। यह संयम अपनी अंतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अंशतक सहायता ली जा सकती है। जैसा सत्वगुणी अन्नका सेवन करनेसे कामक्रोध कुछ अंशतक कम होते हैं और रजोगुणी वा तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ जाते हैं। मद्यमांसाशनसे कामक्रोध बढते हैं और उक्त पदार्थोंके सेवनसे निवृत्त हो जानेपर उनसे बच जानेकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बडे लाभ होने संभव हैं।

इतना होनेपर भी अपनी अंतःशक्तियोंसे कामादियोंका संयम करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

पाठक इस बातका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

बल संवर्धन।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वनस्पतिः, नानादेवता)

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

अर्थ— (यां त्वा) जिस तुझको (गन्धर्वः मृत-भ्रजे वरुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये खोदा है (तां त्वा शेपहर्षणीं ओषधिं) उस तुझ इंद्रियका सामर्थ्य बढानेवाली औषधिको (वयं खनामसि) हम खोदते हैं ॥१॥

(वाजिना शुष्मेण) शक्ति और बलके प्रभावसे (उषाः उदेजतु) उषाकी वेला ऊंची होवे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापतिः उत् एजतु) बलवान् प्रजापति ऊंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— तरुण मनुष्य शक्तिहीन हुआ तो उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इंद्रियशक्ति बढानेवाली औषधि देवे ॥१॥

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति । ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥
उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि । क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यथा स्म ते विरोहतः) जिस प्रकार तेरी वृद्धि होनेके समय (अभि तप्तं इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास चढता है (ततः ते शुष्मवत्तरं) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान (इयं ओषधिः कृणोतु) यह औषधि करे ॥ ३ ॥

(ऋषभाणां ओषधीनां शुष्मा सारः उत्) ऋषभक नामक औषधियोंका बलवर्धक सार बल बढावे । हे (तनू-वशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुंसां वृष्ण्यं अस्मिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण कर ॥ ४ ॥

(वनस्पतीनां अपां प्रथमजः रसः) वनस्पतिके जलांशका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता असि) और सोमका रस, भाई जैसा पोषणकर्ता है, (उत आर्शं वृष्ण्यं असि) और उठाने तथा बल बढानेवाला है ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (अद्य) आज, हे सविता ! (अद्य) आज, हे सरस्वती देवी ! (अद्य) आज, हे ब्रह्मणस्पते ! (अद्य) आज (अस्य पसः धनुः इव आ-तानय) इसकी इंद्रियको धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

(अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इन्द्रियको फैलाता हूं । (धन्वनि अधि ज्यां इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं । (ऋशः रोहितं इव) जैसे हिंसक पशु हरिणपर धावा करता है उस प्रकार तू (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्वस्य च) घोडेके, खच्चरके और मेंढेके, (अथ ऋषभस्य) और बैलके (ये वाजाः) जो बल हैं, हे (तनूवशिन्) शरीरको वशमें करनेवाले ! तू (तान् अस्मिन् धेहि) उन बलोंको इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार उषा प्रकाशती है, सूर्य उदयके पश्चात् चमकने लगता है, और वक्ताका शब्द बडा होता जाता है, उसी प्रकार इस औषधिके सेवनसे सतानका पिता पुनः बलवान होगा ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीर अधिक बलवान होगा और इन्द्रियोंकी शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋषभक औषधियोंका यह शक्तिवर्धक सार है । शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंकी शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान बने ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरस, सोमवल्लीके समान इस वल्लीका रस ये सब शक्ति बढानेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे देवो ! आज इसकी इंद्रियकी शक्ति बढा दो ॥ ६ ॥

इसकी इंद्रियोंको मैं पुष्ट करता हूं, जैसा हिंस्रपशु हरिणको पकडता है, इस प्रकार यह न थकता हुआ चढाई करे ॥ ७ ॥

घोडे, खच्चर, मेंढ और बैलमें शक्तियां हैं वे सब शक्तियां, हे शरीरको स्वाधीन करनेवाले मनुष्य ! तू इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

बलवर्धन।

इंद्रियोंके बल बढानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषकी जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पूर्ववत् स्थिर करनेके लिये ऋषभक औषधियोंका रस सेवन करनेका उपदेश इसमें किया है। ऋषभक औषधि और जीवक औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमवल्ली वहां होती है। इसीलिये ऋषभककी सोमका भाई मं. ५ में कहा है। यह ऋषभक औषधि वीर्यवर्धक है। वाजीकरणके लिये अत्यंत उपयोगी है। (इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते।) सुयोग्य वैद्य इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें। यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यंत गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तसे प्रतीत होता है।

गाढ निद्रा।

[सूक्त ५]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता— स्वापनं, ऋषभः)

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥
न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन। स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥
प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥
एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्। अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥
य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति। तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

अर्थ— (सहस्रशृंगः वृषभः) सहस्र सींगवाला अर्थात् हजारों किरणोंसे युक्त बलवान् चन्द्र (यः समुद्रात् उदाचरत्) जो समुद्रसे उदय हुआ है, (तेन सहस्येन) उस बलवानकी सहायतासे (वयं जनान् नि स्वापयामसि) हम जनोंको सुला देते हैं ॥ १ ॥

(न वातः भूमिं अति वाति) इस समय न तो वायु भूमिपर अधिक चलता है, (न कश्चन अतिपश्यति) न कोई ऊपरसे देखता है, (इन्द्रसखा चरन्) इन्द्रका मित्र होकर बहता हुआ तू वायु (सर्वाः स्त्रियः शुनः च स्वापय) सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको सुला दे ॥ २ ॥

(प्रोष्ठ-शयाः तल्पे-शयाः) मचकोंपर सोनेवाली, खाटोंपर सोनेवाली (वह्य-शीवरी) हिंडोला आदिमें सोनेवाली (याः नारीः) जो स्त्रियां हैं (याः पुण्यगन्धाः स्त्रियः) जो पुण्य गन्धवाली स्त्रियां हैं (ताः सर्वाः स्वापयामसि) इन सबको हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

(एजत्-एजत् चक्षुः अजग्रभम्) इधर उधर भटकनेवाली आंखको मैंने निग्रहमें रखा है, उसी प्रकार (प्राणं अजग्रभम्) प्राणको मैंने स्वाधीन किया है, (रात्रीणां अति शर्वरे) रात्रीयोंके अंधकारमें (सर्वा अंगानि अजग्रभं) सब अंगोंको मैंने निग्रहमें रखा है ॥ ४ ॥

(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है, जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो खडे होकर देखता है (तेषां अक्षाणि संदध्मः) उनकी आंखोंको हम बन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद किये जाते हैं ॥ ५ ॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥
स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ — (माता स्वप्तु, पिता स्वप्तु) माता सोवे, पिता सोवे, (श्वा स्वप्तु, विश्पतिः स्वप्तु) कुत्ता सोवे, और प्रजारक्षक सोवे, (अस्यै ज्ञातयः स्वपन्तु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवें, (अयं जनः अभितः स्वप्तु) यह सब लोग चारों ओर सोवें ॥ ६ ॥

हे (स्वप्न) निद्रा ! (स्वप्न-अभिकरणेन) नींदके उपायसे (सर्वं जनं नि ष्वापय) सब जनोंको सुला दे। (अन्यान् जनान् आ-उत्-सूर्यं स्वापय) अन्य जनोंको सूर्य उदय होनेतक सुला दे। परन्तु (अहं इन्द्र इव) मैं शूर पुरुषके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतात्) जागता रहूं ॥ ७ ॥

[यह सूक्त अति सरल होनेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है।]

गाढ निद्रा लानेका उपाय।

इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है। चन्द्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शांतिका ध्यान करनेसे मन शान्त बनकर गाढ निद्रा आ सकती है (मं. १)। मन्द वायु चल रहा है इस प्रकारकी भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है (मं. २)। आंखोंको, अंगों और अवयवोंको तथा प्राणको शांत करनेसे भी निद्रा आती है (मं. ४)। तरुण स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी वृत्तियां शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शान्ति बढाना चाहिये, जिससे सुखपूर्वक वे सो सकेंगे। पास रक्षाके लिये कुत्तोंको भी सुलाना चाहिये। (मं. ६)

जो रक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परन्तु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबकी रक्षा करें। (मं. ७)

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

विषको दूर करना।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — गरुत्मान्। देवता — तक्षकः)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥
यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥
सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत्। नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥
यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः। अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥
शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः। अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्रथमः दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको सारहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा) जितने द्युलोक और भूलोक विस्तारसे फैले हैं, (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्ठिरे) सात नदियां जितनी फैली हैं, वहांतक (विषस्य दूषणीं तां वाचं) विषको दूर करनेवाली उस वाणीको (इतः निरवादिषं) यहांसे मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) वेगवान गरुडपक्षीने (प्रथमं त्वा आवयत्) प्रथम तुझको खाया। उसे (न अमीमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरूरुपः) न बेहोष किया, (उत अस्मै पितुः अभवः) परंतु तू उसके लिये अन्न बन गया ॥ ३ ॥

(यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पांच अंगुलियोंसे युक्त वीरने (वक्रात् चित् धन्वनः अधि) टेढे धनुष्यपरसे (अपस्कंभस्य शल्यात्) बंधनसे निकाले शरसे (ते विषं आस्यत्) तेरे अन्दर विष चलाया है (अहं विषं निरवोचं) मैंने उस विषको हटा दिया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राञ्जनात् उत पर्णधेः) शल्यसे, लिप्तभागसे, पङ्खवाले स्थानसे (विषं निरवोचं) विष मैंने हटाया है। (अपाष्ठात् शृंगात् कुल्मलात्) फालसे, सींगसे और बाणके अन्य भागसे (अहं विषं निरवोचं) मैंने विष दूर किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— ज्ञानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेका उपाय मैं उद्घोषित करता हूं यह सब जगत्में फैल जावे ॥ २ ॥

गरुड पक्षीको विषकी बाधा नहीं होती है वह विष खाता है, परन्तु उसको न तो उन्माद चढता है और न बेहोषी आती है। विष तो उसके लिये अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

वीर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं उससे हम वह विष दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि, मध्य और अग्रभागसे हम विष दूर करते हैं ॥ ५ ॥

अ॒र॒सस्त॑ इषो श॒ल्योऽथो॑ ते अर॒सं वि॒षम्। उ॒तार॒सस्य॑ वृ॒क्षस्य॒ धनु॑ष्टे अरसार॒सम् ॥ ६ ॥
ये अपी॑ष॒न्ये अदि॑ह॒न्य आस्य॒न्ये अ॑वासृ॒जन्। सर्वे॑ ते वध्र॑यः कृ॒ता व॒ध्रिर्वि॑षगि॒रिः कृ॒तः ॥ ७ ॥
वध्र॑यस्ते ख॒नि॒तारो॑ व॒ध्रिस्त्व॑मस्योषधे। व॒ध्रिः स पर्व॑तो गि॒रिर्यतो॑ जा॒तमि॒दं वि॒षम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः अरसः) तेरी बाणकी अणि निःसार है, (अथो ते विषं अरसं) और तेरा विष साररहित है। हे (अरस) रस रहित शुष्क ! (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) साररहित वृक्षका तेरा धनुष (अरसं) निःसत्व हो जावे ॥ ६ ॥

(ये अपीषन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिहन्) जिन्होंने लेप दिया है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फेंका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्यपर छोडा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल किये गये हैं, (विषगिरिः वध्रिः कृतः) विषपर्वत भी निर्बल किया गया है ॥ ७ ॥

हे (ओषधे) विषकी औषधि ! (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदनेवाले निःसत्व हुए, (त्वं वध्रिः असि) तू भी निःसत्व है। (स पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड भी निर्वीर्य हुआ (यतः इदं विषं जातं) जहांसे यह विष उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ— इस प्रकार सब बाण हम निर्विष करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषको पीसते हैं, उसका लेप बाणपर करते हैं, जो बाण फेंकते हैं अथवा वेधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे निर्विष हुए हैं और सब विष भी निकम्मा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

इस प्रकार विषवल्लीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वत भी निःसत्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय।

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय कहे हैं। पहिला उपाय ' सोमपान ' करना है। सोमपान करनेसे विष दूर होता है। (मं. १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है। इसमें कहा है कि ' दस शीर्ष और दस मुखवाला ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई। ' इसमें ' दशशीर्ष और दशास्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं। शीर्ष शब्द बुद्धिका और आस्य शब्द वक्तृत्वका वाचक है। दस गुणा बुद्धिमान् और दस गुणा विद्वान्, यह इस शब्दका भाव है। जो ऐसा विद्वान् सोमयाग करके उसका यज्ञशेष सोम पीता है उसका विष दूर होता है, ऐसा यहां आशय दीखता है। ' इस सोमयागसे विषबाधा दूर होती है ' यह घोषणा सब जगत्‌में दी जावे, (मं. २) ताकि सर्वत्र सोमयाग होते रहें और सब देश निर्विष होवें। जल वायुको निर्दोष और निर्विष करनेका उपाय यह सोमयाग है।

दूसरा उपाय गरुडपक्षीका है। गरुड सांप आदि विषजन्तुओंको खाता है, उनका विष उनके पेटमें जाता है, परंतु उसको विष बाधा नहीं होती, मानो यह विष उसका अन्न ही बन जाता है। संभव है कि इस विषयकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपायका ज्ञान हो जावे। खोज करनेवाले पाठक गरुडकी पाचक शक्तिके विषयमें खोज करें और लाभ उठावें।

अन्य मंत्रोंका विषय युद्धमें विषदग्ध बाण लगनेसे जो विषबाधा होती है, उस संबंधका विष दूर करनेका है। यह विषय हमारे समझमें नहीं आया है। इसलिये इस विषयमें हम अधिक कुछ भी नहीं लिख सकते।

विष दूर करना।

[सूक्त ७]

(ऋषिः - गरुत्मान् । देवता - वनस्पतिः)

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥
करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदाराथिम् । क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥ ३ ॥
वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि । प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥
परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि । तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

अर्थ— (वारणावत्यां अधि) वारणानामक औषधिमें रहनेवाला (इदं वार् वारयातै) यह रस, जल, विषको दूर करता है। (तत्र अमृतस्य आसिक्तं) वहां अमृतका स्रोत है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

(प्राच्यं विषं अ-रसं) पूर्व दिशाका विष रसहीन होवे, (यत् उदीच्यं अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वह भी रसहीन होवे। (अथ इदं अधराच्यं) अब जो नीचेकी दिशाका यह विष है वह (करम्भेण विकल्पते) दहीसे विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुः-तनो) दोषयुक्त शरीरवाले! (तिर्यं=तिल्यं) तिलोंका (पीवः+पाकं) घीके साथ पका हुआ (उदा-राथिं = उदर-थिं) पेटको ठीक करनेवाला (करम्भं) दधि मिश्रित अन्न (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुधाके अनुकूल खाया जायगा, तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोष नहीं होने देगा ॥ ३ ॥

हे (मदावति) मूर्च्छा लानेवाली! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी बेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं। और (येषन्तं चरुं इव) चूनेवाले बर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधीसे हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इव) इकट्ठे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुमको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचा औषधिसे सब प्रकार ठहरा देते हैं। (स्थाम्नि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर वृक्षके समान ठहर। हे (अभ्रि-खाते) कुद्दालसे खोदी हुई! तू (न रूरुपः) बेहोष नहीं करेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उसमें जो अमृतका स्रोत होता है, उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे प्राच्य और उदीच्य विष शान्त होता है। निम्नभागका विष दहीके प्रयोगसे विफलसा होता है ॥ २ ॥

विष शरीरको बिगाडता है। उसके लिये तिलोंके पाकमें बहुत घी डालकर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रित करके अपने पेटकी स्थिति और भूखके अनुकूल खाया जाय तो विषसे आनेवाली मूर्च्छा दूर होती है ॥ ३ ॥

औषधिके विषसे मूर्च्छा या बेहोशी आती हो तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इससे मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥

वचा औषधिके प्रयोगसे विष अपना असर नहीं कर सकता और बेहोषी दूर होती है ॥ ५ ॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत । प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥
अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे । वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे ॥ ७ ॥

अर्थ— (पवस्तैः दूर्शेभिः उत अजिनैः) ओढनेकी चादरें, दुशाले और कृष्णाजिनोंसे, हे ओषधे ! तू, (प्रक्रीः असि) विकाऊ वस्तु है। हे (अभ्रि-खाते) कुद्दालसे खोदी हुई ! तू (न रूरुपः) मूर्च्छित नहीं करती है ॥ ६ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां न कष्ट दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि एक विकाऊ चीज है, इससे मूर्च्छा हट जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर और उस प्रकार अपने बालबच्चों तथा पुरुषोंको विनाशसे बचाओ। यही हमारा कहना है ॥ ७ ॥

दो औषधियां

इस सूक्तमें वारणा और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके लिये कहा है।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आने लगी तो तिलौदन दहीके साथ खानेका उपाय तृतीय मन्त्रमें कहा है।

[सूचना— ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्योंको ही करना चाहिये, क्योंकि औषधिवाचक शब्दोंके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषाविज्ञानसे यह विषय सुलझ नहीं सकता। इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परम्पराको जाननेवाले सुयोग्य वैद्य यदि इस विषयकी खोज करेंगे तो इससे जनताका बहुत लाभ हो सकेगा। केवल भाषाविज्ञानी ऐसे सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं और अर्थके सत्यासत्यका निर्णय भी वे ही कर सकते हैं।]

राजाका राज्याभिषेक।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — चन्द्रमाः, आपः, राज्याभिषेकः)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

अर्थ— जो (भूतः) स्वयं प्रभावशाली बनकर (भूतेषु पयः आ दधाति) सब प्रजाजनोंको दुग्धादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही प्रजाओंका अधिपति हो जाता है। (तस्य राज-सूयं मृत्युः चरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न हो जानेपर स्वयं मृत्यु ही दण्ड लेकर उसकी सहायतार्थ राज्यमें भ्रमण करता है। (सः राजा इदं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यकी अनुमतिसे चले ॥ १ ॥

भावार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताके लिए विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देनेके कार्य करता है, वही लोगोंका अधिपति होता है। जो मृत्यु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है वह उस राजाका शासक दण्डधारी होकर उसकी सहायता करता है। इस प्रकारका जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे ॥ १ ॥

अभि प्रेहि मापं वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥
आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥
व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥
या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥
अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (मित्रवर्धन ! मित्रोंको बढानेवाले राजन् ! तू (उग्रः चेत्ता सपत्न-हा अभिप्रेहि) प्रतापी, चेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आगे बढ। (मा अपवेनः) पीछे न हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर ठहर जा। (तुभ्यं देवाः अधि ब्रुवन्तु) तेरे लिये विद्वान् लोग योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

(आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूषन्) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकृत करें। यह राजा (श्रियं वसानः स्व-रोचिः चरति) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है। इस (वृष्णः असु-रस्य तत् महत् नाम) बलवान्, प्रजाओंके प्राणरक्षक राजाका वही बडा यश है। वह (विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः) व्याघ्र स्वभाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर (महीः दिशः विक्रमस्व) विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर। (पयस्वतीः आपः) दुग्धादि प्राप्त करनेवाली (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा वाञ्छन्तु) तुझे चाहें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उत वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (या दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पयसा मदन्ति) अपने रससे तृप्त करते हैं (तासां सर्वासां अपां) उन सब जलोंके (वर्चसा त्वा अभिषिञ्चामि) तेजसे तेरा अभिषेक करता हूं ॥ ५ ॥

(दिव्याः पयस्वतीः आपः) दिव्य रसयुक्त जलोंने (वर्चसा त्वा अभि असिचन्) अपने तेजसे तुझे अभिषिक्त किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंकी वृद्धि करनेवाला होवे और (सविता त्वा तथा करत्) सबका प्रेरक देव तुझे वैसा योग्य करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजा अपने मित्र बढावे। वह राजा प्रतापी प्रजामें चेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आगे बढे। अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे। ऐसे राजाको विद्वान् लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलंकृत करते हैं। यह राजा ऐश्वर्यको पास रखता हुआ तेजस्वी बनकर राज्यमें विचरता है। प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले बलवान् राजाका यही बडा यश है। वह राजा विविध अधिकारियोंके रूप धारण करके विविध सुखोंको बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमनके लिये योग्य प्रखर उपायोंकी योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे। दूध, जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको अपने शासनके लिये चाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो दिव्य जल हैं उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः ॥ ७ ॥

अर्थ— (व्याघ्रं सिंहं परिषस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिषिक्त करनेवाली ये जलधाराएं इसको (महते सौभगाय हिन्वन्ति) बडे सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं। (सु-भुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमिभाग समुद्रको शोभित करते हैं। उसी प्रकार (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं द्वीपिनं) जलोंके अन्दर ठहरनेवाले, द्वीपाधिपति राजाको सब प्रजाएं (मर्मृज्यन्ते) सुभूषित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस दिव्य जलसे अभिषिक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बढावे और परमेश्वर उस राजाको वैसी ही प्रेरणा करे ॥ ६ ॥

यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है। इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार अपनी मर्यादामें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे सुभूषित होता है, उस प्रकार चारों ओरसे जलसे वेष्टित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राज्याभिषेक।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमें कहनेका यह सूक्त है। इस सूक्तके मननसे राज्याभिषेक विधिका ज्ञान होना संभव है। राजगद्दीपर राजाका अभिषेक होनेके लिये विविध जलाशयोंका जल लाया जाता है। समुद्र, पवित्र महानदियां, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशसे प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब जल लाये जाते हैं। इस मंत्रपूत जलसे राज्याभिषेक किया जाता है। इसका तात्पर्य बडा गंभीर है। राजाका राज्य समुद्रतक फैला हुआ होना चाहिये। यह पहिला बोध यहां मिलता है। जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारे तक राज्यका विस्तार होना देशोन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी विचारकी स्फूर्ति देनेके लिये सप्तम मंत्रके ' **समुद्र, अप्सु अन्तः, द्वीपी** ' ये शब्द हैं। पंचम मंत्रमें कहा है कि '**तासां सर्वासां अपां वर्चसा अभिषिञ्चामि।**' अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूं, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो।

समुद्रतक राज्यविस्तार।

समुद्रका और महानदियोंका जल दूसरे राजाके पाससे भिक्षा मांगकर लाया हुआ राज्याभिषेकके कामका नहीं है। अपने राज्यमें समुद्र चाहिये और महानदियां भी अपने राज्यमें चाहिये। और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये। इसका विचार करनेसे संस्कारकी चीजें किस प्रकार राज्यविस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसका पता लग सकता है।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (**पयः आ दधाति**) दुग्ध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (**अधिपतिः बभूव**) राजा होता है। इस राजाका सहायक यह मृत्यु ही होता है, मृत्यु देव सब जगत्‌को दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस मृत्युका अंश ही राजाके पास आकर निवास करता है। इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंको दण्ड देता है। इस प्रकार का प्रभावशाली राजा प्रजाका शासन करे। (मं. १) यह राजा शत्रुनाशक और मित्रवर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और बढावे। (मं. २) राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार ये राजाके ही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो, राजा (**विश्वरूपः**) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (**स्व-रोचिः**) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है। यही राजाकी महिमा है। (मं. ३) यह राजा बाघ और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करके यशका भागी बने।

अञ्जन ।

[सूक्त ९]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — त्रैककुदाञ्जनम्)

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् । विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि । अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥
यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः । ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् । नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

अर्थ— (जीवं त्रायमाणं) जीवकी रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आंखोंके लिये हितकारक, (विश्वेभिः देवैः दत्तं) सब देवोंने दिया हुआ, (कं) सुखस्वरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवनके लिये परकोटरूप है, तू (एहि) यहां आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवां परिपाणं असि) गौओंका रक्षक है, (अर्वतां अश्वानां) वेगवान घोडोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिये तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन ! तू (उत परिपाणं असि) निःसंदेह संरक्षक है और (यातु जंभनं) बुराइयोंका नाश करनेवाला है । (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है; (अथो जीव-भोजनं असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-भेषजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

हे (अञ्जन) अञ्जन ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्र सर्पसि) जिसके अंग अंगमें और जोड जोडमें तू व्यापता है, (ततः यक्ष्मं वि बाधसे) वहांसे रोगको हटा देता है, (मध्यमशीः उग्रः इव) मध्यस्थानमें रहनेवाले प्राणके समान तू उग्र है ॥ ४ ॥

हे अञ्जन ! (यः त्वा बिभर्ति) जो तेरा धारण करता है (एनं शपथः न प्राप्नोति) इसको दुष्ट भाषण प्राप्त नहीं होता है, (न कृत्या) न हिंसक कर्म और (न अभिशोचनं) न तो शोक उसके पास आता है। (विष्कन्धं एनं न अश्नुते) पीडा इसको नहीं घेरती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राणीमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिये सहायक, आंखके लिये हितकारी, सब देवोंसे प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वनस्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गौएं और घोडोंके लिये भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उत्तम संरक्षक, बुराइयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करनेवाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

यह अञ्जन जिसके अवयवों और संधियोंमें पहुंचता है वहांसे रोग हटा देता है ॥ ४ ॥

इस अञ्जनको जो लोग लगाते हैं उनको दुष्ट भाषण, शाप, हिंसाके कर्म, अन्य शोकके कारण और अन्य पीडाएं कष्ट नहीं देतीं ॥ ५ ॥

असन्मन्त्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् । सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः । वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥
यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥
यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे । उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ— हे अञ्जन ! तू (असन्मंत्रात्) बुरी मंत्रणासे, (दुष्वप्नात्) बुरे स्वप्नसे (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्मसे, (शमलात्) अशुद्धिसे, (उत दुर्हार्दः) दुष्ट-हृदयतासे, (तस्मात् घोरात् चक्षुषः) उस भयंकर नेत्र विकारसे (नः पाहि) हमारा बचाव कर ॥ ६ ॥

हे अञ्जन ! (इदं विद्वान्) इस बातको जाननेवाला मैं (सत्यं वक्ष्यामि) सत्य बोलता हूं (न अनृतं) असत्य नहीं । हे (पूरुष) मनुष्य ! (तव अश्वं गां आत्मानं) तेरे घोडा, गौ और आत्माको (अहं सनेयं) मैं आरोग्य देऊं ॥ ७ ॥

(तक्मा, बलासः, आत् अहिः) ज्वर, कफरोग और उदावर्तरोग अथवा सर्प ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं । (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिककुद् नाम ते पिता) त्रिककुद नामक तेरा पालक है ॥ ८ ॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिककुदसे बना हुआ अञ्जन (हिमवतः परि जातं) हिमयुक्त पर्वतपर उत्पन्न हुआ वह (सर्वान् यातून् जम्भयत्) सब पीडकोंको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुधान्यः च) सब दुष्टोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

(यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुदोंसे उत्पन्न हुआ हो, (यदि यामुनं उच्यसे) तुम्हें यामुन कहा जाता हो, (ते उभे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कल्याण सूचक हैं । हे अञ्जन ! (ताभ्यां नः पाहि) उनसे हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ— इस अञ्जनसे बुरा विचार, बुरी संमति, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कर्म, अशुद्धता, हृदयके दुष्ट भाव और आंखके भयंकर रोग दूर होते हैं ॥ ६ ॥

मैं इस अञ्जनके गुण जानता हूं इसलिये सच कहता हूं कि इससे मनुष्य, घोडे, गौवें आदिकोंको आरोग्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

ज्वर, क्षय, कफविकार, उदावर्तनामक पेटका रोग अथवा सर्पका विष आदि इस अञ्जनके प्रयोगसे दूर हो जाते हैं । ऊंचे पर्वतोंपरके पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीडाएं दूर होती हैं ॥ ९ ॥

त्रैकाकुद और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कल्याण प्राप्त होता है । इससे हमारी रक्षा होवे ॥ १० ॥

अञ्जन ।

वैद्यशास्त्रमें अञ्जनके मुख्य दो नाम हैं—

'यामुनं अथवा यामुनेयं और सौवीराञ्जनं ।'

इसके पर्याय शब्द ये हैं—

'पार्वतेयं, अञ्जनं, यामुनं, कृष्णं, नादेयं, मेचकं, स्रोतोजं, दुष्वप्नदं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, चक्षुष्यं, वारिसंभवं, कपोतकं ।' (रा. नि. व. १३)

इन नामोंमें 'पार्वतेयं, यामुनं' ये दो शब्द हैं । ये ही दो शब्द इस सूक्तके प्रथम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं । अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये—

पर्वतस्य असि । (सू. ९, मं. १)
पर्वतानां त्रिककुत्० ते पिता । (सू. ९, मं. ८)
त्रैककुदं आञ्जनं हिमवतस्परि जातं । (सू. ९, मं. ९)
त्रैकाकुदं (आञ्जनं) यामुनं उच्यते । (सू. ९, मं. १०)

'पर्वतसे यह अंजन बना है। अंजनका पिता पर्वत है।

हिमपर्वतपर यह अञ्जन हुआ। इसको यामुन कहते हैं।' अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रन्थोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रन्थमें इस प्रकार कहे हैं-

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं ग्राहकं मधुरं स्निग्धं हिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं नेत्रदोषहरं वातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च। (वै. निघं.)

शीतलं कटुं तिक्तं कषायं चक्षुष्यं रसायनं कफवातविषघ्नं च ॥ (रा. नि. व. १३)

ये वैद्यक ग्रंथमें कहे अञ्जनके गुण हैं। इनमेंसे कई गुण इस सूक्तमें कहे हैं, देखिये—

१ 'अक्ष्यं' (मं. १) आंखोंके लिये हितकारी, 'घोरात् चक्षुषः पाहि।' (मं. ६) आंखके भयंकर रोगसे बचाता है। यही भाव वैद्यक ग्रन्थमें 'चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (मं. ८ में) तक्मा (क्षय ज्वर), बलास (कफ, श्वास), और अहिः (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यही बात उक्त वैद्यक ग्रन्थके वर्णनसे 'हिक्का (श्वास), क्षय (क्षयरोग), विष (विषबाधा) का नाश करनेवाला' इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अन्दरके अवयवोंपर भी इस अंजनका प्रभाव पडता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, वह भी वैद्यक ग्रन्थमें 'कफपित्तवातघ्नं' अर्थात् वात, पित्त, कफ दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अञ्जनसे होता है इसलिये सब रोग दूर करनेवाला यह अञ्जन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मंत्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्त सुबोध है और विषय उपयोगी है। इसलिये वैद्योंको इस अञ्जनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसको प्रकट करना चाहिये।

शंखमणि।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — शंखमणिः)

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि। स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः॥ १ ॥
यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे। शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

अर्थ— (वातात् अन्तरिक्षात्) वायुसे, अन्तरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जातः) बिजलीसे और सूर्यादि ज्योतियोंसे भी सब प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशनः शंखः) वह सुवर्णसे बना मोती रूपी तेजस्वी शंख (नः अंहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्राद्, अधि जज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शंखेन रक्षांसि हत्वा) शंखसे राक्षसोंको नाश करके (अत्त्रिणः वि सहामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं॥ २॥

भावार्थ— वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगबीज दूर होते हैं, खूनका शोषण करनेवाले रोगोंके क्रिमी इससे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः। शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः। स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥
समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः। सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥
हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥
देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (**शंखेन अमीवां, अमतिं**) शंखसे रोगको और मति हीनताको (**उत शंखेन सदान्वाः**) और शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं। यह (**शंखः विश्वभेषजः**) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (**कृशनः अंहसः पातु**) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(**दिवि जातः**) द्युलोकसे हुआ, (**समुद्रजः**) समुद्रसे जन्मा अथवा (**सिन्धुतः परि आभृतः**) नदियोंसे इकट्ठा किया हुआ यह (**हिरण्यजाः शंखः**) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (**सः मणिः**) वह मणि (**नः आयुष्प्रतरणः**) हमारे लिये आयुष्यमें दुखोंसे पार करनेवाला होवे ॥ ४ ॥

(**समुद्रात् मणिः जातः**) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न हुआ है, जैसा (**वृत्रात् दिवाकरः जातः**) मेघसे सूर्य प्रकट होता है। (**सः हेत्या**) वह अपने शस्त्रसे (**देवासुरेभ्यः**) देवों वा असुरोंसे (**अस्मान् सर्वतः पातु**) हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(**हिरण्यानां एकः असि**) तू सुवर्ण जैसे चमकनेवालोंमें एक है, (**त्वं सोमात् अधि जज्ञिषे**) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है। (**त्वं रथे दर्शतः**) तू रथमें दिखाई देता है, (**त्वं इषुधौ रोचनः**) तू तूणीरमें चमकता है (**नः आयूंषि प्र तारिषत्**) हमारी आयु बढाओ ॥ ६ ॥

(**देवानां अस्थि कृशनं बभूव**) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है। (**तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति**) वह आत्माकी सत्तासे युक्त होता हुआ जलोंमें विचरता है। (**तत् ते**) वह तेरे ऊपर (**वर्चसे बलाय आयुषे दीर्घायुष्याय शतशारदाय**) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घ आयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायुष्य प्राप्त होनेके लिये (**बध्नामि**) बांधता हूं। यह (**कार्शनः त्वा अभिरक्षतु**) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— शंखसे आमके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होते हैं, बुद्धिकी सुस्ती हट जाती है, शंखसे शरीरकी अन्य पीडा हट जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है। यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके मुखपर भी प्राप्त होता है। यह सब आयुमें हमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुणसे सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चंद्रमाके समान श्वेत है। यह शूरोंके रथोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है। इससे आयुष्यकी वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

यह मानों देवोंका तेज है और वही शंख रूपसे समुद्रके जलके अन्दर प्राप्त होता है। इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है। यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखसे रोग दूर करना।

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्यशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें है, यही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्यशास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्यशास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें '**पूतः**' शब्द है। इसका अर्थ '**पवित्र**' है। स्वयं पवित्र होता हुआ जहां जाय वहां निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इसका उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण।

वैद्यशास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे हैं—

शंखकूर्माद्यः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः॥
(सुश्रुत. सू. ४६)

' शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी, तेज बढानेवाला और श्लेष्मा बढानेवाला है। ' तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यबलदः गुल्मशूलकफ-
श्वासविषघ्नश्च। (रा. नि. व. १९)

' कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, बल बढानेवाला, गुल्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है। ' ये वैद्यशास्त्रमें कहे हुए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोगनिवारक गुण ध्यानमें आ जाता है। इस शंखसे शंखद्रव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शंखवटी आदि अनेक औषधि विविध रोग दूर करनेके लिये बनाये जाते हैं। इस लिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि होनेवाले कई रोगोंके शमनके लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियां भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बडी औषधि है।

शंख प्राणी है।

शंख केवल निर्जीव स्थितीमें बाजारोंमें बिकता है, परन्तु यह प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह हड्डीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल हड्डी जैसा ही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें कहा है—

देवानां अस्थि कृशनं बभूव,
तत् आत्मन्वत् अप्सु अन्तः चरति।
(सू. १०, मं. ७)

'देवोंकी हड्डी ही यह शंख रूपमें परिणत हुई है वह (**आत्मन्वत्**) आत्मासे– जीव सत्तासे– युक्त होकर जलोंके अन्दर विचरता है।' इससे निःसन्देह स्पष्ट हुआ कि शंख यह आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त हड्डी जैसा, परन्तु उस हड्डीके घरके अन्दर रहनेवाला यह प्राणी ही है। इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें जो इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वभेषजः— बहुत रोगोंकी औषधि। शंखकी औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोग रहनेसे मनुष्यकी पापकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधि सेवन करनेसे यह पापप्रवृत्ति दूर होती है। और निरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्यकर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परावलंबी होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है।
(मं. १, ३)

(३) आयुष्प्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विघ्नोंको हटानेवाला शंख है। (मं. ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति)— देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडा होना सम्भव है उससे शंख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं, जिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होते हैं उनके कारण रोगी होता है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोंके अन्दर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधि उत्तम है। (मं. ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखें।

(५) अमीवां शङ्खेन (विषहामहे)— 'आम' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग 'अमीव' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं. ३)

(६) अमतिं शङ्खेन (विषहामहे)— मति, बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारण ही होते हैं।

शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उक्त कारणसे मनके बुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी हट जाती है। (मं. ३)

(७) **शङ्खेन सदान्वाः (विषयामहे)**- शरीरमें, हरएक अवयवमें जिन रोगोंमें बडा दर्द हो जाता है वे रोग **'सदान्वाः'** कहे जाते हैं। **(सदा नोनूयमानाः)** सदा रोगी चिल्लाते रहते हैं इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है। (मं. ३)

(८) तेज, बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है। (मं. ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है।

रोग जन्तु।

इस सूक्तमें रोगकृमियोंको और उनसे होनेवाले विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका वर्णन इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) **रक्षांसि— (रक्षः = क्षरः)** = जिन रोग-जन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है। (मं. २)

(२) **अत्रिन्—(अत्ति इति)** = जिस रोगमें बहुत अन्न खानेपर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, खून कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं। भस्मरोग तथा उसी प्रकारके अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है। (मं. ३)

ये क्रिमियोंके अर्थात् रोगके क्रियोंके नाम हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं।

शंखके गुण।

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) **समुद्रात् जज्ञिषे—** यह समुद्रसे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति है इसलिये यह शीतवीर्य है, गुणोंमें शीत है। (मं. १,२,४,५)

(२) **सोमात् जज्ञिषे—** सोम अर्थात् औषधियों अथवा चंद्रसे उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है। (मं. ६)

(३) **हिरण्यजः—** सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बल-वर्धक आदि गुण इसमें हैं। (मं. १,४,६)

(४) **विद्युत्—** आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढानेवाला है। (मं. १)

इस प्रकार इस सूक्तमें शंखके गुण बताये हैं। इन गुणोंकी तुलना पाठक वैद्यग्रंथोक्त गुणोंके साथ करें और इस रीतिसे वैदिक गुणवर्णनकी शैली जाननेका यत्न करें।

यह वैद्यका विषय है। वैद्यशास्त्रमें शंखका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है। इसलिये वैद्योंको इस विषयकी खोज करके इस विषयको अधिक सुबोध करना योग्य है।

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियां दूर होती हैं। बच्चेके गलेमें भी शंखका मणि बांधते हैं, अथवा छोटे शंखको सुवर्णमें जडकर गलेमें आभूषण बनाते हैं। इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

विश्वशकटका चालक।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता— अनड्वुत्, इन्द्रः।)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥
अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥
इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अनड्वान् पृथिवीं दाधार) विश्वरूपी शकटको चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीका धारण किया है, (अनड्वान् द्यां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने द्युलोक और यह बडा अंतरिक्ष धारण किया है। (अनड्वान् षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बडी दिशाओंको धारण किया है। (अनड्वान् विश्वं भुवनं आ विवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) वह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचष्टे) पशुओंका निरीक्षण करता है, (शक्रः त्रयान् अध्वनः विमिमीते) यह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको नापता है। (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकालके पदार्थोंको निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अन्दर प्रकट हुआ है वह (तप्तः घर्मः शोशुचानः चरति) तपनेवाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है। इस (अनडुहः विजानन्) संचालकको जानता हुआ (यः न अश्नीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रजावान होकर (उत्-आरे न सर्षत्) देहपातके पश्चात् नहीं भटकता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और छः दिशाओंका धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंको निर्माण किया है। भूत, भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

यह प्रभु मनुष्योंके अन्दर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है। इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वार्थी भोगतृष्णाको छोडता हुआ, सुप्रजावान् होकर, देहपातके पश्चात् इधर उधर न भटकता हुआ, अपने मूल स्थानको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्यायति पवमानः पुरस्तात्।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥
यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥
येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ ६ ॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत। सोऽदृंहयत सोऽधारयत ॥ ७ ॥

अर्थ— (सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे) पुण्यके लोकमें यह ईश्वर तृप्ति देता है और (पुरस्तात् पवमानः एनं आप्याययति) पहिलेसे पवित्र करता हुआ इसको बढाता है। (पर्जन्यः अस्य धाराः) पर्जन्य इसकी धाराएं हैं, (मरुतः ऊधः) मरुत अर्थात् वायु स्तन हैं, (अस्य यज्ञः पयः) इसका यज्ञ ही दूध है, और (अस्य दक्षिणा दोहः) इसकी दक्षिणा दूधके दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

(यज्ञपतिः यस्य न ईशे) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (न यज्ञः) न यज्ञ स्वामी है, (न दाता, न प्रतिग्रहीता अस्य ईशे) न दाता और न लेनेवाला इसका स्वामी है (यः विश्वजित्) जो सबका जीतनेवाला (विश्वभृत् विश्वकर्मा) सबका पोषणकर्ता और सबका कर्ता है (घर्मं नः ब्रूत) उस उष्णता देनेवालेका हमको वर्णन कहो, वह (यतमः चतुष्पात्) कैसा चार पांववाला है ? ॥ ५ ॥

(येन देवाः शरीरं हित्वा) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः) अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाश स्थानपर चढे थे (घर्मस्य तेन व्रतेन तपसा यशस्यवः) प्रकाशपूर्णके उस व्रतसे और तपस्यासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (सुकृतस्य लोके गेष्म) सुकृतके लोकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(इन्द्रः रूपेण अग्निः) प्रभु ही अपने रूपसे अग्नि बना है, वही (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (वहेन विराट्) सब विश्वको उठानेके कारण विराट् हुआ है। वही (विश्वा-नरे अक्रमत) सब नरोंमें व्यापता है, वही (वैश्वानरे अक्रमत्) अग्नि आदिमें फैला है, वही (अनडुहि अक्रमत्) रथ खींचनेवाले प्राणि आदियोंमें फैला है। (सः अदृंहयत) वही दृढ करता है और वही (सः अधारयत) वही धारण करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह ईश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति देता है और प्रारंभसे पवित्र करता हुआ इस जीवात्माको बढाता है। पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएं हैं, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिससे उक्त धाराएं निकलती हैं, यज्ञ ही पुष्टिकारक दूध है, और दक्षिणा दोहनपात्रके समान है ॥ ४ ॥

यज्ञ, यज्ञपति, दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे कोई भी इसपर शासन नहीं करता है। यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पोषण करनेवाला और विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है। इसके चतुष्पात् स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागके पश्चात् अमृतके केन्द्ररूपी आत्मशक्तिपर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले व्रत और तपसे यश प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः । एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥
यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः । प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥
पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् । श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥१०॥
द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः । तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥११॥
दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि । दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥१२॥

अर्थ— (अनडुहः एतत् मध्यं) इस संचालकका यह मध्य है, (यत्र एष वहः आहितः) जहां यह विश्वका भार रखा है। (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

(यः अनु-उपदस्वतः अनडुहः सप्त दोहान् वेद) जो विनाशको न प्राप्त होनेवाले इस संचालकके सात प्रवाहोंको जानता है (प्रजां च लोकं च आप्नोति) वह प्रजा और लोकको प्राप्त होता है (तथा सप्त ऋषयः विदुः) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

(पद्भिः सेदिं अवक्रामन्) पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, (जङ्घाभिः इरां उत्खिदन्) जंघाओंसे अन्नको उत्पन्न करता हुआ (श्रमेण कीलालं) और परिश्रमसे रसको उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान् कीनाशः च) बैल और किसान (अभिगच्छतः) चलते हैं ॥ १० ॥

(द्वादश वै एताः रात्रीः) निश्चयसे बारह ये रात्रियां (प्रजापतेः व्रत्याः आहुः) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य हैं ऐसा कहा जाता है। (तत्र यः ब्रह्म उपवेद) वहां जो ब्रह्मको जानता है (तत् वै अनडुहः व्रतं) वह ही उस विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

(सायं दुहे प्रातः दुहे) मैं सायंकाल और प्रातःकाल दोहन करता हूं। (मध्यं दिनं परि) मध्यदिनके समय भी दोहन करता हूं। (ये अस्य दोहाः संयन्ति) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (तान् अनु-उपदस्वतः विद्म) उनको अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— संचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस संसाररूपी शकटका भार रखा है। इस मध्य भागके पूर्व भागमें और पश्चिम भागमें यह संसार रहा है ॥ ८ ॥

जो इस संसाररूपी शकटके संचालक देवके सात दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुप्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सप्त ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, श्रमसे अन्नरस उत्पन्न करता है। इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियां हैं जो प्रजापतिका व्रत करनेके लिये योग्य हैं। उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातःकाल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दोहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वेही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्वशकटका स्वरूप।

यह सब संसार अथवा यह सब विश्वरूपी एक बडा शकट है, इस शकटमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने मुकामपर जा रहे हैं, इस शकटका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है-

मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत्तरच्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

(ऋ. १०।८५)

'इसका मनरूपी रथ था, जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक था। दो शुभ्र बैल इसको लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी' ॥ १० ॥

'ये बैल ऋचा और सामके मंत्रोंसे प्रेरित हुए थे, श्रोत्ररूपी दो चक्र इस रथको लगे हैं और इसका मार्ग आकाशसे चराचर रूपी है' ॥ ११ ॥

'ये चक्र शुद्ध हैं, इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है। यह मनोमय रथ है जिसपरसे सूर्यादेवी पतिके घर जाती है' ॥ १२ ॥

यहां इस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचेका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है। शरीरमें मस्तिष्क, छाती और पाव ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं। शरीरमें दस इन्द्रियां घोडोंके स्थानपर हैं उसी प्रकार जगत्के विशाल रथको दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं। जिनको शरीरके रथको ठीक कल्पना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी कल्पना हो सकती है। पिण्ड ब्रह्माण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समानतया तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जानकर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी कल्पना करना उचित है। इस विश्वरथका संचालक ईश्वर इस सूक्तके वर्णनका विषय है। यही 'अनड्वान् अथवा इन्द्र' है।

इन्द्र शब्द ईश्वरवाचक प्रसिद्ध है, परंतु 'अनड्वान्' शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको शंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि '**अनः शकटं वहति इति अनड्वान्**' अर्थात् शकट किंवा गाडी खींचनेवाला बैल ऐसा इसका अर्थ है। जिस प्रकार शकटको बैल चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (**अनड्वान्**) बैल ही है। विश्व चलानेवाला जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किस दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी ? इसीलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि 'भूमि, अंतरिक्ष और द्युलोक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।' (मं. १) इस मंत्रमें जो 'अनड्वान्' शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है। यद्यपि 'अनड्वान्' शब्द संस्कृतमें 'बैल' का वाचक है तथापि यहां उसका अर्थ 'विश्व-चालक' ऐसा है। कई लोक यहां केवल बैलकी ही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनका भी साथ साथ विचार करें और प्रसंगानुकूल अर्थ करके लाभ उठावें।

'जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको अभीष्ट स्थानको पहुंचा रहा है।' यह अत्यंत श्रेष्ठ काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है। अर्जुनका रथ भगवान् श्रीकृष्ण चला रहे थे, वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' अर्थात् कर्मक्षेत्रमें हरएक मनुष्यका देहरथ परमात्मशक्तिसे ही चलाया जा रहा है। इसी प्रकार विश्वका यह प्रचंड रथ भी उसीकी शक्तिसे चल रहा है। यह कल्पना मनमें लाकर 'विश्वचालक' ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना यहां हरएक मनुष्यको उचित है। इस कल्पनाका जितना अधिक मनन किया जाय उतना परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और मनुष्य ईश्वरकी अगाध शक्तिको जान सकता है।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग स्वयं अलग अलग होते हुए भी वे भाग रथमें आनेके कारण सबका एक दूसरेके साथ संबंध अटूट हो जाता है और उसमेंसे एक भाग भी ढीला हो जाय तो सब रथ टूट जाता है, इसी प्रकार यह विश्व एक दूसरेसे बंधा है, यद्यपि सूर्य-चंद्रादि लोकलोकान्तर एक दूसरेसे बडे अंतर पर हैं तथापि उनका परस्पर वैसा ही दृढ संबंध है जैसा रथमें एक चक्रसे दूसरे चक्रके साथ। मनुष्यके शरीरमें भी अनेक अवयव होते हैं, वे अलग अलग होते हुए भी परस्पर संबंधित हैं, उनमेंसे एक अलग हुआ अथवा रोगी हुआ तो सब शरीरपर आपत्ति आ जाती है। इसी प्रकार मनुष्य समाजमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर ये चार अवयव हैं। ये व्यक्तिशः एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, परंतु संघभावसे ऐसे बंधे हुए हैं कि जैसे शरीरमें अवयव। यदि कई व्यक्तियां संघके नियम तोडकर शत्रुके साथ मिलीं तो संघका बल नष्ट

होता है। क्योंकि जैसा व्यक्तिका शरीर रथ है, समाजका शरीर भी रथ है, उसी प्रकार विश्वका शरीर भी एक बडा भारी विशाल रथ है। तीनों स्थानके नियम समान ही हैं। इस रथकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। सब विश्व मिलकर एक रथ है, इसमें कोई विभक्त भाव नहीं है, हरएक सजीव या निर्जीव पदार्थ इसी रथका अंग है और इसको इसी कल्पनाके साथ यहां रहना चाहिये। इस रथको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है—

अनड्वान् इन्द्रः। (सू. ११, मं. २)

इस रथको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत्में जो गति आ गयी है वह उसकी ही गति है। इस जड जगत्को चेतना देनेवाला है वह एक ही ईश्वर है, वह क्या करता है, देखिये—

(१) शक्रः त्रयान् अध्वनः मिमीते।
(२) भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः।
(३) देवानां सर्वा व्रतानि चरति।

(सू. ११, मं. २)

'(१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।' ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्व, रज और तम प्रकृतिवालोंके तीन मार्ग होते हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसा जाना चाहिये, वह उसको पता होता है, वही इन तीन मार्गोंका नाप जानता है।

(२) तीन कालोंमें दोहन— भूत, वर्तमान और भविष्य कालोंमें यह दोहन करता है और पूर्वोक्त मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और उसकी उन्नति वह करता है।

(३) देवोंके व्रतोंको चलाता है— देवोंके व्रत ये हैं- सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुखानेका व्रत है। यह तो बाहेरके देवोंके व्रत हैं। शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं- आंखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है, प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब व्रत आत्माकी शक्तिसे हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव।

यह देव जो विश्वरूपी शकटको चलाता है और सम्पूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः। (सू. ११, मं. ३)

'यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।' मनुष्यके हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अन्दर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्यमें है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्यको यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अनडुहः विजानन्,
(२) यः न अश्नीयात्,
(३) सः सुप्रजाः सन् उत्-आरे न सर्पत्।

(सू. ११, मं. ३)

'(१) इस विश्वरूपी शकटको चलानेवालेको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रजा प्राप्त करता हुआ देहपातके नंतर इधर उधर नहीं भटकता,' अर्थात् सीधा अपने अमृत धामको पहुंचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोड कर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना, इन दोनों 'ज्ञान और कर्म' का यथावत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मंत्रभागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मंत्रमें क्रमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पवमानः,
(२) एनं आप्याययति,
(३) सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे।

(सू. ११, मं. ४)

'(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें यह इसको तृप्तिके साधन देता है।' परमेश्वरका उपासक होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्यलोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्मोपासनाके यह फल हैं, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पहुंचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है इसीलिये कहा है कि—

विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा।

(सू. ११, मं. ५)

'वह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पालक और पोषक तथा विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है।' इसीलिये उपासक निर्भय होता हुआ उसकी सहायतासे आगे बढता है और अपने प्राप्तव्य स्थानको पहुंचता है। वह स्थान, जहां इसको जाना है, अमृतका केन्द्र है, किस अनुष्ठानसे यह जिवात्मा वहां पहुंचता है, इस विषयका उपदेश षष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्यवः सुकृतस्य लोकं गेष्म।

(सू. ११, मं. ६)

'व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्य लोक प्राप्त करेंगे।' इस मंत्रभागमें व्रत पालन और तपका आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है। विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह-परलोककी सद्गति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है। इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः।

(सू. ११, मं. ६)

'शरीर त्यागनेके पश्चात अमृतके केन्द्रमें आत्मप्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढते हैं।' यह है तपका प्रभाव और व्रतपालनका महत्त्व। पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं।

मं. ७ में 'इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्' आदि नाम उसी एक देवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६४।४६ में भी अन्य रीतिसे कही है। यही देव सर्वत्र व्यापता है, सबको बलिष्ठ बनाता है और सबका धारण करता है, अर्थात हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है। किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है। अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण वह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणसे है। यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है। जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्रोंके बीचमेंसे जाता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है।

सप्त ऋषि।

'इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दोहे जाते हैं, इनको सप्त ऋषि करके जानते हैं' (मं. ९) यह नवम मंत्रका कथन है। ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इंद्रिय हैं। दो आंख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्दरसका दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है। ये सात प्रकृतिमाताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, ये ही रस मनुष्यमात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है। ये ही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। (यजु० ३४।५५)

'प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात ऋषि इस शरीर रूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं।' यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है। यहां सात दोहनपात्र जो कहे हैं वे ही ये सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहनपात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। सर्वसाधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दिया ही है, परन्तु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहां दो आंख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परन्तु वस्तुत ये अर्थात् दो आंख एक ही प्रकारका ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है। यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहनपात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहा जानेवाला दूध भी भिन्न ही है। यह बात ऊपर माने सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंसे सिद्ध नहीं होती इसलिये इनको अन्य स्थानमें ढूंढना चाहिये। हमारे मतसे सप्त ऋषि और सप्त दोहनपात्र ये हैं—

१ **आत्मा**— यह ऋषि परमात्मासे 'आनन्द' रूपी दूध अपनेमें दुहता है।

२ **बुद्धि (संज्ञान)**— यह ऋषि परमात्मासे 'चित्' अथवा वि-ज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निचोडता है।

३ **अहंकार**— यह ऋषि परमात्मासे 'मैं' पनका भाव रूपी दूध निकालता है।

४ **मन**— यह ऋषि उसीसे 'मनन शक्ति' रूप दूध दुहता है।

५ **प्राण**— यह ऋषि वहांसे ही 'जीवन' रूपी दूध निकालता है।

६ **ज्ञानेन्द्रिय (संघ)**— यह ऋषि वहांसे ही ' विषय ज्ञान ' रूपी दूध निचोडता है।

७ **कर्मेन्द्रिय (संघ)**— यह ऋषि उसीसे ' कर्मशक्ति ' रूप दूध निकालता है।

ये सात ऋषि एक दूसरेसे भिन्न हैं, इनके पास विभिन्न दोहनपात्र हैं और प्रत्येकका निकाला हुआ दूध भी भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टि भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। इसलिये ये सात ऋषि और ये सात दोहनपात्र हैं ऐसा मानना यहां उचित है। पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

बैल और किसान।

दशम मंत्रमें बैल और किसानके रूपकसे बडा बोधप्रद उपदेश दिया है. इसका व्यक्त अर्थ यह है— ' पांवोंसे भूमिपरसे चलता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बडा कार्य करते हैं। ' यह तो खेतीमें प्रत्यक्ष दिखता है। परन्तु इस मंत्रमें केवल इतना ही कहना मुख्य उद्देश नहीं है क्योंकि यहां जिस किसानका वर्णन किया है वह ' क्षेत्र-ज्ञ ' अर्थात् जीवात्मा है। भगवद्गीतामें इसका नाम ' क्षेत्रज्ञ ' आया है। खेतको जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है, उसी प्रकार इस शरीररूपी कार्यक्षेत्रको यथावत् जाननेवाला यह जीवात्मारूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है। इसकी खेतीमें हल चलाने आदिकी सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें ' अनड्वान् ' शब्दसे हुआ है। इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है। किसान इस खेतीका उपभोग करनेवाला है। पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें।

बारह रात्री।

ग्यारहवें मंत्रमें ' प्रजापतिका व्रत करनेकी बारह रात्रीयां हैं ' ऐसा कहा है। रात्री अन्धकारकी द्योतक है, अन्धकार अज्ञानका वाचक है, इसलिये यहां बारह गूढ अन्धकारकी रात्रियोंका तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ अज्ञानका है। हरएकके अन्दर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणसे मनुष्यकी योग्यता बढती है। जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागी होता है। (१) परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेंद्रिय, (८) ज्ञानेंद्रियोंके विषय, (९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेंद्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत् इन बारह क्षेत्रोंके संबंधमें बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, यह सब हटना चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान, संज्ञान, और प्रज्ञान प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य विचार करके जाने कि अपनेमें इन अज्ञानोंमेंसे कौनसा अज्ञान कितना है और कौनसा विज्ञान कितना प्राप्त किया गया है। इसकी पडताल करनेसे पता लग जायगा कि जो मार्ग आक्रमण करना है वह कितना हो चुका है और कितना अभी चलनेका बाकी है। यह परीक्षा ही इस मंत्रने ली है ऐसा पाठक समझें और इस दृष्टिसे अपनी परीक्षा करें। इससे बडा आत्मसुधार हो सकता है।

व्रत।

जिस व्रतसे उक्त प्रकारका, बारह प्रकारका अज्ञान दूर हो सकता है वह व्रत इसी ग्यारहवें मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

यः ब्रह्म उपवेद तत्० व्रतम्। (सू. ११, मं. ११)

' जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका व्रत है। ' यही व्रत मनुष्यकी उन्नति करता है। ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् पूर्वोक्त बारह प्रकारका अज्ञान और मिथ्याज्ञान दूर करनेके लिये बारह प्रकारका ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह व्रत पालन करनेसे इसके अज्ञानका मल धोया जाता है और यह परिशुद्ध होता जाता है। इसलिये यह व्रत जहांतक हो सके मनुष्यको करना चाहिये।

बारहवें मंत्रमें यही अनुष्ठानका स्वरूप कहा है- ' मैं प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय इसका दोहन करता हूं। ' यह दोहन क्या है, इसके दोहनपात्र कौनसे हैं और इसके दोहन करनेवाले कौन हैं, इसका वर्णन इसी सूक्तमें इससे पूर्व कहा जा चुका है। यही व्रत है, परमात्मासे उपासना द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना ही यह दोहन है। जो जितना यह दूध पीयेगा वह उतना पुष्ट होगा। ' अविनाशी तत्त्वसे यह दोहन होता है यह जो जानता है, ' उसीको इस व्रतसे लाभ हो सकता है, यह अंतिम कथन है। यह निःसंदेह सत्य है। पाठक इस प्रकार इस सूक्तका मनन करें और लाभ उठावें।

रोहिणी वनस्पति।

[सूक्त १२]

(ऋषिः — ऋभुः । देवता — रोहिणी - वनस्पतिः)

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि । धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः । सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु । असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् । असृक्ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे औषधि ! तू (रोहणी असि) बढानेवाली है, तू (छिन्नस्य अस्थ्नः रोहणी) टूटी हुई हड्डीको पूर्ण करनेवाली है। हे (अ-रुन्धति) प्रतिबन्ध न करनेवाली औषधि ! (इदं रोहय) इसको भर दे ॥ १ ॥

(यत् ते रिष्टं) जो तेरा अंग चोट खाये हुए है, (यत् ते द्युत्तं) जो अंग जला हुआ है, और जो (ते आत्मनि पेष्ट्रं अस्ति) तेरे अपने अन्दर पीसा हुआ है, (धाता भद्रया) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिसे (तत् परुः परुषा पुनः सं दधत्) उस जोडको दूसरे जोडसे फिर जोड दे ॥ २ ॥

(ते मज्जा मज्ज्ञा सं रोहतु) तेरी मज्जा मज्जासे बढे। (उ ते परुषा परुः सं) और तेरी पोरुसे पोरु बढ जावे। (ते मांसस्य विस्रस्तं सं) तेरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ भाग बढ जावे। (अस्थि अपि सं रोहतु) हड्डी भी जुडकर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

(मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां) मज्जा मज्जासे मिल जावे (चर्मणा चर्म रोहतु) चर्मसे चर्म बढे। (ते असृक् अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढ जावे, और (मांसं मांसेन रोहतु) मांस मांससे बढ जावे ॥ ४ ॥

हे औषधे ! (लोम लोम्ना सं कल्पय) रोमको रोमके साथ जमा दे। (त्वचा त्वचं सं कल्पय) त्वचाको त्वचाके साथ मिला दे। (ते असृक अस्थि रोहतु) तेरा रुधिर और हड्डी बढे, (छिन्नं सं धेहि) टूटा हुआ अंग जोड दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह रोहणी नामक औषधी है, जो टूटे हुए शरीरके अवयवको बढाती है। इसको रोहिणी और अरुंधती भी कहते हैं ॥ १ ॥

शरीरको चोट लगी हो, अंग जला हो, अवयव पीसा गया हो, तो भी इस औषधिसे हरएक जोड पुनः पूर्ववत् होता है ॥ २ ॥

इस औषधिसे शरीरकी मज्जा, पोरु, मांस और अस्थि बढे और अवयव पूर्ण होंगे ॥ ३ ॥

मज्जा, चर्म, रुधिर, हड्डी और मांस भी इससे बढता है ॥ ४ ॥

रोम, त्वचा, रुधिर तथा टूटा अवयव इससे बढता है ॥ ५ ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

अर्थ— (सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तू उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले, उत्तम लोहेकी पट्टीवाले, उत्तम नाभीवाले रथके समान (प्रद्रव) दौड और (ऊर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खडा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे) यदि आरा गिरकर घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थरसे घाव हुआ है तो (ऋभुः रथस्य अंगानि इव) सुतार रथके अवयवोंको जोडता है उस प्रकार (परुषा परुः सं दधत्) पोरुसे पोरु जुड जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे रोगी! तू इस औषधिसे आरोग्यको प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड, खडा होकर चल ॥ ६ ॥

आरा गिरकर, या पत्थर लगकर शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

रोहिणी औषधि।

वैद्यग्रन्थोंमें इस रोहिणी औषधिका नाम 'मांसरोहिणी' लिखा है, इसके नाम ये हैं—

अग्निरुहा, वृत्ता, चर्मकषा, वसा, मांसरोही प्रहारवल्ली, विकषा, वीरवती।

इसके गुण—

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा।

'मांस रोहिणी वीर्यवर्धक और त्रिदोषका नाश करनेवाली है।' और—

शीता कषाया क्रुमिघ्नी कण्ठशोधनी रुच्या, वातदोषहारी च। (रा. नि. व. १२)

'यह औषधि शीतवीर्य, कषाय रुचीवाली, क्रुमिदोष दूर करनेवाली, कण्ठदोष हटानेवाली, रुची बढानेवाली और वात दोष दूर करनेवाली है।'

इस सूक्तमें 'रोहिणी' के नाम 'भद्रा और अरुन्धती' आये हैं, परन्तु वैद्यशास्त्र ग्रन्थोंमें ये नाम एक ही वनस्पतिके नहीं हैं। वैद्यग्रंथोंमें इसका नाम '**मांसरोहि**' अथवा '**मांस रोहिणी**' कहा है, यह शब्द इस सूक्तकी ही बात सिद्ध करता है। मांसादि सप्त धातु बढानेवाली यह औषधि है ऐसा इस सूक्तने कहा है और वैद्यक ग्रंथ मांसको बढाती है ऐसा कहते हैं, इसमें बहुत विरोध नहीं है, क्योंकि जिससे रुधिर और मांस बढता है उससे अन्य धातु भी बढते ही हैं, क्योंकि अन्य धातु रुधिरके आगे स्वयं बनते हैं।

इसके अतिरिक्त इसको '**प्रहारवल्ली**' वैद्यक ग्रंथोंने कहा है। प्रहारवल्लीका अर्थ है घाव ठीक करनेवाली औषधि, यह वर्णन भी इस सूक्तके कथनसे संगत होता है। सातवां मंत्र यही वर्णन कर रहा है। इसका नाम वैद्यग्रन्थोंमें '**वीरवती**' अर्थात् 'वीरोंवाली' है। वीर जिसके पास जाते हैं। इस औषधिके पास वीर इसीलिये जाते हैं कि यह शस्त्रास्त्रोंके घावोंको अति शीघ्र ठीक करती है। महाभारतमें हम पढते हैं कि दिन भर युद्ध करनेवाले वीरोंके शरीर बाणोंके आघातसे व्रणयुक्त हो जाते थे, पश्चात् वे वीर रात्रीके समय कुछ औषधि लगाकर सो जाते थे, जिससे उनके शरीर सवेरे तक ठीक हो जाते थे और वे पुनः युद्ध करते थे। संभवतः वह वीरोंके पास रहनेवाली वल्ली यही 'रोहिणी' ही होगी। इसीलिये इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंनें 'वीरवती' लिखा है।

यह सूक्त अत्यंत सरल है। पाठक इस वैद्यक ग्रंथोंके वर्णनके साथ इस सूक्तको पढें और लाभ उठावें। ज्ञानी वैद्योंको उचित है कि वे इस औषधिकी खोज करके प्रकाशित करें ताकि वारंवार घावोंसे दुःख भोगनेवालोंको लाभ प्राप्त होनेकी संभावना हो जावे।

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण।

[सूक्त १३]

(ऋषिः — शंतातिः। देवता — चन्द्रमाः, विश्वे देवाः)

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥
त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः। त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥
आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! हे देवो ! जो (अवहितं) अवनत होता है उसको (पुनः उन्नयथ) तुम फिर उठाते हो। हे देवो ! हे देवो ! (उत आगः चक्रुषं) जो पाप करता है उसको भी (पुनः जीवयथाः) तुम फिर जिलाते हो ॥ १ ॥

(द्वौ इमौ वातौ) यह दोनों वायु हैं, एक (आ सिन्धोः) सिन्धु देशतक जाता है और दूसरा (आ परावतः) बाहर दूर स्थानतक जाता है। इनमेंसे (अन्यः ते दक्षं आवातु) एक तेरे लिये बल बढावे, (यत् रपः अन्यः विवातु) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (वात, भेषजं आ वाहि) वायो ! तू रोगनाशक रस ला; हे (वात, यत् रपः वि वाहि) वायो ! जो दोष है, निकाल दे। (हि) क्योंकि, हे (विश्व-भेषज) सर्व रोगके निवारक ! (त्वं देवानां दूतः ईयसे) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

(देवाः इमं त्रायन्तां) देव इसकी रक्षा करें, (मरुतां गणाः त्रायन्तां) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि त्रायन्तां) सब भूत इसकी रक्षा करें (यथा अयं अरपाः असत्) जिससे यह नीरोग हो जाय ॥ ४ ॥

(शं-तातिभिः) शांतिदायकोंके साथ और (अथो अ-रिष्ट-तातिभिः) विनाशनिवारक गुणोंके साथ (त्वा आ आगमं) तुझको मैं प्राप्त करता हूं। (ते उग्रं दक्षं आ अभारिषं) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूं। और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— देवता लोग गिरे हुए मनुष्यको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उसको भी फिर सुधारते हैं ॥ १ ॥

दो प्राण वायु हैं, एक फेंफडोंके अन्दर रुधिरतक जानेवाला प्राण है और दूसरा बाहर जानेवाला अपान है। पहला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है ॥ २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है। यह सब रोगोंका निवारण करनेवाला है, मानो यह देवोंका दूत ही है ॥ ३ ॥

सब देव, मरुद्गण, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और यह सत्वर नीरोग हो जावे ॥ ४ ॥

हे रोगी ! मैं तेरे पास कल्याण करनेवाले और विनाशको दूर करनेवाले सामर्थ्योंके साथ आ गया हूं। अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूं और तेरा रोग दूर करता हूं ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

अर्थ— (**अयं मे हस्तः भगवान्**) यह मेरा हाथ भाग्यवान् है (**अयं मे भगवत्तरः**) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यशाली है। (**अयं मे विश्वभेषजः**) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है। (**अयं शिव-अभिमर्शनः**) यह मेरा हाथ शुभमंगल बढानेवाला है ॥ ६ ॥

(**दश शाखाभ्यां हस्ताभ्यां**) दस शाखोंवाले दोनों हाथोंके साथ (**जिह्वा वाचः पुरोगवि**) जिह्वा वाणीको आगे चलानेवाली करता हूं। (**ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां**) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (**त्वा अभिमृशामसि**) तुझको स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह मेरा हाथ सामर्थ्यशाली है और मेरा दूसरा हाथ तो अधिक ही प्रभावशाली है। मेरे इस एक हाथमें सब रोग दूर करनेवाली शक्तियां हैं, और इस दूसरे हाथमें मंगल करनेका धर्म है ॥ ६ ॥

दस अंगुलियोंके साथ इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है। इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

देवोंकी सहायता।

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है— 'गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक बार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पहुंचा है उसको भी देव फिर जीवन देते हैं।' (मं. १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहारा देनेवाला है। मनुष्य किसी प्रलोभनमें फंसकर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होनेतक अवस्था आती है, मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है। ऐसी अवस्थामें पहुंचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग होता है और पुनः दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्थामें सहायता देनेवाले देव कौनसे हैं? मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यकिरण, वायु, विद्युत्, औषधि, अन्न, रस, वैद्य आदि देवताएं हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंको दूर करता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। ये सब देव मनुष्यके सहायक हैं। मनुष्य चिन्तामें न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिन्ता न करे। क्योंकि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है। इस चिन्ताका दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि पूर्वोक्त देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है। देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्यमात्रकी तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पहुंचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है।

प्राणके दो देव।

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहां बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। प्राण और अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके अन्दरतक जाता है और वहां अपनी प्राणशक्ति स्थापन करके मृत्युको हटाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोगबीजोंका नाश करता है। पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं। यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है। यहां प्राण अपान, अथवा श्वास और उच्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है।

देवोंका दूत।

तृतीय मंत्रका कथन है कि 'प्राण रोग निवारक शक्ति शरीरमें लाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है।' (मं. ३) अपने शरीरमें सब इंद्रियां देवताओंके अंश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थानके दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीररूपी देवमंदिरमें प्राण करता है। इस विचारसे प्राणका महत्त्व जानना चाहिये।

चतुर्थ मंत्रमें 'सब देव, सब मरुत और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें' इस विषयकी प्रार्थना है। इसका आशय पूर्वोक्त विचारसे स्वयं स्पष्ट होनेवाला है।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल 'मेस्मेरिज्म' के नामसे प्रसिद्ध है। यह 'मेस्मेरिज्म' शब्द 'मेस्मर' नामक युरोपीयनके नामसे बना है, यह विद्या उसने प्रथम युरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको उसीका नाम

उसका गौरव करनेके लिये दिया गया। म. मेस्मर साहबने पचास वर्ष पूर्व युरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें 'हस्तस्पर्शसे आरोग्य' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियां पहले ही प्रकाशित की थी और ऋषिमुनी इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे। हस्तस्पर्शसे, दृष्टिक्षेपसे, शब्दके कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभ्याससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधियां वेदादि आर्यशास्त्रोंमें लिखी हैं। इस विद्याको पाठक इस सूक्तके मं. ५ से ७ तक देख सकते हैं। मनको एकाग्र करना और अपनी सब शक्ति मनमें संग्रहीत करना तथा जिस कार्यमें चाहे उसका उपयोग करना यह जिसको साध्य है वह मनुष्य इससे लाभ उठा सकता है, अर्थात् इतनी अनुष्ठानसे सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करनेवाला कैसा भाषण करे यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है, वह अब देखिये—

'हे रोगी मनुष्य! मेरे अन्दर शांति और समता स्थापन करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है। इन गुणोंके साथ मैं तुम्हारे समीप आ गया हूं, अब तू विश्वास धारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अन्दर बल भर देता हूं और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूं। इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो जायगा।' (मं. ५)

'हे रोगी मनुष्य! देख! यह मेरा हाथ बडा प्रभावशाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान् है। यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियोंकी शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह मंगल करनेवाला है। अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान बनेगा।' (मं. ६)

'हे रोगी मनुष्य! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं। इनसे तुमको अब मैं स्पर्श करता हूं, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जाएगा। तू अब स्वास्थ्यपूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुम्हें कहता हूं।' (मं. ७)

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है। प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाग्र करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको चालना देनी चाहिये। रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है। जो किसीपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविश्वासी लोग इससे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

आत्मज्योतिका मार्ग।

[सूक्त १४]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — आज्यं, अग्निः)

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

अर्थ— (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्योंकि परमात्मारूप विश्व प्रकाश अग्निके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने पहिले अपने उत्पादक प्रभुको देखा, (अग्रे तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीकी सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

क्रमध्वम॒ग्निना॒ नाक॒मुख्या॒न्हस्ते॑षु॒ बिभ्र॑तः ।
दि॒वस्पृ॒ष्ठं स्व॒र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभि॑राध्वम् ॥ २ ॥
पृ॒ष्ठात्पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑ह॒मन्तरि॑क्षा॒द्दिव॒मारु॑हम् ।
दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात्स्व१॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥
स्व१॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी ।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं॒ सुवि॑द्वांसो वितेनि॒रे ॥ ४ ॥
अग्ने॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मो दे॑वता॒नां चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम् ।
इय॑क्षमाणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषा॒ः स्व॑र्यन्तु॒ यज॑मानाः स्व॒स्ति ॥ ५ ॥

अर्थ— (उख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः) अन्नोंको हाथोंमें लिये हुए तुम (अग्निना नाकं क्रमध्वम्) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करो। (दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा) द्युलोकके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (देवेभिः मिश्राः आध्वं) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

(अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहं) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्ष लोकको चढ गया, (अन्तरिक्षात् दिवं आरुहं) अन्तरिक्षसे द्युलोकपर चढ गया। (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) सुखमय द्युलोकके पृष्ठ भागसे (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान् (विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्गसुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (रोदसी आरोहन्ति) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ जाते हैं ॥ ४ ॥

हे (अग्ने) ! हे प्रकाशक ! (देवतानां प्रथमः प्रेहि) तूं देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो। तू (देवानां उत मानुषाणां चक्षुः) देवों और मनुष्योंका चक्षु ही है। (इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीतिभाव रखनेवाले यजमान (भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको सुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ। उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया। देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं। जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्नका दान करते हुए तुम इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो। और वहांसे भी अधिक उच्च भूमिकामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहां देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है। मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानी विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे द्युलोक तक ऊपर चढते हैं और वहांसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य सुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो। तू जैसा देवोंका आंख है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है। यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथ ही सुखपूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥
पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिश्यश्जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥
शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

अर्थ– (**दिव्यं सुपर्णं पयसं**) दिव्य, अत्यंत पूर्ण, तेजस्वी, गतिमान और (**बृहन्त अजं घृतेन, पयसा अनज्मि**) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता हूं। (**उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः**) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढते हुए (**तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म**) उससे पुण्यके आत्मप्रकाशके लोकको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(**एतं पञ्चौदनं ओदनं**) इस पांच प्रकारके अन्नको (**पञ्चभिः अंगुलिभिः दर्व्या पञ्चधा उद्धर**) पांच अंगुलियोंसे पकडी हुई कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ला। (**अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि**) अजन्माका सिर पूर्व दिशामें रख, (**दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं**) दक्षिण दिशामें दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(**अस्य भसदं प्रतीच्यां दिशि धेहि**) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (**उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि धेहि**) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख। (**अजस्य अनूकं ऊर्ध्वायां दिशि धेहि**) अजन्माकी रीढको ऊर्ध्व दिशामें रख, (**अस्य पाजस्यं ध्रुवायां दिशि धेहि**) और इसके पेटको ध्रुव दिशामें रख, तथा (**अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे**) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार (**सर्वैः अंगैः संभृतं**) सब अंगोंसे सम्यक्तया भरा हुआ अतएव (**विश्वरूपं शृतं अजं**) विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्माको (**शृतया त्वचा प्र ऊर्णुहि**) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर। (**सः**) वह तू (**इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ**) यहांसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (**चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रतिष्ठ**) चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भावार्थ— दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान और अजन्मा परम आत्माकी ही हम घृतादिकी आहुतियोंके यज्ञ द्वारा पूजा करते हैं। इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए उसके भी ऊपरके आत्मिक प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है। पांच अंगुलियों द्वारा कडछी पकडकर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले। इस अजन्माका सिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिण दिशामें रख ॥ ७ ॥

इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी रीढ ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा जीवात्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादनसे आच्छादित कर, उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो और अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

स्वर्गधामका मार्ग।

इस सूक्तमें ' स्वर्गधाम ' का मार्ग बताया है, इस कारण इस सूक्तका महत्त्व अधिक है। पहिले मंत्रमें ' परम पिताके अमृतपुत्र ' की उत्पत्तिका वर्णन है—

परम पिताका अमृतपुत्र।

अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट। (सू. १४, मं. १)

' अग्निके प्रकाशसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। ' यहां अग्निपदसे सर्व प्रकाशक परमात्माका ग्रहण होता है। अथर्ववेदमें काण्ड ९, सू. १० (१५) मंत्र २८ में कहा है कि ' एक ही सत्यस्वरूप परमात्माका कविजन विविध नामोंसे वर्णन करते हैं, उसी एक परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा और सत् कहते हैं। ' ये सब एक ही परमात्माके नाम हैं। इनमेंसे इस सूक्तमें ' **अग्नि (मं. १), दिव्य, सुपर्ण (मं. ६)** ' ये शब्द आगये हैं। इस परमात्माके तेजसे इस अमृतपुत्रकी उत्पत्ति है। यह उत्पत्ति कथन करनेका उद्देश्य यह है कि यह अमृतपुत्र अपनी उन्नति करके पिताके समान बन सकता है। प्रत्येक प्राणीका पुत्र पिताके समान बनता है, बीजसे वृक्ष होता है, चिनगारीसे दावाग्नि बन सकता है। पुत्रका यह अधिकार ही है कि वह अपने पिताके समान बने। जीवात्माकी उन्नतिकी यह अन्तिम मर्यादा है। यह मर्यादा बहुत कालके निरंतरके अनुष्ठानसे समाप्त हो सकती है, तब यह अमृतपुत्र पिताके वैभवसे युक्त हो सकता है। पुत्र पिताके समान आज हो जावे अथवा कुछ कालके पश्चात् हो जावे, ' वह पिताके वैभवको निःसंदेह प्राप्त करेगा ' यह सत्य है। वेदने यह विश्वास इस सूक्त द्वारा लोगोंको बताया है। जगत्के दुःख देखकर जन निराश न हों, धर्मानुष्ठान करते हुए बढते जांय, जब उनका अनुष्ठान हो जायगा और जब उनके सब मल धोये जांयगे तब वे परम पिताके वैभवसे संपन्न हो जांयगे। अनुष्ठानकी तीव्रता और निर्दोषताके प्रमाणके अनुसार काल थोडा लगेगा अथवा अधिक लगेगा, यह बात प्रत्येकके ऊपर ही निर्भर है। पिताके गुण न्यून प्रमाणसे पुत्रमें रहते हैं, इन गुणोंका विकास करना ही पुत्रका कर्तव्य है, पिताकी सहायता सदा तैयार है ही। पुत्रके गुणोंके विकासकी परम सीमा उसका ' पिताके समान बनना ' ही है।

पिताका दर्शन।

इस पुत्रने सबसे प्रथम ' **जनितारं अपश्यत्** ' (मं. १) अपने पिताका दर्शन किया था, तत्पश्चात् यह पुत्र संसारमें फंस जानेके कारण उससे विमुख हुआ है। यह विमुखता इस समय इतनी बढ गयी है कि यह पिताको भूल ही गया है। इसलिये यह उस अपने परम पिताका पहले स्मरण करे और पश्चात् दर्शन करे। यही उसकी उन्नतिका मार्ग है। उसीके दर्शनसे—

मेध्यासः रोहान् रुरुहुः। (सू. १४, मं. १)

' पवित्र होते हुए उन्नतिके स्थानोंपर चढते हैं। ' इसी प्रकार पुत्र एक एक सीढी ऊपर चढता है और विशेष अधिकार प्राप्त करता है। पवित्र बनना ही एकमात्र उपाय है जिससे पुत्रका अधिकार बढ सकता है। पवित्र बननेका उपाय भी ' मेध्य ' शब्द द्वारा ही बताया गया है। ' **मेध्य** ' अर्थात् ' मेधके लिये योग्य '। ' मेध ' का अर्थ ' सत्कार-संगति-दान रूप कर्म। ' जिस कर्मसे सत्कार करने योग्य सत्पुरुषोंका आदर होता है, जनताका संगतिकरण होता है और परोपकारार्थ दान दिया जाता है, आत्मसमर्पण किया जाता है, उसका नाम मेध है। इस प्रकारके कर्मसे मनुष्य पवित्र होता है और उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है। और अन्तमें जहांसे आया वहां पहुंचता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ' इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गके मार्गका आक्रमण करो। ' वस्तुतः यज्ञमें जो यजन होता है वह परमात्माका ही होता है, तथापि यज्ञ अग्निमें हवन करनेसे प्रारंभ होता है। इस यज्ञके द्वारा आत्मसमर्पणकी दीक्षा दी जाती है। अपने पासका घृत आदिका अर्पण समष्टिके लिये किया जाता है। इस यज्ञसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे ही उन्नति होती है। इस स्थूल यज्ञमें, प्रथम कक्षाके यज्ञमें घृत तथा हवन सामग्रीकी आहुतियोंका अर्थात् अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंका समर्पण होता है, आगे जैसी जैसी योग्यता बढ जाती है, उस प्रमाणसे अपने निजके पदार्थोंका समर्पण करना होता है, अन्तमें सर्वमेध यज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होता है जिससे परम उच्च अवस्थाकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतादि पदार्थोंकी आहुतियोंका समर्पण किया जाता है उसी प्रकार—

हस्तेषु उख्यान् बिभ्रतः। (सू. १४, मं. २)

' अन्नदान करनेके लिये अपने हातोंमें पकाया हुआ अन्न लेकर तैयार रहो। ' क्षुधासे पीडित मनुष्यको अन्नदान करनेसे बडा पुण्य प्राप्त होता है। यहां यह अन्नदान प्रत्यक्ष फलदायक है। भूखसे पीडितको अन्न देते ही उसका आत्मा संतुष्ट होता है, उसका संतोष देखकर दाताका आत्मा भी कृतार्थ होता है। दानसे दाताकी उन्नति होती है इसका अनुभव अन्न-

दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है। यहां अन्न उपलक्षणमात्र है। भूखसे पीडितको अन्नदान, तृषासे पीडितको जलदान, अज्ञानसे पीडितको ज्ञानदान, निर्बलतासे पीडितको बल द्वारा सहायता, निर्धनतासे पीडितको धनदान, पारतंत्र्यसे पीडितको स्वातंत्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, ये सब अन्नदानके उपलक्षणसे जानना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं और यज्ञके संगतिकरण कर्मके ये प्रमुख अंग हैं। जनताकी सेवा द्वारा परमात्माका अर्चन इसी रीतिसे होता है। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पहुंचता है इतना ही नहीं, परन्तु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशका लोक है वहां जाता है और वहां देवोंके साथ बैठ जाता है। इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है। (मं. २)

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है। यह उच्चता स्थानसे नहीं, प्रत्युत अवस्थासे है। अर्थात् ये चार लोक घरके चार मजलोंके समान एक दूसरेके ऊपर नहीं हैं प्रत्युत एकके अन्दर दूसरी और दूसरीके अन्दर तीसरी है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएं मनुष्यके अंदर ही हैं। इन्हींके बाह्यरूप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः (आत्मप्रकाश) हैं और इन्हींका नाम भूः, भुवः, स्वः, महः इ० है। जिस प्रकार स्थूलके अंदर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोकके अंदर अन्तरिक्ष लोक होता है। इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल भूलोकमें विचरता है, अंतरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओंपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिपक्व होगा। बडे महान् तपस्वीयोंके लिये ही वह बात साध्य होती है। (मं. ३)

विश्वाधार यज्ञ।

' यज्ञ (विश्वतो धारं यज्ञं) विश्वको सब प्रकारसे आधार देनेवाला है। ' (मं. ४) यह चतुर्थ मंत्रका कथन पूर्ण रीतिसे सत्य है। यज्ञका अर्थ है त्याग। इस ' त्याग ' से ही जगत्की स्थिति है। हरएक स्थानमें यह सत्य है। पिता अपने वीर्यके त्यागसे संतानको उत्पन्न होनेके लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जो कष्ट होते हैं उनको सहती है और उस प्रमाणसे स्वसुखका त्याग करती है और आगे दुधादि पिलाकर भी बहुत त्याग करती है। इस प्रकार मातापिताके अपूर्व त्यागसे संतान निर्माण होता है। इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्षी, वृक्षवनस्पति आदि सृष्टिमें भी है, जिससे उनकी सृष्टि रहती है। सूर्य अपने प्रकाशका जगत्के लिये अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएं अपनी शक्तियोंका जगत्की भलाईके लिये त्याग करती हैं। इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है। परमात्माने अपने त्यागसे ही यह संसार बनाया है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्मसमर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व चल रहा है। इसीलिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है।

ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे।
(ते) रोदसी द्यां रोहन्ति, स्वर्यन्तः, न अपेक्षन्ते।
(सू. १४, मं. ४)

' जो उत्तम विद्वान् इस विश्वाधार यज्ञको फैलाते हैं अर्थात् अपने आयुभर करते हैं वे इस भूमिसे सीधे द्युलोकपर चढते हैं, वे वहांके स्वर्गसुखकी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भी ऊपर जाकर आत्मज्योतिके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं। ' यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

सच्चा चक्षु।

पञ्चम मंत्रमें इस परमात्माको ' देवों और मनुष्योंका चक्षु ' कहा है—

देवतानां उत मानुषाणां चक्षुः। (सू. १४, मं. ५)

' देवों और मनुष्योंका आंख यह आत्मा है। ' मनुष्योंके आंख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परंतु वे स्वयं कार्य नहीं कर सकते। सूर्यके प्रकाशके विना आंख देखनेमें असमर्थ है। इसलिये सूर्यको ' आंखका आंख ' कहते हैं। परंतु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्तिके विना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमात्माको ' सूर्यका सूर्य ' कहते हैं। इससे यह हुआ कि ' आंखका आंख सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा ' है, इसलिये वस्तुतः ' आंखका सच्चा आंख ' परमात्मा ही हुआ। यही भाव ऊपरके मंत्रभागका है। यह केवल आंखके विषयमें ही सत्य है ऐसा नहीं परंतु हरएक इंद्रियके विषयमें भी वैसा ही सत्य है, अर्थात् वह जैसा आंखका आंख है उसी प्रकार कानका कान, नाकका नाक, मनका मन और बुद्धिका बुद्धि है। इसी प्रकार सब इंद्रियोंका वही मूल स्रोत है। इसको ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य है। यही—

देवतानां प्रथमः। (सू. १४, मं. ५)

' सब देवताओंमें यह पहिला है ' अर्थात् इसके पूर्व कोई नहीं है, सबके पूर्व यह था और सबके पश्चात् रहेगा। सूर्यादि बडे प्रकाशमान देव निःसंदेह बडे शक्तिशाली हैं, परंतु इसीकी

शक्तिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोंमें होता है, इसीलिये 'यज्ञ' नाम आत्माका है। सच्चा यज्ञ पुरुष वही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे—

इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः स्वः भृगुभिः स्वस्ति यन्तु। (सू. १४, मं. ५)

'यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको भृगुओंके सङ्ग सुगमताके साथ जाते हैं।' उसकी पूजा करनेका यह फल है। 'भृगु' उनका नाम होता है कि जो तपश्चर्यासे अपने पापोंका भर्जन करते हैं। तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको 'भृगु' कहते हैं। ये तपस्वी सीधे आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहां ही ये याजक जाते हैं कि जो पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं और सबपर समान प्रेमभाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समदृष्टि हो गई है। अन्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं। यह मन्त्रका भी इसी आशयको बता रहा है—

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तं अजं पयसा घृतेन यजामि। (सू. १४, मं. ६)

'दिव्य पूर्ण वेगवान् बडे अजन्मा आत्माकी दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूं।' यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है। यज्ञमें उसीकी पूजा हवनकी आहुतियोंसे होती है। हवनकी आहुतियां देना यह आत्मसमर्पणका प्रारंभ है, इसी यज्ञका रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होना है। इस पूर्ण समर्पणकी पहिली सीढी थोडीसी आहुतियां समर्पित करना है। समर्पण शक्ति बढानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्ति भी बढ जाती है।

तेन उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः सुकृतस्य स्वः लोकं गेष्मः। (सू. १४, मं. ६)

'उससे उत्तम स्वर्गधामपर प्राप्त होते हुए हम सुकृतके आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे।' यह पूर्वोक्त प्रकारके आत्मयज्ञका फल है। सभी वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है।

पञ्चामृत भोजन।

यहां पञ्चामृत भोजनका विधान है। लोकमें प्रसिद्ध पञ्चामृत सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिश्री और मधु इन पांच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है। परंतु यहां आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इंद्रियां गौवें हैं और इस यज्ञमंडपमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पंच अमृत बनता है वह यहां अभीष्ट है। यह 'पञ्च+ओदन' है। पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला यह पञ्च अमृत है। ज्ञानका नाम अमृत है। यहां पंच ज्ञान पञ्च ओदन कहा है क्योंकि जैसा ओदन या अन्न स्थूल शरीरका पोषण होता है, उसी प्रकारसे यह पांच प्रकारका ज्ञान-रस या 'सुधारस' आत्मबुद्धिमनका पोषण करता है। इसका उद्धार करना चाहिये—

एतं ओदनं दर्व्या पञ्चधा उद्धर। (सू. १४, मं. ७)

'यह अन्न कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ले' अर्थात् पांच प्रकारसे इसका उद्धार कर। यह अन्न पंचविध है एक दूसरेसे भिन्न हैं, पांच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है। इससे ही ज्ञात हो सकता है कि यह पंचज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पञ्च-विध ज्ञान ही है। हरएक इंद्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चनीच होता है, इसीलिये यहां सूचना दी है कि '**उद्धर**' उद्धार कर अर्थात् पांच प्रकारका ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिससे उद्धार हो सके। दो प्रकारका ज्ञान सन्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर। हरएक विषयमें ये दोनों प्रकार मनुष्यके सन्मुख आते हैं। उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि यह पांच प्रकारका ज्ञान इस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके। अन्नका बर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कडछीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मंत्रमें भी कडछीसे उद्धार करनेका उपदेश किया है। पञ्च ज्ञानरूपी पञ्च पक्वान्नका उद्धार करनेकी कडछी यहां कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ (अथर्व. १०।८।९)

'तिरछे मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है। वहां ही सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं।' यहां जो चमस कहा है वह मनुष्यका सिर है, इसका मुंह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सात ऋषि यहां इस सिरमें रहते हैं जो इसके संरक्षक हैं। इस मंत्रसे चमस या कडछीका ठीक पता लग सकता है। यह सब मस्तकका रूपक है, इसीसे ज्ञानरूप पांच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहां ही होता है।

इस सूक्तके '**दर्वी**' शब्दका संबंध इस मंत्रके '**चमस**' शब्दसे जोडकर देखें, पाठक जानें कि ये दर्वी (कडछी) और

चमस एक ही है। पाठकोंको सूचनार्थ निवेदन यहां है कि यज्ञमें जो जो सामग्री अथवा चमसादि साधन आवश्यक होते हैं वे सब अन्तमें अपने शरीरपर ही घटाये जाते हैं। वेदकी यह परिभाषा है। यहां चमस शब्द शरीरमें घटाया है, समिधा शब्द अन्य स्थानपर घटाये हैं। इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके मंत्रोंमें घटाये हैं। इस प्रकार वेद बतायेगा कि अन्तिम यज्ञ आत्मसर्वस्वके समर्पणसे ही होना है। अस्तु। इस प्रकार यहां पञ्चविध ज्ञानको अपने उद्धारके लिये प्राप्त करनेका उपदेश सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें किया गया। इसके पश्चात् दो मंत्रोंसे अर्थात् सप्तमका उत्तरार्ध और अष्टम पूर्ण मंत्रसे अपने शरीरको विश्वरूप बनानेका उपदेश कहा है।

विश्वरूप बनो।

अपना शरीर यह केवल अपने लिये नहीं प्रत्युत वह सब विश्वकी भलाईके लिये है, इसको विश्वके लिये समर्पण करना चाहिये। मैं सब जगत्का एक अवयव हूं। अवयवकी पूर्णता अवयवीके लिये समर्पित होनेसे ही हो सकती है। जिस प्रकार शरीरके अवयवकी पूर्णता सब शरीरके भलाईके कार्यमें पूर्णतया समर्पित होनेसे हो सकती है, उसी प्रकार एक मनुष्यकी पूर्णता उसका समर्पण समष्टिके लिये होनेसे ही हो सकती है। यही आत्मसमर्पणकी कल्पना यहां इन मंत्रोंसे बताई है जिसका स्वरूप यह है—

१ पूर्व दिशाके लिये मेरा सिर अर्पण किया है,
२ दक्षिण दिशाके लिये मेरी दक्षिण कक्षा अर्पण की है,
३ पश्चिम दिशाके लिये मेरा पिछला भाग अर्पण किया है,
४ उत्तर दिशाके लिये मेरी उत्तर कक्षा अर्पण की है,
५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ अर्पण की है,
६ ध्रुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और
७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है।

(सू. १४, मं. ७-८)

इस प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे 'मैं सब विश्वके लिये जीवित हूं।' मेरा यह यह भाग विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण हो गया है, अब मेरा जीवन जगत्के लिये हुआ है, मैंने सबकी भलाईके लिये यह आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। इसके पश्चात्—

सर्वैः अङ्गैः विश्वरूपं संभृतं शृतं अजं
शृतया त्वचा प्रोर्णुहि। (सू. १४, मं. ९)

'अपने सब अंगोंसे विश्वरूप हुए अतएव परिपक्व बने हुए अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्व त्वचा सदृश आच्छादनसे आच्छादित करो।' अपने आपको चारों ओरसे परमात्मा द्वारा आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो। यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी। इसके नंतर—

चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ।
इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ॥ (सू. १४, मं. ९)

'अपने चारों पावोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहांसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल।' अब तुम्हें कोई बीचमें रुकावट नहीं होगी। यहां वर्णन किये हुए चार पांव जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं। चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन मांडूक्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २॥
जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः.....प्रथमः पादः॥ ३॥
स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः ... द्वितीयः पादः॥ ४॥
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ ५॥
...... अदृष्टमव्यवहार्यं ...... एकात्मप्रत्ययसारं ... चतुर्थं मन्यन्ते ......॥ ७॥ (मांडूक्य उपनिषद्)

'यह अज आत्मा चतुष्पाद है। इसका प्रथम पाद जाग्रति है जिसमें बाहरके जगत्का ज्ञान होता है। इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अन्दर ही अन्दर होती है। इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा है, जिस समय एकीभूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है। और इसका चतुर्थ पाद अदृष्ट तथा अव्यवहार्य है।'

यह वर्णन इस आत्माका चतुष्पाद स्वरूप बता रहा है। कई लोग चार पांवोंका वर्णन होनेसे 'चतुष्पाद् अज' का तात्पर्य 'चार पांववाला बकरा' समझते हैं और अपेक्षा अनर्थ करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचनका भी यहां मनन करें। सीधा उत्तम स्वर्गधाममें जाना इन ही चार पावोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो अनुभव मिलते हैं और जाग्रतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही मनुष्यकी उन्नति होनी है, इसके विना कोई अन्य मार्ग नहीं है।

एक शंका।

इस सूक्तमें 'भूलोकसे ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे ऊपर स्वर्ग, स्वर्गसे ऊपर आत्मप्रकाशका लोक है, ऐसा कहा है।'

(मं. ३) मंत्रमें 'आरुह्' पद भी दर्शाता है कि यहां 'ऊपर चढनेका भाव' है। इसलिये साधारण लोक इन लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं। ये लोक शरीरमें भी हैं गुदासे नाभीतक भूलोक, नाभीसे गलेतक अन्तरिक्ष लोक, सिर स्वर्गलोग हैं और आत्मप्रकाशका लोक हृदयस्थानमें जहां धधुक् होती है वहां है। यहां पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर हैं तथापि चतुर्थलोक निम्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें है। अर्थात् यहांका ऊपरका भाव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवस्था, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदिकी उच्चतासे यहां मतलब है। वास्तविक स्थिति यह है कि 'भूः, भुवः, स्वः, महः' आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आत्मज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं। जिस प्रकार एक ही स्थानमें पत्थर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत् आदि रहते हैं, उसी प्रकार उक्त सब लोक एक ही स्थानमें हैं, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इंद्रियोंको सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वे हां उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहां रहता हुआ मनुष्य भी आत्मप्रकाशके लोकका अनुभव ले सकता है।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करें।

वृष्टि।

[सूक्त १५]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मरुतः पर्जन्यश्च)

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥
समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥
समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (नभस्वतीः प्रदिशः सं उत्पतन्तु) बादलसे युक्त दिशाएं उमड जांय, (वातजूतानि अभ्राणि सं यन्तु) वायुसे चलाये गये उदक युक्त मेघ मिलकर आवें। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) महाबलवान् गर्जना करते हुए (नभस्वतः वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) बादलोंकी गति युक्त जलधाराएं भूमिकी तृप्ति करें ॥ १ ॥

(तविषाः सुदानवः समीक्षयन्तु) बलवान् जलका उत्तम दान करनेवाले मेघ दिखाई देवें। (अपां रसाः ओषधीभिः सचन्तां) जलोंके रस औषधियोंसे संयुक्त हो जावें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें। (विश्वरूपाः ओषधयः पृथक् जायन्तां) विविध रूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

(गायतः नभांसि समीक्षयस्व) गर्जनेवाले मेघोंसे युक्त आकाश दिखाओ। (अपां वेगासः पृथक् उद्विजन्तां) जलोंके वेग विविध प्रकारसे उमड जावें। (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) वृष्टिकी धाराएं भूमिको समृद्ध करें। (विश्वरूपाः वीरुधः पृथक् जायन्तां) विविध रूपवाली औषधियां अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— चारों दिशाओंमें बादल आ जांय, वायु जोरसे बहे, उस वायुसे मेघ आकाशमें आ जांय, और बडी गर्जना होकर बडी वृष्टि होवे ॥ १ ॥

मेघसे आनेवाला जल वनस्पतियोंको मिले और सब वनस्पतियां उत्तम परिपुष्ट हो जावें ॥ २ ॥

गणास्त्वोपं गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥
उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥
अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदुधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥
सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥
आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे पर्जन्य! (घोषिणः मारुताः गणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक् पृथक् गान करें। (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षें ॥ ४ ॥

हे (मरुतः) वायुओ! (अर्कः त्वेषः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रसे ऊपर ले जाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उडाओ। (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बडे बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जलधाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

हे (पर्जन्य) मेघ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) विद्युत् कडका, (उदधिं अर्दय) समुद्रको हिला दे। (पयसा भूमिं समङ्ग्धि) जलसे भूमि भिगा दे। (त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बडी वृष्टि हमारे पास आवे। (कृश-गुः) भूमिका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला जावे ॥ ६ ॥

(सु-दानवः उत अज-गराः उत्साः) उत्तम जल देनेवाले बडे स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ (पृथिवीं अनु वर्षन्तु) पृथिवीपर अनुकूल वर्षा करें ॥ ७ ॥

(आशां आशां विद्योततां) दिशा दिशामें बिजलियां चमकें। (दिशो दिशः वाताः वान्तु) हरएक दिशामें वायु बहें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु संयन्तु) वायुओं द्वारा चलाये गये मेघ पृथिवीकी ओर अनुकूलतासे आवें ॥ ८ ॥

भावार्थ— गर्जना करनेवाले मेघोंसे जोरकी वृष्टि हो जावे और उस वृष्टिसे औषधियां उत्तम रसवाली होवें ॥ ३ ॥

वायु जोरसे मेघोंको लावें और प्रचंड धाराओंसे अच्छी वृष्टि हो जावे ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानीकी भांप होकर वायुसे ऊपर जावे, वहां वह इकट्ठी होकर मेघ बनें, वहां बिजलीकी गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करनेवाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

मेघ गर्जना करें, बिजुली कडके, समुद्र उछल पडे, भूमिपर ऐसी वृष्टि हो जावे कि किसान अपने घर जाकर आश्रय लेवे ॥ ६ ॥

जल देनेवाले मेघ सबकी रक्षा करें, उनसे भूमिपर उत्तम वृष्टि होवे ॥ ७ ॥

हरएक दिशामें बिजुलियां चमकें, वायु जोरसे चले, उनसे चलाये मेघ खूब वृष्टि करें ॥ ८ ॥

आपो॑ वि॒द्युद॒भ्रं व॒र्षं सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भिः॒ प्रच्यु॑ता मे॒घाः प्राव॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ९ ॥
अ॒पाम॒ग्निस्त॒नूभिः॑ संविदा॒नो य ओष॑धीनामधि॒पा ब॒भूव॑ ।
स नो॑ व॒र्षं व॑नुतां जा॒तवे॑दाः प्रा॒णं प्र॒जाभ्यो॑ अ॒मृतं॑ दि॒वस्परि॑ ॥ १० ॥
प्र॒जाप॑तिः सलि॒लादा स॑मु॒द्रादाप॑ ई॒रय॑न्नुद॒धिम॑र्दयाति ।
प्र प्या॑यतां॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतो॒ऽर्वाङे॒तेन॑ स्तनयि॒त्नुनेहि॑ ॥ ११ ॥
अ॒पो नि॑षि॒ञ्चन्नसु॑रः पि॒ता नः॒ श्वस॑न्तु॒ गर्ग॑रा अ॒पां व॑रु॒णाव॒ नीची॑र॒पः सृ॑ज ।
वद॑न्तु॒ पृश्नि॑बाहवो म॒ण्डूका॒ इरि॒णानु॑ ॥ १२ ॥
सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना ब्रा॑ह्म॒णा व्र॑तचा॒रिणः॑ ।
वाचं॑ प॒र्जन्य॑जिन्वितां॒ प्र म॒ण्डूका॑ अवादिषुः ॥ १३ ॥

अर्थ— (आपः विद्युत् अभ्रं वर्षं) जल, विद्युत्, मेघ, वृष्टि (उत अजगराः सुदानवः उत्साः) और बडे जल देनेवाले स्रोत (वः सं अवन्तु) तुम्हारी रक्षा करें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ भूमिकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

(अपां अग्निः) मेघके जलोंमें रहनेवाला विद्युत् रूप अग्नि (तनूभिः संविदानः) सब शरीरोंके साथ एकरूप होता हुआ (यः ओषधीनां अधिपा बभूव) जो औषधियोंका पालक होता है (सः जातवेदाः) वह अग्नि (दिवः परि अमृतं वर्षं) आकाशसे अमृतरूपी वृष्टिजल जो (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओंके लिये प्राणरूप है (नः) हमारे लिये (वनुतां) देवे ॥ १० ॥

(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात् आपः आ ईरयन्) प्रजापति जलमय समुद्रसे जलको प्रेरित करता हुआ (उदधिं अर्दयाति) समुद्रको गति देता है। इससे (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि, करनेवाले मेघसे जल बढे। वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् आ इहि) इस गर्जना करनेवालेके साथ यहां आवे ॥ ११ ॥

(अपः निषिञ्चन् असुरः) जलकी वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है। हे (वरुण) श्रेष्ठ उदकका धारण करनेवाले मेघ ! (अपां गर्गराः श्वसन्तु) जलोंके गडगड शब्द करनेवाले मेघ चलें। (अपः नीचीः अवसृज) जलको नीचेकी ओर प्रवाहित कर (पृश्निबाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहूवाले मेंडके (इरिणा अनुवदन्तु) भूमिपर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंडक पर्जन्यसे प्रेरित वाणीको (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसा कि (संवत्सरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थानमें रहकर व्रत करनेवाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— मेघ, विद्युत, वृष्टि, जल, जलस्थान ये सब मनुष्योंकी रक्षा करें। वायुसे चलाये मेघ पृथ्वीपर उत्तम वर्षा करें ॥ ९ ॥

मेघोंमें विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करता है इसलिये वह औषधियोंका अधिपति है। वह ऊपरसे वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उससे प्राणियोंको जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्रके जलको प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं। इससे भूमिके ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे। यह मेघ बिजुलीके साथ हमारी भूमिके पास आ जावे ॥ ११ ॥

मेघकी वृष्टिसे पृथ्वीपर बडे स्रोत बहें। जलमें मेंडक उत्तम शब्द करें ॥ १२ ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥
खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥
महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मंडूकि) मेंडकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंडकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्षं आ वद) वर्षाको बुला। और (ह्रदस्य मध्ये) तालावके मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पर लेकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्-वखे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शांत रहनेवाली (तदुरि) हे छोटी मेंडकी ! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो। हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंका मननीय ज्ञान चाहो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदच) बडे जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अभि षिञ्च) जलसिंचन कर। (सविद्युतं भवतु) आकाश विजुलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बहता रहे। (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करें। (ओषधयः) औषधियां (बहुधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनंदिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें ॥ १६ ॥

भावार्थ— व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंडक मानो सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

मेंडक मेघोंको बुलावें और वे जलसे तालाव भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिसे मेंडक आनंदित हो जांय ॥ १५ ॥

मेघ आजांय, खूब वृष्टि हो, बिजली कडके, वायु बहे, औषधियां पुष्ट हों, खूब अन्न उत्पन्न हो और यज्ञ चलते जांय ॥ १६ ॥

यह सूक्त पर्जन्यका उत्तम काव्य है, अत्यंत स्पष्ट होनेसे इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥



सर्वसाक्षी प्रभु ।

[सूक्त १६]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्याते वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति) इनका बडा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है। (यः तायत्) जो फैलाता और पालन करता, (चरन्) विचरता और चलाता हुआ, (मन्यते) जानता है। (देवाः इदं सर्वं विदुः) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(यः तिष्ठति, चरति) जो खडा होता है अथवा चलता है, (च यः वञ्चति) और जो ठगाता है, (यः निलायं चरति, यः प्रतंकं) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है तथा (द्वौ संनिषद्य यत् मंत्रयेते) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (तत्) उस सबको (तृतीयः राजा वरुणः वेद) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

(इयं भूमिः) यह पृथिवी, (उत उत असौ बृहती दूरं अन्ता द्यौः) और यह बडा दूर अन्तरपर दिखनेवाला द्युलोक है, यह सब (वरुणस्य राज्ञः) वरुणराजाका है। (उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखें हैं, (उत अस्मिन् अल्प उदके निलीनः) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है ॥ ३ ॥

(उत यः परस्तात् द्यां अतिसर्पात्) और जो दूर द्युलोकके परे भी चला जावे (सः वरुणस्य राज्ञः न मुच्याते) वह इस वरुणराजाके शासनसे छूट नहीं सकता। (अस्य दिवः स्पशः इदं प्र चरन्ति) इस दिव्य देवके दूत इस जगतमें संचार करते हैं। ये (सहस्र-अक्षाः भूमिं अति पश्यन्ति) हजार आंखवाले भूमिको विशेष देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन संपूर्ण लोकलोकान्तरोंका एक बडा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहनेके समान करता है, वह सबका विस्तार करता है और रक्षा करता है; सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है। उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई किसीको ठगाता हो, कोई घरके अंदर छिपकर कुछ करता हो और कोई खुले जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार करते हों, इन सब बातोंको वह प्रभु उसी समय जानता है ॥ २ ॥

यह भूमि और यह बडा द्युलोक तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभूके हैं। ये बडे समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, वह जैसा बडे समुद्रोंमें है वैसा ही पानीकी छोटीसी बूंदमें भी है ॥ ३ ॥

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

यः समाम्योऽ वरुणो यो व्याम्योऽ यः संदेश्योऽ वरुणो यो विदेश्यः ।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

अर्थ— (राजा वरुणः तत् सर्वं वि चष्टे) वरुणराजा उस सबको देखता है (यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें है और जो परे है। (जनानां निमिषः अस्य संख्याताः) मनुष्योंकी पलकोंके झपकोंको भी उसने गिना है। (तानि नि मिनोति) उनको वह नापता है (इव श्वघ्नी अक्षान्) जैसे जुआरी पासोंको नापता है ॥ ५ ॥

हे (वरुण) वरुणदेव ! (सप्त सप्त त्रेधा विषिताः) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु) सब असत्य बोलनेवालेको बांध दें अथवा छिन्नभिन्न करें। (यः सत्यवादी तं अति सृजन्तु) जो सत्यवादी है उसको छोड दें ॥ ६ ॥

हे (वरुण) ईश्वर ! (शतेन पाशैः एनं अभि धेहि) सौ फांसोंसे इसको बांध ले। हे (नृचक्षसः) मनुष्योंको देखनेवाले ! (अनृतवाक् ते मा मोचि) असत्य बोलनेवाला तेरेसे न छूट जावे। (जाल्मः उदरं स्रंसयित्वा) दुष्ट नीच अपने उदरको गिराकर, (अबन्धः कोश इव) न बंधे कोशके समान (परिकृत्यमानः आस्तां) कटा हुआ पडा रहे ॥ ७ ॥

(वरुणः यः समाम्यः) वरुण जो समान भाव रखनेवाला और (यः व्याम्यः) जो विषम भाव रखनेवाला है। (वरुणः यः सं-देश्यः, यः वि-देश्यः) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (वरुणः यः दैवः यः च मानुषः) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है ॥ ८ ॥

भावार्थ— यदि कोई कुकर्म करके द्युलोकसे भी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इस प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुप्त चर इस जगत्में संचार करते हैं और वे हजारों आंखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

जो कुछ इस भूमि और द्युलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है। यहांतक कि मनुष्योंके पलकोंको झपकोंको भी वह गिनता है, अर्थात् उसको अज्ञात ऐसा कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! तू दुष्टको सैकडों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता। जो दुष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंको सताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥ ७ ॥

सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहनेवाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा भी है ॥ ८ ॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (अमुष्यायण) हे अमुक पिताके पुत्र ! हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माताके पुत्र ! (असौ) वह तू (त्वा) तुझको (तैः सर्वैः पाशैः अभि ष्यामि) उन सब पाशोंसे बांधता हूं। और (तान् सर्वान् उ ते अनु संदिशामि) उन सबको तेरे लिये प्रेरित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे अमुक मातापिताके सुपुत्र ! तू उत्तम रीतिसे सत्य व्यवहार कर, अन्यथा उस प्रभुके पाशोंसे तू बांधा जायगा जिन पाशोंका वर्णन यहां किया जा चुका है ॥ ९ ॥

सर्वाधिष्ठाता प्रभु।

इस सूक्तमें सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वाधिष्ठाता प्रभुका वर्णन है। यह सूक्त इतना सुबोध, स्पष्ट और भावपूर्ण है कि जिसकी प्रशंसा हमारे शब्दोंसे होना असंभव है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि- 'इस जगत्का एक बडा अधिष्ठाता है वह सब जनोंके व्यवहारोंको हरएकके पास रहनेके समान देखता है।' हरएक मनुष्य इस कथनका स्मरण रखे। वह प्रभु जो कार्य करता है उसका वर्णन इसी सूक्तके प्रथम मंत्रमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुआ है—

(१) तायत् - (ताय्-संतानपालनयोः)— वह सबको फैलाता अर्थात् विस्तार करने अथवा पूर्ण बढनेका अवसर देता है; तथा सबका यथायोग्य पालन करता है। किसी प्रकार न्यूनता होने नहीं देता। यह उसकी सबके ऊपर बडी दया है। (मं. १)

(२) चरन्— वह सर्वत्र जाता है, सर्व स्थानोंमें उसकी प्राप्ति है, सबको वह चलाता है। वह सर्वव्यापक है। (मं. १)

(३) मन्यते- (मन्-ज्ञाने)— जानता है, वह सर्वज्ञ है। (मं. १)

(४) अन्तिकात् इव पश्यति— पास रहनेके समान सबके व्यवहार यथावत् देखता है। वह सर्वत्र व्यापक होनेसे वह सबका उत्तम प्रकारसे निरीक्षण करता है (मं. १)

(५) अधिष्ठाता— वह सबका मुख्य अधिष्ठाता, शासक और प्रभु है। उसके ऊपर कोई नहीं है। (मं. १)

उसकी सर्वज्ञता।

'वह सबके व्यवहार पास रहनेके समान पूर्ण रीतिसे देखता है' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है। 'कोई मनुष्य किसी स्थानपर ठहरा हो, चलता हो, दौडता हो, छिपकर कुछ करता हो अथवा खुले स्थानमें व्यवहार चलाता हो, दो मनुष्य अथवा अधिक मनुष्य बिलकुल एकान्तमें कुछ विचार करते हों तो यह सब उस प्रभुको यथावत् विदित हो जाता है, (मं. २) अर्थात् उससे छिपकर कोई मनुष्य कुछ भी कर नहीं सकता। यह उसकी सर्वज्ञताका उत्तम वर्णन है।

भूमि यहां अपने पास है और द्यौ बडी दूर है, तथापि इन सबपर उसी प्रभुका समान अधिकार है। इतने बडे विस्तारवाले विश्वपर उस अकेलेका ही स्वामित्व है। वह इतना बडा है कि ये सब समुद्र उसकी कोखमें हैं। यह इतना बडा होता हुआ भी इस छोटेसे जलके एक बूंदमें भी वह विराजमान है, प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुरेणुमें वह पूर्णतया व्यापक हुआ है। (मं. ३) यह तृतीय मंत्रका कथन है।

प्रबल शासक।

उसका शासन ऐसा प्रबल है कि कोई मनुष्य उसके शासनाधिकारसे छूटनेके लिये कहीं भी भाग गया और द्युलोकसे भी परे चला गया, तो भी वह उससे दूर जा नहीं सकता, कहां भी गया तो भी वह उसके शासनमें ही रहेगा। वह स्वयं सबका निरीक्षण करता है और उसके दूत भी ऐसे प्रबल हैं कि उनकी दृष्टि सबके ऊपर एकसी ही रहती है। (मं. ४)

जो कुछ इस द्युलोकके बीचमें है उस सबको वह प्रभु जानता ही है, यहां तक वह देखता, गिनता और नापता है कि आंखोंके पलकोंके झपक किसके कितने हुए हैं यह भी उसको ज्ञात है। जो इतनी बारीकीसे सब कुछ देखता है, उसको न समझते हुए क्या कोई मनुष्य कुछ भी कर सकता है? कभी नहीं। (मं. ५) इसलिये सब मनुष्योंको यह मानना चाहिये कि वह हमारा निरीक्षक है, अतः उसको अपने सम्मुख मानते हुए उत्तम कर्म करके अपना अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धी हरएकको प्राप्त करनी चाहिये।

उसके पाश ।

जगत्, शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि इन सात क्षेत्रोंमें उनके विविध पाश फैले हैं। प्रत्येक क्षेत्रके अनुकूल उसके पाश हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें भी सत्व, रज, तम इन तीन भेदोंसे पाश भी भिन्न हैं। ये सब पाश ' असत्य भाषण करनेवालेको बांधते हैं और सत्यवादीको मुक्त करते हैं। ' (मं. ६)

सत्यनिष्ठाका यह महत्त्व पाठक जान लें और जहांतक हो सके वहांतक सत्य पालनमें दत्त-चित्त होकर अपने जन्मकी सार्थकता करें। सप्तम मंत्रका आशय भी ऐसा ही है।

अष्टम मंत्रमें 'दैवी वरुण और मानुष वरुण' का वर्णन है। इस वर्णनसे वैदिक वर्णनशैलीका पता लगता है इसलिये इसके विषयमें थोडासा विवरण करना चाहिये—

दो वरुण ।

दिव्य वरुण	मानुष वरुण
१ समाम्यः— सबके साथ समान भाव रखनेवाला,	१ व्याम्यः— विषम भावसे देखनेवाला,
२ संदेश्यः— समान देशमें रहनेवाला अर्थात् सब स्थानोंमें समानतया रहनेवाला,	२ विदेश्यः— जो स्थान विशेषमें रहनेवाला है,
३ दैवः— जो देवसंबंधी है,	३ मानुषः— जो मनुष्योंके संबंधमें है,
४ वरुणः— जो श्रेष्ठ ईश्वर है।	४ वरुणः— जो श्रेष्ठ जीवात्मा है।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला, सब स्थानोंमें समान रीतिसे व्यापनेवाला देव है, और जीवात्मा हरएकके साथ विषमवृत्तिसे व्यवहार करनेवाला तथा छोटे छोटे स्थानमें रहनेवाला है। दोनों अपनी अपनी कक्षामें वरुण ही हैं, परंतु एककी व्यापकता बडी है और दूसरेकी छोटी है। एक ही शब्दसे जीवात्मा परमात्माका वर्णन किस ढंगसे होता है यह बात यहां पाठक देखें। यह वेदकी वर्णन शैली है।

अन्तिम मंत्रमें मनुष्य मात्रके लिये संदेश दिया है कि इस प्रभुके उपासक बनो, उसके आदेशमें रहो और सत्यपालन द्वारा उसके अनुकूल चलो। जो लोग ऐसा न करेंगे वे उसके पाशसे बांधे जायगे। जो सत्यपालन करेंगे वे मुक्त हो जायगे।

अपामार्ग औषधि ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — शुक्रः। देवता— अपामार्गः वनस्पतिः।)

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

अर्थ— हे ओषधे! (भेषजां ईशानां त्वा उत् जेषे आ रभामहे) औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली तुझ औषधिको अधिक जयशाली बनानेके लिये यह प्रयोगका प्रारंभ करता हूं। (सर्वस्मै त्वा सहस्रवीर्यं चक्रे) सब रोगोंके निवारणके लिये तुझे हजारों वीर्योंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— औषधियोंमें विशेष सामर्थ्यवाली औषधियां हैं और अन्य औषधियां प्रयोग विशेषसे सामर्थ्यशाली बनाई जाती हैं ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् । सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥२॥
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे । या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥
यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते । आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥४॥
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः । दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥५॥
क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥६॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥७॥

अर्थ:— (सत्यजितं) निश्चयसे जीतनेवाली (शपथ-यावनीं) आक्रोशको दूर करनेवाली, (सहमानां) रोगका पराजय करनेवाली, (पुनः सरां) विशेष करके सारक अथवा विरेचक गुणसे युक्त, इसी प्रकारकी (सर्वाः ओषधिः समह्वि) सब औषधियोंको प्राप्त करता हूं । ये औषधियां (इतः नः पारयात्) इन रोगोंसे हमें पार करें ॥ २ ॥

(या शपनेन शशाप) जो आक्रोशसे दुष्ट शब्द बोलती है, (या मूरं अघं आदधे) जो मूढता लानेवाला पाप धारण करती है, (या रसस्य हरणाय) जो साररूप रसका हरण करनेके लिये (जातं आरेभे) नये जन्मे बालकको भी पकडती है, (सा तोकं अत्तु-ति) वह बीमारी संतानको खा जाती है ॥ ३ ॥

(यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिस हिंसक प्रयोगको तेरे लिये कच्चे मिट्टीके वर्तनमें बनाते हैं, (यां नील-लोहिते) जिसको नील और लाल होनेतक पकाये बर्तनमें करते हैं, तथा (आमे मांसे) कच्चे मांसमें (यां कृत्यां चक्रुः) जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तया कृत्याकृतः जहि) उससे उन हिंसा करनेवालोंका ही नाश कर ॥ ४ ॥

(दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं) बुरे स्वप्नोंके आने, दुःखदायी जीवन बनना, (रक्षः अ-भ्वं अ-राय्यः) रोगक्रिमियोंका निर्बलताकारक, निस्तेजताको बढानेवाला जो रोग है तथा (दुः-नाम्नीः सर्वाः दुर्वाचः) दुष्ट नामवाली बवासीर और उसके संबंधके सब बुरे रोग ये सब (अस्मत् नाशयामसि) हमसे नाश करें ॥ ५ ॥

(क्षुधामारं तृष्णामारं) क्षुधासे मरना, तृष्णासे मरना, (अगो-तां अन्-अपत्यतां) इंद्रिय अथवा वाणीका दोष, संतान न होना, अर्थात् नपुंसकता, हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया तत् सर्वं वयं अप मृज्महे) तेरी सहायताके साथ उक्त सर्व दोषोंको हम दूर करते हैं ॥ ६ ॥

(तृष्णामारं क्षुधामारं) तृष्णासे मरना, भूखसे मरना तथा (अक्ष पराजयं) इंद्रियका नाश होना, (अपामार्ग) हे अपामार्ग औषधि ! (सर्वं तत् त्वया वयं अप मृज्महे) सब वह दोष तेरी सहायतासे हम दूर करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— निश्चयसे रोग दूर करनेवाली, रोगीका आक्रोश दूर करनेवाली, रोगीकी सहनशक्ति बढानेवाली, रेचकगुणसे युक्त औषधियां होती हैं जिनकी सहायतासे हम रोगोंसे मुक्त होते हैं ॥ २ ॥

कई रोगोंसे रोगी चिल्लाता है, कईयोंमें मूर्छा आ जाती है, कईयोंमें रक्त क्षीण होता है, कई रोग तो नवजात लडकेको होते हैं और उसका भी नाश करते हैं ॥ ३ ॥

जो हिंसाप्रयोग कच्चे वर्तनमें, पक्के वर्तनमें और कच्चे गूदेमें बनाया जाता है । उन हिंसक प्रयोगोंसे वे ही हिंसक लोग नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

बुरे स्वप्नका आना, जीवनकी उदासीनता, निस्तेजता और क्षीणता, बवासीर, चिडचिडा स्वभाव ये सब इस औषधिसे हट जाते हैं ॥ ५ ॥

बहुत भूख और बहुत प्यास लगना, इंद्रियोंके दोष, वंध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ ६ ॥

भस्मरोग और प्यास लगानेवाला रोग, तथा इंद्रियोंकी कमजोरी अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे दूर हो जाती हैं ॥ ७ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी । तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥८॥

[सूक्त १८]

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती । कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥१॥
यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् । वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥२॥
अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति । अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥३॥
सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवां छायया त्वम् । प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥४॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥५॥

अर्थ— हे अपामार्ग औषधि ! तू (**सर्वासां ओषधीनां एकः वशी इत्**) सब औषधियोंको वशमें रखनेवाली एक ही औषधि निश्चयसे है। (**तेन ते आस्थितं**) उससे तेरे शरीरमें स्थित रोगको हम (**मृज्मः**) दूर करते हैं। हे रोगी ! (**अथ त्वं अगदः चर**) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

(**सूर्येण समं ज्योतिः**) सूर्यके समान ज्योति है, और (**अह्ना समावती रात्री**) दिनके समान रात्री है। सब (**कृत्वरीः अरसाः सन्तु**) विनाशक बातें रसहीन हो जांय। (**सत्यं ऊतये कृणोमि**) सत्यको मैं रक्षाके लिये करता हूं ॥ १ ॥

हे (**देवाः**) देवो ! (**यः कृत्यां कृत्वा अ-विदुषः गृहं हरात्**) हिंसक प्रयोग करके अज्ञानीके घरका हरण करे, (**धारुः वत्सः मातरं इव**) दूध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जानेके समान, वह हिंसक विधि (**तं प्रत्यक् उपपद्यतां**) उसके प्रति लौटकर जावे ॥ २ ॥

(**यः पाप्मानं कृत्वा**) जो पाप करके (**तेन अमा अन्यं जिघांसति**) उससे साथ दूसरेको मारना चाहे, (**तस्यां दग्धायां**) उसके जल जानेपर (**बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति**) बहुत पत्थर फट शब्द करेंगे अर्थात् नाश करेंगे ॥ ३ ॥

हे (**सहस्र-धामन्**) सहस्र धामवाले ! (**त्वं विशिखान् विग्रीवान् छायय**) तू शिखारहित और ग्रीवारहित करनेवालोंको सुला दे। (**प्रियां कृत्यां चक्रुषे प्रियावते**) प्रिय कृत्य करनेवालेको प्रियके पास (**प्रति हर स्म**) पहुंचा ॥ ४ ॥

(**अनया ओषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम्**) इस औषधिसे सब दुष्ट कृत्योंका नाश करता हूं। (**यां क्षेत्रे चक्रुः**) जो खेतमें किया हो, (**यां गोषु**) जो गौओंमें और (**या वा ते पुरुषेषु**) जो तेरे पुरुषोंमें किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधि सब औषधियोंको, मानो वशमें रखनेवाला औषध है। शरीरके सब रोग उससे दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर विचरता है ॥ ८ ॥

सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जांय। सत्यहीसे सबकी उत्तम रक्षा हो सकती है, देखो सूर्यकी सत्य ज्योति आकाशमें चमक रही है, जिससे दिनका प्रकाश फैलाता है। इसी प्रकार सत्यसे उन्नति होगी ॥ १ ॥

जो घातपातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयत्न वापस जाकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें॥ २ ॥

जो स्वयं पापकर्म करके उससे दूसरेका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश होगा, जैसा तपे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं उनका नाश कर और प्रिय कार्य करनेवालेको उसके प्रेमीके पास सुरक्षित पहुंचाओ ॥ ४ ॥

इस औषधीसे सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं। खेतोंमें, गौ आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥
अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः । अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

[सूक्त १९]

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् । उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥
ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२॥

अर्थ— (यः चकार) जो करता था परन्तु (कर्तुं न शशाक) पूर्ण काटनेके लिये समर्थ न हुआ, परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) पांव, अंगुलि आदि तोड दी है, (अस्मभ्यं भद्रं चकार) हमारे लिये उसने कल्याण किया परंतु (सः आत्मने तपनं) उसने अपने लिये पीडा प्राप्त की है ॥ ६ ॥

(अपामार्गः क्षेत्रियं, यः शपथः च अपमार्ष्टु) अपामार्ग औषधि क्षेत्रिय रोगको और जो दुर्वचनका स्वभाव है उसको दूर करे। (अहं सर्वाः यातुधानीः अराय्यः अप) और सब पीडा करनेवाली निस्तेजताको दूर करे ॥ ७ ॥

(यातुधानान् अपमृज्य) यातना देनेवालोंको दूर करके तथा (सर्वाः अराय्यः अप) सब निस्तेजताओंको दूर करके हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधि ! (त्वया वयं तत् सर्वं अप मृज्महे) तेरे योगसे हम वह सब कष्ट दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(उतो अबन्धुकृत् असि) यदि तू शत्रु बनानेवाला है वा (उतो नु जामिकृत् असि) बंधु बनानेवाला है, तू (उतो कृत्याकृतः प्रजां) हिंसा कर्म करनेवालोंकी संतानोंको (वार्षिकं नडं इव आच्छिंधि) वर्षामें उत्पन्न होनेवाले घासके समान दूर कर ॥ १ ॥

(नार-सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् ब्राह्मणने (परि उक्ता असि) तेरा वर्णन किया है। हे (ओषधे) औषधि ! तू (त्विषीमती सेना इव एषि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्राप्नोषि) जहां तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहां भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जो दूसरोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है, परंतु कर नहीं सकता, इसलिये कुछ अवयवका ही नाश करता है, या अल्पसी हानी करता है, उसने तो अपनी ही हानी की है। हमारा तो कल्याण ही उससे हुआ है ॥ ६ ॥

अपामार्ग औषधिसे मातापितासे प्राप्त हुए क्षेत्रियरोग, चिडचिडापन, जिसमें रोगी चिल्लाता है वे रोग, यातना जिसमें बहुत होती हैं, तेजहीन शरीर होता है, वे सब दोष दूर होते हैं ॥ ७ ॥

यातना बढानेवाले और तेज घटानेवाले दोष अपामार्ग औषधिके प्रयोगसे हम दूर करते हैं ॥ ८ ॥

तू स्वयं शत्रु बनानेवाला हो वा मित्र बढानेवाला हो, परन्तु अपने समाजसे घातक कर्म करनेवालोंको सपरिवार दूर कर ॥ १ ॥

बडी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् पण्डितोंका मत है कि यह औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है, और जहां जाती है वहां रोगका भय शेष नहीं रहता ॥ २ ॥

अग्रमे॒ष्योष॑धीनां॒ ज्योति॑षेवाभि॒दीपय॑न्। उ॒त त्रा॒तासि॒ पाक॑स्याथो॑ ह॒न्तासि॑ र॒क्षसः॑ ॥३॥
यद॒दो दे॒वा असु॑रां॒स्त्वयाग्रे॑ नि॒रकु॑र्वत्। तत॒स्त्वमध्यो॑षधे॒ऽपामा॒र्गो अ॑जायथाः ॥४॥
वि॒भि॒न्द॒ती श॒तशा॑खा वि॒भि॒न्दन्नाम॑ ते पि॒ता। प्र॒त्यग्वि भि॑न्धि॒ त्वं तं यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥५॥
अस॒द्भूम्याः॒ सम॑भव॒त्तद्यामे॑ति म॒हद्व्यचः॑। तद्वै ततो॑ वि॒धूपाय॑त्प्र॒त्यक्क॒र्तार॑मृच्छतु ॥६॥
प्र॒त्यङ् हि सं॑ब॒भूवि॑थ प्र॒तीची॑नफल॒स्त्वम्। सर्वा॒न्मच्छ॒पथाँ॒ अधि॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥७॥
श॒तेन॑ मा॒ परि॑ पाहि स॒हस्रे॑णा॒भि र॑क्ष मा। इन्द्र॑स्ते वीरुधां पत उ॒ग्र ओ॒ज्मान॒मा द॑धत् ॥८॥

अर्थ— (ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित करती हुई (ओषधीनां अग्रं एषि) ओषधियोंके आगे आगे तू जाती है। (उत पाकस्य त्राता असि) और परिपक्कका रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोगबीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) वह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (असुरान् निरकुर्वन्) असुरोंको हटाया था, हे (ओषधे) ओषधि ! (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक ओषधि रूपमें प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

तू (शतशाखा विभिन्दती) सेकडों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है। (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि) तू उसे हरप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत् भूम्याः समभवत्) असत्यरूप दुष्टता भूमिसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः द्यां एति) वह बडा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है। (ततः तत् वै कर्तारं विधूपायत्) वहांसे वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही संतप्त करता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) उसीको वापस पहुंचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यङ् प्रतीचीनफलः संबभूविथ) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब बुरे वचनोंको और (वरीयः वधं अधि यावय) ऊपर उठनेवाले शस्त्रको दूर कर ॥ ७ ॥

(शतेन मा परि पाहि) सौ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभि रक्ष) हजारों यत्नोंसे मेरा संरक्षण कर। हे (वीरुधां पते) औषधियोंके स्वामी ! (उग्रः इन्द्रः ते ओज्मानं आ दधात्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अन्दर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

जिस बलसे देवोंने असुरोंको हटाया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है। इसलिये जो रोग हमारा नाश करते हैं उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोडा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्र ही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इसलिये दुर्भाषण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्योंकि इसमें इन्द्रका तेज भरा है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि।

हिंदी भाषामें 'लटजीरा, चिरचिरा' ये नाम जिसके हैं उसको संस्कृतमें 'अपामार्ग' औषधि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, श्वेत, कृष्ण और लाल ये अपामार्गके तीन भेद हैं। ये तीनोंके गुण समान ही हैं जिनका उल्लेख वैद्यक ग्रंथोंमें इस प्रकार किया है—

तिक्तोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शःकण्डूदुरामघ्नो रक्तघ्नः ग्राही वान्तिकृत्। (राजनि. व. ४)

(सन्निपातज्वरचिकित्सायां) पृश्निपर्णी त्वपामार्गः। चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः।

दीपनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिकफमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ड्वादिकं हन्ति। (भावप्र. पू. भा. १)

तत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं। (मद. व. १)

श्वेतश्चापामार्गकस्तु तिक्तोष्णो ग्राहकः सरः। किञ्चित्कटुः कान्तिकरः पाचकोऽग्निदीपकः। नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः। दुर्नामानं रक्तरुजं मेदोरुदुदरं तथा। वातसिध्मापचीदद्रुवान्त्यामानां विनाशकः। रक्तापामार्गकः किञ्चित्कटुकः शीतलः स्मृतः मन्यावष्टम्भवमिकृद्वातविष्टम्भकारकः। रूक्षो व्रणं विषं वातं कफं कण्डूं च नाशयेत्। बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलं। मलावष्टंभकं रूक्षं वान्तिकृत्कफपित्तजित्। तोयापामार्गकश्चोक्तः कटुः शोथकफावहः। कासं वातञ्च शोषं च नाशयेदिति च स्मृतः। (वै. निघं.)

अपामार्ग वनस्पतिका यह वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। इसका तात्पर्य यह है— 'अपामार्ग वनस्पति तिक्त, उष्ण, कटु, कफनाशक, बवासीर, खुजली, आम और रक्तके रोगोंका नाश करनेवाली है, वान्ति करनेवाली है। सन्निपात ज्वरकी चिकित्सामें पृश्निपर्णी और अपामार्ग इनका उत्तम उपयोग होता है। यह पाचक, दीपक अर्थात् भूख लगानेवाली, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, आध्मान, बवासीर आदिका नाश करती है। अपामार्ग तिक्त, उष्ण ग्राहक और सारक है। शरीरकी कान्ति बढानेवाला, पाचक और अग्नि प्रदीप्त करनेवाला है। नस्य और वान्तिमें यह प्रशस्त है। बवासीर रक्तदोष, मेद, उदर आदिका नाशक है। व्रण, विष, वात, कफ, खुजली, आदिको दूर करता है।'

यह अपामार्गका वैद्यक ग्रंथोंका वर्णन देखकर हम इन सूक्तोंमें कहे वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७-१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी 'अपामार्ग' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका भी एक ही 'शुक्र' ऋषि है।

क्षुधा और तृष्णा मारक।

सू. १७, मं. ६-७ में 'क्षुधासे मरनेका रोग' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना भस्म हो जाता है इस कारण जिसको भस्मरोग कहते हैं, तथा 'तृषाका रोग' जिसमें प्यास बहुत लगती है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे वचनमें कही है—

बीजमस्य रसे पाके दुर्जरं स्वादु शीतलम्।

'अपामार्गका बीज पचनके लिये कठिन है, स्वादु और शीतल है।' पचन कठिनतासे होता है इसलिये यह भस्मरोगके लिये अच्छा है और शीतल होनेसे तृष्णारोगको शमन करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन मंत्रोक्त वर्णनके साथ पढनेसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

बवासीर।

सू. १७, मं. ५ में 'दुर्णाम्नीः' शब्द आगया है। वैद्यक ग्रंथमें 'दुर्नामा' शब्द आगया है। यह बवासीरका वाचक है। वेदमें जहां औषधि प्रकरणमें 'दुर्नामन्' शब्द आता है वहां प्रायः बवासीरका संबंध रहता है। कई लोग 'दुष्ट वाणी, आदि भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह 'दुर्नामन्' नाम बवासीरके लिये आया है। 'दुर्नाम, दुर्णाम, दुर्वाच्' ये शब्द बवासीरके विविध भेदोंके ही वाचक हैं।

दुष्ट स्वप्न।

दुष्ट स्वप्न आना यह पित्तके कारण, पेटके दोषके कारण अथवा आमदोषके कारण होता है। वैद्यक ग्रंथोंमें इस अपामार्गको पित्तशामक, पाचक, अग्निप्रदीपक, दीपक, रुचिवर्धक कहा है। सूक्त १७ के पंचम मंत्रके पूर्वार्धमें जो रोग कहे हैं उनका इन्हींसे संबंध है, जैसा देखिये—

१ दौष्वप्न्यं— दुष्ट स्वप्न आना, निद्रा गाढ न आना,

२ दौर्जीवित्यं— जीवितके विषयमें उदासीनता मनमें उत्पन्न होना,

३ रक्षः— विविध प्रकारके क्रमिदोष होना,

४ अ-स्वं— शरीरकी वृद्धि न होना, परंतु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग,

५ अ-राय्यः— राय् अर्थात् तेज, शोभा, कान्ति जो स्वस्थ शरीर पर होती है, वह न होना, फीका रंग होना।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक ग्रंथोंके पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढनेसे इनका आशय खुल जाता है। ये सब अपचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक निश्चयसे हो सकता है।

सारक।

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें '**सरां**' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें '**सरः**' पद है। दोनोंका आशय 'सारक, रेचक' अर्थात् शौच शुद्धि करनेवाला है। शौच शुद्धि होनेसे भूख बढना, अग्निदीपन होना स्वाभाविक है। आगे तृतीय मंत्रमें '**रसस्य हरणं**' पद है। रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है। '**तृष्णामार**' रोग इसी कारण होता है। इस रोगकी यह दवा है। शरीरके रसका हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है। इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें '**शपथ**' शब्द बार बार आगया है। शपथका अर्थ है दुर्भाषण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्यकी प्रवृत्ति दुर्भाषण करनेकी ओर हो जाती है। चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है। यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवनसे दूर हो जाता है। क्योंकि इससे अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्भाषण करनेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गकी प्रशंसा परक है; इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

सूक्त १८ वेंमें मं. २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरेके घातके लिये दुष्ट मनुष्य किया करते हैं। क्षेत्रमें, गौओंके नाशके लिये और मनुष्योंके नाशके लिये करते हैं। इस प्रांतमें हमने देखा है कि अन्त्यजोंमेंसे एक जाती जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है। खेतोंमें जहां गौवें घास खानेके लिये जाती हैं, वहांके घासमें कुछ विष रखा जाता है। घास खानेसे वह विष गौआदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु घण्टा आध घंटामें मर जाता है। पशु मरनेके पश्चात् वे ही अन्त्यज लोग उसको ले जाते हैं और खाते हैं। खेतमें गौओंके संबंधमें ये लोग घातक प्रयोग किया करते हैं और बडे प्रयत्न करनेपर भी इनसे गौओंका बचाव करनेका उपाय अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस उपायके विषयमें सू. १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिके उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है। वैद्यक ग्रंथमें वचनमें अपामार्गका गुण विषनाशक लिखा है। इस गुणके कारण ही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिसे लाभ होता है। इस सूक्तके अन्य शपथादिके विषयमें पूर्व सूक्तके प्रसंगमें लिखा जा चुका है, वही यहां समझना चाहिये।

यहां इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बडी महत्त्वकी कही हैं जो हरएक पाठकको अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

सत्यसे रक्षा।

ऊतये सत्यं कृणोमि। (सू. १८, मं. १)

'रक्षाके लिये सत्यको किया है' अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिये। सत्यसे ही अपनी रक्षा होना सम्भव है। दूसरेका घातपात करनेवाले इस बातका स्मरण रखें कि, इस घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है। सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्यरूप ही है, इनसे जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश।

द्वितीय मन्त्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि 'जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको कष्ट देना चाहते हैं उनका ही नाश अन्तमें हो जाता है। जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है उसी प्रकार उनका यह घातक यत्न उनके ही पास जाता है।' (सू. १८।२) यह बोध स्मरण रखने योग्य है। षष्ट मन्त्रमें यही बात दुहराई है 'दुष्ट मनुष्यने जिनका बुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परन्तु उसी घातकको कष्ट हुआ।' (सू. १८।६) ऐसा ही हुआ करता है। इसलिये घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश हो जाता है। इस प्रकार १८ वे सूक्तका विचार हुआ। अब १९ वें सूक्तका विचार करते हैं—

असत्यसे नाश ।

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥
(सू. १९, मं. ६)

इस सूक्तमें छठे मंत्रमें असत्यसे कर्ताका ही कैसा नाश होता है यह बात विस्तारपूर्वक कही है। पृथ्वीपर थोडा भी असत्य किया तो वह चारों ओर फैलता है, और वह कर्ताको कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है। (मं. ६) इसलिये कभी असन्मार्गसे जाना नहीं चाहिये। जगत्में सुख और शान्ति फैलानेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत्त न हो और सत्यपालनमें ही दत्त-चित्त हो जावे।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि 'जहां यह औषधि पहुंचेगी वहां कोई भय नहीं रहेगा' इतना इस अपामार्ग औषधिका महत्त्व है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिकी प्रशंसा कही है। और शेष मंत्रोंमें काव्यमय वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है।

वैद्योंको इन तीनों सूक्तोंका अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि यह उनका ही विषय है।

दिव्य दृष्टि ।

[सूक्त २०]

(ऋषिः — मातृनामा । देवता - मातृनामा ।)

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति । दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥१॥
तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् । त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥२॥
दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका । सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥३॥

अर्थ— हे (देवि) दिव्य दृष्टिदेवी ! तू (तत् आ पश्यसि) वह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति) प्रत्येक पदार्थको देखती है, (परा पश्यति) दूरसे देखती है, (पश्यति) और देखती है (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमिको अर्थात् (सर्वं पश्यति) यह सब देखती है ॥ १ ॥

हे देवि औषधे ! (तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः) तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक (इमाः च पृथक् षट् प्रदिशः) और ये पृथक् छः प्रदिशाएं और (सर्वा भूतानि) सब भूत इन सबको (अहं त्वया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूं ॥ २ ॥

(तस्य दिव्यस्य सुपर्णस्य) उस दिव्य सूर्यकी (कनीनिका ह असि) छोटी प्रतिमा तू है। (सा) वह तू (भूमिं आरोहिथ) भूमिपर आगई है (श्रान्ता वधूः वह्यं इव) थकी हुई वधू जिस प्रकार रथपर बैठती है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे दिव्य दृष्टि ! तेरी कृपासे ही सब ओर देखा जाता है, और त्रिलोकीके अंतर्गतके सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिके प्रयोगसे दृष्टि उत्तम होती है और जिससे त्रिलोक, सब दिशाएं और सब भूत आदिका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

सूर्यकी ही छोटीसी प्रतिमा यहां हमारा आंख है। जिस प्रकार कुलवधू थककर रथमें बैठ जाती है, उस प्रकार यह नेत्र-रूपी कुलवधू थककर इस शरीररूपी रथमें आकर बैठ गई है ॥ ३ ॥

*

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्। तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥४॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः। अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः। पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥६॥
कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः। वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥७॥
उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम्। तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥८॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति। भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥९॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आ दधत्) सहस्र नेत्रवाले सूर्यदेवने उस दृष्टिको मेरे दक्षिण हाथमें रखा है। (तया अहं सर्वं पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूं (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र है और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) रूपोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहथाः) अपनेको मत छिपा रख। (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रवाले देव! (त्वं किमीदिनः प्रति पश्याः) तू अब क्या भोगूं ऐसा कहनेवालोंको देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानान् दर्शय) मुझको यातना देनेवालोंको दिखा। (यातुधान्यः दर्शय) पीडक वृत्तियोंको दिखा। हे ओषधे! तू (सर्वान् पिशाचान् दर्शय) सब रक्त पीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आ रभे) इसलिये तेरी सहायता लेता हूं ॥ ६ ॥

(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू द्रष्टाकी आंख है, (चतुरक्ष्याः शुन्याः च) चार आंखवाली शुनीकी भी तू आंख है (वीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) रुधिर पीनेवालेको मत छिपने दे ॥ ७ ॥

(किमीदिनं यातुधानं) आज क्या भोग करूं ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उदग्रभं) रक्षासे मैंने पकडा है। (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूं (उत शूद्रं उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है (यः च दिवं अतिसर्पति) और जो द्युलोकको भी लांघता है (तं पिशाचं प्रदर्शय) उस रुधिरमें भी जानेवालेको दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ— सूर्य देवने यह दर्शनशक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देखता हूं और यह भी जानता हूं कि कौन श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिव्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न रहे, कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इससे ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनकी सहायकाएं कौन हैं, दूसरोंका रक्त चूसनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥

सच्चा द्रष्टा आत्मा है, वह आंखसे देखता है वही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आंख है ॥ ७ ॥

मैंने अपना रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भोगतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे। इससे मैं श्रेष्ठ और दुष्टको यथावत् जानता हूं ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है, द्युलोकका भी उल्लंघन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

मातृनाम्नी औषधि।

संस्कृतमें ' माता ' नामवाली औषधियां अनेक हैं उनमें ' आखुकर्णी, महाश्रावणिका और घृतकुमारी ' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं—

संस्कृत नाम	भाषामें नाम	गुण
१ आखुकर्णी	मोपली (वै० निघं.) चक्षुष्या	(नेत्रका बल बढानेवाली)
२ महाश्रावणिका	— (रा० नि० व० ५) लोचनी	(नेत्र बलवर्धक)
३ घृतकुमारी	घिऊकुमारी (भा०) नेत्र्या	(नेत्र बलवर्धक)

' माता ' इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औषधियां नेत्रके लिये हितकारक हैं। यहां इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसी अपेक्षित है, इसका निश्चय करना सुविज्ञ वैद्योंका ही कार्य है। इस औषधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढाकर अति वृद्ध अवस्था तक नेत्र उत्तम कार्य करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये संभव है। यहां ' माता और मातृनाम्नी ' दोनोंका एक ही आशय है।

पहिले दो मंत्रोंमें इस ' माता ' औषधिका तथा ' दर्शन-शक्ति ' का वर्णन है। दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औषधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इसलिये इस औषधिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्यकी पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ ब्याही है। वह यहां अपने पतिके घर— इस जीवात्माके शरीररूपी घर— में आगई है। यहां आकर सुसरालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेके कारण उसने विश्राम किया है अर्थात् वृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस ' माता ' औषधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुनः पूर्ववत् तरुणी जैसी हो सकती है।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है; जिससे सब कुछ देखा जाता है। यहां स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा ' आर्य और शूद्र ' त्वचा ज्ञान भी प्राप्त करना। कौन मनुष्य श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है, इसका भी विचार उसका बाह्य आचार देखनेसे विदित हो जाता है यह तात्पर्य यहां है। वेदने यहां स्थूल देखते हुए सूक्ष्मता ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। पंचम और षष्ठ मंत्रका भी यही आशय है। षष्ठ मंत्रका कथन है कि ' यह दृष्टि वस्तुतः आत्माकी ही चक्षु है। ' अर्थात् इस शरीरमें ' द्रष्टा ' अपना जीवात्मा है। वही इस आंखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है। इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माका अंतर्यामीका आंख ही सच्चा आंख है, जो खुलना चाहिये। जीवात्माका नाम ' कश्यप ' अथवा ' पश्यक ' है।

क्योंकि वही देखनेवाला है। उसके पास एक ' चार आंख-वाली शुनी ' अर्थात् कुत्ती है, जो इस शरीररूपी अध्यात्मक्षेत्र-में रक्षाका कार्य करती है, यह चार आंखवाली कुत्ती हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आंखोंसे देखती है। इन प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें देखनेका उनका आंख भिन्न भिन्न है। यह वहांका यथार्थ ज्ञान देती है और वहां घातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंको सुरक्षित रखती है। जब तक यह चार आंखवाली कुत्ती जागती है तब तक यहां सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रकाशमें जिवात्मा अपने घातक वैरियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढता है। यहां इस सप्तम मंत्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बताये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आंखको खुला रखनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत इन चार विभिन्न आंखोंको खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहांकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये। स्थूल दर्शन शक्तिकी अपेक्षा यहांकी दृष्टि बडी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म बातोंको देखती है।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रमें (परि-पाण) सुरक्षाका ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहां घातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकडकर एकदम दूर करना चाहिये। कभी घातक दुष्ट भाववालेको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये। जो मनुष्य अपने संपूर्ण

कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकारका सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि ' जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो द्युलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख।' इसको देखना यह अन्तिम देखना है। इस परमात्माका दर्शन करना यह अन्तिम वस्तुका दर्शन करना है। इसका नाम ' पिशाच ' कहा है ' **पिशित+अञ्च्** ' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है, प्रत्येक पदार्थमें हरएक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये। जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आंख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है। उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरकी पवित्रता होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे।

वेदने यहां स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंको तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किस युक्तिसे प्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखें। स्थूल नेत्र इंद्रियका बल बढानेवाली ' माता ' नामक औषधि आन्तरिक आंखोंकी शक्ति बढानेवाली भी ' औषधि ' ही है, परंतु यहां ' **ओष+धी** ' (**दोष+धी**) दोषोंको धोकर अन्तःशुद्धि करना ओषधिका सांकेतिक तात्पर्य है। इस प्रकार अर्थके श्लेषका मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥



गौ ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता - गावः ।)

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥ १ ॥
इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपे॑द्ददाति॒ न स्वं मु॑षायति ।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥
न ता न॑शन्ति॒ न द॑भाति॒ तस्क॑रो॒ नासा॑मामि॒त्रो व्यथि॒रा द॑धर्षति ।
दे॒वांश्च॒ याभि॒र्यज॑ते॒ ददा॑ति च॒ ज्योगित्ताभिः॑ सचते॒ गोप॑तिः स॒ह ॥ ३ ॥

अर्थ– (गावः आ अग्मन्) गौवें आगई हैं और (उत भद्रं अक्रन्) उन्होंने कल्याण किया है । (गोष्ठे सीदन्तु) वे गोशालामें बैठें और (अस्मे रणयन्) हमें सुख देवें । (इह प्रजावतीः पुरुरूपा स्युः) यहां उत्तम बच्चोंसे युक्त बहुत रूपवाली हो जांय । (इन्द्राय उषसः पूर्वीः दुहानाः) और परमेश्वरके यजनके लिये उषःकालके पूर्व दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

(इन्द्रः यज्वने गृणते च शिक्षते) ईश्वर यज्ञकर्ता और सदुपदेश कर्ताको सत्य ज्ञान देता है । वह (इत् उप ददाति) निश्चयपूर्वक धनादि देता है (स्वं न मुषायति) और अपनेको नहीं छिपाता । (अस्य रयिं भूयः भूयः इत् वर्धयत्) इसके धनको अधिकाधिक बढाता है और (देवयुं अभिन्ने खिल्ये नि दधाति) देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेको अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

(ताः न नशन्ति) वह यज्ञकी गौवें नष्ट नहीं होती, (तस्करः न दभाति) चोर उनको दबाता नहीं, (आसां व्यथिः आ दधर्षति) इनको व्यथा करनेवाला शत्रु इनपर अपना अधिकार नहीं चलाता, (याभिः देवान् यजते) जिनसे देवोंका यज्ञ किया जाता है और (ददाति च) दान दिया जाता है, (गोपतिः ताभिः सह ज्योक् इत् सचते) गोपालक उनके साथ चिरकालतक रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— गौवें हमारे घरमें आगई हैं और उन्होंने हमारा कल्याण किया है । वह गौवें इस गोशालामें बैठें और हमारा आनंद बढावें । वह गौवें यहां बहुत बच्चोंसे युक्त और अनेक रंगरूपवाली होकर ईश्वरके यज्ञके लिये प्रातःकाल दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

ईश्वर सत्कर्म कर्ता और सदुपदेश दाताको उत्तम ज्ञान देता है और धनादि भी देता है तथा उसके सन्मुख अपने आपको प्रकट करता है । वह ईश्वर इस उपासकके धनकी वृद्धि करता है और देवत्वकी इच्छा करनेवाले भक्तको अपने ही अंदरके स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

इन गौओंका नाश नहीं होता, चोर उनको नहीं चुराता है, न इनको कोई कष्ट देता है । इनके दूधसे ईश्वरका यज्ञ किया जाता है । इस प्रकार गौओंका पालनकर्ता गौओंके साथ चिरकाल आनंदमें रहता है ॥ ३ ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥
गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥
प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (**रेणुक-काटः अर्वा ताः न अश्नुते**) पांवोंसे धूलि उडानेवाला घोडा इन गौवोंकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। (**ताः संस्कृतत्रं न अभि उप यन्ति**) वे गौवें पाकादि संस्कार करनेवाले पास भी नहीं जातीं। (**ताः गावः**) वे गौवें (**तस्य यज्वनः मर्त्यस्य**) उस यज्ञकर्ता मनुष्यकी (**उरुगायं अभयं अनु विचरन्ति**) बडी प्रशंसनीय निर्भयतामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

(**गावः भगः**) गौवें धन है, (**गावः इन्द्रः**) गौवें प्रभु हैं, (**गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः**) गौवें पहिले सोमरसका अन्न हैं (**मे इच्छात्**) यह मैं जानता हूं। (**इमाः या गावः**) ये जो गौवें हैं। हे (**जनाः**) लोगो ! (**सः इन्द्रः**) वही इन्द्र है। (**हृदा मनसा चित् इन्द्रं इच्छामि**) हृदयसे और मनसे निश्चयपूर्वक मैं इन्द्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

हे (**गावः**) गौवों ! (**यूयं कृशं चित् मेदयथ**) तुम दुर्बलको भी पुष्ट करती हो, (**अ-श्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ**) निस्तेजको भी सुंदर बनाती हो। हे (**भद्रवाचः**) उत्तम शब्दवाली गौवों ! (**गृहं भद्रं कृणुथ**) घरको कल्याणरूप बनाती हो इसलिये (**सभासु वः बृहत् वयः उच्यते**) सभाओंमें तुम्हारा बडा यश गाया जाता है ॥ ६ ॥

(**प्रजावतीः**) उत्तम बच्चोंवाली (**सु-यवसे रुशन्तीः**) उत्तम घासके लिये भ्रमण करनेवाली, (**सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः**) उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीनेवाली गौवों। (**स्तेनः अघशंसः वः मा ईशत**) चोर और पापी तुमपर अधिकार न करे। (**वः रुद्रस्य हेतिः परि वृणक्तु**) तुम्हारी रक्षा रुद्रके शस्त्रसे चारों ओरसे होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ— फुर्तीले घोडेको भी गायकी योग्यता प्राप्त नहीं होती। ये गौवें अन्न पकानेवालेकी पाकशालामें नहीं जातीं। ये गौवें यजमानकी निर्भय रक्षामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

गौवें ही मनुष्यका धन, बल और उत्तम अन्न हैं। इसलिये मैं सदा गौवोंकी उन्नति हृदय और मनसे चाहता हूं ॥ ५ ॥

अत्यंत दुर्बल मनुष्यको गौवें अपने दूधसे पुष्ट बनाती हैं। निस्तेज पांडुरोगीको सुंदर तेजस्वी करती हैं। गौवोंका शब्द कैसा आल्हाददायक होता है। ये गौवें हमारे घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं, इसीलिये सभाओंमें गौओंके यशका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

गौवें उत्तम बछडोंसे युक्त हों, वे उत्तम घास खा जांय, शुद्ध स्थानका पवित्र जल पीयें। कोई पापी या चोर उनका स्वामी न बने और वे सर्वदा सुरक्षित रहें ॥ ७ ॥

गौका सुंदर काव्य।

यह सूक्त गौका अत्यंत सुंदर काव्य है। इतना उत्तम वर्णन बहुत ही थोडे स्थानपर मिलेगा। गौका महत्त्व इस काव्यमें अति उत्तम शब्दों द्वारा बताया है। जो लोग गौका यह काव्य पढेंगे, वे गौका महत्त्व जान सकते हैं। गौ घरकी शोभा, कुटुंबका आरोग्य, बल और पराक्रम तथा परिवारका धन है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है।

गौ घरकी शोभा है।

इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रभाग देखिये—

(१) गावः भद्रं अक्रन्। (सू. २१, मं. १)

(२) गावः! भद्रं गृहं कृणुथ। (सू. २१, मं. ६)

' गौवें घरको कल्याणका स्थान बनाती हैं। ' अर्थात् जिस घरमें गौवें रहती हैं वह घर कल्याणका धाम होता है। जो पाठक गौका महत्त्व जानेंगे वे इस बातकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं।

पुष्टि देनेवाली गौ।

मनुष्यकी पुष्टि बढानेवाली गौ हैं, इस लिये हरएक घरमें गौका निवास होना चाहिये। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र-भाग देखिये—

(१) गावः अस्मे रणयन्। (सू. २१, मं. १)

(२) गावः! यूयं कृशं चित् मेदयथ। (सू. २१, मं. ६)

(३) अश्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ। (सू. २१, मं. ६)

' गौवें हमें रमणीय बनाती हैं। कृश मनुष्यको गौवें पुष्ट बनाती हैं। निस्तेजको सतेज करती हैं। ' इसी लिये घरमें गौ रखनी चाहिये और हरएकको उस गौ माताका दूध पीना चाहिये। तथा उसकी उत्तम सेवा करना चाहिये। हरएक गृहस्थीका यह आवश्यक कर्तव्य है।

गौ ही धन, बल और अन्न है।

मनुष्यको धन, बल और अन्न गौ ही देती है। सब यश गौसे प्राप्त होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिये-

(१) गावः भगः। गावः इन्द्रः। गावः सोमस्य भक्षः। इमाः याः गावः सः इन्द्रः। (सू. २१, मं. ५)

' गौवें धन हैं, गौवें ही इन्द्र (बलकी देवता) हैं, गौवें ही (दूध देनेके कारण) अन्न हैं। जो गौवें हैं वही इन्द्र है। '

गौवोंको ' धन ' कहा ही जाता है। महाराष्ट्रमें गौका नाम ' धण ' है, यह धन शब्दका ही अपभ्रष्ट रूप है। धनकी देवता वेदमें भग है, वह गौके रूपमें हमारे पास आगई है। जो लोग गौको अपने घरमें स्थान नहीं देते वे, मानो, धनको ही अपने घरसे बाहर निकाल देते हैं।

' इन्द्र ' देवता बल, पराक्रम और विजयकी है। वही गौके रूपमें हमारे घरमें आती है। जो कोई अपने घरमें गौका पालन नहीं करता वह, मानो, बल, पराक्रम और विजयको ही दूर करता है।

अन्नकी देवता ' सोम ' है वही गौके रूपमें हमारे पास आती है। गौ स्वयं दूध देती है जिससे दही, छाछ, मक्खन, घी आदि अमृतरूप पदार्थ बनते हैं। बैलके यत्नसे अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार गौ हमारा अन्नका प्रबंध करती है। ऐसी उपयोगी गौको जो लोग अपने घर नहीं पालते वे, मानो, अन्नको ही दूर करते हैं। इस प्रकार गौके पालनसे धन, बल और अन्न प्राप्त होता है और गौको न पालनेसे दारिद्र्य, बल-हीनत्व और योग्य अन्नका अभाव इनकी प्राप्ति होती है। इससे पाठक ही विचार करें कि गोपालनसे कितने लाभ हैं और गौको न पालनेसे कितनी हानियां हैं। यदि बलवान्, धनवान् यशस्वी, प्रतापी होनेकी इच्छा है, तो गौको पालना चाहिये, और गौका दूध प्रतिदिन पीना चाहिये।

यज्ञके लिये गौ।

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ और यज्ञकी सांगताके लिये गौ होती है। वैदिक धर्ममें जो कुछ किया जाता है वह परमात्माके नामसे और यज्ञके नामसे ही किया जाता है। सब कर्मका अन्तिम फल मनुष्यकी उन्नति ही है, परंतु उसका सब प्रयत्न ' यज्ञ ' के नामसे होता है। गौका दूध तो मनुष्य ही पीते हैं, परंतु घरमें गौका पालन यज्ञकी सांगताके लिये किया जाता है, अपना पेट भरनेके लिये नहीं। यह त्यागकी शिक्षा वैदिक धर्ममें इस प्रकार दी जाती है। प्रथम मंत्रमें ' उषाके पूर्व गौ दूध देती है और उस दूधसे इन्द्रका यज्ञ होता है, ' ऐसा जो कहा है इसका हेतु यही है। यज्ञका शेष घृत, दूध आदि मनुष्य पीते हैं। परंतु वह भोगके हेतुसे नहीं पीते, परंतु ' ईश्वरका प्रसाद ' मानकर पीते हैं। गौ परमेश्वरके यज्ञके लिये है, उसका प्रसाद रूप दूध पीया जाता है। इतने विश्वाससे और भक्तिसे यदि दूध पीया जाय तो वह निःसन्देह अत्यंत लाभकारी होगा।

इस यज्ञसे ' देव भी मनुष्यके लिये धन, यश, ज्ञान आदि

देता है और अपने पासके स्थिर धाममें उसको रखता है।' (मं. २)

यह द्वितीय मंत्रका कथन है। यज्ञके भावसे सब कर्म करनेसे यह लाभ होना स्वाभाविक है। तृतीय मंत्रका कथन है कि 'यज्ञके लिये गौ होती है, इस लिये उसका नाश नहीं होता, रोग उसको कष्ट नहीं देता, चोर उसको चुराता नहीं, शत्रु उसको सताता नहीं, ऐसी सुरक्षित अवस्थामें गौवें यजमानके पास रहती हैं, यजमान देवोंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ करता है और उसीसे उसके पास गौवोंकी संख्या बढ जाती है।' चतुर्थ मंत्रमें भी गौका महत्त्व ही वर्णन किया है।' घोडा, गौ जैसा मनुष्यके लिये उपयोगी नहीं है, गौवें पाकसंस्कार करनेवालेके पास कभी नहीं जाती, वे गौवें यजमानको विस्तृत रक्षामें रहती हैं और आनंदसे विचरती हैं।' यह सब वर्णन गौका यज्ञके लिये उपयोग होता है यही बात बता रहा है।

अवध्य गौ।

ऐसी उपयोगी गौ है, इसलिये वह अवध्य होनी ही चाहिये। इस विषयमें शंका नहीं हो सकती। इस चतुर्थ मंत्रमें यही बात विशेष स्पष्टतापूर्वक कही है। देखिये—

तस्य यज्वनः मर्तस्य उरुगायं अभयं ताः गावः अनु विचरन्ति। (सू. २१, मं. ४)

'उस याजक मनुष्यके बहुत प्रशंसनीय निर्भयतामें वे गौवें विचरती हैं।' अर्थात् यज्ञकर्ता यजमानके पास गौवें निर्भयतासे रहती हैं, वहां उनको किसी भी प्रकार कोई पीडा दे नहीं सकता। गौवोंके लिये यदि कोई अत्यन्त निर्भय स्थान हो सकता है तो वह यजमानका घर ही है। यह वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'यजमान गौको काटकर उसके मांसका हवन करता है' यह मिथ्या कल्पना है। गोमेधमें भी गोमांस हवनका कोई संबंध नहीं है, इस विषयमें इसी मंत्रका तृतीय चरण देखने योग्य है—

ताः गावः संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति। (सू. २१, मं. ४)

'वे गौवें मांससंस्कार करनेवालेके पास नहीं जाती।' अर्थात् गौके मांसका पाक संस्कार कोई नहीं करता। यहां '**संस्कृतत्र**' शब्द है। '**संस्कृतः**' का अर्थ है अच्छी प्रकार 'काटनेवाला' यहां '**कृत्**' धातुका अर्थ काटना है। काटे हुए मांसको पकानेवाला जो होता है उसका नाम '**संस्कृत+त्र**' है। जो पशुको काटते हैं और जो पशुको पकाते हैं उनके पास कभी गौ नहीं पहुंचती। अर्थात् गौके मांसका यज्ञमें या पाकमें कहीं भी संस्कार नहीं होता है। गोमांसके हवनका तथा गोमांसके भक्षणका यहां पूर्ण निषेध है। गौवें यजमानकी विस्तृत रक्षामें रहती हैं, इसलिये यज्ञमें गोवध, गोमांस हवन अथवा गोमांससंस्कार भी संभवनीय नहीं है। इस मंत्रने इतनी तीव्रताके साथ गोमांस संस्कारका निषेध किया है कि इसको देखनेके पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता कि वेदके गोमेधमें गोमांस हवनका संबंध है।

उत्तम घास और पवित्र जलपान।

यजमान यज्ञके लिये गौकी रक्षा करता है इसलिये वह उनकी पालनाका बडा प्रबंध करता है। यह प्रबंध किस प्रकार किया जाय इस विषयमें अन्तिम मंत्र देखने योग्य है।

(गावः) सूयवसे रुशन्तीः।
सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्तीः॥ (सू. २१, मं ७)

'गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीवें।' शुद्ध घास खाने और शुद्ध जल पीनेसे गौकी उत्तम रक्षा होती है। इस प्रकार गौकी रक्षा करें और गौके दूधसे सब पाठक हृष्टपुष्ट, बलिष्ट, यशस्वी, तेजस्वी, प्रतापी और दीर्घायु हों।

गौकी पालना।

गौकी पालना कैसी करनी चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेश भी इन्हीं मंत्रोंसे हमें मिलता है। 'उत्तम स्थानका शुद्ध जल गौको पिलाना चाहिये' यह वेदकी आज्ञा है। शुद्ध जल हो और वह उत्तम स्थानका हो। पाठक यह स्मरण रखें कि गौ जो खाती है और जो पीती है उसका परिणाम आठ दस घण्टोंमें उसके दूधपर होता है, यह नियम है। जलका भी यह नियम है कि वह स्थानके गुणदोष अपने साथ ले जाता है। हिमालय के पहाडोंसे आनेवाला जल दस्त लानेवाला होता है, कई स्थानोंका कब्जी करनेवाला और कई स्थानोंका ज्वर उत्पन्न करनेवाला होता है। इस कारण गौको अच्छे आरोग्यपूर्ण जलस्थानका शुद्ध जल ही पिलाना चाहिये, जिससे दूधमें अच्छे अच्छे गुण आ जावें और उस दूधको पीनेवालोंको अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त होवे।

घास भी अच्छी भूमिका होना चाहिये और (सु-यवस्) उत्तम जौ आदिका होना चाहिये। बुरे स्थानका बुरी प्रकार उत्पन्न हुआ नहीं होना चाहिये। कई लोग गौको ऐसी बुरी चीजें खिलाते हैं कि उससे अनेक दोषोंसे युक्त दूध उत्पन्न होता है। गौवें मनुष्यके शौच आदिको भी खाती हैं। यह सब दोष उत्पन्न करनेवाला है। उत्तम घास और शुद्ध जल खा पी कर गौसे जो दूध उत्पन्न होगा वही आरोग्यवर्धक होगा। गौ पालनेवाले इन निर्देशोंसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

क्षात्रबल संवर्धन ।

[सूक्त २२]

(ऋषिः — वसिष्ठः, अथर्वा वा । देवता - इन्द्रः)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥
एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्ष्मं क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥ २ ॥
अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३ ॥
अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम ॥ ४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! तू (मे इमं क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (इमं मे विशां एकवृषं त्वं कृणु) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर । (अस्य सर्वान् अमित्रान् निरक्ष्णुहि) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (अहं-उत्तरेषु) मैं-श्रेष्ठ मैं-श्रेष्ठ इस प्रकारकी स्पर्धामें (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आ भज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवोंमें योग्य भाग दे । (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दें । (अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु) यह राजा क्षात्र-गुणोंकी मूर्ति होवे । हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे । हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर । (अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि) इसके शत्रुको निस्तेज कर ॥ ३ ॥

हे द्यावापृथिवी ! (घर्मदुघे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः) गौ, पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेजको बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर । इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावें और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमेंसे इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो । इसके शत्रु निर्बल बन जांय । यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें ॥ २ ॥

इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें ॥ ३ ॥

*

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥
उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥
सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं। (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है। (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊंचा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होवें। तू (एकवृषः) अद्वितीय बलवान्, (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आ भर) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंके भोजनके साधन यहां ला ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर। (व्याघ्र-प्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा दे। (एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान्, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ खिद) शत्रूके समान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने। ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औषधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दें, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे। यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और मनुष्योंके सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

यह राजा ऊंचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बनकर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे। अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥ ७ ॥

स्पर्धा।

' अहं-उत्तरेषु ' यह शब्द प्रथम मंत्रमें है। यह स्पर्धाका वाचक है। 'मैं सबसे ऊंचा होऊं' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढूं, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन, प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी, यशस्वी और समर्थ बनूं। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये। शत्रुने जितनी विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुनर बढ जानेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका बल बढानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्‌में अपना राष्ट्र अग्रस्थानमें रहने योग्य उन्नत करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु होंगे, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि ' अहं-उत्तरेषु ' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्रभागमें रहेगा, इसकी सिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव ' अहं-उत्तरेषु ' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुणका उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। ' विशां एक वृषं कृणु त्वं। ' (मं. १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह शब्दका तात्पर्य इस मंत्रमें है। यही विजयकी कूंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, ज्ञानबल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत्में अग्रस्थानमें लाकर ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावटकी स्पर्धा न हो। मंत्रका पद ' अहं-उत्तरेषु ' है न कि ' अहं-नीचेषु '। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढनेसे सब आशय मनके सामने खडा हो सकता है, इसलिये इसके स्पष्टीकरणके लिये अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

पाप मोचन।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - प्रचेता अग्निः।)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन्।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

अर्थ— (यं बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) पंच जनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (विशः विशः प्रविशि-वांसम् ईमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएको हम प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमात्रको जाननेवाले ! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पहुंचाता है और (प्रजानन् यथा यज्ञं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं न आ वह) उसी प्रकार देवोंसे उत्तम मतिको हमारे पास ले आ और (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ— पांचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येकके हृदयमें ठहरकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥
येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥
येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्वराभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यामन् यामन् उपयुक्तं) प्रत्येक समयमें उपयोगी (कर्मन् कर्मन् आभगं) प्रत्येक कर्ममें भजनीय, और (वहिष्ठं) अत्यंत बलवान् (अग्निं ईडे) सर्व प्रकाशक देवकी मैं स्तुति करता हूं। वह (रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं) राक्षसोंका नाशक, यज्ञको बढानेवाला, यज्ञमें घृतकी आहुतियां जिसके लिये दी जाती हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(सुजातं जातवेदसं) उत्तम प्रसिद्ध, बने हुए विश्वको जाननेवाले, (विभुं वैश्वानरं) सर्वव्यापक विश्वके नेता और (हव्यवाहं हवामहे) अन्नके देनेवाले प्रभुकी हम प्रार्थना करते हैं कि (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

(येन युजा ऋषयः बलं अद्योतयन्) जिसकी सहायतासे ऋषि लोग बल प्रकाशित करते आये हैं, (येन असुराणां मायाः अयुवन्त) जिसकी सहायतासे राक्षसोंकी कपटयुक्तियोंको दूर किया, (येन अग्निना इन्द्रः पणीन् जिगाय) जिस तेजस्वी देवताकी सहायतासे इन्द्रने आसुरी व्यवहार करनेवालोंको जीता था (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(येन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) जिसकी सहायतासे देवोंने अमृत प्राप्त किया, (येन ओषधीः मधुमतीः अकृण्वन्) जिसके योगसे औषधियोंको मधुर रसवाली बनाया है, (येनः देवाः स्वः आ भरन्त) जिसके आश्रयसे देवता लोग आत्मिक बल प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार हवन किये हुए हवन द्रव्योंको अग्नि सब देवोंके पास पहुंचाता है उसी प्रकार यह महान् देव सब दिव्य भाववालोंके पास रहनेवाली सुमति हमारे अंतःकरणमें स्थिर करे और हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

प्रत्येक समय सहायता देनेवाला, हरएक कर्ममें सेवा करने योग्य, बलवान्, प्रकाशक, दुष्टोंको दूर करनेवाला, यज्ञकी वृद्धि करनेवाला और जिसके लिये यज्ञमें आहुतियां दी जाती हैं वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

उत्तम प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सबको चलानेवाला, अन्नका दाता जो एक ईश्वर है उसीकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

ऋषि लोग जिसके पाससे बल प्राप्त करते हैं, जिसकी सहायतासे देव असुरोंका पराभव करते हैं तथा जिसके आधारसे कुटिल व्यवहार करनेवालोंका पराजय किया जाता है वह ईश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यस्य प्रदिशि इदं केवलं) जिसके शासनमें यह विश्व किसी अन्यकी अपेक्षा न करता हुआ रहा है (यत् विरोचते) जो इस समय प्रकट हो रहा है (यत् जातं जनितव्यं च केवलं) जो पहिले बना था और जो भविष्यमें केवल बनेगा, (नाथितः अग्निं स्तौमि जोहवीमि) सनाथ होकर मैं तेजस्वी देवकी स्तुति और पुकार करता हूं (सः नः अंहसः पातु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिसकी सहायतासे देवता लोग अमरत्व प्राप्त करते हैं, जिसने औषधियां मधुर रसवाली बनायी हैं, जिसने देवता लोगोंमें आत्मिक बल भर दिया है वह देव हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान समयोंमें प्रकाशित होनेवाला यह संपूर्ण विश्व जिसके शासनमें रहता है उसकी मैं स्तुति, प्रार्थना और उपासना करके याचना करता हूं कि वह परमेश्वर हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे मुक्ति।

मनुष्यमें पापका भाव रहता है जो हरएककी उन्नतिके पथमें रुकावटें उत्पन्न करता है। इसलिये पाप भावसे बचनेका उपाय हरएकको करना चाहिये। यहां २३ से २९ ये सात सूक्त इसी उद्देश्यके आ गये हैं, इन सातोंका ऋषि 'मृगार' है। इस ऋषिके नामका अर्थ 'आत्मशुद्धि करनेवाला' ऐसा है। इस २३ वें सूक्तमें अग्नि नामसे बोधित होनेवाले परमेश्वरकी सहायतासे पाप मुक्त होनेका उपदेश है। इस पृथ्वीपर पहिली प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली शक्ति 'अग्नि' है, 'अग्निमें प्रकाशकताका गुण तथा अन्यान्य गुण जो विद्यमान हैं वे जिस परमेश्वरने रखे हैं वही सच्चा अग्निका अग्नि है। इस दृष्टिसे यहां अग्नि पदका प्रयोग किया गया है।

जो देव सबसे पहिला है अर्थात् जिसके पूर्वका कोई देव नहीं, जो ज्ञानी है, जो पञ्चजनोंके हृदयोंमें निवास करता है, हरएकके अन्दर जो प्रविष्ट हुआ है, जो यज्ञका बढानेवाला है, हरएक समयमें जिसकी सहायतासे हमारी स्थिति होती है, प्रत्येक कर्म जिसकी पूजाके लिये किया जाता है, जो दुष्टोंको दूर करता है और यज्ञद्वारा जो सज्जनोंका संगतिकरण करता है, इस प्रकार दुष्टोंका बल घटाकर जो सज्जनोंकी रक्षा करता है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, सर्वत्र व्यापक होता हुआ संपूर्ण जगत्का जो चालक है, जिसके लिये जैसा अन्न चाहिये वैसा उसके लिये जो उत्पन्न करता है, ज्ञानी लोग जिससे बल प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय वीर जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त करते हैं, दुष्ट रीतिसे व्यवहार करनेवालोंका जिसकी व्यवस्थासे पराभव होता है, जो सबको अमृतत्त्व देता है, जिसने औषधियोंमें विविध मधुर रस रखे हैं, जिससे आत्मिक बल प्राप्त होता है, और जिसका शासन सब भूत, भविष्य, वर्तमान संसारपर अबाधित रीतिसे चलता है अर्थात् जिसके शासनमें बाधा डालनेवाला कोई नहीं है वह एक ही प्रभु इस जगत्का पूर्ण शासक है, उसकी उपासना हम करते हैं, वह हमें निश्चय पूर्वक पापसे बचावेगा। उसके गुणोंका मनन करनेसे और उसके गुणोंकी धारणा अपने अन्दर करनेसे ही जो शुभ भावनाएं मनमें स्थिर होती हैं उससे पाप प्रवृत्ति हट जाती है। इसलिये परमेश्वर उपासना मनुष्यकी अन्तःशुद्धि करती है ऐसा कहते हैं वह बिलकुल सत्य है।

इस अग्निकी विभूति मनुष्यके अन्दर वाणीका रूप धारण करके रहती है '**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्**' ऐसा ऐतरेय उपनिषद्में कहा है। इससे वाणीसे पाप न करनेका निश्चय करना चाहिये। विचार, उच्चार और आचार यह क्रम है, मनसे विचार होता है, पश्चात् वाणीसे उच्चार होता है और नंतर शरीरसे कर्म होता है। इससे स्पष्ट है कि विचारके पश्चात् उच्चारका पातक होता है। पाठक अपने ही पासके संसारमें देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वाणीका प्रयोग ठीक रीतिसे न होनेके कारण ही जगत्में कितने झगडे और पाप हो रहे हैं। यह बात तो सबके परिचयकी है कि वाणीका योग्य उपयोग करनेसे प्रचंड अनर्थ टल जाते हैं। इसलिये जो पापसे बचना चाहते हैं वे अपने वाणीको सबसे पहले शुद्ध करें और पापसे बचें।

अब अगला सूक्त देखिये—

[सूक्त २४]

(ऋषिः — मृगारः। देवता — इन्द्रः।)

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥
य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥
यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥
यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य मन्महे) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं, (अस्य वृत्रघ्नः इत् शश्वत् मन्महे) इस शत्रुनाशक प्रभुका निश्चयसे हम सदा ध्यान करते हैं, (इमे स्तोमाः मा उप मा अगुः) ये इसके स्तोत्र मेरे पास आगये हैं। (यः दाशुषः सुकृतः हवं एति) जो दानी सत्कार्यके कर्ताके पुकारको सुनकर आता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः उग्रबाहुः) जो बलवान वीर (उग्राणां ययुः) प्रचण्ड वीरोंका भी चालक है और जो (दानवानां बलं आरुरोज) असुरोंके बलको तोड देता है, (येन सिन्धवः गावः जिताः) जिसने नदियां और गौवें जीतकर वशमें की हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(यः चर्षणिप्रः वृषभः स्वर्विद्) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है, (ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति) ये पत्थर जिसके पास बल है ऐसा कहते हैं, (यस्य सप्त होता अध्वरः मदिष्ठः) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा अहिंसामय यज्ञ अत्यंत आनन्द देनेवाला है (सः नः अंहस मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(यस्य वशासः ऋषभासः उक्षणः) जिसके कार्यके लिये गौवें, बैल और सांढ होते हैं, (यस्मै स्वर्विदः स्वरवः मीयन्ते) जिस आत्मिक बलवालेके लिये सब यज्ञ होते हैं (यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्रः पवते) जिसके लिये वेदोच्चारसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब जगत्‌के प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सन्मुख आते हैं। निःसंदेह वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है। वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जो बलवान् प्रभु वीरोंको भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियां और गौवें इस पृथ्वीपर विचरती हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंको पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्तिका ज्ञाता है। साधारण पत्थर भी जिसके बलकी प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि पशु भी अपना बल लगाते हैं, जिसके आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥
यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥
यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (सोमिनः यस्य जुष्टिं कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (यं इषुमन्तं गविष्टौ हवन्ते) जिस शस्त्रवालेको इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल रहा है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है । (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धम्) जिस अद्वितीय देवका पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है, (येनः उद्यतः वज्रः अहिं अभ्यायत) जिससे उठाया वज्र शत्रुका सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यः वशी संग्रामान् युधे सं नयति) जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंके समूहोंको युद्ध करनेके लिये चलाता है (यः द्वयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंको संगतिके लिये छोडता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उस नाथके वशमें रहता हुआ मैं स्तुति करता हूं और (जोहवीमि) उसको बार बार पुकारता हूं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिसकी संतुष्टिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छापूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारसे सूर्य जैसे गोल रहे हैं इतना प्रचंड बल जिसमें है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जो जगद्रूपी कार्य करनेके लिये ही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है, जिसके वज्रके सन्मुख कोई शत्रु खडा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे बचाव ।

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वरकी प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है। इन्द्र बलकी देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है। इन्द्रके बलसे ही सब बलवान् हुए हैं। बलके विना कृमिकीट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह दर्शानेके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति । (सू. २४, मं. ३)

' ये पत्थर बल जिसके लिये कहते हैं । ' अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं । बल इसीके पाससे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं। पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है वह उसीकी है। जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं। यह साक्षी जैसी पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है, क्योंकि हरएक पदार्थका बल उसीसे प्राप्त हुआ होता है ।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है। अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बडे कार्यको देखनेसे ही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदि देवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है । यदि यह बडा कार्य सन्मुख न आया तो किसको कैसा उसका पता लग सकता है । यह प्रचंड सामर्थ्य इसी प्रभुका है इस लिये कोई शत्रु इसके सन्मुख खडा रह नहीं सकता । यह तो—

उग्रीणां उग्रबाहुः। (सू. २४, मं. २)

'वह उग्रवीरोंको भी वीर्य देनेवाला बाहुबलशाली वीर है' अर्थात् हमारे उग्रसे उग्र जो वीर हैं वे उसके वीर्यसे वीर्यवान् हुए हैं, उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं। यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी। इस लिये निवेदन है कि कोई अपने बलकी घमंडसे दूसरोंको कष्ट न पहुंचावे। जिस बलके कारण उसके मनमें घमंड उत्पन्न होती है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल वापस लेगा तो फिर किस बलके कारण ये लोग घमंड करेंगे? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको लाभ पहुंचानेका यत्न करे न की दूसरोंको दबानेका। यही उपाय पापसे बचनेका है।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं। धर्म-युद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यही सबका सच्चा नाथ है। जो लोग इसको नाथ मानकर अपने आपको सनाथ समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं। सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पहुंचता है और वह दाताकी कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वरकी भक्तिसे मनुष्य पवित्र बनें और पापसे बचें।

[सूक्त २५]

(ऋषिः — मृगारः। देवता — सविता, वायुः।)

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ— (**वायोः सवितुः**) वायु और सविता इन दो देवोंके (**विदथानि मन्महे**) जानने योग्य गुणोंका हम मनन करते हैं। (**यौ आत्मन्वत् जगत् विशथः**) जो दोनों आत्मावाले जंगम जगत्में प्रविष्ट होते हैं (**यौ च रक्षथः**) और जो दोनों रक्षा करते हैं। (**यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः**) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(**ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः**) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये हैं। (**याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं**) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडलको धारण किया है, (**कश्चन ययोः प्रायं न अन्वानशे**) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (**तौ नः अंहसः मुञ्चन्तं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

हे (**चित्रभानो**) विचित्र प्रभायुक्त! (**तव व्रते जनासः नि विशन्ते**) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं। (**त्वयि उदिते प्रेरते**) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं। हे (**वायो सविता च**) वायो और हे सविता! (**युवं भुवनानि रक्षथ**) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (**तौ नः अंहसः मुञ्चतं**) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और नेत्र) ये दोनों अनेक प्रकारसे प्राणिमात्रकी धारणा करते हैं। ये सब प्राणियोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं। ये दोनों सब जगतके तारक होते हैं इसलिये वे हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

इन दोनोंके अनंत कर्म हैं। ये ही अन्तरिक्षमें मेघमंडलका धारण करते हैं। इनके साथ किसी अन्यकी तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दु॒ष्कृत॒मप॒ रक्षां॑सि॒ शिमि॑दां च सेधतम् ।
सं ह्यू॑र्जया॑ सृ॒जथः॑ सं बले॑न॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥
र॒यिं मे॒ पोषं॑ सवि॒तोत वा॒युस्त॒नू दक्ष॒मा सु॑वतां सु॒शेव॑म् ।
अ॒य॒क्ष्म॒ता॒तिं मह॑ इ॒ह ध॑त्तं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥
प्र सु॑म॒तिं स॑वितर्वाय ऊ॒तये॒ मह॑स्वन्तं मत्स॒रं मा॑दयाथः ।
अ॒र्वाग्वा॒मस्य॑ प्र॒वतो॒ नि य॑च्छतं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥
उप॒ श्रेष्ठा॑ न आ॒शिषो॑ दे॒वयो॒र्धाम॑न्नस्थिरन् ।
स्तौमि॑ दे॒वं स॑वि॒तारं॑ च वा॒युं तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— हे (वायो सविता च) वायो और सविता ! (इतः दुष्कृतं अप सेधतं) यहांसे दुष्कर्म करनेवालोंको दूर हटा दो तथा (रक्षांसि शिमिदां च) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो। (ऊर्जया बलेन हि सं सृजथः) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो ! (मे तनू) मेरे शरीरमें (सुसेवं रयिं) सेवन करने योग्य कान्ति और (पोषं दक्षं) पुष्टियुक्त बल (आ सुवतां) उत्पन्न करें (इह महः अयक्ष्मतातिं धत्तं) यह बडी नीरोगता धारण करें और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

हे सविता और हे वायो ! (ऊतये सुमतिं प्र यच्छतं) रक्षाके लिये उत्तम बुद्धि दान करो। (प्रवतः वामस्य अर्वाक् नि यच्छतं) प्रकर्षयुक्त धनका भाग हमें प्रदान करो। तथा (महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः) वृद्धि करनेवाला सोमादि अन्न तृप्तिके लिये दो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(नः श्रेष्ठाः आशिषः) हमारी श्रेष्ठ आकांक्षाएं (देवयोः धामन् उप अस्थिरन्) उक्त दोनों देवोंके धाममें स्थिर होवें। (सवितारं वायुं च देवं स्तौमि) सविता और वायु देवकी मैं स्तुति करता हूं इसलिये कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— सूर्य विचित्र तेजवाला है, (शरीरमें आंख भी वैसी ही है) इसके उदय होने अर्थात् खुल जानेके पश्चात् ही प्राणीकी प्रवृत्ति कार्यमें होती है। विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आंख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये दोनों हमारी रक्षा करनेके लिये हमें शुद्ध बुद्धि, उत्कर्षको ले जानेवाला धन और पोषक अन्न देवें और हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

ये हमारी श्रेष्ठ आकांक्षायें ये दोनों देव सुनें और पूर्ण करें तथा हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

सविता और वायु।

सविता और वायु इन दो देवोंका वर्णन इस सूक्तमें है। सूर्य और हवा यह इनका प्रसिद्ध अर्थ है। मनुष्यके आरोग्यके लिये सूर्य और वायुका कितना उपयोग है यह सब जानते ही हैं। सूर्य न रहा और वायु न रहा तो मनुष्यका जीवन उसी समय नष्ट होगा। सूर्यप्रकाश विपुल मिलनेसे और शुद्ध वायु विपुल प्राप्त होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अंधेरे घरमें रहनेसे और दूषित वायुमें रहनेसे विविध प्रकारकी बीमारियां मनुष्यके पीछे लगती हैं। यह विषय वेदमें अनेक स्थानोंपर आ गया है तथा यह विषय अब सर्वसाधारणको भी ज्ञात हुआ है। इसलिये इन दो देवोंका हमारी नीरोगताके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है यह यहां विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

सूर्य देवता।

'**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (ऋग्वेद) यह ऋग्वेदमें कहा है। सूर्य स्थावर जंगमका आत्मा ही है। इतना सूर्यका महत्त्व है। सूर्यके कारण ही स्थावरजंगम पदार्थ रहते हैं, सबकी स्थिति सूर्यके कारण है, इतना सूर्यका महत्त्व होनेसे सूर्यदेवका संबंध हमारे आरोग्यसे कितना है यह स्वयं ज्ञात हो सकता है।

यह सूर्य हमारे शरीरमें अपने एक अंशसे नेत्र इंद्रियमें रहा है। '**सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।**' (ऐ० उप०) सूर्य आंख बनकर चक्षुओंमें रहा है। नेत्र इंद्रिय स्वयं प्रकाश है, इस नेत्रसे प्रकाशका किरण निकलता है और उसका परिणाम बाह्य पदार्थपर होता है। ब्रह्मचर्यादि सुनियमयुक्त व्यवहारोंसे यह अपने अन्दरका सामर्थ्य बढता है और अनियमसे घटता भी है। यह नेत्रस्थानमें रहा हुआ सूर्यका अंश हमें योग्य और अयोग्य पदार्थोंका दर्शन कराता है। इस नेत्रेन्द्रियका पिता सूर्य है। यह नेत्र अपने पितासे प्रकाशकी सहायता लेकर यहांका कार्य चलाता है और विविध रूपोंको बताता है। अपनी उन्नतिका साधन करनेवालोंका दर्शन करने और अवनति करनेवालोंका दर्शन न करनेसे साधक पापसे बच जाता है। यह है सूर्य देवका पापसे बचानेका कार्य। पवित्र दृष्टिसे अनेक प्रकार पापसे बचना संभव है। सब सृष्टिको परमात्मशक्तिरूप मानने और देखनेसे मनुष्यकी दृष्टि ही पवित्र हो जाती है। दृष्टिकी पवित्रता होनेसे मनुष्य पापसे बच जाता है। मनुष्य जो पाप करता है वह दृष्टिके दोषसे ही करता है। विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं ज्ञात होगा कि दृष्टिकी पवित्रतापर ही बहुत सारी मनुष्यकी शुद्धता निर्भय है। दृष्टि बंद रही तो काम, लोभ, मोह आदि विकार उतने प्रमाणसे कुछ अंशमें कम रहेंगे।

वाणी, बल और नेत्र।

पूर्व सूक्तोंमें अग्निके मिषसे वाणिकी शुद्धता, इन्द्रके मिषसे बलकी पवित्रता और इस सूक्तमें सूर्यके मिषसे नेत्र इंद्रियकी पवित्रता प्राप्त करनेकी सूचना कही है। पापसे बचनेका अनुष्ठान यह है। इस प्रकार अपने अंदरकी शक्तियोंको पवित्र और पुनीत करनेसे मनुष्य पापसे बचता है। यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता सदा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तःशुद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहते हैं। अन्योंको वैसा लाभ नहीं हो सकता।

सूर्यचक्र।

सूर्यका दूसरा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इसका अधिकार पचन इंद्रियपर रहता है। पेटके बराबर पीछे यह चक्र है। इसमें सूर्य शक्ति रहती है जो अन्न पाचनका कार्य करती है। इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये हैं। (मं. ६) ऐसे शुद्ध अन्नका भक्षण करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संभालना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं। अशुद्ध अन्नसे मनकी वृत्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र बनती है, जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें।

प्राण।

अब वायुका विचार करना चाहिये। '**वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।**' (ऐ० उ०) वायु प्राण बनकर नाकके द्वारा फेफडोंमें जाता है और वहां रक्तकी शुद्धि करता है। इसके शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं। इसके अशुद्ध होनेके कारण प्राणी मर जाते हैं इस प्रकार यह जीवनका हेतु है। योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम 'प्राणायाम' कहलाता है। जिस प्रकार धौंकनीसे वायु देकर प्रदीप्त किये अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, इसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होनेवाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इंद्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं। मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और कुतर्क नहीं करता। इस कारण आत्मिक शक्तिकी उन्नति होनेमें सहायता होती है। पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है। अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठीक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है। यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है। पाठक इसको अपने अंदर घटावें और लाभ उठावें।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

पाप-मोचन।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - द्यावापृथिवी।)

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे द्यावा पृथिवी! (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले, और उत्तम ज्ञानवाले हो; (वां मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूं। (ये अमिता योजनानि अप्रथेथां) जो तुम दोनों अपरिमित योजनोंकी दूरीतक फैले हो, (हि वसूनां प्रतिष्ठे अभवतं) क्योंकि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी) बडे विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियां (वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतं) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाली हो। ये (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख-दायी हों और (ते नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(अहं) मैं (सुतपसौ असन्तापे) उत्तम तेजस्वी परंतु संताप न देनेवाली (कविभिः नमस्ये उर्वी गभीरे) कवियों द्वारा नमन करने योग्य बडी लंबी चौडी और बडी गंभीर द्यावा पृथिवीकी (हुवे) प्रार्थना करता हूं। ये (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये अमृतं ये हवींषि बिभृथः) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नका धारण करती हो, (ये स्रोत्याः ये मनुष्यान् बिभृथः) जो नदी आदि प्रवाहोंको और जो मनुष्योंको धारण करती हो। वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनो और हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ये उस्रियाः ये वनस्पतीन् बिभृथः) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो; (ययोः वां अन्तः विश्वा भुवनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायक हों और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करते हो, (याभ्यां ऋते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके विना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायी बनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रयत्नसे किया हुआ, (न दैवात्) दैवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस कष्टको दूर करनेके लिये (द्यावा पृथिवी स्तौमि) द्यावा पृथिवीकी मैं स्तुति करता हूं और (नाथितः जोह्वीमि) मैं उनसे सनाथ होकर पुकारता हूं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥

द्यावा पृथिवी।

यह सूक्त मृगार सूक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है। और इसमें द्युलोक और पृथिवी लोकके योगसे पातकसे मुक्त होनेकी आकांक्षा की है। पृथिवी लोक वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और द्युलोक वह है जो तारोंसे युक्त आकाश है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड इनके बीचमें समाया है। कोई चीज इनसे बाहर नहीं है। जितनी सब शक्तियां हैं इनके बीचमें आ गई हैं। इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हमें अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना। मं. १) अगणित योजन विस्तृत हैं। ये कितने विस्तृत हैं इसका गणित नहीं हो सकता। आकाशका विस्तार जाना नहीं जा सकता है और न गिना जाता है। संक्षेपसे कहना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनों (प्रवृद्धे उरूची। मं. २; उर्वी, गंभीरे। मं. ३) बडे विस्तृत महान् गंभीर है अर्थात् बडे गहरे हैं। तथापि इनकी गहराईका किसीको पता नहीं लग सकता।

ये दोनों हरकक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं। इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसौ) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बडा आदर धारण करते हैं, इनमें सूर्यादि तेजस्वी गोल (सु-तपसौ) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं तथापि ये किसीको (अ-सन्तापे) सन्ताप नहीं देते, प्रत्युत संतप्त हृदय जब इनकी ओर दृष्टिक्षेप करता है तब उनके हृदयका दुःख दूर होता है और वहां शान्तिका राज्य होता है।

ये दोनों लोक (सु-भोजसौ) उत्तम भोजन देते हैं। (कीलालेन तर्पयतः) अन्नसे संतुष्ट करते हैं और जब तृषा लगती है तब भी (घृतेन) जलसे शान्ति देते हैं। क्यों कि इनके अंदर (अमृतं हवींषि बिभ्रतः) जल और अन्न रहता है। इनके अंदर (उस्रियाः) गौवें हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा उत्तम वनस्पतियां हैं जो उत्तम रस देती हैं। इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है। मनुष्योंको जिस समय शोक होता है उस समय मनुष्य पृथ्वी या आकाशके उत्तम दृश्य देखें और उनमें दिव्यताका अनुभव करें। इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है। द्युलोक पिता है और पृथ्वी माता है। मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिवार है। देखो, ये कैसे अपनी सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं। ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्नसे हमारी तृप्ति करते हैं, जलसे हमारी शान्ति बढाते हैं और अन्यान्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं। इसी प्रकार हम अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यय करना चाहिये, हमें अपने अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये। अपना जीवन जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। और सब जगत्को एक परिवार मानकर सबके साथ इनके सदृश समान व्यवहार करना चाहिये। यह है पापमोचनका मार्ग।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — मृगारः । देवता - मरुतः ।)

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— (मरुतां मन्वे) मरुतोंका मैं मनन करता हूं कि वे (मे अधि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (इमं वाजं वाजसाते अवन्तु) इस अन्नकी अन्नदानके प्रसंगमें रक्षा करें । (सुयमान् आशून् इव) उत्तम नियमोंसे चलनेवाले घोडोंके समान इनको (ऊतये अह्वे) रक्षाके लिये मैं बुलाता हूं । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय जलप्रवाहको फैलाते हैं (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस सींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातॄः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतोंको मैं अपने सन्मुख रखता हूं, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनूनां पयः) गौओंके दूधको (ओषधीनां रसं) औषधीयोंके रसको, (अर्वतां जवं) और घोडोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो तुम कवि होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुद्गण हमें शक्ति देने और सुख देनेवाले होवें और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये समुद्रात् आपः दिवं उद्वहन्ति) जो समुद्रसे जलको द्युलोकतक पहुंचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) द्युलोकसे पृथ्वीपर पुनः छोडते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत् जलोंके साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेयसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थोंके साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः वर्षयन्ति) जो समर्थ मरुत जलोंसे वृष्टि करते हैं, वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतों ! (यदि इदं मरुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन ईदृक् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (वसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिध्वे) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मारुतं अनीकं शर्धः) मरुतोंका सैनिक बल (पृतनासु तिग्मं) सेनाओंमें तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बलयुक्त प्रचण्ड शक्तिवाला सबको विदित है । इसलिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोंकी प्रशंसा करता हूं और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको बुलाता हूं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मरुत् देवता ।

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है । इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मर्+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है । शरीर मरनेवाला है उसको उठाकर खडा करनेवाला प्राणवायु ही है । मरनेवालेको उठानेका चमत्कार प्राण ही करता है, किसी अन्यमें यह शक्ति नहीं है । जैसे पशुओंमें घोडे वेगवान् होते हैं उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है । इनके कारण ही सब प्रकारका (वाजं) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है । वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है परंतु औषधि वनस्पतियोंमें भी वही जीवनका संचार करता है, और वनस्पतियोंसे जो उत्तमोत्तम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राणका कार्य है । वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस, गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राण ही है ।

यह विश्व प्राण ही समुद्रसे जलको ऊपर ले जाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका चमत्कार है । पृथ्वीके ऊपरके सब अन्न और पेय इसीके कारण मिलते हैं, हरएक अन्नपानमें जो पौष्टिक सत्वांश है वह इसी कारण है । यह जीवन देनेवाली प्राणशक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है ।

जो वीरोंमें तेज, बल, सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसीके कारण है; यह मरुतोंका और प्राणोंका कार्य सबको देखना चाहिये । देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं ।

जगत्में देखिये अन्य सब देव अस्तको जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है । इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं । परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थक जाता है । निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है । जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जायगे ।

वेदमें ' मरुत् ' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है । मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मर्+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं । शरीरमें देखिये प्राण शरीरमें जाता है, वहांका कार्य करता है, अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है, और फिर उठता है यह भाव यहां प्रत्यक्ष है । प्रतिक्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है । प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है । अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है । अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये । राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है । जब स्वार्थी लंपट मनुष्य राष्ट्रमें अधिक संख्यामें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है; मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह बोध यहां मिलता है ।

[सूक्त २८]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - भवाशर्वौ।)

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥
ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (भव-शर्वौ) जगत् उत्पन्न करनेवाले और जगत्का लय करनेवाले! (वां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हूं। (तस्य वित्तं) उसको तुम दोनों जानते हो। (यत् इदं प्रदिशि विरोचते) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह सब (ययोः वां) जिन तुम दोनोंका ही है (अस्य द्विपदः यौ ईशाथे) इस द्विपाद जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पांववालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्यध्वे उत यत् दूरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इषु-भृतां असिष्ठौ विदितौ) जो निश्चयसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों जाने जाते हो, जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे दोनों तुम हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षौ शत्रुहणौ) तुम दोनों हजारों आंखवाले और शत्रुविनाशक हो (दूर-गव्यूती उग्रौ) तथा दूरतक गमन करनेवाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन् एमि) मैं पुकारता हूं और स्तुति करता हुआ प्राप्त होता हूं। जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

(अग्रे यौ साकं बहु आरेभाथे) पहिले जो तुम दोनोंने मिलजुलकर बहुत कार्य आरंभ किये और (जनेषु च अभिभां इत् प्र अस्राष्ट्रम्) लोकोंमें तेजको उत्पन्न किया। जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ययोः वधात्) जिनके वध करनेकी सामर्थ्यसे (देवेषु उत मानुषेषु अन्तः) देवों और मनुष्योंके अन्दर (कश्चन न अप-पद्यते) कोई भी नहीं बच सकता, और जो द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यः कृत्याकृत्) जो हिंसा करनेवाला (यः यातुधानः मूल-कृत्) जो यातना बढानेवाला मूलको काटनेवाला हो (तस्मिन्, उग्रौ, वज्रं निधत्तं) उसपर, हे उग्रवीरो! अपना वज्र गिराओ। जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (उग्रौ) उग्र स्वभाववालो! (नः पृतनासु अधि ब्रूतं) हमसे समूहोंमें, सेनाओंमें योग्य उपदेश करो। (यः किमीदी) जो स्वार्थी हो उस पर (वज्रेण सं सृजतं) वज्रप्रहार करो। इसलिये मैं (भवाशर्वौ) भव और शर्वकी (स्तौमि) स्तुति करता हूं। और (नाथितः जोहवीमि) उनसे सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

भव और शर्व।

ये दो शक्तियां हैं, एक 'भव' अर्थात् बढानेवाली वर्धक शक्ति है और दूसरी 'शर्व' अर्थात् घातक शक्ति है। इस सब जगत्में ये दो शक्तियां कार्य कर रही हैं। एकसे वृद्धि हो रही है और दूसरीसे नाश हो रहा है। बालकमें विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धक शक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है। वृद्धमें यह बात उलटी हो जाती है इस कारण वृद्ध क्षीण होता है। जगत्में इन दोनों परमात्म शक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्तमें अच्छी प्रकार बतायी है। मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियां हैं। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको उचित है कि वह इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगत्में उससे घातपात न बढे, परन्तु शान्ति और सुख बढे। इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है।

मनुष्यमें 'भव' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्यमें दूसरी 'शर्व' शक्ति भी है, जिससे वह लोकसंहार कर विघातक कार्य भी करता है। जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपनी भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सत्कार्योंमें करे। अर्थात् जनताका जिससे हित होगा ऐसे शुभ कार्य करनेमें उक्त शक्तिका उपयोग करे। उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घात पात किया जा सकता है यह बात सत्य है; परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है। जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हों उनको दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भी परोपकार करनेवाली बन सकती है। इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण इसका संपूर्ण जीवन यज्ञमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और वह पुण्यात्मा बनता जायगा। यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है। इसलिये पाठक इन शक्तियोंको अपने अंदर देखें और उनसे उक्त प्रकार व्यवहार करके अपने आपको पापसे बचावें।

[सूक्त २९]

(ऋषिः — मृगारः। देवता - मित्रावरुणौ।)

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण! (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूं, आप दोनों (ऋता-वृधौ सचेतसौ) सत्यको बढानेवाले और स्फूर्ति देनेवाले हैं, (यौ द्रुह्वणः नुदेथे) जो तुम दोनों द्रोहकारियोंको हटा देते हो। (भरेषु सत्यावानं प्र अवथः) स्पर्धाओंमें सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो। (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥
यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥
ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन्।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (**यौ भरेषु सत्यावानं अवथः**) जो तुम दोनों स्पर्धाओंमें सत्यपालकको बचाते हो, (**यौ सचेतसौ द्रुह्वणः नुदेथे**) जो दोनों सचेत होकर, द्रोहकारीको हटाते हो, और (**यौ नृचक्षसौ**) जो मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले दोनों (**बभ्रुणा सुतं गच्छथः**) पोषक शक्तिके साथ यज्ञके प्रति पहुंचते हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(**यौ मित्रावरुणा**) जो दोनों मित्र और वरुण (**अंगिरसं, अगस्ति, जमदग्निं, अत्रिं अवथः**) अंगिरा, अगस्ति, जमदग्नि और अत्रिकी रक्षा करते हो, (**यौ कश्यपं अवथः यौ वसिष्ठं**) जो कश्यप और वसिष्ठकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(**यौ मित्रावरुणौ**) जो दोनों मित्र और वरुण (**श्यावाश्वं, वध्र्यश्वं, पुरुमीढं, अत्रिं अवथः**) श्यावाश्व, वध्र्यश्व, पुरुमीढ और अत्रिकी रक्षा करते हो (**यौ विमदं सप्तवध्रिं अवथः**) जो विमद और सप्तवध्रिकी रक्षा करते हो ॥ ४ ॥

(**यौ मित्र वरुण**) जो मित्र और वरुण (**भरद्वाजं, गविष्ठिरं, विश्वामित्रं, कुत्सं अवथः**) भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा करते हो, (**यौ कक्षीवंतं कण्वं प्र अवथः**) जो कक्षीवान और कण्वकी रक्षा करते हैं वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

(**यौ मित्रावरुणौ**) जो दोनों मित्र और वरुण (**मेधातिथिं, त्रिशोकं, काव्यं उशनां अवथः**) मेधातिथि, त्रिशोक, काव्य उशनाकी रक्षा करते हो (**यौ गोतमं उत मुद्गलं अवथः**) जो गोतम और मुद्गलकी रक्षा करते हो वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

(**ययोः सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः रथः**) जिनका सत्यमार्गवाला सरल रश्मियोंवाला रथ (**मिथुया चरन्तं दूषयन् अभियाति**) मिथ्याचारीको सताता हुआ चलता है, उन (**मित्रावरुणौ स्तौमि**) मित्र और वरुणकी मैं स्तुति करता हूं और उनसे (**नाथितः जोहवीमि**) सनाथ होकर उनको पुकारता हूं कि वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

*

मित्र और वरुण।

मृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है। २३ से २९ ये सात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि मृगार है। ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बडे गंभीर हैं। इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठान-विधि
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्संयम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग
२५	वायुः सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	द्यावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियां	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	भवाशर्वौ, रुद्रः	वर्धक और घातक शक्तियां	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टकका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि पापमोचनका अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है। इस अनुष्ठानका तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि 'सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे' इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेसे संबंध है यह बात निश्चित होगई। परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आंख बंद करेगा, और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि नहीं डालेगा, तो सूर्य भगवान् सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा। इससे अनुष्ठानका मार्ग निश्चित हुआ। वह यह है कि 'मनुष्य अपने अन्दरकी शक्तिको सन्मार्गका बोध होने योग्य सरल मार्गपर रखनेका यत्न करे और बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे।' ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है। यदि वह अपने आंख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तो ही वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। यहां प्रचलित विषय 'पापमोचन' है। भक्त अपने आपको पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पूर्वोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपको पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये। स्मरण रहे कि बाह्य शक्तियां तो पूर्ण रीतिसे सहायता देनेके लिये तैयार ही हैं, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है। आंख बंद करनेवाला मनुष्य सूर्य प्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रत्युत आंख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है। ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायताकी याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है, यह पाठकोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानके विना ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते।

'सूर्य हमें मार्ग दिखावे' ऐसा कहनेवालेको अपने आंख खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'जल हमारी तृषा शांत करे' ऐसा कहनेवालेको प्रथम जल अपने हाथमें लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, 'अन्न हमारे शरीरकी पुष्टि बढावे' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसका सेवन विधियुक्त रीतिसे करे और पश्चात् कहे कि यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे। हरएक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना करती है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है। प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये। अनुष्ठानपूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है, अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है। वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठानपूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओंद्वारा अर्थात् अपने इंद्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायतार्थ प्रार्थना की जाती है। अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके विना नहीं की जाती। पहिले अपनेसे जितना हो सकता है उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्तिकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है। इस रीतिसे इन सातों सूक्तोंका मनन करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीतिका स्वयं पता लग जाता है। सारांश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है।

'वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुखसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सत्कर्ममें करना और कभी परपीडा न करना, अपने प्राणोंका कुंभकादि द्वारा आयाम करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नेत्रादि इंद्रियोंको शुभ कर्मोंमें लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तिसे हटाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसको सत्कर्ममें लगाना और असत्कर्मसे दूर रहना, संपूर्ण दश प्राणोंका व्यवहार उत्तम चलानेका यत्न करना, अपने अंदर वर्धक और घातक शक्तियां हैं, उनसे किसीका घात पात न करना, परंतु इन शक्तियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रवृत्ति मंगल कार्यमें करना और उनको अमंगल कार्योंसे दूर करना।' सारांश रूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है। इसमें जिस अपनी शक्तिद्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करना चाहिये। अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये। पानी पीनेके समय अग्निकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो। प्रार्थनासे अपना संबंध विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है। इस एकतानतासे बडा लाभ होता है।

२१ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्माकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (मं. १-२)। इन मंत्रोंमें यह कहकर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महात्माओंको किस प्रकार सहायता मिली है इसकी नामावली दी है। ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है। इसलिये इनका श्लेषार्थ देखते हैं—

१ **सत्यवान्**— सत्यप्रतिज्ञ, सत्यका पालन करनेवाला।
२ **अंगिरस्**— अंगोंमें जो जीवन रस है उसकी विद्या जाननेवाला।
३ **अगस्ति**— (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दत्तचित्त होता है।
४ **जमदग्निः**— (जमत्+अग्निः) प्राण आदि अग्नियोंको प्रज्वलित करनेवाला।
५ **अत्रिः**— (अतति) भ्रमण करके उद्धारके लिये यत्न करनेवाला।
६ **कश्यपः**— (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी।
७ **वसिष्ठः**— सबका सुखपूर्वक निवास करानेवाला।
८ **श्यावाश्वः**— (श्यै गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील।
९ **वध्र्यश्वः**— (वध्रि) स्तब्ध (अश्वः) घोडोंवाला अर्थात् जिसके इंद्रिय रूपी घोडे चंचल नहीं हैं।
१० **पुरुमीढः**— (पुरु) बहुत (मीढ) धनादि साधन संपन्न।
११ **विमदः**— (विगतः मदः) जिसकी घमंड नष्ट हुई है।
१२ **सप्तवध्रिः**— जिन्होंने अपने सातों इंद्रियोंको स्तब्ध किया है।
१३ **भरद्वाजः**— (भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है।
१४ **गविष्ठिरः**— (गवि) वाणीमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचनका सच्चा है।
१५ **विश्वामित्रः**— (विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किसीका द्वेष न करनेवाला।
१६ **कुत्सः**— दोषोंकी निंदा करनेवाला।
१७ **कक्षीवान्**— (कक्षी) गतीशील, प्रयत्नशील।
१८ **कण्वः**— शब्दविद्यामें प्रवीण।
१९ **मेधातिथिः**— (मेधा) बुद्धिको प्राप्त करनेवाला।
२० **त्रिशोकः**— स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन विषयोंके अज्ञानका जिसको शोक होता है।
२१ **उशना काव्यः**— संयमी कवि।
२२ **गोतमः**— (गो) गतिशील, प्रयत्नशील।
२३ **मुद्गलः**— (मुद्) आनंदको धारण करनेवाला, आनन्द वृत्तिसे रहनेवाला।

इन ऋषिनामोंके श्लेषार्थ ये हैं, पाठक मनन करेंगे तो उनको इन शब्दोंसे अधिक बोध भी प्राप्त हो सकते हैं। इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न ये किस ढंगसे करनेवाले हैं। इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवताएं सब प्रकारकी सहायता करती हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदत देती हैं। जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी। परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

(१) द्रुह्वन्— द्रोह करनेवाला, घातपात करनेवाला। (मं. १-२)

(२) मिथुया चरन्— मिथ्या व्यवहार करनेवाला। (मं. ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवताएं सदा सहाय करनेके लिये तैयार हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यसे यत्न न हुआ तो लाभ होना असम्भव है। जो मनुष्य आत्मसुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं। उन्नतिका यह नियम पाठक स्मरण रखें।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती है। इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिका अनुष्ठान करें, सन्मार्गसे चलें, पूर्वोक्त ऋषिजीवनोंका आदर्श अपने सन्मुख रखें और उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढें। परंतु अवनतिके मार्गसे न चलें।

राष्ट्री देवी।

[३०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वाक्।)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः, वसुभिः, आदित्यैः, विश्वेदेवैः चरामि) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवोंके साथ चलती हूं। (अहं उभा मित्रावरुणा बिभर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूं और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि, तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूं ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्री) मैं प्रकाशक शक्ति (वसूनां सङ्गमनी) वसुओंको प्राप्त करानेवाली, और (चिकितुषी) ज्ञान देनेवाली हूं इसलिये (यज्ञियानां प्रथमा) सब पूजनीयोंमें पहिली पूजने योग्य हूं। (तां भूरिस्थात्रां मां) उस विविध प्रकारसे स्थित मुझको (भूरि आवेशयन्तः देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होनेवाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्याइ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ इति अष्टमः प्रपाठकः ॥

अर्थ— (देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंको स्वीकार करने योग्य (इदं) यह भाषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हूं। (यं कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हूं (तं तं उग्रं कृणोमि) उस उसको मैं उग्र वीर बनाती हूं तथा (तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा उसीको उत्तम बुद्धिमान करती हूं ॥ ३ ॥

(यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं अत्ति) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है। (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो भाषण सुनता है वह सब मेरी शक्तिसे ही है। जो (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं (ते उपक्षयन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं। हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुधि) श्रवण कर। (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये श्रद्धा रखने योग्य यह उपदेश मैं करती हूं ॥ ४ ॥

(ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवै उ) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुष्यको तानती हूं, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं, (अहं द्यावा-पृथिवी आ विवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम राजाका धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाका धारण करती हूं। (अहं हविष्मते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और सोमसवन करनेवाले यजमानके लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके सिरपर रक्षकको नियुक्त करता हूं। (मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके जलोंके मध्यमें है। (ततः विश्वा भुवनानि वि तिष्ठे) वहांसे सब भुवनोंमें विशेष रीतिसे स्थित होती हूं (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उप स्पृशामि) और अपनी महिमासे उस द्युलोकको स्पर्श करती हूं ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोंका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हूं। और (दिवः परः) द्युलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिम्ना एतावती सं बभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हूं ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी।

' राष्ट्री देवी ' यह परमात्माकी प्रचंड तेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमा वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि ' (**अहं एव स्वयं इदं वदामि**) मैं हीं यह स्वयं कहती हूं। ' इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्त्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है। पाठक भी इस दृष्टिसे इसका अधिक मनन करें। यह सूक्त परमात्म शक्तिका वर्णन करनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ संभवनीय हैं। आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके संबंधमें होता है, यह अर्थ हमने मंत्रके अर्थ करते हुए दिया है। परमात्माकी शक्ति अग्नि, इंद्र, अश्विनी देव आदि सृष्ट्यन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है। पाठक इस अर्थको पूर्वस्थलमें देखें। अब यहां आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं। आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधिदैविक अर्थमें जहां परमात्माकी शक्तिका संबंध जानना होता है, वहां आध्यात्मिक अर्थमें जीवात्माकी शक्तिका संबंध देखना होता है। यहां अब यह आध्यात्मिक अर्थ देखिये-

आध्यात्मिक भावार्थ।

' मैं जीवात्माकी शक्ति हूं और मैं (**रुद्रेभिः**) प्राणोंके साथ (**वसुभिः**) निवासक जलादि शारीरिक धातु रसोंके साथ (**आदित्यैः**) आदान शक्तियोंके साथ तथा (**विश्वदेवैः**) सब इंद्रियोंके साथ रहकर वहांका व्यवहार चलाती हूं। मैं शरीरके (**मित्रा-वरुणौ**) सौर और सोम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंका धारण करती हूं। मैं (**इन्द्र-अग्नी**) जीवन विद्युत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूं और मैं ही (**अश्विनौ**) दोनों प्राण और अपानको चलाती हूं ॥ १ ॥

मैं शरीरकी (**राष्ट्री**) प्रकाशक शक्ति हूं अर्थात् मेरे प्रभावके कारण इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहां (**वसूनां संगमनी**) रस रक्तादि विविध धातु रसोंको उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूं। मैं ही (**चिकितुषी**) ज्ञान देनेवाली हूं इसलिये मैं यहां अध्यात्मयज्ञमें (**यज्ञियानां प्रथमा**) पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य हूं। मैं (**भूरि-स्था-त्रां**) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूं और (**आवेशयन्तः देवाः**) मेरे प्रवेशके कारण सब इंद्रियां मानो (**मां व्यदधुः**) मेरा ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तिसे ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ हुई हैं ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूं, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह मनुष्य उग्र वीर, ब्राह्मण, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है यह सब (**मया**) मुझ शक्तिकी सहायतासे ही करता है। जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं। सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्मशक्तिपर श्रद्धा रखें, श्रद्धासे ही मुझ शक्तिसे उनको लाभ होता है ॥ ४ ॥

ज्ञानविरोधी घातक शत्रुओंको दूर करनेके लिये मैं ही आत्मशक्ति इस शरीरमें (**रुद्राय**) प्राणको प्रेरणा करती हूं, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूं, तात्पर्य इस शरीरमें (**द्यौः**) सिरसे लेकर (**पृथिवी**) पैरतक मैं शक्ति रूपसे फैली हूं ॥ ५ ॥

मैं प्राप्त करने योग्य (**सोमं**) अमृतका धारण यहां करती हूं, मैं ही (**त्वष्टा**) भेदक और (**पूषा**) पोषक शक्तियोंको शरीरमें धारण करती हूं। मैं (**हवि**) उत्तम अन्न और रस स्वीकारनेवाले और इस शरीररूपी यज्ञशालामें शतसांवत्सरिक सत्र करनेवालेको उत्तम धन देती हूं ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रक्षक शक्तिको नियुक्त करती हूं, मैं यहां हृदयके अंदरके हृदयाकाशके जीवनरसमें रहती हूं, वहांसे हरएक अवयवमें कार्य करती हूं और ऊपर सिरतक फैलती हूं ॥ ७ ॥

सब इंद्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हुई मैं वायुके समान फैलती हूं और इस शरीरमें सिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूं ॥ ८ ॥

अध्यात्मवर्णनका मनन।

पूर्वोक्त मंत्रोंका यह आध्यात्मिक आशय है। जो आशय अपने अंदरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है। मंत्रोंमें जो देवताओंके शब्द होते हैं वे ही मनुष्यके अन्दरकी विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अन्तःशक्तियोंका वाचक जाननेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन कर सकते हैं। ऊपरके आध्यात्मिक अर्थका विचार करनेसे पाठकोंको स्वयं पता लग जायगा कि अध्यात्ममें किस शब्दका क्या अर्थ होता है। अब इसी सूक्तका

आधिभौतिक आशय देखिये। मानव संघ या प्राणिसंघके विषयका जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ।

'मैं राष्ट्रशक्ति (रुद्रेभिः) वीरों (वसुभिः) धनिकों (आदित्यैः) विद्याप्रकाशक विद्वानों और (विश्वेदेवैः) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हूं। मैं दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंको, (इन्द्र-अग्नि) शूर वीरों और ज्ञानियोंको तथा (अश्विनौ) दोनों प्रकारके अश्विनी कुमारोंको अर्थात् वैद्योंको राष्ट्रमें धारण करती हूं ॥ १ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति हूं, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकत्रित करती हूं, मैं राष्ट्रशक्ति (चिकितुषी) ज्ञान वढानेवाली हूं, मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूं, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (भूरि-स्था-त्रां) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूं इस मुझ राष्ट्रशक्ति द्वारा (आवेशयन्तः देवाः) आवेश अर्थात् स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान् लोग, मानो, मेरा ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥

मैं जैसी देवजनोंको वैसी ही साधारण मनुष्योंको भी सेवनीय हूं अर्थात् सब मुझ राष्ट्रशक्तिका धारण करें। मैं स्वयं कहती हूं कि जिसपर मैं प्रसन्न होती हूं वह उग्रवीर, ज्ञानी, ऋषि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोग लेते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं अथवा जो श्वासोच्छ्वास करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिसे करते हैं। (मां अमन्तवः) मुझ राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं। हे लोगो! यह बात तुम श्रद्धासे सुनो इसमें तुम्हारा हित है॥ ४॥

(ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै) ज्ञान प्रचारके द्वेषी और घातपात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (रुद्राय धनुः आतनोमि) वीर पुरुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूं। मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनंदमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक अर्थात् सर्वत्र फैली हूं॥ ५॥

मैं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोम आदि वनस्पतियोंका अन्न धारण करती हूं। (अहं त्वष्टारं) मैं कारीगरोंका और (पूषणं भगं) पोषणकर्ता धनवानोंका राष्ट्रमें धारण करती हूं। जो (हविष्मते यजमानाय) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूं॥ ६॥

मैं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इस राष्ट्रके सिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूं, मेरी उत्पत्ति (सं+उत्+द्रे) एक होकर उत्कर्षके लिये जो राष्ट्रीय प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है। यहां मैं उत्पन्न होती हूं और पश्चात् राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैलती हूं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हूं ॥ ७॥

राष्ट्रमें मैं सब संस्थाओंको आरंभ करती हूं और चलाती हूं। मानो, मैं प्रचंड वायुके समान संचार करती हूं, यहां तक कि ऊपरसे नीचे तक मेरा अपूर्व संचार होता है, यह मेरी महिमा है ॥ ८॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन।

इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहां दिये हैं, पाठक इन तीनोंकी तुलना अच्छी प्रकार करें और उत्तम बोध प्राप्त करें। वैयक्तिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यका कर्मक्षेत्र ही यह है। इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं यह निम्नलिखित कोष्ठकसे ज्ञात हो सकता है—

मंत्रके शब्द	आधिदैविक भाव	आधिभौतिक भाव	आध्यात्मिक भाव
रुद्राः	मेघस्थानीय विद्युत्	वीर	प्राण
वसुः	पृथिव्यादि आठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्यः	सूर्य	ज्ञानप्रकाशक	मस्तिष्क
विश्वेदेवाः	सब प्रकाशमान आग्न्यादि देव	सब कर्मचारी गण	सब इंद्रिय
मित्रः	सूर्य	प्रकाशक विद्वान्	नेत्र
वरुणः	चन्द्र	शान्तज्ञानी	मन
इन्द्रः	विद्युत्	शूर	जाग्रत मन
अग्निः	अग्नि	वक्ता	वाणी
अश्विनौ	अश्विनी	वैद्य	श्वासउच्छ्वास
त्वष्टा	देवशिल्पी	कारीगर	विभाजकशक्ति
पूषा	पोषक दैवीशक्ति	पोषणकर्ता	पोषकशक्ति
समुद्रः	प्रकृति	लोगोंकी हलचल	हृदय
द्यौः	द्युलोक	ज्ञानी	सिर
पृथिवी	भूलोक	सेवक	पांव

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जानना संभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना हैं, राष्ट्रमें गुणी जनोंका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसा व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं; इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्र शक्ति है जो विद्युद्रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य, राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियां हैं। पाठक इस प्रकार सब देवताओंकी विभूतियां जानेंगे तो उनको एक ही वेद मंत्रसे सब भूमिकाओंमें क्या बोध लेना है, इसका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें ' राष्ट्री ' शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र उत्तम अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिसे राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्र शक्ति ' आदित्य, रुद्र, वसु और विश्वेदेव ' इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमशः ' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ' अर्थात् कारीगरोंके वाचक हैं। ब्रह्मवर्चस पूर्ण आदित्य ब्राह्मण वर्णका बोधक, रुद्र वीरभद्र आदि नाम शौर्यादिके लिये सुप्रसिद्ध हैं, अतः ये क्षत्रिय वर्णके वाचक, वसु शब्द धनवानों और धनोंका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक और विश्वेदेव शब्द सब अन्य व्यवहार कर्ताओंका वाचक होनेसे अवशिष्ट कारीगरोंका वाचक है। देवताओंमें इन्हीं शब्दों द्वारा चातुर्वर्ण्य बोधित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्ण्यके धर्म कर्मोंका बोध हो सकता है। यह राष्ट्री शक्ति इन लोगोंके अंदर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (**अग्निः** = ब्रह्म) ब्राह्मणों, (**इन्द्र** = क्षत्र) क्षत्रियों, (**मित्र**) सहायकों, (**वरुणो** = राजा) राजपुरुषों और (**अश्विनौ** = अश्विनी कुमारों) आयुर्वेदके विद्वानोंको आश्रय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्रमें इनका पोषण करके इनके द्वारा अन्य साधारण जनोंको सुख पहुंचाती है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (**वसूनां संगमनी**) सब प्रकारके धनधान्योंको प्राप्त कराती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देशमें उत्कर्ष होने लगता है वहां उस शक्तिके विकासके कारण सब प्रकारके धन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्र शक्तिका विकास बंद होता है, उस देशमें दरिद्रता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपन्नता और संपन्नतासे संबंध देखने योग्य है, इतिहासमें पाठक इसका अनुभव कर सकते हैं।

इस राष्ट्र शक्तिका मनुष्योंमें आवेश होता है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अपनी राष्ट्रभक्तिके साथ एक होकर बडे राष्ट्रीय पुरुषार्थमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्री देवीका संचार उन मनुष्योंमें होता है, (**भूरि+आवेशयन्तः**) विशेष प्रकारका दैवी आवेश मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे दैवी स्फुरणसे युक्त हुए लोग संख्यामें थोडे भी क्यों न हों, शक्तिका बडा कार्य करके दिखा देते हैं। यह राष्ट्रीदेवीके आविष्कारका चमत्कार है। इसी लिये उनको सब (**यज्ञियानां प्रथमा**) पूजनीयोंमें पहिली पूजा करने योग्य करके कहते हैं। चारों वर्ण इसकी पूजा अपने हृदयमें करते हैं और राष्ट्रभक्तिसे अपने हृदय परिपूर्ण करते हैं। वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋग्वेद १।१३।९)

' मातृभाषा, मातृसभ्यता और (**मही**) मातृभूमि ये तीन देवियां कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये ये अन्तःकरणमें बिना विसारण हुए स्थान प्राप्त करें। ' अर्थात् हरएक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सन्मानका स्थान प्राप्त हो। और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मंत्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हरएकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें ' (**प्रथमा यज्ञियानां राष्ट्री**) यह राष्ट्रशक्ति पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है, ' शब्दों द्वारा कहा है। यदि इस जगत्में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करना चाहिये और उस देवीके लिये अपना बलि देनेके लिये सिद्ध होना चाहिये।

राष्ट्र देवी तब प्रसन्न होती जब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। ज्ञानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा त्यागी पुरुष (**सः अन्नं अत्ति**) अन्न भोग प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थ मंत्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमिकी योग्य उपासना न की अथवा इसका अपमान किया, किंवा इसका योग्य सत्कार नहीं किया तो,

ऐसे (अ-मन्तवः उपक्षयन्ति) राष्ट्रीय शक्तिका अपमान करनेवाले लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात (श्रदेयं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है। पाठक राष्ट्र भक्तिका महत्त्व कितना है यह बात इस मंत्रसे जानकर कभी राष्ट्रद्रोहका कार्य न करें और सदा राष्ट्र भक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके अपने जीवनका सर्वमेधयज्ञ करने द्वारा विजयी और यशस्वी होवें।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं, वे सज्जनोंको क्लेश देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुष्ट दुर्जन होते हैं वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपात और खून खराबी करते हैं। इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रके (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है। जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है वह अपने शत्रुके निःपातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रको अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत योग्य और अत्यंत आवश्यक भी है।

यह राष्ट्र शक्ति (त्वष्टारं) कारीगरोंका पोषण करती है इसी प्रकार जो मनुष्य जनोंका पालन पोषण करते हैं उन (पूषणं) पोषक जनोंको अथवा उन (भगं) भाग्यवानोंका उत्तम प्रकार धारण पोषण करती है। ऐसे पुरुषोंको कभी अवनतिमें नहीं रखती, प्रत्युत उन्नत करती है। इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजमान) यज्ञ करते हैं, अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनकी न्यूनता नहीं रहती। अर्थात् जितना वे दान करते हैं उससे अधिक (द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका धन बढता ही जाता है। इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनताका सुख बढता ही जाता है।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालकको उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) यह राष्ट्र-शक्ति ही करती है। अर्थात् जीवित और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपनी राज्यशासन व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं। यह राष्ट्रशक्तिका उत्पत्तिस्थान (समुद्रे अन्तः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है। '(सं०) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हलचलका स्वरूप है। ' इसका ही नाम ' समुद्र ' (सं+उत्+द्रु) है। इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएकके अन्तःकरणमें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) संपूर्ण भुवनोंमें फैलती है, अर्थात् भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके तहमें यह रहती है। इस प्रकार इसकी महिमा है।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्ति रूप (वात इव प्रवामि) झंझावातका जोरसे प्रवाह चल रहा है। और इसका वेग रोकना अब असंभव है। इस शक्तिका वेग यहां तक प्रचण्ड होता है कि (दिवः परः) द्युलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार वह वेग कार्य कर रहा है। आकाश पाताल इस शक्तिसे भरे हैं और कोई स्थान खाली नहीं है।

राष्ट्रशक्तिका महिमा यह है। जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युदयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं यह जानकर पाठक राष्ट्रभक्ति द्वारा मिलनेवाली उन्नति प्राप्त करें और आगेके अभ्युदयके लिये अपने आपको योग्य बनावें।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

उत्साह।

[सूक्त ३१]

(ऋषिः — ब्रह्मास्कन्दः। देवता — मन्युः।)

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥
अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥
सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (मरुत्वन् मन्यो) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रेरणा करनेवाले उत्साह! (त्वया स-रथं आरुजन्तः) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (हर्षमाणाः हृषितासः) आनन्दित और प्रसन्नचित्त होकर (आयुधाः सं-शिशानाः) अपने आयुधोंको तीक्ष्ण करते हुए (तिग्म-इषवः अग्निरूपाः नरः) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रवाले अग्निके समान तेजस्वी नेतागण (उप प्र यन्तु) चढाई करें ॥ १ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (अग्निः इव) तू अग्निके समान (त्विषितः सहस्व) तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर। हे (सहुरे) समर्थ! (हूतः नः सेनानी एधि) पुकारा हुआ हमारी सेनाको चलानेवाला हो। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धनको बांट दे और (ओजः विमानः) अपने बलको मापता हुआ (मृधः वि नुदस्व) शत्रुओंको हटा दे ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (अस्मै अभिमातिं सहस्व) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर, (शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि) शत्रुको तोडता हुआ, मारता हुआ और कुचलता हुआ चढाई कर। (ते उग्रं पाजः ननु आ रुरुध्रे) तेरा प्रभावशाली बल निश्चयसे शत्रुको रोक सकता है। हे (एकज) अद्वितीय! (त्वं वशी वशं नयासै) तू स्वयं संयमी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! तू (एकः बहूनां ईडिता असि) अकेला ही बहुतोंमें सत्कार पानेवाला है। तू (विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर। हे (अ-कृत्त-रुक्) अटूट प्रकाशवाले! (त्वया युजा वयं) तेरी मित्रताके साथ हम (द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि) हर्ष युक्त शब्द विजयके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— मनुष्यको उत्साह हताश होने नहीं देता। जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं, और प्रसन्न चित्तसे अपने शस्त्रास्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको बढाते हुए, शत्रुपर चढाई करते हैं ॥ १ ॥

उत्साहसे तेज बढता है, उत्साहसे ही शत्रु परास्त होते हैं। उत्साही पुरुष सेनाचालक होगा, तो वह शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है। फिर अपने बलको बढाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

उत्साहसे शत्रुका पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर। उत्साहसे तुम्हारा बल बढेगा और तुम शत्रुको रोक सकोगे। हे शूर! तू पहिले अपना संयम कर और जब तुम अपना संयम करोगे तब तुम शत्रुको भी वशमें कर सकोगे ॥ ३ ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥
आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे (मन्यो) उत्साह! (इन्द्रः इव विजेषकृत्) इन्द्रके समान विजय करनेवाला और (अनव-ब्रवः) उत्तम वचन बोलनेवाला होकर (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहां हमारा स्वामी हो। हे (सहुरे) समर्थ! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) तेरा प्रिय नाम हम उच्चारते हैं। (तं उत्सं विद्म) और उस स्रोतको जानते हैं कि (यतः आबभूथ) जहांसे तू प्रकट होता है ॥ ५॥

हे (वज्र सायक सहभूत) वज्रधारी, बाणधारी और साथ रहनेवाले! तू (आभूत्या सहजाः) ऐश्वर्यके साथ उत्पन्न होनेवाला (उत्तरं सहः बिभर्षि) अधिक उत्तम बल धारण करता है। ते (पुरुहूत मन्यो) बहुतवार पुकारे गये उत्साह! तू (क्रत्वा सह) कर्म शक्तिके साथ (मेदी) मित्र बन कर (महाधनस्य संसृजि) बडा धन प्राप्त करनेवाले महायुद्धके उत्पन्न होनेपर (एधि) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

(मन्युः वरुणः च) उत्साह और श्रेष्ठत्वका भाव (उभयं धनं) दोनों प्रकारका धन अर्थात् (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (सं-आकृतं) संग्रह किया हुआ, (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दें। (हृदयेषु भियः दधानाः शत्रवः) हृदयोंमें भयोंको धारण करनेवाले शत्रु (पराजितासः अप निलयन्तां) पराजित होकर दूर भाग जावें ॥ ७॥

भावार्थ— स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतोंमें एकाध होता है और इसलिये सब उसका सत्कार करते हैं। शिक्षाद्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हरएक मनुष्य उत्साही हो जावे और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ होवे। उत्साहसे ही प्रकाश बढता है और विजयकी घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४॥

उत्साह ही इन्द्रके समान विजय करनेवाला है। उत्साह कभी निराशाके शब्द नहीं बुलवाता। इसलिये हमारे अन्तःकरणमें उत्साहका स्वामित्व स्थिर होवे। हम उन समर्थ महापुरुषोंका नाम लेते हैं कि जिनके अन्तःकरणमें उत्साहका स्रोत बहता रहता है ॥ ५॥

उत्साहके साथ सब शस्त्रास्त्र तैयार रहते हैं। उत्साहके साथ सब ऐश्वर्य रहते हैं और उत्साह ही अधिक बलका धारण करता है। यह प्रशंसनीय उत्साह सदा हमारा साथी बने और उसके साथ रहनेसे जीवनयुद्धमें हमारा विजय होवे ॥ ६ ॥

उत्साह और वरिष्ठता ये दो गुण साथ साथ रहते हैं, और ये सब धन प्राप्त कराते हैं। स्वयं उत्पन्न किया हुआ और स्वयं संग्रह किया हुआ धन इनसे प्राप्त होता है। उत्साही पुरुषके शत्रु मनमें डरते हुए परास्त होकर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यशका मूल मंत्र।

मनुष्य सदा यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु बहुत थोडे मनुष्योंको पता है कि अपने मनमें उत्साह रहनेसे ही यश प्राप्त होनेकी संभावना होती है। यश प्राप्त होनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस सूक्तमें इसी 'उत्साह' को प्रेरक देवता मान कर उसका वर्णन किया है, जो पाठक यशस्वी होना चाहते हैं वे इस सूक्तका मनन करें और उत्साहको यश देनेवाला जान कर अपने मनमें उत्साहकी स्थापना करके जगत्में यशस्वी बनें। यशस्वी बननेका उपाय जो तृतीय मंत्रमें कहा है वह सबसे प्रथम देखने योग्य है—

त्वं वशी (शत्रून्) वशं नयासे। (सू. ३१, मं. ३)

'स्वयं तू पहिले वशी अर्थात् संयमी बन, अपने आपको तू सबसे प्रथम वशमें कर, पश्चात् तू अपने शत्रुओंको वशमें कर सकेगा।' शत्रुओंको वशमें करनेका काम उतना कठिन नहीं है। जितना अपने अन्तःकरणको वशमें करनेका कार्य कठिन है। जिन्होंने अपने आपको वशमें कर लिया उन्होंने, मानो, सब शत्रुओंको वशमें कर लिया। सब उद्धार अपने हृदयसे प्रारंभ होता है, इसलिये शत्रुको

वशमें करनेका कार्य अपने हृदयसे ही प्रारंभ होना चाहिये। हृदयके अंदर काम-क्रोधादि अनेक शत्रु हैं जिनको परास्त करनेसे अथवा उनको वशमें करनेसे ही मनुष्यका बल बढता है और पश्चात् वह शत्रुको वश करनेमें समर्थ होता है। 'अपने आपको वशमें करो तब तुम शत्रुको वशमें कर सकोगे,' यह उन्नतिका नियम है। पाठकगण इस नियमका अच्छी प्रकार स्मरण रखें।

उत्साहका महत्त्व।

वेदमें 'मन्यु' शब्द उत्साह अर्थमें आता है। जिसको 'क्रोध' अर्थवाला मानकर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। इस सूक्तमें भी 'मन्यु' शब्द 'उत्साह' अर्थमें है। यह उत्साह क्या करता है देखिये- जब यह उत्साह अपने (**स-रथं**) मन रूपी रथपर आरुढ होता है, उस समय मनुष्य (**हर्षमाणाः**) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (**हृषितासः**) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है। उत्साहसे (**मर्+उत्+वन्**) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आजाय, मन सदा उल्हसित रहता है। उत्साहसे मनुष्य (**अग्निरूपाः नरः**) अग्निके समान तेजस्वी बनते हैं। (**शत्रून् हत्वा**) शत्रुओंको मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्तःशक्तियोंका (**नः सेनानीः**) संचालक सेनापति जैसा बनता है वहां (**ओजः मिमानः**) बल बढता है और (**मृधः विनुदस्व**) शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। उत्साहसे (**उग्रं पाजः**) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (**ननु आरुभ्रे**) कोई शत्रु ठहर नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही पुरुष सब शत्रुओंको रोक रखता है, और पास आने नहीं देता। राष्ट्रमें (**विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि**) हरएक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हरएक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे। (**विजयाय घोषं कृण्मसि**) विजयका आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके कीचडमें न फंसे। यह उत्साह (**विजेष-कृत्**) विजय प्राप्त करानेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त किया है वह इसी उत्साहके बलपर ही किया है। एक वार मनमें जो मनुष्य पूर्ण निरुत्साही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता। अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर निर्भर रहता है। इसलिये हमारे मनका (**अस्माकं अधिपाः**) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे। यह उत्साह ऐसा है कि जिसके (**सह-भूत**) साथ बल उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जहां उत्साह उत्पन्न होगा वहां निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही। इसीलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दें। इसी उत्साहसे सब प्रकारके धन मनुष्य प्राप्त कर सकता है। शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इहपर लोकमें आनंदसे विचरता है।

पाठक इस विचारके साथ इस सूक्तका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — ब्रह्मा, स्कंदः। देवता - मन्युः।)

यस्ते॑ म॒न्योऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओजः॑ पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक्।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**वज्र सायक मन्यो**) शस्त्रास्त्रयुक्त उत्साह! (**यः ते अविधत्**) जो तेरा सेवन करता है वह (**विश्वं सहः ओजः**) सब बल और सामर्थ्यको (**आनुषक् पुष्यति**) निरन्तर पुष्ट करता है। (**सहस्कृतेन सहस्वता**) बलको बढानेवाले और विजयी (**त्वया युजा**) तुझ सहायकके साथ (**वयं दासं आर्यं साह्याम**) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसके पास उत्साह होता है, उसको सब प्रकारका बल और शस्त्रास्त्रोंका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हरएक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥
अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

अर्थ—(मन्युः इन्द्रः) उत्साह ही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जात वेदाः) उत्साह ही हवन कर्ता, वरुण और जातवेद अग्नि है। वह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मानुषीः विशः ईडते) जो मानव प्रजाएं हैं वे सब प्रशंसा करती हैं। हे (मन्यो) उत्साह! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान्‌से महान् शक्तिवाला तू यहां आ। (तपसा युजा शत्रून् विजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर। (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आ भर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तू ही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनी ही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-षाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सहुरिः) सबका निरीक्षण, समर्थ, (सहीयान्) और बलिष्ठ हो। तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापन कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह! मैं (तव तविषस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूं। इसलिये (अक्रतुः अहं तं त्वा जिहीड) कर्म हीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूं। अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बलका दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं। मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

उत्साहसे बल बढाता है और शत्रु परास्त होते हैं। डाकु, चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकारका धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव हो जाता है, अपनी सामर्थ्य बढ जाती है, तेजस्विता फैलती है, और हरएक प्रकारका बल बढता है। वह उत्साहका बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता है, वह कर्मकी शक्तिसे हीन हो जाता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान् बने ॥ ५ ॥

अयं ते॑ अस्म्युप॑ न॒ एह्य॒र्वाङ् प्र॑तीची॒नः स॑हुरे विश्वदावन् ।
मन्यो॑ वज्रिन्न॒भि न॒ आ व॑वृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पेः ॥ ६ ॥
अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ नोऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ ।
जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अग्र॑मु॒भावु॑पां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (सहुरे) समर्थ ! हे (विश्वदावन्) सर्वस्वदाता ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूं। (प्रतीचीनः नः अर्वाङ् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ। हे (मन्यो) उत्साह ! हे (वज्रिन्) शस्त्रधर ! (नः अभि आ ववृत्स्व) हमारे पास प्राप्त हो। (आपेः बोधि) मित्रको पहचान, (उत दस्यून् हनाव) और हम शत्रुओंको मारें ॥ ६ ॥

(अभि प्र इहि) आगे बढ। (नः दक्षिणतः भव) हमारे दहनी ओर हो। (अध नः भूरि वृत्राणि जंघनाव) और हमारे सब प्रतिबन्धोंको मिटा देवें। (ते मध्वः अग्रं धरुणं) तेरे मधुर रसका मुख्य धारण करनेवालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (उभौ उपांशु प्रथमा पिबाव) हम दोनों एकान्तमें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है। यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंको बढावें और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

उत्साह धारण करके आगे बढ, शत्रुओंको परास्त कर और मधुर भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साहका धारण।

पूर्व सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है। जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है; ऐसा इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कहा है। यह मंत्र यहां देखने योग्य है—

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य।
(सू. ३२, मं. ५)

'उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिसे दूर हुआ हूं और अभागा बना हूं।' उत्साहहीन होनेसे जो बडी भारी हानी होती है वह यह है। उत्साह हट जाते ही बल कम होता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होती है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट होजाता है।

परंतु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वयंभूः) स्वयं ही अपना अभ्युदय साधन करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भामः) तेजस्वी बनता है, (अभिमाति-साहः) शत्रुओंको दबाता है, और (अभिभूति-ओजाः) विशेष सामर्थ्यसे युक्त होता है। इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य धारण करे। उत्साहहीन मनुष्यके लिये इस जगत्में कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात असंभव नहीं है। पाठक इसको स्मरण रखके अपने मनमें उत्साह बढावें और पुरुषार्थ प्रयत्न करके सब प्रकारका यश प्राप्त करें और इहपर लोकमें आदर्श पुरुष बनें।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है। वेदके इन्द्र सूक्तोंमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है। जो मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढें और उनका मनन करें। इन्द्र न थकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उसके उत्साहके कारण है। इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मंत्र है जिसमें कहा है कि 'इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है।' इसलिये पाठक इन्द्रके सूक्त मननपूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज है और वह क्या कर सकता है। उत्साह बढानेके लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगती करना चाहिये। उत्साही ग्रंथ पढना चाहिये और किसी समय निरुत्साहका विचार मनमें आगया, तो उसको हटाकर उसके स्थानमें उत्साहका विचार स्थिर करना चाहिये। थोडा भी निरुत्साह मनमें उत्पन्न हुआ तो अल्प समयमें बढ जाता है और मनको मलिन कर देता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें।

पाप-नाशन।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता - पाप्मनाशनः अग्निः।)

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम् । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ १ ॥
सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २ ॥
प्र यद्भन्दि॑ष्ठ एषां॒ प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम् । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ४ ॥
प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ५ ॥
त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ६ ॥
द्वि॒षो नो॑ विश्वतोमु॒खाति॑ ना॒वेव॑ पारय । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ७ ॥
स नः॒ सिन्धु॑मिव ना॒वाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) प्रकाशक देव! (नः अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पास (रयिं शुशुग्धि) धन शुद्ध होकर आवे। (नः अघं अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिके लिये, (च वसुया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं। हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

(एषां यत् भन्दिष्ठः प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होऊं (अस्माकासः सूरयः च) और हमारे ज्ञानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें। इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (यत् ते सूरयः) जैसे तेरे विद्वान् हैं वैसे (ते वयं प्र जायेमहि) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जायगे, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(यत्) जैसे (सहस्वतः अग्नेः) बलवान् अग्निके (भानवः विश्वतः प्रयन्ति) किरण चारों ओर फैलते हैं, उस प्रकार मेरे फैलें, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सबके ऊपर होनेवाला है, वैसा बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव! (नावा इव) नौकाके समान (नः द्विषः अति पारय) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार कर और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(सः) वह तू (नः अति पर्ष) हमें पार कर (नावा सिंधुं इव) जैसे नौकासे समुद्रके पार होते हैं। और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अघं अप शोशुचत्) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना ।

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है। पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयि) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगातु) उत्तम मार्ग उन्नतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सूरयः) विद्वानोंकी संगति मिलती है, (सूरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है, (परिभूः) सबसे अधिक प्रभाव हो जाता है, (अति पारयाति) दुःख दूर हो जाते हैं और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं। जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता हो जायगी, उस प्रमाणसे उक्त लाभ हो जायगे। पाठक इस बातका उत्तम स्मरण रखें और जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके स्वयं निष्पाप बननेका यत्न करें, तो उक्त लाभ स्वयं ही उनके पास चलकर आ जायगे।

अन्नका यज्ञ ।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — ब्रह्मौदनं ।)

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥ १ ॥
अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥
विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका सिर ब्रह्म है। (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बडा क्षत्र है। और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर-मध्यभाग-उत्तम देव संबंधी है। (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है। इसको (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः अधिजातः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्-अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र और निर्मल बने हुए (शुचिं लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं। (जातवेदाः एषां शिश्नं न प्र दहति) अग्नि इनके सुखसाधन रूप इन्द्रियको नहीं जला देता और (स्वर्गे लोके एषां बहु स्त्रैणं) स्वर्गलोकमें इसको बहुत सुख होता है ॥ २ ॥

(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अवर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती है। जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (देवान् उप याति) देवोंको प्राप्त होता है। और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः सं मदते) शान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस अन्नका सिर ब्राह्मण, पीठ क्षत्रिय, मध्यभाग वैश्य [और शेष भाग शूद्र] है। छंद इसके दायें बायें भाग हैं, इसका मुख सत्य है। इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विदेही, शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं। सुख प्राप्त करनेके इसके इंद्रिय अग्निसे नहीं जलते हैं; उच्च लोकमें वह ये सुख प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयानं ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

अर्थ— (ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (यमः एतान् रेतः न परि मुष्णाति) यम इनके वीर्यको नहीं कम करता । वह (रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गसे विचरता है । और (पक्षी ह भूत्वा अति दिवः सं एति) पक्षीके समान होकर द्युलोकको पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एष यज्ञानां वहिष्ठः विततः) यह सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और विस्तृत है । इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिवं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर यजमान द्युलोकमें प्रविष्ट होता है । (शं-कफः मुलाली) शान्त चित्त होकर मूल शक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं बिसं शालूकं) अण्डेके समान बढनेवाले आनन्ददायक कमल कन्दके समान बढनेवालेको (सं तनोति) ठीक प्रकार फैलाता है । (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः सन्मताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृत-ह्रदाः मधुकूलाः) घीके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वा धाराः त्वा उपयन्तु०) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों । स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

(क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णान्) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि) चार घडोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूं । ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं उनको कभी कष्टकी अवस्था नहीं प्राप्त होती । वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और वहांका आनंद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वीर्य नहीं होते । वे इस लोकमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें द्युलोकके भी ऊपर पहुंचते हैं ॥ ४ ॥

यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, जो इसको करते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं । वहां शान्तिसे युक्त होते हुए अन्तःशक्तिसे संपन्न होकर आनंद प्राप्त करते हैं । वहां सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

*

इमम॑ोद॒नं नि द॑धे ब्राह्म॒णेषु॑ विष्टा॒रिणं॑ लोक॒जितं॑ स्व॒र्गम् ।
स मे॒ मा क्षे॑ष्ट स्व॒धया॒ पिन्व॑मानो वि॒श्वरू॑पा धे॒नुः का॑म॒दुघा॑ मे अस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ— (इमं विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु नि दधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूं। (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करनेवाला (सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे। (विश्वरूपाः कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति उनको प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

दूध, दही, जल और शहदसे पूर्ण भरे हुए चार घडे विद्वानोंको दान करनेसे उच्च लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती है। अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका विष्टारी यज्ञ।

'विष्टारी यज्ञ' का वर्णन इस सूक्तमें किया है। 'विष्टारी' शब्दका अर्थ है 'विस्तार करनेवाला' अर्थात् जिसका परिणाम बडा विस्तृत होता है। यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है। अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पका कर तैयार किया हुआ हो अथवा धान्यके रूपमें हो अथवा जिससे धान्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इस सबका अर्थ एक ही है।

इस सूक्तमें 'पचन्ति' क्रिया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अयोग्य नहीं होगा। सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक, और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं। ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं। दूध तपाया जा सकता है, परंतु शहद और दहि पकानेकी वस्तु नहीं है। इसलिये इस विष्टारी यज्ञके लिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है। उत्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात् विद्वानोंको खिलाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको धान्य समर्पण करना है और गौणपक्ष धान्य खरीदनेके धन आदि साधन अर्पण करना है। जल, शहद, दूध, घी, मक्खन तथा खानपानके अन्यान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञका अंग है। जलदान करनेका अर्थ कूआ खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवाली गौवें देना। शहद, घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं।

ब्राह्मणोंको दान।

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणोंको देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु। (सू. ३४, मं. ८)

'यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूं।' अर्थात यह अन्न ब्राह्मणोंमें विभक्त करता हूं। किसी अन्यके लिये देना नहीं है। ऐसा क्यों करना इसका थोडासा विचार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमेंसे क्षत्रिय राजप्रबंधका कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इस लिये उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। वैश्य कृषि और क्रयविक्रयादि व्यापार करता है तथा सूद भी प्राप्त करता है, इस लिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। शूद्र सब कारीगरी करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इसलिये उनके पास धन होता है, अतः काम धंदा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है। निषाद प्रायः जंगलमें रहते हैं, स्थायी गृहादि बनाकर नहीं रहते, वनमें जहां वन्य खाद्यपेय प्राप्त होगा, वहां जाकर निवास करते हैं। इस लिये ये किसीके पास दान नहीं मांग सकते। शेष रहे ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमावें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है जिससे क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इस लिये इसकी जन्मसिद्ध निर्धनता रहती है। दूसरेने धनधान्य दिया तो इसकी वृत्ति

चलेगी, अन्यथा भूखा रहना ही आवश्यक होगा, इस लिये ब्राह्मणको दान देना चाहिये। ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इसका सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय ?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दें इसका भी कारण ढूंढना चाहिये। इस सूक्तमें दानका जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेही होकर पवित्र लोकको प्राप्त करता है। (मं. २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है। (मं. ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसको मधुर रसकी धाराएं प्राप्त होती हैं। (मं. ५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। स्वर्गमें क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्यको यहां ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि इस विषयमें थोडीसी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोडासा स्वरूप कथन करते हैं—

मृत्युलोक।

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं। स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुख-दुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं। मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहांके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं।

स्वर्गलोक।

(२) परलोक— दूसरा लोक। इसमें यह देह छोडनेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समवेश होता है। इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परंतु इसमें थोडासा भेद है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकारके देह मनुष्यको प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहोंका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत्में होता है। स्थूल देहसे सूक्ष्म जगतमें कार्य नहीं हो सकता, परंतु सूक्ष्म देहोंसे स्थूल जगत्में अंशरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहोंसे अर्थात् मरणके पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देहसे इस स्थूल जगत्में कार्य नहीं कर सकते। इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्थाकी ठीक कल्पना होनी चाहिये।

वासना देह।

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह 'वासना देह' है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है। जो मनुष्य घातपात और हिंसा आदिकी अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसी प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनका यह वासना देह बडा मलिन होता है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं, शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनका वासना देह शुद्ध और पवित्र बनता है।

मृत्यु आनेसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हुआ तो भी स्थूल देहके नाशसे यह 'वासना देह' नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नंतर भी और स्थूल देह नष्ट हो जानेपर भी यह जीव अपने वासना देहसे अपनी वासनाएं करता है। आमरणान्त हिंसक वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा सम वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी शांतिसे पूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं। हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशांति और निर्भयताकी वासनाओंसे शांति होती है। वासना देहके कार्यक्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख-दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है। बुरी वासनाओंके प्राबल्यसे जो अशान्ति होती है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढता है अर्थात् शान्तिसुखका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है। मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जो कहते हैं उसका हेतु यही है। जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हीन वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्वलित करता है।

नरकके दुःख।

कामी और क्रोधी पुरुष अपनी कुवासनाएं अतृप्त रहनेके समय कैसे तडफते रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अशुभ वासनाओंके भडक उठनेसे मृतात्माको कैसा तडफना पडता होगा, यही उसका नरकवास है। इस वासना देहका बुरी वासनाओंका जाल जबतक चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता। क्योंकि उसके ये कष्ट स्वयं उसकी अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं। जब वासनाएं उठ उठ कर उनका

परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती हैं, तब उसका यह नरकवास समाप्त होता है।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना जब बन्द हो जाता है तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसका वासना देह ही फट जाता है अर्थात् इसकी वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है। इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है। शुभ और अशुभ स्वप्नका अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे भी होता है। यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तरकी स्थितिकी कल्पना हो सकती है और अपनी वासनाओंकी शुभाशुभ अवस्थाका भी पता उसको लग सकता है, तथा मरणोत्तर नरक प्राप्त होगा या स्वर्ग प्राप्त होगा, इसका भी ज्ञान हरएकको इससे हो सकता है। अपनी वासनाओंकी परीक्षासे यह समझना कठिन नहीं है।

कल्पवृक्ष और कामधेनु।

जब पूर्वोक्त प्रकार वासना देहकी मृत्यु हो जाती है तब मृतात्माका कारणदेह कार्य करनेके लगता है। यहां यदि उसके शुभ और सत्य प्रियताके विचार हुए तो उसको अपने संकल्पोंसे ही सुख और आनंद मिलता है। जो कल्पना होगी, वह मूर्तरूपमें इस समय उपस्थित होगी। यही कल्पवृक्षका स्थान है, या स्वर्गीय कामधेनु भी यही है। जो कल्पना उठेगी वह मूर्तरूप धारण करके इसके सन्मुख आ जायगी। शुभ मंगल कल्पनाओंसे सुख और अन्य कल्पनाओंसे दुःख होगा। कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य यदि 'व्याघ्रका हमला अपने ऊपर होनेकी कल्पना' करेगा तो उसकी कल्पना होते ही व्याघ्रका हमला होकर वह उसी समय मर जायगा। इसमें कल्पवृक्षका कोई दोष नहीं है, परंतु कल्पना करनेवालेका ही दोष है। क्योंकि दूसरा मनुष्य सुमधुर फलभोजकी कल्पना करके सुमधुर फलोंका आस्वाद भी लेगा। यह केवल कल्पनाके ही खेल हैं। इस कारण देहकी अवस्थामें येही संकल्पोंके खेल होते हैं। यदि इसके शुभ संकल्प बने हों, तो इस समय उसके लिये ये शुभसंकल्प अत्यंत सुख दे सकते हैं। स्वर्गलोकमें घी, दूध, शहद, दहीकी मीठी नदियां प्राप्त होंगी, और अन्यान्य सुख मिलेगा, ऐसा जो इस सूक्तमें कहा है, वह सुख इस प्रकार उसके शुभ विचारोंके कारण ही उसको प्राप्त होगा। शहदकी कल्पना होते ही वह उसको प्राप्त होगा और इसी प्रकार अन्य सुख भी इसको मिलेंगे। मंत्र ५ से ८ तक जो स्वर्ग सुखका वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है। अब अष्टम मंत्रमें—

विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु।

(सू. ३४, मं. ८)

'विश्वरूपी कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मुझे स्वर्गमें मिले' ऐसा जो कहा है, यह कामधेनु उसी समय इस रीतिसे प्राप्त होती है। इस स्वर्गलोकके संकल्पका प्रभाव देखिये कैसा वर्णन किया है—

संकल्पसिद्धि।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति ... ॥ ७ ॥
अथ यदि गीतवादितलोककामो भवति ... ॥ ८ ॥
अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति ... ॥ ९ ॥
यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

(छां० ८।२।७-१०)

'अन्नपान, गानाबजाना, स्त्रीसुख आदि जिसकी कामना वह इस समय करता है, उसके संकल्पसे ही उसको उन सब सुखोंकी प्राप्ति होती है।' यह छांदोग्य उपनिषद्में कहा हुआ वर्णन इस सूक्तके वर्णनके साथ पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि दोनों वर्णन समान ही भाव व्यक्त कर रहे हैं।

स्वर्गमें शहद, दही, दूध, घी, शुद्धोदक आदिकी नहरें हैं, यह बात वस्तुतः नहीं है। परंतु शहदकी कल्पना उठनेसे जितना चाहे बड़ा शहदका तालाब या स्रोत उसको प्राप्त हो सकता है और उसके सेवन करनेका आनंद उसको केवल संकल्पके प्रभावसे ही मिल सकता है।

इस सूक्तमें 'स्वर्गलोकमें बहुत (बहु स्त्रैणं) स्त्रीसुख (मं. २); मीठे रसकी धाराएं (मधुमत् पिन्वमानाः धाराः) (मं. ५-७); (घृतह्रदाः) घीके तालाब; (मधुकूलाः) शहदकी नदियां; (क्षीरेण दध्ना पूर्णाः) दूध और दहीसे भरे हौज (मं. ८)' इत्यादि जो वर्णन है वह पूर्वोक्त रीतिसे अनुभवमें आनेवाला है, यह पाठक स्मरणमें रखें। 'कारण' शरीरकी यह अवस्था है जहां संकल्पकी सिद्धि होती है।

कुराणमें बहिश्त।

कुराणशरीफमें जो 'बहिश्त' की कल्पना है और उस बहिश्तमें पानीके स्रोत बहने और शहदकी नदियां होनेका जो वर्णन है वह इस सूक्तसे लिया हुआ प्रतीत होता है। इस सूक्तके पंचम मंत्रमें 'विष्टिः' शब्द है जो स्वर्गदायक यज्ञका वाचक है और साथ साथ स्वर्गका भी दूरतः वाचक है, उसीका रूपान्तर कुराणशरीफका 'बहिश्त' है। नदियां और स्रोत दोनों स्थान पर समान हैं। परंतु वेदादि ग्रंथोंमें जो स्वर्गकी कल्पना विशद की है और ऊपर बताये छांदोग्योपनिषद्में जो कल्पना स्पष्ट कर दी है, उस प्रकार कुराणशरीफमें नहीं की है, इसलिये उस

ग्रंथके माननेवालोंको प्रतीत होता है, कि वहां सचमुच शहदकी नदियां हैं । परंतु वैदिक धर्मके ग्रंथोंमें स्वर्गकी स्पष्ट कल्पना बता दी है, इसलिये हमें पता है कि वहां संकल्पके बलके कारण उक्त अनुभव आते हैं और वहांके अनुभव उस ' कारण ' शरीरकी अवस्थामें निःसंदेह सत्य हैं । अन्य धर्मग्रंथोंके वचनोंका वेदके वचनोंके साथ इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिसे विचार किया जायगा, तो उनके संदिग्ध वचनोंका ठीक अर्थ ध्यानमें आ जायगा और धर्मवचनोंका ठीक ठीक अर्थ सबको विदित होगा। ऐसा होनेसे कई झगडे मिट जायंगे, परंतु ऐसा होनेके लिये तुलनात्मक धर्मग्रंथोंके वचनोंका विचार होना आवश्यक है। जब वह शुभ समय आ जायगा, तब ही सत्य धर्मका प्रचार और विचार संभवनीय है ।

मनो-रथ ।

इस प्रकार स्वर्गकी पुष्करिणी और कामधेनु क्या है उसका तात्पर्य क्या और उसका अनुभव किस समय कैसा होता है इस बातका विचार हुआ । स्वर्गधामका अनुभव ' कारण ' शरीरमें पूर्वोक्त प्रकार होता है । इसको **' मनोदेह '** अथवा **' मनो-रथ '** अर्थात् मनरूपी रथ भी कह सकते हैं । इसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें इस प्रकार है—

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते । (सू. ३४, मं. ४)

' यह रथमें बैठता है और महारथी बनकर चलता है ।' यह उसका ' मनो-रथ ' ही है । मनके संकल्पके रथमें बैठता है और जिस सुखको चाहे केवल संकल्पसे ही प्राप्त करता है। अब पाठक यहां अवश्य देखें कि मनके शुभ संकल्प जीतेजी स्थिर होनेकी कितनी आवश्यकता है । अशुभ संकल्प हुए तो येही संकल्प राक्षस बनकर इस समय इसके पीछे पडते हैं और अनेक भयंकर दृश्योंका अनुभव यह उस समय करता है। बडे डरसे व्याकुल होता है । उसकी कल्पना पाठक पूर्वोक्त वर्णनसे ही कर सकते हैं ।

शुभसंकल्पोंको मनमें स्थिर करनेवालेके लिये जो लाभ होते हैं उनका वर्णन इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है—

नैषां शिस्नं प्र दहति जातवेदाः । (सू. ३४, मं. २)
नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः । (सू. ३४, मं. ४)

' अग्नि शुभसंकल्पधारी मनुष्यका शिस्न जलाता नहीं, और यम उसका वीर्य कम नहीं करता ।' अर्थात् जो अशुभ विचारोंका सतत चिन्तन करते रहते हैं उनका शिस्न अग्नि जलाता है और यम उनको निर्वीर्य बना देता है। इन अशुभ विचारोंके कारण वह मनुष्य इन्द्रिय शक्तियोंसे हीन होता है और क्षीणवीर्य भी बनता है । इस जगत्में भी यह अनुभव पाठकोंको मिल सकता है । जो दुराचारी होते हैं और दुष्ट विचारोंसे अपने मनको कलंकित करते हैं, वे यहां ही क्षयी निर्वीर्य और निस्तेज होते हैं । मृत्युके पश्चात् वासना-देहमें जिस समय उसकी वासनाएं भडक उठतीं हैं उस समय उसके दग्ध हो जानेके कष्ट कल्पनासे ही पाठक जान सकते हैं । विषयवासनाओंकी ज्वालाएं उठ उठ कर उसको प्रतिक्षण जला देतीं हैं और उस समय उसकी जलन असह्य हो जाती है । यह तो अनियमसे वर्ताव करनेवालोंकी अवस्था है । धर्मनियमोंसे चलनेवालोंकी अवस्था भी देखिये—

यमोंका पालन ।

(यः) यमे आस्ते (स) उप याति देवान् ।
(सू. ३४, मं. ३)

' जो यममें रहता है वह देवोंको प्राप्त होता है ' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमोंको जो अपने आचरणमें लाता है, वह स्वर्ग निवासी देव ही बन जाता है । शुभ विचार उसके मनमें स्थिर रहनेके कारण मरनेके पश्चात् दुष्ट वासनाओंके कष्ट उसको होते ही नहीं, परंतु वह सीधा स्वर्ग धाममें कल्पवृक्षोंके वनमें कामधेनुओंका दूध पीता हुआ और अमृत रसधाराओंका मधुर आस्वाद लेता हुआ पूर्वोक्त प्रकार आनंदमें रमता और विचरता है । वह शुभ संकल्पोंसे शुद्ध, पवित्र और मलहीन होकर परिशुद्ध अवस्थामें विचरता है (मं. २)। मनुष्यको प्रयत्न करके ऐसी अपनी मनोभूमिका बनाना आवश्यक है । यह सब उन्नति यज्ञसे हो जाती है । और इसी कार्यके लिये इस ' विष्टारी यज्ञ ' की रचना है ।

ब्राह्मणका घर ।

इस यज्ञमें ब्राह्मणोंको अन्नदान किया जाता है । यहां प्रश्न होता है कि यह अन्नदान ब्राह्मणोंको ही क्यों होता है और इसका बडा विस्तृत फल क्यों होता है । ब्राह्मणकी कल्पना केवल एक गृहस्थ मात्रकी कल्पना नहीं है । हरएक ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन करनेवाला होनेके कारण हरएक सच्चे ब्राह्मण का घर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय होता है, इसलिये जो दान ऐसे ब्राह्मणको दिया जाता है वह विश्वविद्यालयको ही दिया जाता है । थोडेसे विद्यार्थियोंको पढानेवाला ब्राह्मण अध्यापक कहलाता है, सैंकडों विद्यार्थियोंको विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण आचार्य पदवीके लिये योग्य होता है और हजारों विद्यार्थियोंको विद्या देनेवाले ब्राह्मणको कुलपति कहते हैं । अर्थात् इस एकके नीचे विद्यार्थियोंकी संख्याके अनुसार सैंकडों अध्यापक

होते हैं । अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ गुरुकुल, विद्यालय और विश्वविद्यालयका आचार्य और भट्टाचार्य । इसको दान देनेसे वह दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात परम्परासे वह दान राष्ट्रके हरएक घरतक पहुंचता है ।

गुरु-कुल ।

राष्ट्रके विद्यार्थी- प्रायः त्रैवर्णियोंके विद्यार्थी अथवा समय समय पर पंच वर्णियोंके भी विद्यार्थी- ब्राह्मणोंके घरोंमें रहकर विद्याभ्यास करते थे । कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि जो अध्यापन न करता था । एक एक कुलपतिके आश्रममें दस हजारसे साठ साठ हजार तक विद्यार्थी पढते थे । और प्रायः ब्राह्मणोंके घर ' गुरु-कुल ' ही हुआ करते थे । पाठक यह अवस्था अपने आंखके सामने लावेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जनतामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएकके पास किस रीतिसे जाकर पहुंचता है ।

दानकी रीति ।

ऐसे ब्राह्मणोंके आश्रमोंकी भूमिमें कूवे खुदवाकर जलदान करना, बहुत दूध देनेवाली गौवें उनको देकर दूध देना, शहद, मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदिका दान करना, गेहूं, चावल आदि धान्य देना अथवा धान्यकी जहां अच्छी उपज होती है ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रममें अन्न ले जाकर वहां पकाकर वहांके आश्रमवासियोंको खिलाना, अथवा लड्डू आदि पदार्थ बनवाकर वहां भेजना किंवा अन्य रीतिसे अन्नदान करना । यह विष्टारी यज्ञकी रीति है । यह बडा उपकारी यज्ञ है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदिका सुख प्राप्त हो सकता है ।

शुभभावनाकी स्थिरता ।

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है तब उसके मनमें शुभ भावना होती है । वारंवार इस प्रकारका दान करनेसे वह शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है । दान करनेसे मनकी प्रसन्नता भी बढ जाती है । स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है । और वारंवार दान देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाती है । इस रीतिसे यह विष्टारी यज्ञ मनुष्यके मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है । ये ही शुभ संस्कार उसका मन जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखनेके लिये सहाय्यक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता देते हैं । इस रीतिसे यह यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है ।

मृत्युको तरना ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — प्रजापतिः । देवता - अतिमृत्युः ।)

यमोदुनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियमका पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदनं अपचत्) ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता रहा, (यः लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंका विशेष धारण करनेवाला है और (न अभि रेषात्) जो कभी किसीको हानि नहीं पहुंचाता है, (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसने संपूर्ण सत्य और अटल नियमोंका सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाश नहीं होता है । इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ १ ॥

येनातरन्भूतकृतोऽतिं मृत्युं यमन्वविन्दन्तपंसा श्रमेण ।
यं पपाचं ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥
यो दाधारं पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन ।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥
यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (येन भूत-कृतः मृत्युं अति तरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाले मृत्युके पार हो गये, (यं तपसा श्रमेण अन्वविन्दन्) जिसको तप और परिश्रमसे प्राप्त किया, और (यं पूर्वं ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच) जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ २ ॥

(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, (यः रसेन अन्तरिक्षं आ पृणात्) जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, (यः महिम्ना ऊर्ध्वः दिवं अस्तभ्नात्) जो अपनी महिमासे ऊपर ही द्युलोकको धारण किये हुए है, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः-मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, (यस्मात् द्वादश-अरः संवत्सरः निः-मितः) जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है, (परियन्तः अहोरात्राः यं न आपुः) गुजरते हुए दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ४ ॥

(यः प्राण-दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका स्वामी ही हुआ है (यस्मै घृतवन्तः लोकाः क्षरन्ति) जिसके लिये घृतयुक्त लोक रस देते हैं, (यस्य सर्वाः प्रदिशः ज्योतिष्मतीः) जिसकी सब दिशा उपदिशाएं तेजवाली हैं (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ५ ॥

(यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, (यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) जो गायत्रीका अधिपति हुआ, (यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः) जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ६ ॥ .

भावार्थ— इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले मृत्युके पार हो गये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हूं ॥ २ ॥

जिसने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जलको भर दिया और द्युलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ३ ॥

जिससे तीस दिनवाले महिने और बारह महिनोंवाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सकें, उस ज्ञानरूप पक्वान्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ४ ॥

जो स्वयं जीवनशक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्‌के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएं तेजोमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

अर्व बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सुपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (देव-पीयुं द्विषन्तं अवबाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओंको मैं हटाता हूं। (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होवें। मैं (विश्व जितं ब्रह्मौदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूं। (देवाः श्रद्दधानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करनेवाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकारका ज्ञान रखा है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंको मैं प्रतिबंध करता हूं, मेरे प्रतिस्पर्धीयोंको भी मैं दूर करता हूं और जगत्को जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न परिपक्व करता हूं। मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूं अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानी जन सुनें ॥ ७ ॥

ब्रह्मौदन।

'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान' इत्यादिका वाचक है। यहां विशेषकर ज्ञानवाचक है। 'ओदन' शब्द अन्नका वाचक है। इसलिये 'ब्रह्मौदन' शब्द 'ज्ञानरूप अन्न' यह अर्थ बताता है। बुद्धिका अन्न 'ज्ञान' है। शरीरका अन्न चावल आदि खाद्यपेय है। इंद्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें 'चित्' शब्द ज्ञानवाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसका फलित यह हुआ कि आत्माका स्वभाव गुण ही ज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात इसको खाकर बुद्धि पुष्ट होती है।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे वह सदा उसके साथ रहना स्वाभाविक है। जिस प्रकार दीप और आकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाश ही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है। दीप कहा, अथवा प्रकाश कहा तो दोनों एक ही बात है। व्यवहारमें यही बात है, मैं प्रकाशसे पढता हूं या दीवेसे पढता हूं, इसका अर्थ एक ही होता है। इसी प्रकार 'मैं ज्ञानसे मृत्युको पार करता हूं, अथवा मैं आत्मशक्तिसे मृत्युको पार करता हूं, या आत्मासे मृत्युको दूर करता हूं' इसका तात्पर्य एक ही है।

इस सूक्तमें 'मैं ब्रह्मौदनसे मृत्युको पार करता हूं' (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्युं। मं० १-६) यह वाक्य छः वार आगया है। इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझना उचित है। मैं आत्माके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूं। गुण और गुणीका अभेद अन्वय मानकर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहां किया है। इसीलिये 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकका धारक यह है' यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है। क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीका धारण किया है इस विषयमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मौदनने त्रिलोकीका धारण किया है। ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ।

इसी दृष्टिसे तृतीय, चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है—

'जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है० ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य-चंद्रादिकी गति होकर दिन, महिने और वर्ष बनते हैं, परंतु ये कालके अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं० ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जीवन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात इसकी शक्ति प्राप्त करके ही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं। सब पदार्थमात्रमें जो रस होते हैं वे जिसको एक समय ही प्राप्त होते हैं और सब जगतकी दिशा उपदिशाएं जिसके तेजसे तेजस्वी बनी हैं, उसके ज्ञानामृतसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है। इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणीका वर्णन किया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है, उसीको प्राप्त करके अमर बनाना है और मृत्युको दूर करना है।

अमृतकी प्राप्ति।

आगे छठे मंत्रमें, कहा ही है कि '**यस्मात् पक्कात् अमृतं सं बभूव**' (मं. ६) जिस परिपक्क आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृतको प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूं। यह बात स्पष्ट ही है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्क, पूर्ण, रसमय और अमृतरस युक्त है तथा उसीका पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं। यही गायकी रक्षा (**गाय-त्री**) करनेवाली वाग्देवीका अधिपति है, इसीलिये उसमें सब वेद रखे हैं। जिसमें वाणी रहती है उसीमें वेद रहते हैं। यह षष्ठ मंत्रका कथन अब स्पष्ट होगया है।

आत्मशुद्धि।

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका आशय यह है- (१) देव निन्दकोंको दूर करना, (२) प्रतिस्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना, (४) और विश्वमें विजयके लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्नको पकाना और पश्चात् अन्योंके साथ स्वयं उसको सेवन करना। इससे मनुष्यकी उन्नति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। देवकी निंदा करनेके श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनमें आये, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिके धारण करनेसे उन्नति होती है। इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है।

तप।

यह सब तपके आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है। आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके पाठक तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर करेंगे तो उनका जीवन सफल होगा।

॥ यहां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥



सत्यका बल।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — चातनः। देवता - सत्यौजा अग्निः।)

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा। यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥
यो नो दिप्सादादिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति। वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥
य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये। क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥
सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे। सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥
ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम्। नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ— (सत्य-ओजाः वैश्वा-नरः) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्र दहतु) उनको भस्म कर डाले, (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके, (च दिप्सात्) नाश करे, (अथो यः नः अरातीयात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान वर्ताव करे ॥ १ ॥

(यः अदिप्सतः नः दिप्सात्) जो निरपराधी हम सबका नाश करनेका यत्न करे, अथवा (यः च दिप्सतः दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी स्वयं ही कष्ट देता है, (वैश्वा-नरस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः) विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों डाढोंमें (तं अपि दधामि) उसको मैं धरता हूं ॥ २ ॥

(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसरमें अथवा अमावास्याकी रात्रीमें (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं, (अन्यान् दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके घातक मांसभोजी उन सबको (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूं ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्त पीनेवालोंका बलसे पराभव करता हूं। (एषां द्रविणं ददे) इनका धन लेता हूं। (दुरस्यतां सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पहुंचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूं। (मे आकूतिः समृध्यतां) मेरी यह संकल्प सफल हो जावे ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हंसी खेल करते हैं, (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेगका परिमाण करते हैं, उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये तैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (संविदे) मिलता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो लोगोंको बुरी अवस्थामें फेंक देते हैं, जनोंका नाश करते हैं और शत्रुता करते हैं, उनको सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमारा थोडासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथमें अधिकार लेता हुआ हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देवकी डाढोंमें मैं धर देता हूं ॥ २ ॥

जो घरमें, कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अंधेरी रात्रीमें ढूंढ ढूंढ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको बलसे मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

रक्त पीनेवाले दुष्टोंको मैं दूर करता हूं, और इनका धन छीनता हूं। क्लेश देनेवाले इन दुष्टोंका मैं समूल नाश करता हूं। यह मेरी इच्छा सफल हो जावे ॥ ४ ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव। श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥
न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः। पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥
यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम। पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥
ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव। तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥
अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या। मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ— जैसा (गोमतां व्याघ्रः इव) गौओंके पालन करनेवालोंको व्याघ्रका भय होता है वैसा ही मैं (पिशाचानां तपनः अस्मि) रक्त पीनेवालोंको तपानेवाला हूं। (सिंहं दृष्ट्वा श्वानं इव) सिंहको देख कर जिस प्रकार कुत्ते घबडाते हैं उस प्रकार मेरे प्रभावसे (ते न्यञ्चनं न विन्दते) वे दुष्ट लोग अपनी रक्षाका स्थान प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

(यं ग्रामं अहं आविशे) जिस ग्राममें मैं प्रविष्ट होता हूं उस ग्राममें (पिशाचैः न सं शक्नोमि) रुधिर पीनेवालोंके साथ मेल नहीं कर सकता, (न स्तेनैः) न चोरोंके साथ और (न वनर्गुभिः) जंगली डाकुओंके साथ मेल कर सकता हूं इसलिये (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्रामसे रक्त पीनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

(मम इदं उग्रं सहः) मेरा यह उग्र बल (यं ग्रामं आविशते) जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उससे रक्त पीनेवाले नष्ट हो जाते हैं और (पापं न उप जानते) पापको भी जानते नहीं ॥ ८ ॥

(हस्तिनं मशकाः इव) हाथीको जिस प्रकार मच्छर उस प्रकार (ये मां लपिताः क्रोधयन्ति) जो मुझे बकबक करनेवाले क्रुद्ध करते हैं, (तान् अल्पशयून् इव) उनको अल्प कीटकोंके समान (अहं जने दुर्हितान् मन्ये) मैं लोकोंमें दुःख बढानेवाले मानता हूं ॥ ९ ॥

(तं निर्ऋतिः अभि धत्तां) उसको दुर्गति प्राप्त होवे (अश्वाभिधान्या अश्वं इव) घोडा बांधनेकी रस्सी जैसे घोडेको प्राप्त होती है। (यः मल्वः मह्यं क्रुध्यति) जो मलिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है (सः उ पाशात् न मुच्यते) वह पाशोंसे नहीं छुटता है ॥ १० ॥

भावार्थ— जो सज्जन सदा अपने ही निजानंदमें मस्त रहते हैं और सूर्यकी गतिसे अपने वेगको मिनते हैं उनके साथ, मित्रता करता हूं, इतना ही नहीं अपितु नदीमें रहनेवाले मत्स्यादि तथा पर्वतोंपर रहनेवाले चतुष्पाद प्राणियोंके साथ भी मैं अपनी मित्रता पहुंचाता हूं ॥ ५ ॥

गौवें जैसी व्याघ्रसे डरती हैं, उसी प्रकार रक्त पीनेवाले दुष्ट मुझसे घबराते हैं। जिस प्रकार सिंहके सन्मुख कुत्ता नहीं ठहर सकता उसी प्रकार मेरे सन्मुख वे दुष्ट सुखका स्थान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६ ॥

मैं जिस ग्राममें पहुंचता हूं वहां रुधिर पीनेवाले चोर, डाकू आदि सब दुष्ट दूर होते हैं ॥ ७ ॥

मेरा उग्र शौर्य जिस ग्राममें चमकता है वहांसे रुधिर भोजी क्रूर मनुष्य नष्ट होते हैं, अथवा वे वहां ही रहे तो वे अपने पाप-विचारको छोड देते हैं ॥ ८ ॥

जो दुर्जन अपने दुराचारके द्वारा मुझे क्रोधित करते हैं वे नष्ट होते हैं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उनके ही कारण जनताको कष्ट पहुंचते हैं ॥ ९ ॥

जो मलिन आचारवाले मनुष्य होते हैं वे दुर्गतिको निःसंदेह प्राप्त होते हैं और वे बंधनमें फंस जाते हैं ॥ १० ॥

सत्यका बल।

सत्यका बल कितना बडा होता है इसका मनोरंजक वर्णन इस सूक्तमें किया है। सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि— ' जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान् हुआ मनुष्य पहुंचता है, उस ग्रामसे चोर, डाकु, लुटेरे, दुष्ट और दूसरेका खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं। सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता। सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहांसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहां रहे भी तो वे अपने पापी विचारको त्याग देते हैं।' (मं. ७-८)

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ हुआ तो ग्रामका सुधार हो जाता है। एक मनुष्य सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कायावाचामनसा असत्यके कुविचार न उत्पन्न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है।

पाठक यहां अनुभव करें कि सत्यका बल कितना बडा है और मनुष्यकी उन्नति इसी सत्यनिष्ठासे है। अपने ग्राममें चोर, डाकू, लुटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अन्दर उतनी सत्यनिष्ठा बढी नहीं कि जितनी बढनी चाहिये। अपने ग्रामकी परीक्षासे इस प्रकार अपनी परीक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है। व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर इस प्रकार प्रभाव होता रहता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये यमनियम यदि एक भी मनुष्यमें बढ गये और स्थिर होगये तो उसकी अन्तःपवित्रताके कारण वह ग्राम सुधर जाता है। इसलिये इस सत्यके बलको अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न जहांतक हो सके वहांतक हरएकको करना चाहिये।

दुष्ट मनुष्य।

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं उनका अब यहां विचार करते हैं—

(१) **दुरस्यात्**— दूसरोंको बुरी अवस्थामें जो फेंकता है। (मं. १)

(२) **दिप्सात्**— दूसरोंका घातपात अथवा नाश जो करता है। (मं. १, २)

(३) **अरातीयात्**— जो शत्रुता करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समान आचरण करता है। (मं. १)

(४) **अदिप्सतः दिप्सात्**— दूसरोंको कभी कष्ट न देनेवाले सज्जनोंको भी जो क्लेश पहुंचाता है। (मं. २)

(५) **दिप्सतः दिप्सति**— थोडासा कष्ट देनेपर भी जो अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुकसान करता है। (मं. २)

(६) **आगारे दिप्सति**— जो घरमें घुसकर विनाकारण घातपात करता है। (मं. ३)

(७) **प्रतिक्रोशे दिप्सति**— थोडीसी बातचीत होनेपर जो विनाकरण क्रुद्ध होकर मारपीट करता है। (मं. ३)

(८) **आमावास्ये मृगयन्ते**— अमावास्याकी रात्रीमें जो ढूंढ ढूंढकर डाका डालते हैं। (मं. ३)

(९) **पिशाचाः**— कच्चा रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर मनुष्य। (मं. ४, ६, ७, ८)

(१०) **स्तेन**— चोर, लुटेरे, डाकू। (मं. ७)

(११) **वनर्गु**— जंगलमें रहते हुए ग्रामके लोगोंको कष्ट देनेवाले लोग। (मं. ७)

(१२) **जने दुर्हितान्**— लोगोंका अहित करनेवाले। (मं. ९)

(१३) **अल्प शयून्**— रात्रीमें थोडी निद्रा लेनेवाले अर्थात् शेष रात्रीमें डाका डालनेवाले डाकू। (मं. ९)

(१४) **मल्वः**— मलिन आचारवाले, दुष्ट। (मं. १०)

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं। इनका विचार करके अपने ग्राममें कौन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट है यह जान सकते हैं और अपने ग्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं। अष्टम मंत्रमें कहा ही है कि— ' सत्यनिष्ठ मनुष्य ग्राममें हुआ तो उसके सत्यके बलसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी दुष्टता छोड देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं।' यही ग्राम सुधारकी रीति है। पाठक इस रीतिका विचार करके इस रीतिके अनुसार अपने स्थानका सुधार कर सकते हैं।

वैश्वानरकी दंष्ट्रा।

दुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्यको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, परन्तु ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' में उसको रख देना चाहिये, यह उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें दिया है। यह ' वैश्वानरकी दंष्ट्रा ' क्या पदार्थ है इसका विचार अवश्य करना चाहिये। ' विश्व ' शब्दका अर्थ ' सब ' है, ' नर ' शब्द

मुष्यवाचक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सब मनुष्योंके समूह' का वाचक है। संपूर्ण मानवोंके एकरूप संघकी कल्पना 'वैश्वानर' शब्दसे लेनी प्रतीत होती है। इसकी 'दंष्ट्रा' न्यायालय अथवा पंचके नामसे प्रसिद्ध है। इस न्यायालयके सन्मुख उस अपराधीको रख देना चाहिये। [इस 'दंष्ट्रा' या दाढ अथवा जबडेके विषयमें अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त २६, २७ की व्याख्याके प्रसंगमें विस्तारपूर्वक लिखा है, वह लेख पाठक यहां अवश्य देखें।]

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रत्युत अपने पंचोंके शासनाधिकारमें ही सन्तुष्ट रहे, यह अत्यंत बडी सभ्यताका आदेश है जो ऐसे सूक्तोंमें वेदने दिया है। ग्राम नगर और राष्ट्रमें शान्ति रखनेके लिये इस नियमके पालनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे सभ्य नहीं कहलाते।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्योंकि वे (**पिशाचाः**) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका खून चूसनेवाले हिंसक होते हैं। वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसा भाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतिसे कहे हैं। इसी हेतुसे इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें नदियों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (**सं विदे**) संवेदना करनेकी सूचना दी है। संवेदनाका अर्थ 'अपने सुखदुःखके समान उनको भी सुखदुःख होता है' इस भावकी मनमें जाग्रति करना है।

सुधारके दो उपाय।

ये नदीषु पर्वतेषु (पशवः सन्ति) तैः पशुभिः सं विदे। (सू. ३६, मं. ५)

'जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनसे मैं सहृदयता अपने मनमें धारण करता हूं।' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये। 'मेरेसे किसी भी जीव-जन्तुके लिये कोई भय नहीं होगा' यह संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केन्द्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत होना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं। यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवाः तेन हासन्ते, सूर्येण जवं मिमते। (सू. ३६, मं. ५)

'जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हंसते रहते हैं और अपनी उन्नतिका वेग सूर्यकी गतिसे मापते हैं।' उनसे संगति करनी है। जब पहिले अपने मनके अन्दर अहिंसा स्थिर हो जायगी, तब ही ऐसे श्रेष्ठ सज्जनोंकी संगतिसे अधिक लाभ होगा। अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा यह है कि दिव्य जनोंसे मित्रता करना। इस प्रकार मनुष्य अचूक उन्नतिके मार्गसे ऊपर चढ सकता है।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पहुंचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और रहे तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं। यह सप्तम और अष्टम मंत्रका कथन विचारशील पाठकोंको मनन करने योग्य है। इस कसौटीसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको उन्नतिका मार्ग आक्रान्त करना चाहिये।

रोगक्रिमिका नाश।

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — बादरायणिः। देवता — अजशृंगी। अप्सरसः।)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**ओषधे**) औषधे! (**त्वया अथर्वाणः रक्षांसि जघ्नुः**) तेरे द्वारा आथर्वणी विद्या जाननेवाले वैद्य रोगक्रिमियोंका नाश करते हैं। (**कश्यपः त्वया जघान**) कश्यपने भी तेरे द्वारा नाश किया। (**कण्वः अगस्त्यः त्वया**) कण्व और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

भावार्थ— अजशृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कण्व, अगस्तिने रोगक्रिमियोंका नाश किया ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे । अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय ॥ २ ॥
नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् । गुल्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥
यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥
यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥
एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती । अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥
आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः । भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥
भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः । ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अजशृंगि) अजशृंगी औषधि ! (त्वया वयं अप्सरः गंधर्वान् चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायक क्रिमियोंको दूर हटाते हैं । (गंधेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोगक्रिमियोंको दूर कर और नाश कर ॥ २ ॥

(अप्सरसः अपां तारं अवश्वसं नदीं यन्तु) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति जांय । (गुग्गुलूः) गुग्गुल, (पीला) पीलु, (नलदी) मांसी, (औक्षगन्धि) औक्षगन्धी, (प्रमन्दिनी) प्रमोदिनी ये पांच औषधियां हैं । यह (प्रतिबुद्धा अभूतन) जान जाओ और (तत्) इसलिये हे (अप्सरसः) जलों फैलनेवाले कृमियो ! (परा इत) यहांसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(यत्र अश्वत्थाः न्यग्रोधाः) जहां पीपल वट (शिखंडिनः महावृक्षाः) शिखण्डी आदि महावृक्ष होते हैं, (अप्सरसः) हे जलोत्पन्न क्रिमियो ! (तत् परा इत्) वहांसे दूर भागो, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

(यत्र वः प्रेङ्खा हरिताः) जहां तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः) और जहां आघाट और कर्करी वृक्ष अथवा कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहां हे (अप्सरसः) जल संचारी कृमियो ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) सचेत होओ और (तत् परा इत) वहांसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

(वीरुधां ओषधीनां वीर्यावती) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक वीर्यशाली (इयं अजशृंगी आ अगन्) यह अजशृंगी प्राप्त हुई है । यह (अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषत) रोगनाशक तीक्ष्णशृंगी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (अप्सरापतेः) जलसंचारी कृमियोंके मुखियाका (मुष्कौ भिनद्मि) अण्डकोश तोड देता हूं और (शेपः अभियामि) उसके प्रजननांगका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

(इन्द्रस्य शतं अयस्मयीः हेतयः ऋष्टीः भीमाः) सूर्यकी, सैंकडों लोहमय हथियारोंके समान किरणें भयंकर हैं । (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक (गंधर्वान् व्यृषतु) कृमियोंका विनाश करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— अजशृंगीके द्वारा हम रोगक्रिमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पतिके गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥
ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुगुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥
जहां पीपल, वड आदि महावृक्ष होते हैं वहांसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥
जहां वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहांसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥ ५ ॥
सब वनस्पतियोंमें अजशृंगी वडी वीर्यवाली औषधी है इससे निःसंदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥
इससे इन क्रिमियोंके वीर्यस्थान भी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥
सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥ ८ ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः । ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ९ ॥
अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् । पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥
श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥
जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् । अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ — (इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्यकी सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) सैंकडों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं (ताभिः हविरदान् अवकादान् गंधर्वान् व्यृषतु) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगक्रिमियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

हे (ओषधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्सु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलाशोंमें रहनेवालोंको जला दे। (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करनेवालोंका नाश कर और (सहस्व च) दबा दे ॥ १० ॥

(एकः श्वा इव) एक कुत्तेके समान है, (एकः कपिः इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है। (प्रियः दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शीके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः सचते) गंधर्व संज्ञक रोगकृमि स्त्रियोंको पकडता है। (वीर्यावता ब्रह्मणा तं इतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिसे उसका यहांसे हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः वः जाया इत्) अप्सराएं तुम्हारी स्त्रियां हैं। (अमर्त्याः) हे अमरों ! (अप धावत) यहांसे दूर हट जाओ, (मर्त्यान् मा सचध्वं) मनुष्योंको मत पकडो ॥ १२ ॥

भावार्थ — सूर्यकी सुवर्णके रंगवाली किरणें बडी प्रभावशाली हैं, जिनके योगसे रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलाशमें जो इनका स्थान है और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे ॥ १० ॥

कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक क्रिमि स्त्रियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोग-क्रिमि।

इस सूक्तमें 'रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच' ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं। वैद्यक ग्रंथोंमें इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वग्रहः— माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियगीतगन्धमाल्यः । नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गंधर्वग्रहपीडितो मनुष्यः ॥ (मा. नि.)

गंधर्वग्रहसे पीडित मनुष्यका अन्तःकरण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानाबजाना प्रिय लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गंधर्वग्रहके लक्षण हैं।

(२) पिशाचग्रहः— इसका लक्षण माधव निदानमें इस प्रकार कहा है—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोमः । बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ (मा. नि.)

'दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बडबडनेवाले, रोने-पीटनेवाला आदि प्रकार करनेवाला रोगी पिशाच ग्रहसे पीडित होता है।'

'रक्षः, रक्षस् और राक्षस्' ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं। इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोग भी वैद्यक ग्रंथमें दिये हैं। देखिये—

(१) **भूतघ्नी**— भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि। प्रपौंडरीक, मुण्डरीक, तुलसी, शङ्खपुष्पी ये औषधियां भूतरोगनाशक हैं।

(२) **भूतघ्नः**— भूर्ज वृक्ष, सर्षप वृक्ष।

(३) **भूतनाशन**— भिलावाँ, हिंगु वृक्ष, रुद्राक्ष।

(४) **भूतहन्त्री**— दूर्वा, वन्ध्याकर्कोटकी वल्ली।

(५) **पिशाचघ्नः**— श्वेतसर्षप वृक्ष।

(६) **रक्षोघ्नं**— काञ्चिक, हिंगु, भिलावा, नागरंग, वचा।

(७) **रक्षोहा**— महिषाक्ष गुग्गुली, गुग्गुल।

इस सूक्तमें भी तृतीय मंत्रमें गुग्गुलु वृक्षको राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किसी प्रकारके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियां राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'अजशृंगीके गन्धसे सब राक्षस (**नाशय**) नष्ट होते हैं और (**अज**) भाग जाते हैं। (मं. २)' अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोग-जन्तु होंगे। इस अजशृंगी औषधिसे गंधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मंत्रका कथन है। इस अजशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें देखिये—

अजशृंगी— 'कटुः, तिक्ता, कफार्शःशूल-शोथघ्नी चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविषकासकुष्ठघ्नी च। एतत्फलं तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीप्तिकृत् हृद्यं रुच्यं, लवणरसं अम्लरसं च॥ (रा. नि. व. ९)

'अजशृंगी औषधी कफ, बवासीर, शूल, सूजनका नाश करनेवाली, आंखके दोष दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास, कुष्ट दूर करनेवाली है। इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक आदि गुणवाला है।' इसमें मंत्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है। तथापि आधुनिक वैद्य ग्रंथोंकी अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

लक्षण।

इन भूत रोगोंके लक्षण ग्यारहवें मंत्रमें कहे हैं ये अब देखिये—

(१) **श्वा इव**— कुत्तेके समान काटता है,

(२) **कपिः इव**— बंदरके समान कुचेष्टा करता है।

ये लक्षण पिशाच बाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं। वे रोगी कुत्तेके समान और बंदरके समान व्यवहार करते हैं। जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसे व्यवहार करता है उनको उन्माद रोग कहा जाता है। इस उन्मादके ही पिशाच, भूत, रक्षः, राक्षस, गंधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं। और इनका नाश इस सूक्तमें कहे औषधियोंसे होता है। औषधियोंसे इनका नाश होता है, इस कारण ये सजीव सूक्ष्म देही क्रिमी होना संभव है, इसके अतिरिक्त 'पिशाच' शब्द इनका रुधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात ये क्रिमि शरीरमें जाकर शरीरका ही रुधिर खाते हैं और शरीरको कृश करते हैं। इनका नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है। इन औषधियोंके गुण-धर्म देखिये—

(१) **गुगुलुः**— इसके संस्कृत नाम ये हैं—'**देवधूप, भूतहरः, यातुघ्नः, रक्षोहा**' ये इसके नाम इस सूक्तके कथनके साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यातुधान नाश होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है। अब इसके गुण देखिये—

जराव्याधि हरत्वाद्रसायनः।
कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः।
कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शघ्नः॥ (रा. नि. व. १२)

'इससे बुढापा और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, प्लीहा, सूजन, बवासीर रोगोंको दूर करता है।' इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। (मं. ३)

(२) **पीला, पीलु**— मंत्रमें 'पीला' शब्द है, इसका अर्थ चूंटी है। 'पीलु' शब्द वनस्पति वाचक है जिसको हिंदी भाषामें 'झलू' कहा जाता है। यह कफ, वात, पित्त दोषोंको दूर करता है। (मं. ३) (भा. प्र.)

(३) **नलदा, नलदी**— जटामांसीका यह नाम है। इसके गुण— '**जटामांसी कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी**। (रा. नि. व. १२) इस औषधीसे कफरोग, भूतरोग, पित्तरोग ये दूर होते हैं। इसमें भूतरोग शमन इस सूक्तके साथ संगत होता है। (मं. ३)

(४) **औक्षगंधि**— ऋषभक औषधीका यह नाम है। इसके गुण- 'बल बढानेवाला, शुक्र बढानेवाला, पित्तरक्त दोष दूर करनेवाला, दाह, क्षय, ज्वरका नाशक है।' (रा. नि. व. ५) वाजीकरणमें इसका बहुत उपयोग होता है।

(५) **प्रमंदनी**— धातकी वृक्ष। हिंदी भाषामें 'धावई' कहते हैं। इसके गुण '**कटुः, उष्णा, मदकृद्विषघ्नी, प्रवाहिकातिसारघ्नी, विसर्पव्रणघ्नी च**। (रा. नि. व. ६), **तृष्णातिसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्**।

(भा. प्र.) ' यह औषधि विषनाशक, अतिसार, विसर्प व्रण और कृमि दोष दूर करनेवाली है। (मं. ३)

इन औषधियोंसे भूतरोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं। इसी कार्यके लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोगी हैं ऐसा चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रमें कहा है। इस विषयमें वैद्य-शास्त्रका कथन देखिये—

(१) **अश्वत्थः**— हिंदी भाषामें इसको ' पिपर ' कहते हैं। इसको संस्कृतमें ' **शुचिद्रुम** ' कहते हैं, क्योंकि यह शुद्धता करता है। इसके गुण- ' **पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित् योनिशोधनः वर्ण्यः** । (भा. पू. १ भ. वटादिवर्ग) अर्थात् यह पित्त, कफ, व्रण आदिके दोष दूर करता है और योनिदोषोंको दूर करता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि स्त्रियोंको जो भूत-प्रेतादि रोग होते हैं वे विशेषकर योनिस्थानके दोषसे ही होते हैं, इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है। इसके फलोंके गुण देखिये—

अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पक्वान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि। कुर्वन्ति पित्तास्रविषार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम्॥ (रा. नि. व. ११)

(१) ' पीपरका फल पकनेपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है। पित्त, रक्तस्राव, विष, पीडा, दाह, वमन, शोष, अरुची आदि दोषोंको दूर करता है। '

(२) **न्यग्रोधः**— वट, वड, वर, वर्गट। इस वडके गुण ये हैं— ' **कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहृत्।** (भा. प्र.), **ज्वरदाहतृष्णामोहव्रणशोफघ्नश्च।** (रा. नि. व. ११) यह वड कफ, पित्त, व्रण, योनिदोष, ज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा, सूजन आदि रोगोंका नाश करता है।

(३) **शिखण्डी**— गुञ्जा नामक लता, मोर अथवा मोरका पङ्ख, और स्वर्णयूथिका वाचक यह शब्द है।

(४) **अर्जुनः**— हिंदी भाषामें इसको ' कहू, कोंह ' कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

कफघ्नः, व्रणशोधनः, पित्तश्रमतृष्णाहरः, वातकोपनश्च। (रा. नि. व. ९)

शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषरक्तहरो मेदोमेहव्रणघ्नस्तुवरः, कफपित्तघ्नश्च। (भा. पू. १ भ. वटादि.)

यह अर्जुन वृक्ष कफ, व्रण, पित्त, श्रम, तृष्णाको दूर करता है। हृदयके लिये हितकारी है। व्रण, क्षय, विष, रक्तदोष दूर करता है। मेदादि रोग दूर करता है।

(५) **आघाटः**— अपामार्ग औषधि। हिंदीमें लटजिरा, चिरचिरा कहते हैं। इसपर कई सूक्त हैं। (अथर्व. का. ४, सू. १७-१९ विवरणसहित पढिये। इसमें अपामार्गके गुणधर्म लिखे हैं।)

(६) **कर्करी**— कर्कटी, कांकडी। [इसके विषयमें अर्थकी खोज करना चाहिये]

ये सब वृक्ष और लतायें पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं। इनका वैद्यक ग्रंथोक्त वर्णन और वेदमन्त्रोक्त वर्णन पाठक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें कुछ विशेष ही कहा है।

अष्टम और नवम मन्त्रमें सूर्यकिरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो सकता है ऐसा सूचित किया है।

ग्यारहवे मन्त्रमें (**वीर्यावता ब्रह्मणा**) वीर्यवती ब्राह्मी औषधिसे ये रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है।

(७) **ब्राह्मी**— हिंदी भाषामें इसको ' बरंभी, ब्रह्मी ' कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता मधुर्मेध्या च शीतला।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्।
विषशोफहरी ... ...॥ (भा. प्र. व.)

' ब्राह्मी वनस्पती बुद्धिवर्धक, स्मृतिवर्धक, आयुष्यवर्धक, कुष्ट, पाण्डु, मेह, रक्तस्राव, कांसी, विष, प्यास आदिको दूर करनेवाली है।

इस ब्राह्मी औषधीके गुण सोमवल्लीके गुणोंसे कुछ अंशमें मिलते जुलते हैं, इसलिये इसके नाम- ' सोमवल्लरी, महौषधि, सुरश्रेष्ठा, परमेष्ठिनी, शारदा, भारती ' ये आये हैं। बुद्धिवर्धक और आयुष्यवर्धक गुण इसके मुख्य हैं। यह अपूर्व वल्ली है और निश्चयसे गुणकारी है।

यह वैद्योंकी विद्या है इसलिये इस सूक्तका मनन वैद्योंको करना चाहिये। यदि वैद्य इसका विचार करेंगे और लोकोप-कारक औषधि प्रयोग निश्चित करेंगे तो जनताके ऊपर विशेष उपकार हो सकते हैं।

' **अप्सरस्** ' शब्दका मूल अर्थ (**अप+सरस्**) जलके साथ संचार करनेवाला, जलाशयमें संचार करनेवाला। ' मले-रिया ' के अर्थात् हिम ज्वरके कृमि जलसंचारी हैं। मच्छरों द्वारा इनका फैलाव होता है और मच्छर गाते रहते हैं, इसलिये ये संभवतः ' गंधर्व ' ही होंगे, और इनके आश्रयसे चारों ओर जानेवाले ज्वरोत्पादक क्रिमि अप्सरस् होंगे। गंधर्व और अप्स-राओंका इस प्रकरणमें यह संबंध दिखता है। पीपर, वड, अपामार्ग, अर्जुन आदि वृक्षोंके कारण इन रोगकृमियोंका दूर होना लिखा है। इसलिये ' मलेरिया ' ज्वरके प्रदेशोंमें इन वृक्षोंकी उपज करके अनुभव देखना चाहिये। इसी प्रकार अजशृंगी, गुग्गुलु आदि वनस्पतियोंका भी रोगनिवारणार्थ प्रयोग करके देखना योग्य है। वैद्य लोग इस विषयमें खोज करेंगे तो इसका निश्चय शीघ्र हो सकता है।

*

उत्तम गृहिणी स्त्री।

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — बादरायणिः। देवता – अप्सराः। ऋषभः।)

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥
विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥
यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्। सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥
या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती। आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (उद्भिन्दतीं साधुदेविनीं) शत्रुको उखाडनेवाली, उत्तम व्यवहार करनेवाली और (संजयन्तीं अप्सरां) उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली रमणीय स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि कृण्वानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस स्त्रीको (इह हुए) यहां बुलाता हूं ॥ १ ॥

(विचिन्वन्तीं आकिरन्तीं) संचय करनेवाली और बांटनेवाली (साधुदेविनीं अप्सरां) उत्तम व्यवहार करनेवाली स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि गृह्णानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस रमणीय स्त्रीको मैं यहां बुलाता हूं ॥ २ ॥

(या अयैः ग्लहात् कृतं आददाना) जो शुभ धर्मविधियोंसे स्पर्धामें उत्तम कृत्यको स्वीकार करती है। (सा नः कृतानि सीषती) वह हमारे उत्तम कर्मोंको नियमबद्ध करती हुई (मायया प्रहां आप्नोतु) अपनी कुशल बुद्धिसे प्रगतिको प्राप्त करे। (सा पयस्वती नः आ एतु) वह अन्नवाली उत्तम स्त्री हमारे पास आवे जिससे (नः इदं धनं मा जैषुः) हमारा यह धन कोई दूसरे न ले जांय ॥ ३ ॥

(शुचं क्रोधं च बिभ्रती) शोक और क्रोधको धारण करती हुई भी (याः अक्षेषु प्रमोदन्ते) जो अपने आंखोंमें आनन्दित वृत्ति रखती है (तां आनन्दिनीं प्रमोदिनीं अप्सरां) उस आनन्द और उल्हास देनेवाली सुन्दर स्त्रीको (इह हुए) यहां मै बुलाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— शत्रुको एक ओर करके ऊपर उठनेवाली, उत्तम व्यवहारदक्ष विजयी और स्पर्धाके समय योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ १ ॥

समयपर संचय करनेवाली और समयपर सत्पात्रमें दान करके योग्य व्यय करनेवाली उत्तम व्यवहारदक्ष तथा स्पर्धाके उत्तम योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार करनेवाली स्त्रीको हम यहां बुलाते हैं ॥ २ ॥

जो स्पर्धाके समय शुभधर्मविधिके अनुसार उत्तम कृत्य करती है तथा जो हमारे सब शुभकृत्योंको उत्तम व्यवस्थासे करती है वह अपनी कुशल बुद्धिसे इस स्थानपर प्रगति करे। वह अन्नवाली स्त्री यहां रहे और उसकी व्यवस्थासे यहांका धन सुरक्षित हो जावे ॥ ३ ॥

जो शोक और क्रोध मनमें रहनेपर भी जो सदा अपने आंखोंमें आनन्दकी प्रभा दिखाती है वह आनन्द और संतोष बढानेवाली स्त्री यहां आवे ॥ ४ ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान्पर्येति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥
अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः । यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ— (याः सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ति) जो सूर्यके किरणोंमें अनुकूल संचार करती हैं, (वा याः मरीचीः अनु संचरन्ति) अथवा जो सूर्य प्रकाशमें संचार करती है । (वाजिनीवान् ऋषभः) बलवान् श्रेष्ठ पुरुष (दूरतः सद्यः यासां सर्वान् लोकान् रक्षन् पर्येति) दूरसे ही तत्काल जिनके सब लोगोंकी रक्षा करता हुआ चारों ओर घेरकर आता है। (सः वाजिनीवान्) वह बलवाला पुरुष (इमं होमं जुषाणः) इस यज्ञका स्वीकार करता हुआ, (अन्तरिक्षेण सह नः आ एतु) आन्तरिक विचारके साथ हमारे पास आवे ॥ ५ ॥

हे (वाजिनीवान् वाजिन्) बलवाले ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अन्तःकरणके साथ अपने कर्तृत्वशक्ति॰ वाले बच्चीको (इह रक्ष) यहां रक्षा कर । (इमे ते बहुलाः स्तोकाः) ये तेरे बहुत आनन्द हैं, (अर्वाङ् एहि) यहां आ, (इह ते कर्की) यह तेरी कर्तृत्वशक्ति है । (इह ते मनः अस्तु) यहां तेरा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवान् ! (अन्तरिक्षेण सह कर्कीं वत्सां) अपने आंतरिक विचारके साथ कर्तृत्व शक्तिवाले बच्चीको (इह रक्ष) यहां रक्षा कर । उसके लिये (अयं घासः) यह घास है, (अयं व्रजः) यह गौओंका स्थान है, (इह वत्सां नि बध्नीमः) यहां बछडीको बांधते हैं । (यथानाम वः ईश्महे) नामोंके अनुसार तुम्हारा आधिपत्य हम करते हैं, (स्व-आहा) हमारा त्याग तुम्हारे लिये हो ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो सूर्यकी किरणोंमें व्यवहार करती हैं अथवा सूर्यप्रकाशको अनुकूल बनाती है, इस प्रकारकी स्त्रियोंकी रक्षा दूरसे अर्थात् योग्य मर्यादासे ही सब पुरुष किया करें । ये बलवान् पुरुष अपने जीवनका यज्ञ करते हुए अपने हार्दिक विचारसे स्त्रियोंका आदर करके यहां रहें ॥ ५ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ बच्चियोंकी रक्षा करो, सन्तानकी रक्षा करना आनन्ददायक कार्य है, आगे होकर यह कार्य करो, इस कार्यमें तुम्हारा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ गौकी बच्चियोंकी रक्षा करो, गौओं और बछडोंके लिये यह घास है, उनके लिये यह स्थान है, बछडोंको यहां बांधते हैं, और उनके नामोंके क्रमसे उनकी उत्तम व्यवस्था करते हैं, उनके लिये हम आत्मसर्वस्वका समर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

दक्ष स्त्रीका समादर ।

इस सूक्तमें दक्ष स्त्रीका बहुत आदर किया है । स्त्री गृहिणी होती है, इसलिये घरकी व्यवस्था उत्तम रखना और उस कार्यमें उत्तम दक्षता धारण करना स्त्रियोंका परम कर्तव्य है । इस विषयके आदेश इस सूक्तमें अनेक हैं जिनका मनन अब करते हैं—

स्त्री कैसी हो ?

(१) संजयन्ती— उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली, अर्थात् अपने कुटुंबका विजय करनेके उपायोंको आचरणमें लानेवाली हो । (मं. १)

(२) साधुदेविनी— 'दिव्' धातुसे 'देविनी' शब्द बनता है । 'दिव्' धातुके अर्थ- 'क्रीडा, विजिगीषा,

व्यवहार, प्रकाश, आनंद, गति' इतने हैं। अर्थात् '**साधु देविनी**' शब्दका अर्थ- 'क्रीडा या खेल खेलनेमें कुशल, अपने कुटुंबका विजय चाहनेवाली, घरमें प्रकाशके समान तेजस्विनी होकर रहनेवाली, स्वयं आनंद स्वभाव रहकर सब लोगोंका आनंद बढानेवाली, सबकी प्रगति करनेवाली' इस प्रकार हो सकता है। इस अर्थका संबंध '**संजयन्ती**' शब्दके अर्थके साथ है, इसका पाठक अनुभव करें। (मं. १, २, ४)

(३) **उद्भिन्दन्ती**- अपने शत्रुओंको उखाड देनेवाली। (मं. १) इसका भी तात्पर्य '**संजयन्ती**' पदके समान ही है, विजयेच्छुक और व्यवहारदक्ष होनेसे शत्रुको उखाडना और विजय प्राप्त करना ये बातें सुसंगत हैं। (मं. १)

(४) **ग्लहे कृतानि कृण्वाना**— '**ग्लह**' शब्दका अर्थ है '**स्पर्धा**'। अपना जीवन एक प्रकारकी स्पर्धा है, इस स्पर्धामें '**कृत**' अर्थात् उत्तम कृत्य अथवा उत्तम प्रयत्न करनेवाली। '**कृत**' शब्दका अर्थ यह है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सं पद्यते चरन् ॥
चरैव चरैव। (ऐ. ब्रा. ७।१५)

'सुप्त अवस्थाका नाम कलि है, निद्रा या आलस्यको त्यागनेका नाम द्वापर है, प्रयत्न करनेकी बुद्धिसे उठनेका नाम त्रेता है और कृत उसको कहते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य पुरुषार्थ करता है।' इस वचनमें 'कृत' का अर्थ दिया है। उन्नतिके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेका नाम कृत है। मानो 'मनुष्यका जीवन एक जूवेका खेल' है। इसमें सोते रहनेवाले लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत सबसे उत्तम जुवेका दान लेनेवाले ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस जूवेके 'कलि, द्वापर, त्रेता और कृत' ये चार दान होते हैं। जो झगडालू और आलसी होते हैं उनको इस जीवनरूपी जुएमें 'कलि' संज्ञक दान मिलता है जिससे हानि ही हानी होती है, जो साधारण पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं उनको बीचके दो दान मिलते हैं, परंतु जो प्रबल पुरुषार्थी होता है वही 'कृत' संज्ञक दान प्राप्त करके अधिकसे अधिक दान प्राप्त करता है।

सतरंज या चौपट खेलनेवाले अपने पांसोंसे जो चार प्रकारके दान प्राप्त करते हैं, उन चार दानोंके वाचक ये चार शब्द हैं। 'कृत, त्रेत, द्वापर और कलि' ये चार शब्द क्रमशः उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और हानिकारक दानोंके सूचक शब्द हैं। वस्तुतः वेदमें '**अक्षैर्मा दीव्यः।**' (ऋ. १०।३४।१३) जूआ मत खेल इस प्रकारके वाक्योंसे जूवेका निषेध किया है। इसलिये वैदिक धर्ममें जूवेकी संभावना ही नहीं है। तथापि यहां सभी मनुष्य अपने आयुष्यके सतरंजका खेल खेल रहे हैं, अपने आयुष्यका जूआ खेल रहे हैं अथवा चौपट खेल रहे हैं। इसमें कईयोंको यह खेल लाभकारी होता है और कईयोंको हानिकारक होता है। इसलिये इस जीवनरूपी बाजीमें उत्तम रीतिसे यह खेल खेलकर मनुष्य यशके भागी हों, यह उपदेश देनेके लिये रूपकालंकारसे इस सूक्तमें '**ग्लह, कृत, देविनी**' ये शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द जूवेबाजीका अर्थ भी बताते हैं और श्लेषसे उत्तम विजयी व्यवहारका भी अर्थ बताते हैं। इस रूपकका अर्थ ऊपर बताया है वही है, पाठक उसका विचार करके बोध प्राप्त कर सकते हैं। यहां स्त्रीका निर्देश होते हुए भी पुरुष भी इससे अपने विजयी जीवन बनानेका बोध प्राप्त कर सकते हैं। अस्तु। '**ग्लहे कृतानि कुर्वाणा**' का यहां यह अर्थ है- 'इस जीवनरूपी स्पर्धाके खेलमें जो स्त्री उत्तम पुरुषार्थ रूपी दान प्राप्त करती है।' अर्थात् उत्तम स्त्री वह है कि जो इस जीवनमें परम पुरुषार्थ प्रयत्न करती है। (मं. १, २) मंत्र ३ में '**कृतं ग्लहात् आददाना**' पाठ है। इसका भी उक्त प्रकार ही अर्थ है।

(५) **विचिन्वन्ती, आकिरन्ती**— संग्रह करनेवाली, दान देनेवाली। संग्रह करनेके समय योग्य रीतिसे और दक्षतासे संग्रह करनेवाली और दान करनेके समय उदारतापूर्वक दान देनेवाली। स्त्री ऐसी होनी चाहिये कि वह घरमें दक्षतासे और व्यवस्थासे योग्य वस्तुओंका संग्रह करे। तथा दान करनेके समय अपने घरका यश बढने योग्य उदारताके साथ दान करे। '**विचिन्वन्ती**' का मूल अर्थ चुन चुनकर पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली और '**विकिरन्ती**' का अर्थ 'बिखेरनेवाली' है। यह संग्रह करनेका गुण और दानका गुण इसमें इतना हो कि जिससे उसके कुलका यश बढ जाय और कभी यश न घटे। (मं. २)

(६) **या अयैः परिनृत्यति**— जो शुभ विधियोंसे आनंदसे नाचती है अर्थात् जिसका प्रयत्न सदा सर्वदा धार्मिक शुभ विधि करनेके लिये ही होता है। '**अयः**' का अर्थ 'शुभ विधि' है (**अयः शुभावहो विधिः।** अमरकोश १।३।२७) जिसका पूर्व कर्म भी उत्तम है और इस समयका भी कर्म उत्तम है। (मं. ३)

(७) **कृतानि सीपती**— जो उत्तम कर्मोंको सुव्यवस्था नियमसे करती है, जो घरमें उत्तम व्यवस्थासे सब कार्य करती है। (मं. ३)

(८) पयस्वती— दूधवाली, जिसके पास बच्चोंको देनेके लिये बहुत दूध होता है। (मं. ३)

(९) या शुचं क्रोधं च बिभ्रती अक्षेषु प्रमोदन्ते– जो शोक और क्रोध आनेपर भी आंखोंमें प्रसन्नताका तेज धारण करती है। 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'आंख और इंद्रिय' है। यहां इंद्रिय अर्थ अपेक्षित है। जो स्त्री अन्तःकरणमें शोक उत्पन्न होनेपर अथवा क्रोध उत्पन्न होनेपर भी रोती, पीटती या चिल्लाती नहीं है, प्रत्युत अपने व्यवहारमें इंद्रियोंके व्यापारमें प्रसन्नताकी झलक दिखाती है और हृदयका शोक और क्रोध व्यक्त नहीं करती, वह उत्तम स्त्री है। (मं. ४)

(१०) आनन्दिनी, प्रमोदिनी— आनन्द और हर्षसे युक्त। अर्थात् जो सदा आनन्दित रहती है और दूसरोंको प्रसन्न करनेका यत्न करती है। (मं. ४)

(११) सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ती— जो सूर्य-किरणोंमें भ्रमण करती है। मरीचीः अनु संचरन्ती— जो सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करती है। अथवा जो सूर्यप्रकाशको अपने अनुकूल बनाती है। इससे आरोग्य उत्तम होता है। स्त्रियोंको सूर्यप्रकाशमें व्यवहार करना चाहिये। [यहां स्पष्ट होता है कि गोषाकी पद्धति पूर्णतया अवैदिक है।] (मं. ५)

ये ग्यारह लक्षण उत्तम और दक्ष गृहिणीके हैं। स्त्री, धर्मपत्नी, गृहिणी घरमें किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषयपर ये ग्यारह लक्षण बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं। स्त्री और पुरुष इन लक्षणोंका विचार करें और इस उपदेशको अपनानेका यत्न करें। इन लक्षणोंमें शत्रुको उखाड देना और विजय प्राप्त करना ये भी लक्षण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंमें इतनी शक्ति तो अवश्य ही होनी चाहिये कि जिससे वे अपनी रक्षा उत्तम प्रकार कर सकें। आत्मरक्षाके लिये स्त्रियां दूसरेपर निर्भर न रहें। गृहव्यवहारमें दक्ष, सुज्ञ, निर्भय और अपने कुलका यश बढानेवाली स्त्रियां होनी चाहिये। इन लक्षणोंका विचार करनेसे स्त्रीशिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये इसका भी निश्चय हो सकता है। जिस शिक्षासे स्त्रीके अन्दर इतने गुण विकसित होंगे, वह शिक्षा स्त्रियोंको देनी चाहिये। अथवा यों कहिये कि स्त्रियोंमें शिक्षासे इन गुणोंका विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिये। स्त्री शिक्षाका विचार करनेवाले स्त्रीपुरुष इन आदेशोंका मनन करें।

अप्सरा।

इन लक्षणोंसे युक्त स्त्रीको इस सूक्तमें 'अप्सरा' कहा है। सुंदर स्त्रीको अप्सरा कहते हैं। अप्सरा शब्दके बहुत अर्थ हैं उनमें यह भी एक अर्थ है। स्त्रीकी सुंदरता इस शब्दसे व्यक्त होती है। शरीरकी सुंदरता वस्तुतः उतना सुख नहीं देती जितनी गुणोंकी सुंदरता देती है। इसलिये इन गुणोंसे युक्त सुंदर स्त्रीको अपने घरमें गृहिणी बनानेकी सूचना यहां दी है। अपनी सहधर्मचारिणी निश्चित करनेवाले लोग इस उपदेशका मनन करेंगे, तो उनको अपनी सहधर्मचारिणी पसंद करनेके समय बडी सहायता प्राप्त हो सकती है।

पूर्व सूक्तमें ही 'अप्सरा' शब्दका अर्थ रोगोत्पादक क्रिमि है और इस सूक्तमें 'सुंदरी गुणवती सुशील स्त्री' है यह देखकर पाठक चकित न हों। एक ही शब्दके इसी प्रकार अनेक अर्थ होते हैं। इसी प्रकार 'असुर' शब्द परमेश्वरवाचक और राक्षसवाचक होता है अर्थात् इन शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार विलक्षण होते हैं और यह एक वेदकी रीति ही है।

इस सूक्तके प्रथमके पांच मंत्रोंमें दक्ष धर्मपत्नीके शुभ गुणोंका वर्णन है। यह वर्णन जैसा स्त्रियोंको बोधप्रद है उसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी बोधप्रद है। आशा है इससे पाठक लाभ उठावेंगे।

रश्मिस्नान।

पञ्चम मन्त्रमें 'सूर्यरश्मीन् अनु सञ्चरन्ति। (मं. ५)' सूर्यरश्मियोंके अन्दर अनुकूल रीतिसे सञ्चार करनेकी सूचना दो वार की है। एक ही विषय दो वार कहनेसे वह दृढ करनेका उद्देश होता है। अर्थात स्त्रियोंका सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करना वेदको बहुत ही अभीष्ट है। स्त्रियां प्रायः घरेलु व्यवहारमें दक्ष रहती हैं और पुरुष घरके बाहरके व्यवहारको करते हैं। इसलिये पुरुषोंको उनके व्यवहारके ही कारण सूर्यरश्मिस्नान होता है। स्त्रियां घरके अन्दरके व्यवहार करती हैं इसलिये सूर्यरश्मियोंके अमृतरससे वञ्चित रहती हैं; अतः उनके स्वास्थ्यके लिये इस मन्त्रमें रश्मिस्नानका दो वार उपदेश किया है।

यह उपदेश आजकल इसलिये बहुत आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है कि आजकलकी स्त्रियां तो गोषामें रहती हैं और इस अवैदिक गोषाकी पद्धतिके कारण सूर्यप्रकाशसे वञ्चित रहती हैं। इस दोषको दूर करनेके लिये वेदने यह उत्तम उपदेश किया है, जिसका हरएक स्त्रीपुरुषको अवश्य विचार करना चाहिये।

स्त्री रक्षा।

स्त्रियोंकी रक्षा होनी चाहिये। वह दो प्रकारसे हो सकती है एक तो पूर्वोक्त गुणोंका उत्तम विकास स्त्रियोंमें करनेसे स्त्रियां

स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जायगी और अपनी रक्षा करनेके लिये दूसरोंके मुखकी ओर देखनेकी आवश्यकता उनको नहीं रहेगी। तथापि कई प्रसंग ऐसे हैं कि जिनमें पुरुषोंको स्त्रियोंकी रक्षा करना चाहिये। ऐसे समयोंमें—

यासां सर्वान् लोकान् दूरतः रक्षन् वाजिनीवान् पर्येति। (सू. ३८, मं. ५)

' जिन स्त्रियोंके सब लोकोंको दूरसे रक्षा करता हुआ बलवान् पुरुष भ्रमण करता है। ' इसका आशय यह है कि पुरुष स्त्रियोंकी रक्षा करनेके समय शिष्टाचारपूर्वक उचित रीतिसे दूर रहकर रक्षाका कार्य करें। स्त्रियोंमें घुसकर अथवा स्त्रियोंका अन्य प्रकार निरादर करके उनकी रक्षाका प्रयत्न करना योग्य नहीं है। जिस प्रकार बडे प्रतिष्ठित पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले रक्षक उचित अन्तरपर रहते हुए उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी रक्षा भी उनकी सुयोग्य प्रतिष्ठा करते हुए करना चाहिये।

इस मंत्रमें और अगले छटे मंत्रमें ' अन्तरिक्ष ' शब्द ' अन्दरका भाव ' इस अर्थमें आया है। अन्तरिक्ष लोकका ही अंश अपने शरीरमें अपना अन्तःकरण है। मानो, यहांका यह शब्द अन्तःकरणका हीं वाचक है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ कार्य करना हो वह अन्तःकरणसे ही करना चाहिये। ऊपर ऊपरसे किया हुआ कार्य निष्फल होता है और अन्तःकरण लगाकर किया हुआ कार्य सुफल होता है। इस सूचनाका विचार पुरुषार्थ करनेवाले पाठक अवश्य करें। मनुष्यका अभ्युदय अन्तःकरणके सद्भावपूर्वक किये हुए कर्मसे ही होगा, अन्य मार्ग नहीं है।

वत्सां इह रक्ष। (सू. ३८, मं. ६)

' पुत्रीकी यहां रक्षा कर। ' पुत्रीकी रक्षाका उत्तम प्रबंध करना चाहिये। पुत्रीकी रक्षा होनेसे ही आगे वह पुत्री सुयोग्य और सुशील धर्मपत्नी अथवा स्त्री या माता हो सकती है। आजकल पुत्रीका जन्म होते ही घरका सब परिवार दुःखी होता है और प्रायः पुत्रीका उन्नतिका विचार लोग नहीं करते, ऐसे लोगोंको वेदका यह उपदेश अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये। जगत्की स्थिति और सन्तानपरंपरा स्त्रियोंके कारण होती है, इसलिये स्त्रियोंकी उन्नतिसे सब जगत्का कल्याण होना संभव है। माता स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ है, फिर माताके बालपनमें उसकी रक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम होना चाहिये इसमें संदेह ही क्या हो सकता है?

वत्स शब्द जिस प्रकार पशुके बच्चोंका वाचक है उसी प्रकार मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक है। प्रेमसे पुत्रको वत्स और पुत्रीको वत्सा कहते हैं। इसलिये इस षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंकी कन्याओंका वाचक और सप्तम मंत्रका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछियोंका वाचक मानना उचित है। सप्तम मंत्रमें बछडेके लिये घास और उसको उत्तम गोशालामें बांधनेका वर्णन होनेसे वहांका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछडी है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु षष्ठ मंत्रका वत्सा शब्द मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक मानना योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्योंके बालबच्चोंकी सुरक्षितताका प्रयत्न मनसे करना चाहिये उसी प्रकार गाय, घोडे आदि पाले हुए जानवरोंके बछडोंका भी पालनका प्रबंध उत्तम करना चाहिये। जिस प्रेमसे घरके लोग अपने बच्चोंका पालन करते हैं उसी प्रेमसे पशुओंके संतानोंका भी पालन किया जाय, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। उनके घासका प्रबंध उत्तम हो, उनके जलपानका प्रबंध उत्तम हो, उनके रहनेका स्थान प्रशस्त हो, तथा उनके स्वास्थ्यका भी उचित प्रबंध किया जावे। तात्पर्य पाले हुए पशुओंको भी अपनी संतानके समान मानकर उनपर वैसा ही प्रेम करना चाहिये।

यह सूक्त अपना प्रेम पशुओंतक पहुंचानेका इस ढंगसे उपदेश दे रहा है। प्रेम जितना बढेगा और चारों ओर फैलेगा उतना अहिंसाका भाव विस्तृत हो जायगा। वैदिक धर्मका अन्तिम साध्य पूर्ण अहिंसाका भाव मनमें स्थिर करना है, वह इस रीतिसे निःसंदेह सिद्ध होगा।

स्त्रीका आदर, स्त्रीके अन्दर शुभ गुणोंका विकास करनेकी रीति, स्त्रीकी रक्षा, पुत्रीकी रक्षा और बछडोंकी रक्षा आदि अनेक उपयोगी विषय इस सूक्तमें आगये हैं। पाठक इन सब मंत्रोंका अधिक मनन करके योग्य बोध प्राप्त करें और उस बोधको अपने जीवनमें ढालकर अपनी उन्नति करें।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता - नानादेवताः । संनतिः ।)

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥
पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः । सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥
अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ— (पृथिव्यां अग्नये समनमन्) पृथिवीपर अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (सः आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा पृथिव्यां अग्नये समनमन्) जिस प्रकार पृथिवीमें अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ १ ॥

(पृथिवी धेनुः) भूमि धेनु है (तस्याः अग्निः वत्सः) उसका अग्नि बछडा है । (सा अग्निना वत्सेन) वह भूमि अग्निरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल इच्छाके अनुसार देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं । (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(अन्तरिक्षं धेनुः) अन्तरिक्ष धेनु है (तस्याः वायुः वत्सः) उसका बछडा वायु है । (सा वायुना वत्सेन) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे, (स्वाहा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर अग्निको सन्मान मिलता है क्योंकि वह तेजस्वी है, जिस प्रकार पृथ्वीपर अग्नि संमानित होता है उस प्रकार मैं तेजस्वी बनकर सदा संमानित होऊं ॥ १ ॥

पृथ्वीरूपी गौका अग्नि बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें वायुका संमान होता है क्योंकि उसमें बल बढा हुआ है । बलके बढनेसे जैसा वायुका संमान होता है, उसी प्रकार बलके कारण मेरा भी संमान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षरूपी धेनुका वायु बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

दिव्या॒दि॒त्याय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् ।
यथा॑ दि॒व्या॒दि॒त्याय॑ स॒मन॑म॒न्नेवा मह्यं॑ सं॒नम॒ः सं न॑मन्तु ॥ ५ ॥
द्यौर्धे॒नुस्तस्या॑ आदि॒त्यो व॒त्सः । सा मे॑ आदि॒त्येन॑ व॒त्सेनेष॒मूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयुः॑ प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥ ६ ॥
दि॒क्षु च॒न्द्राय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् ।
यथा॑ दि॒क्षु च॒न्द्राय॑ स॒मन॑म॒न्नेवा मह्यं॑ सं॒नम॒ः सं न॑मन्तु ॥ ७ ॥
दिशो॑ धे॒नव॒स्तासां॑ च॒न्द्रो व॒त्सः । ता मे॑ च॒न्द्रेण॑ व॒त्सेनेष॒मूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयुः॑ प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥ ८ ॥
अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट ऋषी॑णां पु॒त्रो अ॑भिशस्ति॒पा उ॑ ।
न॒म॒स्का॒रेण॒ नम॑सा ते जुहोमि॒ मा दे॒वानां॑ मिथु॒या क॑र्म भा॒गम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (दिवि आदित्याय समनमन्) द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख सब नम्र होते हैं । (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख नम्र होते हैं (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे संमान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

(द्यौः धेनुः) द्युलोक धेनु है (तस्याः आदित्यो वत्सः) उसका सूर्य बछडा है । (सा मे आदित्येन वत्सेन) वह मुझे सूर्यरूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तति, पुष्टि और धन अर्पण करे । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ६ ॥

(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं । (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जैसे दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इसी प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ७ ॥

(दिशः धेनवः) दिशाएं गौएं हैं (तासां चन्द्रो वत्सः) उनका बछडा चन्द्र है । (ताः मे चन्द्रेण वत्सेन) वे मुझे चन्द्ररूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल जितना चाहिये उतना देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन अर्पण करें । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ८ ॥

(अग्नौ अग्निः प्रविष्टः चरति) विशाल परमात्माग्निमें जीवात्मारूपी अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है । वह (ऋषीणां पुत्रः) इंद्रियोंको पवित्र करनेवाला है और (अभिशस्ति-पा उ) विनाशसे बचानेवाला भी है । (ते नमसा नमस्कारेण जुहोमि) तुझे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हूं । (देवानां भागं मिथुया मा कर्म) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्याचारसे कोई न बचावे ॥ ९ ॥

भावार्थ— द्युलोकमें सूर्यका संमान होता है क्योंकि वह बडा प्रकाशमान है । प्रकाशित होनेसे जैसा सूर्यका सम्मान होता है उसी प्रकार तेजस्विताके कारण मेरा सम्मान बढे ॥ ५ ॥

द्युलोकरूपी धेनुका सूर्य बछडा है उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि, और धन प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दिशाओंमें चन्द्रमाका संमान होता है क्योंकि उसमें शान्ति बढ गई है । जिस शान्तिके कारण चन्द्रमाकी प्रशंसा सब दिशाओंमें होती है उस शान्तिके कारण मेरा भी संमान होवे ॥ ७ ॥

दिशारूपी गौओंका चन्द्रमा बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घायु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ८ ॥

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥ १० ॥

अर्थ— हे (जातवेदः देव) जन्मे हुए पदार्थोंको जाननेवाले देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब कर्मोंको जाननेवाला है । हे (जातवेदः) जाननेवाले ! (मनसा हृदा पूतं) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख हैं (तेभ्यः जुहोमि) उनके लिये समर्पण करता हूं (सः हव्यं जुषस्व) उस हविका तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ— परमात्मारूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है । यह जीवात्माकी अग्नि इंद्रियोंकी पवित्रता करनेवाली और गिरावटसे बचानेवाली है । इंद्रियरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या व्यवहारसे दूषित न हो इसलिये मैं उन अग्नियोंकी नमस्कार द्वारा उपासना करता हूं ॥ ९ ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है । इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूं, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे ही हो सकती है । यह सद्गुणोंकी वृद्धि मनुष्योंमें करनेके हेतुसे वेदने अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, इस सूक्तमें इसी उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढानेका उपदेश किया है । देवताओंमें जिन गुणोंकी प्रधानता होती है वे गुण मनुष्यमें बढने चाहिये । इन देवताओंके गुण देखिये—

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता	शब्द
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	प्राण
द्यु	सूर्य	प्रकाश	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति	मन

लोक, देवता और गुण ये हैं । देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूपमें दिखाई देते हैं इसका भी पता इससे ज्ञात हो सकता है । मनुष्यका प्रभाव बढना हो तो इन गुणोंके सत्वकी वृद्धि होनेसे ही बढ सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है । पृथ्वी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाको इसलिये प्राप्त हुआ है कि उसमें उष्णता और तेजस्विता बढी हुई है, वह अपनी दाहक शक्तिसे सबको जला सकता है, इसलिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है । यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढाना है तो उसको भी अपने अन्दर तेजस्विता बढाना चाहिये । तेजस्विता बढनेसे उसका सम्मान अवश्य बढेगा ।

इसी प्रकार अन्तरिक्षमें वायुका महत्व विशेष है क्योंकि वह सबको जीवन, बल और गति देता है । मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर बल बढावे और अपना जीवन उत्तम करे । दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब हलचलोंका प्राण बनकर रहे । जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढावेगा वह सम्मानित हो जायगा ।

द्युलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बडा है क्योंकि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है । इसके सन्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होते हैं । यह ऐसा प्रकाशमान होनेसे उसका सम्मान सब करते हैं । जो मनुष्य अपना महत्त्व बढाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश बढावे, और सूर्यके समान ग्रहोपग्रहोंमें मुख्य बने ।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है । जिस मनुष्यमें शांति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढती है । इस प्रकार इन देवताओंसे मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है । उन्नतिका मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है । इस सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, सन्तति, पुष्टि और धन जितना चाहिये उतना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर इन गुणोंकी वृद्धि करें; तत्पश्चात् धनादिकी प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी ।

इस सूक्तके आठ मन्त्रोंमें यह उपदेश दिया है । आगेके नवम और दशम मन्त्रोंमें आत्मशुद्धि करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाता है—

परमात्माकी उपासना।

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इसलिये नवम मंत्रमें वह उपासना बताथी है—

अग्नौ अग्निश्चरति प्रविष्टः। (सू. ३९, मं. ९)

' बडे विश्वव्यापक अग्निमें एक दूसरा छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है अर्थात् अपने व्यवहार करता है। ' यह बात उपासकको अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये। परमात्माकी विशाल अग्नि संपूर्ण जगत्में जल रही है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, वह भी उसके साथ ही चमक रही है। अपने अन्दर और चारों ओर बाहर भी उस परमात्माग्निका तेज भरा पडा है। जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है। परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूं, इसलिये मैं निर्भय हूं, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है। यह आत्मा कैसा है और उसके गुणधर्म क्या हैं इसका वर्णन भी यहां देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रः, अभिशस्तिपा। (सू. ३९, मं. ९)

' यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है। ' अनेक ऋषियोंका मिलकर यह एक ही पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की, और इसका आविष्कार किया, इसलिये ऋषियोंका पुत्र है, ऐसा माना जाता है। यह इसका एक अर्थ है। इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है। ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ ' इंद्रिय ' है। सप्त ऋषिका अर्थ ' सात इंद्रियां ' है। इन इंद्रियरूपी सप्त ऋषियोंको (पु-त्रः =) नरकसे बचानेवाला यही आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबको उच्च भूमिकामें ले जाता है और हीन अवस्थासे गिरनेसे बचाता है। इसलिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये।

नमस्कारसे उपासना।

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है। नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना सिर झुकाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पण करके ही अपने अन्तर्यामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये—

नमसा नमस्कारेण जुहोमि। (सू. ३९, मं. ९)

' नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूं। ' यहां ' जुहोमि ' शब्द समर्पण अर्थमें है। यज्ञमें हवनका भी यही अर्थ है। अपने पदार्थोंका दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम हवन है। यहां नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना सिर झुकाकर आत्मसमर्पण करनेका भाव यहां है। इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्या व्यवहार होना नहीं चाहिये। क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इसलिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म। (सू. ३९, मं. ९)

' देवोंके प्रीत्यर्थ करनेके कार्यभागको मिथ्याचारसे मत दूषित करना। ' यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है। कई लोग दंभसे संध्या करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं। परंतु वे किसको ठगानेका विचार करते हैं? परमात्माको ठगाना तो असंभव है, क्योंकि वह सब जानता ही है, वह सर्वज्ञ है। इसलिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरोंको ठगानेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगाते हैं और अपनी ही हानि करते हैं। इसलिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएकके मनोगतको तत्काल ही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इसलिये कहा है—

विश्वानि वयुनानि विद्वान्। (सू. ३९, मं. १०)

' सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है। ' मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है। मनुष्यका कर्म बुद्धिमें, मनमें या जगत्में कहां भी होवे, ईश्वर उसी क्षणमें उसको जानता है। इसलिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्या व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मनुष्यको उन्नति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हृदय और मनसे जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (सू. ३९, मं. १०)

' हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्ममें समर्पण करना चाहिये। ' पवित्रतासे उन्नति और मलिनतासे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको स्मरणमें अवश्य रखना चाहिये।

सप्त मुखी अग्नि।

पूर्वोक्त स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा ये दो अग्नि हैं ऐसा कहा है। अग्नि ' सप्तास्य ' अर्थात् सात मुखवाला होता है। यहां भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया ही है। यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्चज्ञानेंद्रिय और

मन तथा बुद्धि ये इसके सात मुख हैं। बुद्धिसे ज्ञान, मनसे मनन, और अन्य पञ्चज्ञानेंद्रियोंसे पञ्च विषयोंका ग्रहण यह करता है, मानो, इस आत्माग्निमें ये पांच ऋत्विज हवन कर रहे हैं, अथवा इन सात मुखोंसे यह आत्मा अपना भक्ष्य खा रहा है, अथवा अपना भोग्य भोग रहा है। इस विविध प्रकारके कथनका एक ही तात्पर्य है। इसके सातों मुखोंमें हृदयसे और मनसे पवित्र पदार्थोंको अर्पण करना चाहिये—

तव सप्त आस्यानि तत्र हृदा मनसा पूतं जुहोमि।
(सू. ३९, मं. १०)

'तेरे सात मुख हैं, उनमें हृदय और मनसे पवित्र पदार्थोंको ही समर्पण करता हूं।' यह बडा भारी महत्वपूर्ण उपदेश है, आत्मशुद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सातों मुखोंमें पवित्र हव्यका ही हवन करना चाहिये। अर्थात् बुद्धिमें पवित्र ज्ञान, मनमें पवित्र विचार, नेत्रमें पवित्र रूप, कानमें पवित्र शब्द, मुखमें पवित्र अन्न और वाणी, नाकमें पवित्र सुगंध, और चर्ममें पवित्र स्पर्शविषयका हवन होना चाहिये। इस प्रकार सब ही पदार्थ अत्यन्त पवित्र रूपमें अपने अन्दर जाने लगे तो अन्दरका संपूर्ण वायुमण्डल परिशुद्ध हो जायगा और आत्मशुद्धि होती रहेगी। इस प्रकार अपनी शुद्धि होती रही तो अपने परिशुद्ध आत्माके ऐश्वर्यका वर्णन ही क्या करना है! वह इससे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर पूर्ण यशस्वी होगा और इसको इस सूक्तमें कहे ऐश्वर्य निःसन्देह प्राप्त होंगे। इसलिये उदयकी इच्छा करनेवाले पाठक इस मार्गका अवश्य अवलम्बन करें और अपना अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें।

स्वाहा ।

इस सूक्तमें 'स्वाहा' शब्द कई वार आगया है। स्वाहा' का अर्थ है (**स्व+आ+हा**) अपना समर्पण अर्थात् दूसरोंकी भलाई अथवा उन्नतिके लिये अपनी शक्तिका समर्पण करना। इस त्याग भावसे उन्नति होती है। अपनी शक्तिका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका भाव यहां है। सब प्रकारकी उन्नतिके लिये इस त्याग भावकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त पवित्रीकरणके साथ रहनेवाला यह त्याग भाव बडा ही उन्नति साधक होता है। वैयक्तिक क्या और राष्ट्रीय क्या जो भी उन्नति होनी है वह इस त्याग भावके बढनेसे ही होगी। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वेदमें '**स्वा-हा**' शब्द अनेक वार इसीलिये आया है कि वैदिक धर्मियोंके मनपर इस त्याग भावका पक्का परिणाम हो जावे और इसके द्वारा वे इह परलोकमें अपना पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकें।

शत्रुका नाश ।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — शुक्रः । देवता - बहुदैवत्यं ।)

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥
ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) सर्वज्ञ! (**ये पुरस्तात् जुह्वति**) जो सन्मुख रहकर आहुति देते हैं और (**प्राच्याः दिशः अस्मान् अभिदासन्ति**) पूर्व दिशासे हमें दास बनानेका प्रयत्न करते हैं (**ते अग्निं ऋत्वा पराञ्चः व्यथन्तां**) वे अग्निको प्राप्त होकर, पराजित होते हुए कष्ट भोगें। (**एनान् प्रत्यक् प्रतिसरेण हन्मि**) इनका पीछा करके और हमला करके नाश करता हूं ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ! (**ये दक्षिणतः जुह्वति**) जो दक्षिण दिशासे आहुति देते हैं और (**दक्षिणाया दिशः अस्मान् अभिदासन्ति**) दक्षिण दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं, (**ते यमं ऋत्वा पराञ्चः व्यथतां**) वे यमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःखको प्राप्त हों (**एनान्०**) इनका पीछा करके और इनपर हमला करके नाश करता हूं ॥ २ ॥

*

ये प॒श्चाज्जुहु॑ति जातवेदः प्र॒तीच्या॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
वरु॑णमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ३ ॥
य उ॑त्तर॒तो जुहु॑ति जातवेद॒ उदी॑च्या दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
सोम॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ४ ॥
येऽ॑धस्ता॒ज्जुहु॑ति जातवेदो ध्रु॒वाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
भूमि॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ५ ॥
येऽ॑न्तरि॑क्षा॒ज्जुहु॑ति जातवेदो व्य॒ध्वाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
वा॒युमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ६ ॥
य उ॒परि॑ष्टा॒ज्जुहु॑ति जातवेद ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
सूर्य॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ७ ॥
ये दि॒शाम॑न्तर्दे॒शेभ्यो॒ जुहु॑ति जातवेदः सर्वा॑भ्यो दि॒ग्भ्यो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् ।
ब्रह्म॒र्त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान्प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ८ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः । इति नवमः प्रपाठकः ॥

॥ इति चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ— हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पीछेकी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं ऋत्वा०) सोमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःख भोगें। मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूं ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अधस्तात् जुह्वति) जो नीचेकी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायां दिशः०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायां दिशः०) विशेष मार्गवाली दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उपरिष्टात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वाया दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये दिशां अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें। मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूं ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश।

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिकार करना चाहिये। जो शत्रु होते हैं वे पीछेसे, आगेसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते। ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बडा कठिन कार्य है। इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बडे धर्मभावका ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं। ये शत्रु (जुह्वति) हवन करनेका यत्न करते हैं, यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अंदर अंदरसे नाश करनेकी तयारी करते हैं। हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ- अर्थात् मांस आदिक- प्रयुक्त करते हैं कि जिनसे देशमें रोगोंकी उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे। यज्ञका और हवनका ढोंग रचकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बडा नाश होता है। विधिपूर्वक किये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढानेवाले होते हैं, परंतु ऐसे विधिहीन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं। ढोंग बढाकर नाश करनेके प्रकार इससे भी और अनेक हैं, पाठक उसका विचार यहां करें। कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं उन सबका यहां विचार करना चाहिये। ऐसे शत्रुओंका नाश करना बडा कठिन होता है, परंतु इनका नाश तो अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि खुला हमला करनेवाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बडे घातक होते हैं। इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहा है। इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्टक देखिये—

दिशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना।
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय
ध्रुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंको आधार देना
अन्तरिक्ष	वायु	बल, जीवन	बलका उपयोग
ऊर्ध्वा	सूर्य	प्रकाश	प्रेरणा करना

दिशाओंके अनेक देवताओंके ये गुणकर्म देखनेसे मनुष्यको पता लग सकता है कि, अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञानका नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये। जो इस ज्ञानसंवर्धनके कर्ममें विरोध करेंगे उनको दण्ड देना चाहिये और फिर कभी विरोध न करें ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये। इतना करनेपर भी जो शत्रुता करेंगे उनका सुप्रबंधद्वारा निवारण करना चाहिये। सबसे प्रथम शान्तिके उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कार्यमें असफलता हुई तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निःश्रेयसका मार्ग खुला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उनके शत्रु दूर होंगे और फिर रुकावटें उत्पन्न करनेवाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जायंगे। शत्रु कैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेका साधन अपने पास पहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये। अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बलसे उसका निवारण करना चाहिये। इसी प्रकार जिन शस्त्रोंको लेकर शत्रु हमपर हमला करेगा, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये। ऐसा शत्रु दूर करनेका प्रबंध होता रहा, तो ही जनतामें शान्ति प्रगति और उन्नति हो सकती है। देश शत्रुरहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निःश्रेयस प्राप्त होना संभव है। शत्रुके हमले हमले वारंवार होते रहे तो उन्नति साधना असंभव है।

इसलिये कायावाचामनसे तथा अपने पासके अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये। और अपना आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढाना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु ठहर ही न सकें।

॥ यहां अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थ काण्डमें विषय।

अथर्ववेदके इस चतुर्थ काण्डमें कुल ४० सूक्त हैं। इन चालीस सूक्तोंमें विषय क्रमानुसार सूक्तोंकी व्यवस्था इस प्रकार है। सबसे प्रथम परमात्मविषयक सूक्तोंको देखिये—

परमात्मविषयक सूक्त।

सूक्त १- ' **ब्रह्मविद्या** '- इस सूक्तमें गूढ अध्यात्मविद्याका विचार हुआ है।

सूक्त २- ' **किस देवताकी उपासना करें** '- इस सूक्तमें यह प्रश्न उठाकर एक अद्वितीय परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है।

सूक्त ११- ' **विश्वशकटका चालक** '- इसमें जगत्-रूपी रथका चालक एक ईश्वर है ऐसा कहा है।

सूक्त १४- ' **आत्मज्योतिका मार्ग** '- इस सूक्तमें परम आत्माकी ज्योति प्राप्त करनेका विषय है।

सूक्त १६- ' **सर्वसाक्षी प्रभु** '- इसमें सब जगतके अधिष्ठाता परमात्माका वर्णन है।

इस काण्डमें ये पांच सूक्त परमात्मविषयक हैं। जो पाठक इसको जानना चाहते हैं वे इन सूक्तोंका अच्छा मनन करें।

पाप मोचन।

सूक्त २३ से २९ तकके सात सूक्तोंमें पाप नाशनका विषय बडा मनोरंजक रीतिसे वर्णन किया है। इसके साथ सूक्त ३३ भी पाप नाशन विषयका प्रतिपादन कर रहा है। इन सूक्तोंका मनन करनेसे पापको दूर करने द्वारा आत्मशुद्धि करनेकी रीतिका ज्ञान हो सकता है। आत्मशुद्धि होनेसे ही परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग मिलना संभव है।

राज्यशासन।

इस चतुर्थ काण्डमें राज्यशासन विषयक सूक्त निम्नलिखित है—

सूक्त ३- ' **शत्रुओंको दूर करना** '- इसमें शत्रुको हटानेका उपाय कहा है।

सूक्त ४- ' **बलसंवर्धन** '- इसमें बल बढानेका विषय है।

सूक्त ८- ' **राजाका राज्याभिषेक** '- इसमें राजाका राज्याभिषेकका वर्णन और कौन राजा हो सकता है, इसका भी वर्णन है।

सूक्त ३०- ' **राष्ट्री देवी** '- इस सूक्तमें राष्ट्ररूपी देवीका वर्णन करके राष्ट्रशक्तिका महात्म्य दर्शाया है।

सूक्त २२- ' **क्षात्रबल संवर्धन** '- इस सूक्तमें क्षात्र-बलका संवर्धन करके राष्ट्र बलवान् करनेका उपदेश है।

सूक्त ४०- ' **शत्रुका नाश** '- इसमें शत्रुका नाश करनेका विषय है। इन छः सूक्तोंमें राज्यशासनका विषय आगया है।

वैद्यक विषय।

इस काण्डके निम्नलिखित सूक्तोंमें वैद्यक विषय है।

सूक्त ६-७- ' **विषको दूर करना** '- इन दो सूक्तोंमें विषचिकित्सा है।

सूक्त ९- ' **अञ्जन** '- इसमें अंजनका विषय है।

सूक्त १०- ' **शंखमणि** '- इसमें शंखसे चिकित्सा कर-नेका उपदेश है।

सूक्त १२ में ' **रोहिणी** ', सूक्त १७-१९ तक ' **अपा-मार्ग** ', सूक्त २० में ' **मातृनाम्नी** ', सूक्त ३७ में ' **रोग-कृमिका नाश** ', सूक्त १३ में ' **हस्तस्पर्शसे रोग-निवारण** ' का अद्भुत मनोरंजक विषय कहा है। इन ११ सूक्तोंका विचार करनेसे इस काण्डकी वैद्यक विद्या जानी जा सकती है। सूक्त ५ में ' **गाढनिद्रा** ' का विषय है इसका भी इसी विषयसे सम्बन्ध है।

गोपालन।

सूक्त २१ में ' **गौ पालन** ' का विषय कहा है, गौके सम्बन्धका प्रेम रखनेवालोंको यह सूक्त बडा ही बोधप्रद है। सूक्त १५ में ' **वृष्टि** ' विषय है।

गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको सूक्त ३८ का ' **उत्तम गृहिणी स्त्री** ' यह विषय अत्यन्त बोधप्रद है। विशेष कर स्त्रियोंको इसका बहुत मनन करना चाहिये। सूक्त ३९ में ' **समृद्धिकी प्राप्ति** ' यह विषय भी गृहस्थियोंके हितका विषय है। सूक्त ३४ में ' **अन्नका यज्ञ** ' यह विषय गृहस्थियोंका ही है।

मृत्युको पार करना।

सूक्त ३५ में ' **मृत्युको तरना,** ' सूक्त ३६ में ' **सत्यका बल** ' ये विषय हरएक मनुष्यके लिये सहायक हैं। इसी प्रकार सूक्त ३१-३२ इन दो सूक्तोंमें ' **उत्साह** ' विषय हरएक मनुष्यके लिये आवश्यक हैं।

इस प्रकार इन सूक्तोंके वर्ग हैं। इन सूक्तोंको इकट्ठा पढनेसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि वेद विचार करने-वाले पाठक इस रीतिसे विचार करके लाभ उठावेंगे।

॥ चतुर्थ काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

चतुर्थ काण्डकी विषयसूची



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

पञ्चमं काण्डम् ।

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी

*

संवत् २०१७, शक १८८२, सन् १९६०

प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय-मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) '
पारडी [जि. सुरत]

*

शक १८८२, संवत् २०१७, ई स. १९६०

*

तृतीय वार

*

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय-मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) '
पारडी [जि. सुरत]



अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।]

पञ्चम काण्ड।

इस पञ्चम काण्डमें भी प्रारंभका सूक्त मंगलवाचक ही है, क्योंकि इसमें जगदाधार सर्वमंगलमय परमात्मप्राप्तिके मार्गका वर्णन हुआ है। इससे अधिक मंगलमय उपदेश और क्या हो सकता है? इस मंगल सूक्तका मनन पाठक यहां करेंगे, तो उनके विचार मंगल बनेंगे और उनके लिये सभी विश्व मंगलमय बनेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस काण्डमें ६ अनुवाक, ३१ सूक्त और ३६७ मंत्र हैं। यहां क्रमपूर्वक पांचों कांडोंकी प्रपाठक-अनुवाक-सूक्त-मंत्र संख्या देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	कुल सूक्त	सूक्तमें मंत्रसंख्या	कुल मंत्रसंख्या
प्रथम	२	६	३५	४	१५३
द्वितीय	२	६	३६	५	२०७
तृतीय	२	६	३१	६	२३०
चतुर्थ	३	८	४०	७	३२४
पञ्चम	३	६	३१	८	३७६

इस तालिकाको देखनेसे पता लगता है कि अनुवाक और सूक्तोंकी संख्या करीब समान रहनेपर भी काण्डोंमें मंत्रोंकी संख्या क्रमसे बढ रही है। इस कारण प्रत्येक सूक्तकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है। अर्थात् जहां प्रथम काण्डमें चार मंत्रवाले सूक्त हैं वहां इस पञ्चम काण्डमें आठ या नौ मंत्रवाले सूक्त हैं। इस कारण काण्डकी मंत्रसंख्या बढती है। यद्यपि इस पंचम कांडकी प्रकृति ८ मंत्रवाले सूक्तोंकी कही जाती है, तथापि इसमें निम्न लिखित प्रकार सूक्तोंकी मंत्रसंख्या है—

इस पंचम काण्डमें	८	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	१६	है।
इस पंचम काण्डमें	९	मंत्रवाले	४	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३६	है।
इस पंचम काण्डमें	१०	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	२०	है।
इस पंचम काण्डमें	११	मंत्रवाले	६	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	६६	है।
इस पंचम काण्डमें	१२	मंत्रवाले	५	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	६०	है।
इस पंचम काण्डमें	१३	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३९	है।
इस पंचम काण्डमें	१४	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	४२	है।
इस पंचम काण्डमें	१५	मंत्रवाले	३	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	४५	है।
इस पंचम काण्डमें	१७	मंत्रवाले	२	सूक्त हैं,	जिनकी मंत्रसंख्या	३४	है।
इस पंचम काण्डमें	१८	मंत्रवाला	१	सूक्त है,	जिसकी मंत्रसंख्या	१८	है।
		कुल सूक्त	३१		कुल मंत्र	३७६	

अर्थात् इस पंचम काण्डमें आठ मंत्रोंके प्रकृतिवाले सूक्त केवल दो हैं और अन्य सूक्तोंमें अधिक मंत्र होनेके कारण ऐसे विकृति सूक्त २९ हैं। अब इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१ प्रथमोऽनुवाकः। (दशमः प्रपाठकः)				
१	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; ५ पराबृहती त्रिष्टुप्; ७ विराट्; ९ त्र्यव० षट्प० अत्यष्टिः।
२	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; ९ भुरिक्परातिजगती।
३	११	बृहद्दिवोऽथर्वा	१, २ अग्निः; ३,४ देवाः; ५ द्रविणोदाः; ६, ९, १० विश्वेदेवाः; ७ सोमः; ८, ११ इन्द्रः।	त्रिष्टुप्; २ भुरिक्; १० विराड्जगती।
४	१०	भृग्वंगिरा	कुष्ठः	अनुष्टुप्; ५ भुरिक्; ६ गायत्री; १० उष्णिग्गर्भानिचृत्।
५	९	अथर्वा	लाक्षा	अनुष्टुप्
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	१४	अथर्वा	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप्; ३ जगती; ४ अनुष्टुवुष्णिक्त्रिष्टुब्गर्भा पंचपदा जगती; ५-७ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री; ८ एकावसाना द्विपदा आर्च्यनुष्टुप्; १० प्रस्तारपंक्तिः; ११-१४ पंक्तिः; १४ स्वराट्।
७	१०	अथर्वा	बहुदैवत्यं	अनुष्टुप्; १ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः; ४ पथ्याबृहती; ६ प्रस्तार पंक्तिः।
(एकादशः प्रपाठकः)				
८	९	अथर्वा	नानादैवत्यं	अनुष्टुप्; २ त्र्यवसानाषट्पदाजगती; ३, ४ भुरिक्पथ्यापंक्तिः; ६ प्रस्तारपंक्तिः, ७ द्व्युष्णिग्गर्भापथ्यापंक्तिः; ९ त्र्यव०षट्० द्व्युष्णिग्गर्भा जगती।
९	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१,५ दैवी बृहती; २, ६ दैवी त्रिष्टुप्; ३, ४ दैवी जगती; ७ विराडुष्णिग्बृहतीगर्भा पंचपदा जगती; ८ पुरस्कृति त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा चतुष्पदा त्र्यवसाना जगती।
१०	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१-६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री; ७ यवमध्या ककुब्; ८ पुरोधृति द्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिस्त्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
३ तृतीयोऽनुवाकः।				
११	११	अथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ३ पंक्ति; ६ पञ्चपदातिशक्वरी; ११ त्र्यव० षट्पदात्यष्टिः।
१२	११	अंगिराः	जातवेदाः	त्रिष्टुप्; ३ पंक्तिः।
१३	११	गरुत्मान्	तक्षकः। विषं	जगती; २ आस्तारपंक्तिः; ४, ७-८ अनुष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ९ भुरिक्; १०-११ निचृद्गायत्री।
१४	१३	शुक्रः	वनस्पतिः (कृत्याप्रतिहरणं)	अनुष्टुप्; ३, ५, १२ भुरिक्; ८ त्रिपदा विराट्; १० निचृद्बृहती; ११ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्; १३ स्वराट्।
१५	११	विश्वामित्रः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; पुरस्ताद्बृहती; ५, ७-९ भुरिक्।
४ चतुर्थोऽनुवाकः। (द्वादशः प्रपाठकः)				
१६	११	विश्वामित्रः	एकवृषः	[एकावसानं द्विपदं.] १, ४-५, ७-१० साम्नी उष्णिग्; २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्; ११ आसुरी गायत्री।
१७	१८	मयोभूः	ब्रह्मजाया	अनुष्टुप्; १-६ त्रिष्टुप्।
१८	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक्।
१९	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ७ उपरिष्टाद्बृहती।
२०	१२	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	त्रिष्टुप्; १ जगती।
२१	१२	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	अनुष्टुप्; १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः, ६ जगती; ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्; १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री।
५ पञ्चमोऽनुवाकः।				
२२	१४	भृग्वंगिरा	तक्मनाशनं	अनुष्टुप्; १, २ त्रिष्टुप् (१ भुरिक्); ५ विराट् पथ्याबृहती।
२३	१३	कण्वः	इन्द्रः	अनुष्टुप्; १३ विराट्।
२४	१७	अथर्वा	आत्मा नानादेवताः	शक्वरी; १-१७ चतुष्पदातिशक्वरी; ११ शक्वरी; १५-१७ त्रिपदा (१५, १६ भुरिगतिजगती; १७ विराट् शक्वरी)
२५	१३	ब्रह्मा	योनिगर्भः	अनुष्टुप्; १३ विराट् पुरस्ताद्बृहती।
२६	१२	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः मंत्रोक्तदेवताः	१, ५ द्विपदार्च्युष्णिग्; २, ४, ६-८ १०, ११ द्विपदा प्राजापत्या बृहती; ३ त्रिपदा विराड् गायत्री; ९ त्रिपदापिपीलिकमध्या पुर उष्णिक्; १-११ एकावसाना; १२ परातिशक्वरी चतुष्पदा जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
	६ षष्ठोऽनुवाकः।			
२७	१२	ब्रह्मा	अग्निः	१ बृहती गर्भात्रिष्टुप्, २ द्विपादा साम्नी भुरिगनुष्टुप्; ३ द्विपदार्षी बृहती; ४ द्विपदा साम्नी भुरिग्बृहती; ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ६ द्विपाद्विराण्नाम गायत्री; ७ द्विपात्साम्नी बृहती; ८ संस्तारपंक्तिः; ९ षट्पदानुष्टुब्गर्भा पराति जगती; १०-१२ पुरउष्णिक्।
२८	१४	अथर्वा	त्रिवृत्	त्रिष्टुप्; ६ पञ्चपदातिशाकरी; ७, ९, १०, १२ ककुम्मत्यनुष्टुभ्; १३ पुरउष्णिक्।
२९	१५	चातनः	जातवेदाः मंत्रोक्तदेवता	त्रिष्टुप्; ३ त्रिपदा विराण्नामगायत्री; ५ पुरोतिजगती विराड्जगती; १२-१५ अनुष्टुप्। (१२ भुरिक्; १४ चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती)
३०	१७	उन्मोचनः (आयुष्यकामः)	आयुः	अनुष्टुप्; १ पथ्यापंक्तिः, ९ भुरिक्; १२ चतुष्पदा विराड् जगती, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती।
३१	१२	शुक्रः	कृत्यादूषणं	अनुष्टुप्; ११ बृहतीगर्भा; १२ पथ्याबृहती।

इस प्रकार इस पञ्चम काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं; अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ अथर्वा ऋषिके ५-८, ११, २४, २८ ये सात सूक्त हैं।
२ ब्रह्मा ऋषिके ९, १०, २०, २१, २५-२७ ये सात सूक्त हैं।
३ बृहद्दिवोऽथर्वा ऋषिके १-३ ये तीन सूक्त हैं।
४ मयोभूः ऋषिके १७-१९ ये तीन सूक्त हैं।
५ भृग्वंगिराः ऋषिके ४, २२ ये दो सूक्त हैं।
६ शुक्रः ऋषिके १४, ३१ ये दो सूक्त हैं।
७ विश्वामित्रः ऋषिके १५, १६ ये दो सूक्त हैं।
८ अंगिराः ऋषिका १२ वां एक सूक्त है।
९ गरुत्मान् ऋषिका १३ वां एक सूक्त है।
१० कण्वः ऋषिका २३ वां एक सूक्त है।
११ चातनः ऋषिका २९ वां एक सूक्त है।
१२ उन्मोचन ऋषिका ३० वां एक सूक्त है।

इस प्रकार बारह ऋषि नामोंके साथ इस काण्डका संबंध है। पहिले काण्डसे लेकर इस काण्डतक कितने ऋषियोंके नामोंका संबंध प्रत्येक काण्डसे आ गया है, यह देखिये—

प्रथम काण्ड के साथ ८ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
द्वितीय काण्ड के साथ १७ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
तृतीय काण्ड के साथ ८ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
चतुर्थ काण्ड के साथ १७ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।
पञ्चम काण्ड के साथ १२ ऋषियोंके नामोंका संबंध है।

अब देवतावार मंत्रोंका विभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ वरुण देवताके	१, २, ११	ये तीन सूक्त हैं।
२ वास्तोष्पति देवताके	९, १०, २६	ये तीन सूक्त हैं।
३ अग्नि देवताके	३, २७	ये दो सूक्त हैं।
४ वनस्पति देवताके	१४, १५	ये दो सूक्त हैं।
५ जातवेदा देवताके	१२, २९	ये दो सूक्त हैं।
६ ब्रह्मगवी देवताके	१८, १९	ये दो सूक्त हैं।
७ दुंदुभि देवताके	२०, २१	ये दो सूक्त हैं।
८ नानादेवताः देवताके	८, २४	ये दो सूक्त हैं।
९ मन्त्रोक्ताः देवताके	२६, २९	ये दो सूक्त हैं।
१० बहुदेवताः देवताका	७	यह एक सूक्त है।
११ कुष्ठः देवताका	४	यह एक सूक्त है।
१२ लाक्षा देवताका	५	यह एक सूक्त है।
१३ सोमारुद्रौ देवताका	६	यह एक सूक्त है।
१४ तक्षकः देवताका	१३	यह एक सूक्त है।
१५ विषं देवताका	१३	यह एक सूक्त है।
१६ एक वृषः देवताका	१६	यह एक सूक्त है।
१७ ब्रह्मजाया देवताका	१७	यह एक सूक्त है।
१८ तक्मनाशनं देवताका	२२	यह एक सूक्त है।
१९ इन्द्रः देवताका	२३	यह एक सूक्त है।
२० आत्मा देवताका	२४	यह एक सूक्त है।
२१ योनिगर्भः देवताका	२५	यह एक सूक्त है।
२२ त्रिवृत देवताका	२८	यह एक सूक्त है।
२३ आयुः देवताका	३०	यह एक सूक्त है।
२४ कृत्यादूषणं देवताका	३१	यह एक सूक्त है।

यह देवताक्रमानुसार सूक्तव्यवस्था है। इसमें ' मन्त्रोक्त देवताः, बहुदैवत्यं, बहुदेवताः, नानादेवताः ' ये सब एक ही बातके वाचक शब्द हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि इन सूक्तोंके मंत्रोंमें अनेक देवतायें होती हैं। यदि इन सूक्तोंको पाठक स्वयं देखेंगे तो उनको इस बातका पता लग जायगा। अब इस पञ्चम काण्डके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

सूक्तोंके गण।

१ तक्मनाशन गणके ४, ९, २२ ये तीन सूक्त हैं।

२ वास्तु गणके ९ और १० ये दो सूक्त हैं।

३ रौद्र गणका ६ वां एक सूक्त है।

४ चातन गणका २९ वां एक सूक्त है।

५ आयुष्य गणका ३० वां एक सूक्त है।

६ कृत्याप्रतिहरण गणका ३१ वां सूक्त है।

इस काण्डके सूक्तोंके ये गण हैं और इन गणोंमें इतने ही सूक्त हैं। अन्य सूक्त स्वतंत्र हैं। अन्यपरिगणन इस प्रकार है—

पुष्टिकर्माणि— १, २, ३, २६, २७ ये सूक्त पुष्टिकर्मके हैं।

औषधियोंके विषयमें निम्न सूक्त इस प्रकार परिगणित हुए हैं—

(१) **कुष्ठलिंगाः—** सूक्त ४ था

(२) **लाक्षालिंगाः—** सूक्त ५ वां

(३) **मधुलावृषलिंगाः—** सूक्त १५ वां

अर्थात् इन सूक्तोंमें इन औषधियोंके गुणवर्णन हुए हैं। इस पञ्चम काण्डके अध्ययनके प्रसंगमें पाठक इन विशेष बातोंका स्मरण करेंगे तो उनको विशेष लाभ हो सकता है। इतनी भूमिकाके साथ इस काण्डमें सबसे प्रथमके सूक्तमें कही ' गूढ आत्मोन्नतिकी विद्या ' देखिये।

* *

*

सात मर्यादायें !

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

अथर्ववेद ५।१।६

" तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंने सात मर्यादाएं, अर्थात् पापसे बचने की व्यवस्थाएं, बनाई हैं। उनमेंसे एकका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। परन्तु जो अपने जीवन का आधारस्तम्भ बनता है, अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमों के पालन से जो संयमी हुआ है, वह, समीप स्थित परमात्मा के उस धारक स्थान में, जहां सब मार्ग समाप्त होते हैं, स्वयं स्थिर होता है।"

*

* *



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चमं काण्डम्।

आत्मोन्नतिकी विद्या।

(१) अमृतासुः।

(ऋषिः — बृहद्दिवोऽथर्वा। देवता — वरुणः।)

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥ १ ॥
आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ २ ॥

अर्थ— (**यः अमृत+असुः सुजन्मा**) जो वस्तुतः अमर प्राण शक्तिसे युक्त है, तथापि उत्तम जन्म लेकर (**वर्धमानः**) बढता है और (**ऋधक् + मन्त्रः**) सत्यका मनन करता हुआ (**योनिं आ बभूव**) मूल उत्पत्ति स्थानको प्राप्त होता है, वह (**अदब्ध+असुः**) न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त होकर (**अहा इव भ्राजमानः**) दिनके समान प्रकाशता हुआ (**त्रितः धर्ता त्रीणि दाधार**) रक्षक और धारक होकर तीनोंको धारण करता है ॥ १ ॥

(**यः प्रथमः धर्माणि आससाद**) जो पहिला होकर धर्मोंको प्राप्त करता है, (**ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे**) उससे वह बहुत शारीरिक शक्तियोंको धारण करता है, और (**यः अनुदितां वाचं आ चिकेत**) जो अप्रकट वाणीको जानता है। (**धास्युः प्रथमः योनिं आ विवेश**) धारण करनेवाला पहिला होकर मूल उत्पत्ति स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जो वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, तथापि जन्म लेकर अपनी शक्तिकी वृद्धि करता है और सत्यका पालन करता हुआ अपने मूलस्थानको प्राप्त करता है, इससे अदम्य आत्मिक शक्तिसे युक्त होकर दिनके समान प्रकाशता हुआ रक्षण-शक्ति और धारण-शक्तिसे युक्त होकर अपनी तीनों अवस्थाओंको स्वाधीन करता है ॥ १ ॥

जो अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्मनियमोंका पालन करता है, इस अनुष्ठानसे वह आश्चर्यकारक शक्तियोंका प्रकाश करता है। पश्चात् वह गूढ वाणीको जानता है जिससे वह धारणशक्तिसे युक्त और प्रथम स्थानके लिये योग्य बन कर अपने मूल स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

यस्ते॑ शो॒काय॑ त॒न्वं॑ रि॒रेच॒ क्षर॒द्धिर॑ण्यं॒ शुच॒योऽनु॒ स्वाः ।
अत्रा॑ दधेते अ॒मृता॑नि॒ नामा॒स्मे वस्त्रा॑णि॒ विश॒ एर॑यन्ताम् ॥ ३ ॥

प्र यदे॒ते प्र॑त॒रं पू॒र्व्यं गुः सदः॑सद आ॒तिष्ठ॑न्तो अजु॒र्यम् ।
क॒विः शु॒षस्य॑ मा॒तरा॑ रिहा॒णे जा॒म्यै धुर्यं॒ पति॒मेर॑येथाम् ॥ ४ ॥

तदू॒ षु ते॑ म॒हत्पृ॑थुज्मन्नमः॑ क॒विः काव्ये॑ना कृणोमि ।
यत्स॒म्यञ्चा॑व॒भियन्ता॑व॒भि क्षाम॒त्रा म॒ही रोध॑चक्रे वावृ॒धेते॑ ॥ ५ ॥

स॒प्त म॒र्यादाः॑ क॒वय॑स्ततक्षु॒स्तासा॒मिदेका॑म॒भ्यं॑हु॒रो गा॑त् ।
आ॒योर्ह॑ स्क॒म्भ उ॑प॒मस्य॑ नी॒डे प॒थां वि॑स॒र्गे ध॒रुणे॑षु तस्थौ ॥ ६ ॥

अर्थ— (यः ते शोकाय तन्वं अनु रिरेच) जिसने तेरे प्रकाशके लिये शरीर साथ साथ जोड दिया है, इसलिये कि उससे (स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरत्) अपनी शुद्ध दीप्तियां सुवर्णके समान फैलें। (अत्र अमृतानि नाम दधेते) यहां अमर नामोंको वे धारण करते हैं। अतः (विशः अस्मे वस्त्राणि आ ईरयन्ताम्) प्रजाएं इसके लिये वस्त्र प्रेरित करें ॥ ३ ॥

(यत् एते) जो ये (सदः सदः आतिष्ठन्तः) प्रत्येक धर्म सभामें बैठते हुए (अजुर्यं प्रतरं पूर्व्यं प्र गुः) जरारहित प्राचीन और सबसे पूर्व आत्माको प्राप्त करते हैं। (कविः शुषस्य मातरौ) कवि होकर बलकी मान्यता करनेवाली तथा (जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे) बहिनके लिये धुरीण पालकका वर्णन करनेवालीके समान (आ ईरयेथां) प्रेरणा करती हैं ॥ ४ ॥

हे (पृथु—ज्मन्) हे विशेष गति देनेवाले ईश्वर ! (तत् उ) इसीलिये (कविः) मैं कवि अपने (काव्येन) काव्यके द्वारा (ते सु महत् नमः कृणोमि) तुझे बहुत नमस्कार करता हूं। (यत् सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोध-चक्रे) क्योंकि मिले हुए गतिमान् बडे प्रतिरोधक गतिवाले चक्रोंके समान (अत्र क्षां अभि वावृधेते) यहां पृथ्वीपर दोनों बढते हैं ॥ ५ ॥

(कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः) ज्ञानीजनोंने सात मर्यादायें निश्चित की हैं, (तासां एकां इत् अभिगात) उनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया तो मनुष्य (अंहुरः) पापी होता है। जो निष्पापी (आयोः स्कम्भः ह) आयुका आधार स्तंभ होकर (उपमस्य नीडे) समीपवाले स्थानमें जहां (पथां वि-सर्गे) मार्गोंका फैलाव नहीं है, ऐसे (धरुणेषु तस्थौ) ध्रुव स्थानोंमें रहता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रभुने मनुष्यके अन्तःप्रकाशको चारों ओर फैलानेके लिये उसको अनुकूल शरीर दिये हैं, जिससे वह शुद्ध सुवर्णके समान अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता है, उसीमें सब अमृत यश बतानेवाले नाम सार्थ होते हैं और इसी लिये सब प्रजाएं उसके लिये ही अपने आच्छादक वस्त्र अर्पण करें और स्वयं पर्दा हटाकर उसके सन्मुख खडी हो जांय ॥ ३ ॥

जो मनुष्य प्रत्येक धर्मकृत्यमें आदरसे भाग लेते हैं, और उसमें अजर अमर पुराणपुरुषका आदर करते हैं। वे अतीन्द्रियार्थदर्शी और बलके प्रेमी बनकर अपनी बहिनके पतिका आदर करनेके समान आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करते हैं ॥ ४ ॥

हे सबके संचालक ईश्वर ! उक्त हेतुसे ही मैं कविकी दृष्टिसे अपनी काव्यमय वाणीके द्वारा तेरा महान् यश गाता हुआ तेरे सन्मुख अत्यंत नम्र होता हूं। विरुद्ध गतिवाले दो चक्र यदि एक ही कार्यके लिये एक केन्द्रमें मिलकर कार्य करने लगे, तो बडी शक्ति उत्पन्न होती है। [यहां जड चेतन ये विरुद्ध गुणधर्मवाले दो पदार्थ तेरे सन्मुख झुक जाते हैं और इस नम्रतासे शक्तिशाली बनते हैं यह तात्पर्य है] ॥ ५ ॥

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वस्तत्सुमद्गुः ।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥
उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये ।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥
अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे असुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् ।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ९ ॥

अर्थ— (व्रतः कृण्वन् अमृत-असुः एमि) व्रतरूप बनकर कर्मोंको करता हुआ और अमर प्राणशक्तिसे युक्त होकर मैं चलता हूं। (तत् आत्मा असुः तन्वः समद्गुः) इससे आत्मा, प्राण और शरीर उत्तम गुणवान् होते हैं। (उत वा शक्रः रत्नं दधाति) और समर्थ बनकर रत्नादि धन धारण करता है। (वा यत् हविर्दाः ऊर्जया सचते) किंवा हवन करनेवाला बलसे युक्त होता है ॥ ७ ॥

(पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे) पुत्र अपने दुःखसे रक्षण करनेवाले पिताकी सहायता चाहता है। (उत मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्) और मर्यादा स्थापन करनेवाले श्रेष्ठको कल्याणके लिये पुकारते हैं। (याः ते वि-स्थाः ता नु दर्शयन्) जो तेरे विशेष स्थान हैं उनको दर्शाता हुआ, हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! (आवर्व्रततः वपूंषि कृणवः) आप ही वारंवार भ्रमण करनेवालेके शरीरोंको करते हैं ॥ ८ ॥

हे (अ-सूर) अमूढ अर्थात् ज्ञानवान्! (पयसा अर्धेन अर्धं पृणक्षि) तू पोषक रससे आधेसे ही आधेकी पूर्णता करता है और (अर्धेन शुष्म वर्धसे) आधेसे बल बढाता है। (अविं शग्मियं) रक्षक और समर्थ (सखायं वरुणं) मित्र और श्रेष्ठ (अदित्याः इषिरं पुत्रं) अदीनताको बढानेवाले और नरकसे बचानेवालेको (वृधाम) बढाते हैं। (सत्य-वाचा रोदसी) सत्यवचनी द्यावापृथिवी (अस्मै कविशस्तानि वपूंषि अवोचाम) इसके कवियों द्वारा प्रशंसित शक्तियोंका वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादायें मनुष्य व्यवहारके लिये निश्चित की हैं, उनमेंसे एकका भी उल्लंघन हुआ तो मनुष्य पापी होता है। परंतु जो निष्पाप रहना चाहता है, वह अपने जीवनको आधारस्तंभ जैसा बनकर अपने समीपस्थित केन्द्रमें, जहां कि विविध मार्ग फैले नहीं होते, ऐसे एकीभूत आधार स्थानमें अचल होकर रहता है ॥ ६ ॥

स्वयं व्रतरूप बनकर अमृतमय जीवनरससे युक्त होता हुआ मैं विचरता हूं, इससे आत्मा, प्राण और तीनों शरीरोंमें विविध शक्तियां बढती हैं और समर्थ होनेसे उत्तम रमणीयता भी प्राप्त होती है। इस प्रकार जो आत्मसमर्पण करते हैं वे बलवान् बनते हैं ॥ ७ ॥

पिता अपनी रक्षा करता है इसलिये हरएक पुत्र पितासे सहायता प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार मर्यादाका आदेश देनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंको भी मनुष्य पुकारते हैं। इन दोनों कारणोंके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रभुकी प्रार्थना करते हैं क्योंकि वह अपने श्रेष्ठ स्थानोंको बताता है और वारंवार शरीर देकर रक्षा भी करता है ॥ ८ ॥

हे सर्वज्ञ प्रभो! तू पोषक रससे हमारे आधे भागको पूर्ण करता है और आधे भागका बल भी तू ही बढाता है। तू रक्षक, समर्थ, मित्र, श्रेष्ठ, अदीनताको बढानेवाला, नरकसे बचानेवाला है; इसलिये तेरा महात्म्य हम गाते हैं। सत्यवचन कहनेवाले इसके प्रशंसनीय शक्तियोंके गुणोंका गान करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मोन्नतिका मार्ग।

आत्माकी शक्ति जिस मार्गसे चलनेसे बढ सकती है उसको आत्मोन्नतिका मार्ग कहते हैं। इस मार्गका उपदेश इस सूक्तमें किया है, इसलिये साधक लोगोंकी दृष्टिसे इस सूक्तका महत्त्व बहुत है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सूक्त बडा ही क्लिष्टसा है, अर्थात् इसकी भाषासे शीघ्र बोध नहीं होता, तथापि विचार करनेपर और पूर्वापर संगति देखनेसे जो बोध मिलता है, वह यहां देते हैं—

आत्माकी उन्नति।

(१) **अमृतासुः— (अ-मृत-असुः)** यह जीवात्मा अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, अर्थात् यह अमर है, कभी मरनेवाला नहीं है। ' अज ' और ' अमर ' ये दो इसके नाम ही हैं। इन नामोंसे यह ' अजन्मा और न मरनेवाला ' है, यह बात सिद्ध होती है। यद्यपि यह वस्तुतः न मरनेवाला और न जन्मनेवाला है, तथापि यह शरीरके जन्मके साथ जन्म लेता है और शरीरके मरनेसे मरता है, ऐसा माना जाता है। इसका वर्णन ' **अजायमानो बहुधा विजायते।** (य. ३१। १९) ' न जन्म लेनेवाला बहुत प्रकार जन्म लेता है अर्थात् यह अजन्मा आत्मा स्वयं अमर प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि जन्ममरणकी अवस्थाका अनुभव लेता है। इस मंत्रमें भी ' **अमृतासुः सुजन्मा** ' अमर जीवन शक्तिसे युक्त होता हुआ भी उत्तम जन्म लेनेवाला, ऐसा इसका वर्णन किया है, इसका हेतु यही है। (मं. १)

(२) **सु-जन्मा—** उत्तम जन्म लेनेवाला। जन्म लेकर उत्तम कार्य करनेवाला। जिसने अपने जन्मको सार्थक किया है। यह आत्मा वस्तुतः अमर और अजन्मा है तथापि यह शरीरके साथ जन्म लेता है, यहां आकर परम पुरुषार्थ करता है और अपने अमरत्वको प्राप्त करता है। (मं. १)

(३) **वर्धमानः—** बढनेवाला। पूर्वोक्त प्रकार परम पुरुषार्थ करता हुआ यह अपनी शक्ति विकसित करता है, अर्थात् नरजन्म प्राप्त करके आत्मोन्नतिके मार्गसे चलकर अपनी अमर और अजर शक्तिकी वृद्धि करता है। (मं. १)

(४) **ऋघङ्+मन्त्रः—** सत्यका मंत्र जपनेवाला। अर्थात् सत्यका पालन करनेवाला, सत्यका मनन अथवा विचार करनेवाला, जब यह होता है, तभी इसकी उन्नति होने लगती है। (मं. १)

(५) **अदब्ध+असु—** न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, यह अदम्य बलसे संपन्न है। पूर्वोक्त प्रकार सत्यका निष्ठासे पालन करनेसे उसका आत्मिक बल बढ जाता है और आत्मिक बलसे ही उसको अपनी अजर अमर और अदम्य आत्मशक्तिका अनुभव होता है। (मं. १)

(६) **भ्राजमानः—** प्रकाशनेवाला। इस समय यह अपने तेजसे चमकता है। सत्यनिष्ठा और आत्मिक बलके कारण मनुष्यका तेज बढ जाता है। (मं. १)

(७) **योनिं आ बभूव—** अपने मूल उत्पत्तिस्थानको प्राप्त होता है। परिघके पास न जाते हुए मध्य केन्द्रमें पहुंचता है। चक्रके परिधमें गति अधिक और केन्द्रमें गति नहीं होती है। इसलिये परिघमें अशान्ति होती है और केन्द्रमें शान्ति रहती है। अतः योगिजन केन्द्रस्थानमें स्थित परमात्मामें प्राप्त होकर शान्ति कमाते हैं और अन्य जन परिघमें आकर महागतिके वेगसे चक्कर खाते रहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारका मुमुक्षु जीव मध्य केन्द्रस्थानमें जाता है और शान्तिका अनुभव करता है।

इस प्रकार यह (त्रितः) रक्षक और (धर्ता) धारक होता है अर्थात् दूसरोंका रक्षण और धारण करता है और (**त्रीणि दाधार**) अपनी स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओंका धारण करता है, अर्थात् इन अवस्थाओंको अपने वशमें करता है। इस प्रथम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेसे निम्नलिखित बोध प्राप्त होता है—

प्रथम मंत्रसे बोध।

अदम्य आत्मशक्तिका तेज।

' मनुष्य अपनी आत्माको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे, नरजन्म प्राप्त होनेके पश्चात् अपने जन्मकी सार्थकता करनेके लिये उत्तम प्रशस्त कर्म करे और अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यका पालन करके अपनी आत्मिकशक्तिकी अदम्यताका अनुभव करके उत्तम प्रकारसे दिनके प्रकाशके समान प्रकाशित होता रहे। अन्तमें स्वयं परमात्माके केन्द्रमें अपना स्थान स्थिर करके जनताका रक्षक और धारक बन कर अपने तीनों अवस्थाओंको अपने आधीन करे। ' (मं. १)

इस मंत्रका तात्पर्य देखनेसे स्वयं पता लगता है कि ' जनताका रक्षण और धारण करनेके बिना अर्थात् जनताके उद्धार के प्रयत्नमें आत्मसमर्पण करनेके बिना अपनी अदम्य आत्मशक्तिका विकास नहीं होगा और आत्मविकासकी अन्तिम भूमिका भी प्राप्त नहीं होगी। ' अस्तु। अब द्वितीय मंत्रका आशय देखिये—

(८) **यः प्रथमः धर्माणि आससाद—** जो पहिला होकर धर्मनियमोंका पालन करता है। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ

बन कर धर्मनियमोंका पालन योग्य रीतिसे करता है और कभी धर्मनियमोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता होने नहीं देता। (मं. २)

(९) ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे— उससे विविध शारीरिक शक्तियोंको वह धारण करता है। 'वपु' का अर्थ शरीर अथवा शरीरकी शक्ति है। मनुष्यके शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन हैं और उनकी तीन शक्तियां हैं। पूर्वोक्त प्रकार धर्मनियमोंका पालन करनेसे मनुष्यकी इन शरीरोंकी शक्ति बढ जाती है, मानो, मनुष्य धर्मनियमोंके पालन द्वारा इन शरीरोंकी विविध शक्तियोंको ही बनाता या बढाता है। (मं. २)

(१०) यः अनुदितां वाचं चिकेत— जो अप्रकट वाणीको जानता है, अर्थात् जो गुह्य वाणीके द्वारा प्रकट होनेवाला संदेश जानता है। जो वाणी मनुष्य बोलते हैं वह व्यक्त अथवा प्रकट किंवा 'उदित वाणी' है। यह व्यक्त वाणी अतिस्थूल है। इसको 'वैखरी' कहते हैं। इसके पूर्व 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' ये तीन गुप्त, गुह्य, अव्यक्त अथवा अनुदित वाणियां हैं। प्रकट वाणीकी अपेक्षा इन गुप्त वाणियोंमें आत्माका प्रभाव अधिक भरा होता है, जो प्रकट वाणीसे उतना व्यक्त नहीं होता। ज्ञानी जन इस अनुदित वाणीके संदेशोंको जानते हैं और उसको अपनाते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

ऋ. १।१६४।४५; अथर्व. ९।१० (१५) २७

'वाणीके चार पद हैं, उनको विवेकी ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। उनमेंसे तीन हृदयमें गुप्त हैं और चतुर्थ वाणीको मनुष्य बोलते हैं।' इस मंत्रके कथनके साथ इस मंत्रका विचार करना चाहिये। इसमें जो 'अनुदितां वाचं' [अप्रकट गुह्य वाणी] को देखनेकी बात कही है, वह वाणी (**गुहा-निहिता**) हृदयकी गुहामें गुप्त है। ब्रह्मज्ञानी ही उसको जानते हैं। अर्थात् जो इस गुप्तवाणीको जानता है, उसकी विशेष योग्यता होती है।

(११) प्रथमः धास्युः योनिं आ विवेश— पहिला धारणशक्तिसे युक्त होकर मूल उत्पत्तिस्थानमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है वह मूल केन्द्रस्थानमें प्रविष्ट होकर अप्रतिम शान्तिका अनुभव लेता है। [इस विषयमें प्रथम मंत्रके प्रसंगमें विशेष कहा है, उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।]

इस द्वितीय मंत्रमें जो उपदेश दिया है, उसका सारांश यह है—

द्वितीय मंत्रसे बोध।

गुह्यवाणीका गुप्त संदेश।

'मनुष्य पहिला बने, धार्मिक श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करे, अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी शक्ति विकसित करे, गुह्य वाणीके गुप्त संदेशको जाने और मूल केन्द्रस्थानमें अपना स्थान स्थिर करके वहांका आनंद प्राप्त करे।' (मं. २)

पाठक प्रथम मंत्रके बोधके साथ इस बोधको मिलाकर आत्मोन्नतिके उपदेशको प्राप्त करें। अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं—

शरीर धारणका उद्देश्य।

(१२) ते शोकाय तन्वं रिरेच, स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरन्— तेरे प्रकाशके विस्तारके लिये तेरे साथ शरीरका योग किया गया है, इससे तेरे अपने निज प्रकाश किरण सुवर्णके समान तेजस्वी होकर फैलेंगे। जीवात्माके साथ जो शरीर मिले हैं उनका कारण जीवात्माके निज प्रकाशके किरण चारों ओर फैल जावें और जीवात्मा अधिक तेजस्वी बने। अर्थात् ये शरीर बंधनके लिये नहीं हैं, परंतु वृद्धिके लिये हैं। जो मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, उनके लिये ये शरीर सहायक होते हैं और जो लोग घृणित कर्मोंमें मग्न रहते हैं, उनके लिये येही शरीर बंधनकारक होते हैं। अतः मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने शरीरोंका यह उद्देश्य समझें और अपने शरीरोंसे ऐसे उत्तम अनुष्ठान करें कि जिससे उनके प्रकाश किरण उनके चारों ओर फैल कर सबको प्रकाशित करें, और स्वयं अपने आत्माको कृतकृत्य बनावें। शरीरका मुख्य उद्देश्य शारीरिक भोग विलास भोगना नहीं है, प्रत्युत आत्मिक बल बढाना है। यह बात इस मंत्रभागने सिद्ध की है। (मं. ३)

(१३) अत्र अमृतानि नाम दधेते— यहां इस देहमें बहुतसे अमृत नाम धारण किये गये हैं। अर्थात् यहां बहुत ही अमृत रखे हैं। मनुष्योंको उचित है कि वे इस शरीररूपी क्षेत्रमें इन अमृतोंको प्राप्त करनेका अनुष्ठान करें। इसी शरीरमें अमृत आत्मशक्तियोंका अनुभव करके बहुत लोग सन्त-महन्त बनकर मुक्ति धामको प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार यह शरीर अमृतप्राप्तिका सहायक है। अपने शरीरको ऐसा मानकर मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और अमर बने। यदि

इस शरीरमें अनेक अमृत हैं, और इस शरीरका स्वामी जीवात्मा इन अमृतोंका सच्चा स्वामी है। परंतु इसकी अवस्था अपने ही अज्ञानके कारण ऐसी हुई है कि यह अमृतोंका स्वामी होता हुआ भी मृत्युसे डर रहा है। जैसे कोई अज्ञानी पुरुष अपने ही भूमिगत धनको न जाननेके कारण अपने आपको निर्धन मानकर दुःख करता है, इसी प्रकार इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें जो अनेक अमृत हैं, उनको प्राप्त करनेका अनुष्ठान न करनेके कारण यह (**अमृतत्वस्य ईशानः** । (ऋ. १०।९०।२) अमरपनका स्वामी होनेपर भी मरणसे डरता है !! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने अमरत्वका अनुभव करनेके लिये धर्माचरण करे और अपनी उन्नतिका साधन करे। (मं. ३)

(१४) **विशः वस्त्राणि परयन्ताम्**— प्रजाएं वस्त्रोंको गति दें। अथवा मनुष्य अपने वस्त्रोंको प्रेरित करें। मनुष्य अपने आच्छादनोंको दूर फेंक दें और अपने शुद्ध रूपमें खडे हो जावें। मनुष्य अपनेको कपडोंसे ढांप देते हैं और अपनी असलियतको छिपा देते हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपने आपको आच्छादनके अंदर न छिपावें, परंतु सत्यनिष्ठासे अपनी वास्तविक स्थितिको बतावें और उसको प्रकाशित करें। जिससे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। ढोंगसे मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता, वह दूसरेको केवल भ्रममें ही डाल सकेगा, परंतु अपने आपको भ्रममें नहीं डाल सकता। इसलिये आच्छादन रहित अपने शुद्ध स्वरूपका निरीक्षण करके अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना चाहिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(य. ४०।१५)

'सुवर्णके ढक्कनसे सत्यका मुख छिपा हुआ है, सत्य देखनेके लिये उस आच्छादनको दूर कर।' यह उपदेश और इस मंत्रका 'अपने आच्छादनके वस्त्रोंको दूर फेंको' ये दोनों उपदेश एक ही भाव बता रहे हैं।

तृतीय मंत्रका भाव।

अपने अंदरके अमृत।

'अपने निज तेजके किरण चारों ओर फैल जांय, इसलिये जिसने उत्तम शरीर दिया है, और इसमें अनेक अमृतमय यश जिसकी कृपासे धारण किये जाते हैं, उसके सन्मुख अपने आच्छादन दूर फेंक कर शुद्ध रूपमें खडे हो जाओ ॥ ३ ॥

इस तृतीय मंत्रके उत्तम बोधका मनन करते हुए हम अब चतुर्थ मंत्रका विचार करते हैं—

(१५) **सदः सदः आतिष्ठन्तः अजुर्यं पूर्व्यं प्रतरं** प्रभुः— हरएक धर्मविचारकी यज्ञशालामें बैठनेवाले लोग अजर पुरातन और सर्वोत्कृष्ट आत्मको प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करना है वह (**अजुर्यं**) जरारहित, (**पूर्व्यं**) सबसे प्राचीन, पुरातन तथा पूर्ण और (**प्रतरं**) सबसे अत्यंत उत्कृष्ट है। इसीलिये उसको प्राप्त करना चाहिये। उसके प्राप्त होनेसे हम जरारहित, पूर्ण और उत्कृष्ट हो सकते हैं। यही अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबके प्रयत्न होने चाहियें। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसी सभाओंमें जाना कि जहां धर्मका विचार होता है और यज्ञ किया जाता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें रहनेसे शनैः शनैः मनपर शुभ संस्कार होते हैं और मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ उन्नत होता है। 'उप+नि+षद्' नाम ब्रह्मविद्याका है, इस शब्दमें 'उप+नि' ये उपसर्ग हटाये जांय, तो शेष 'सद्' शब्द रहता है, वही यहांका 'सद्' शब्द है। ब्रह्मप्राप्तिका उपाय चिंतन करनेवाले लोग जहां शांतिसे बैठते हैं उस सभाका नाम 'सद् अथवा उपनिषद्' है। (**अजुर्यं**) अजर, (**पूर्व्यं**) प्राचीन और (**प्रतरं**) उत्कृष्ट आत्माके (**उप**) पास (**नि**) निकट (**सद्**) बैठना, यह इस शब्दका भाव है। इससे आत्मप्राप्तिके अनुष्ठानका मार्ग ध्यानमें आ सकता है।

(१६) **कविः शुषस्य मातरा, जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे, परयेथाम्**— अतीन्द्रियार्थदर्शी और बलकी मान्यता करनेवाले होकर बहिनके हितके लिये उसके धुरीण पतिकी प्रशंसा करनेके समान, सबके साथ व्यवहार करते हैं। बहिनके पतिका विशेष आदर करते हैं, बहिनके घर उसका पति आया तो सब उसका सन्मान करते हैं। क्योंकि उसका अपमान किया जाय, तो बहिनको ही कष्ट होंगे, यह विचार उनके मनमें रहता है। इतना आदरका विचार दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके समय मनमें धारण करना चाहिये। घरमें आये दामादका जैसा आदरपूर्वक सन्मान करते हैं, उसी प्रकार आदरभावसे सबके साथ व्यवहार करना चाहिये। कईयोंको दूसरोंके अपमान करनेकी आदत होती है, इससे व्यर्थ द्वेषभाव बढ जाता है। इसलिये प्रेमका संवर्धन करनेवाला व्यवहार करना उचित है। मनुष्यको दूर दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये और बलका भी आदर करना चाहिये, परंतु उस बलका उपयोग दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें करना चाहिये न कि दूसरोंको दबानेके कार्य करनेमें।

चतुर्थ मंत्रका भाव।

दूसरोंके साथ आदरका व्यवहार।

'धर्मसभाओंमें धर्मनिष्ठासे बैठनेवाले क्रमशः सर्वोत्तम, जरारहित, पुराण पुरुषको प्राप्त होते हैं। वे दिव्य दृष्टिसे युक्त

होकर और बलका महत्त्व जानते हुए दूसरोंके साथ ऐसा आदरका वर्ताव करते हैं जैसा बहिनके धुरीण प्रतिष्ठित पतिके साथ करते हैं ॥ ४ ॥'

इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका मनन करनेके पश्चात् पंचम मंत्रका विचार करते हैं—

(१७) **कविः काव्येन ते सु महत् नमः कृणोमि**— मैं कवि अपने काव्यसे तेरे लिये बहुत नमस्कार करता हूं। पहिले कवि बनना चाहिये, कवि बननेका अर्थ यह है कि स्थूल जगत्के परे जो सूक्ष्म शक्तियां कार्य कर रहीं हैं उनको प्रत्यक्ष करना। इस प्रकार जो मनुष्य कवि किंवा क्रान्तदर्शी होता है, वह अपने अनुभव प्रकट करता है उसका नाम काव्य है। यह काव्य उस सूक्ष्म शक्तिका शब्दचित्र होनेके कारण यह परमात्माका वर्णन करता है और यह एक प्रकारकी परमात्माकी पूजा ही है। इसमें परमात्माका गुणवर्णन, परमात्माकी भक्ति और पूजा होती है और परमात्माके विषयमें श्रद्धा भी प्रकट होती है, यही (**महत् नमनं**) बडा नमन है। वह बडा मनन करता है जो कवि होकर काव्यकी दृष्टिसे इस विश्वका निरीक्षण करता है, और स्थूलके अंदरकी सूक्ष्म शक्तिको देखता है। आत्मोन्नतिके लिये इस दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है। (मं ५)

(१८) **अत्र सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोधचक्रे क्षां अभि वावृधेते**— यहां साथ रहनेवाले और गतिमान् दोनों बडे विरोधक चक्र भूमिके ऊपर सबको बढाते हैं। इस मंत्रभागमें 'मिले हुए विरोधी दो चक्रोंका वर्णन' है। ये एक दूसरेके साथ मिले हुए विरोध चक्र कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये। स्थूल सूक्ष्म, जड चेतन, दृश्य अदृश्य, प्रकृति पुरुष ये नाम इन 'विरोध-चक्रों' के हैं। परस्पर भिन्न गुणधर्म धारण करनेवाले ये हैं, अर्थात् जडके गुणधर्म भिन्न हैं और चेतनके गुणधर्म भिन्न हैं। जड चेतन, प्रकृति पुरुष इनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। ये जब परस्परके सहायक होते हैं, तब उन्नति होती है और परस्परके घातक हुए तो नाश होता है। इस मंत्रमें यह बात कही है कि ये दोनों चक्र (**सम्यञ्चौ**) मिलजुल कर परस्पर सहायक होकर रहें, तो (**अभि वावृधाते**) सब प्रकार वारंवार बढाते हैं, शक्तिका विकास करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यदि ये परस्पर विघातक होने लगे, तो शक्तिकी क्षीणता होती है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये कि यहां स्थूल शरीर है और अन्दर सूक्ष्म शक्ति है। शरीरको संयम आदि सुनियमोंसे उत्तम अवस्थामें रखा जाय तो वह स्थूल शरीर सूक्ष्म शक्तियोंका सहायक, पोषक और संवर्धक होता है। इससे विपरीत शरीरको असंयम द्वारा व्यसनादिमें लगानेसे दोनों शक्तियोंका क्षय होता है। यहां अपने शरीरमें ही पाठक देखें कि यहां ये स्थूल सूक्ष्म दो रोधक चक्र कैसे हैं और ये परस्पर विरोधक होनेपर भी मिलजुल कर रहनेसे परस्पर सहायकारी कैसे हो सकते हैं और परस्पर घातक भी किस अनियमके कारण होते हैं। यह देखनेसे मंत्रका उपदेश पाठकोंको प्रत्यक्ष हो जायगा। इन परस्पर विरोधक चक्रोंको एक कार्यमें लगाने और परस्परका सहायक बनाकर अपनी शक्तिका विकास करनेके कार्यमें प्रयुक्त करनेका उपदेश इस मंत्रमें किया है। इस प्रकार विरोधक शक्तियोंको एक कार्यमें परस्पर सहायक बनाकर अपनी शक्ति बढाना और काव्य दृष्टिसे स्थूलमें सूक्ष्मको अनुभव करके उसके सन्मुख भक्तिसे नम्र होना, यह आत्मोन्नतिके लिये आवश्यक है।

(मं. ५)

पञ्चम मंत्रका भाव।

विरोधक शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि।

'मैं अपनी स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्मशक्तिको एक सत्कार्यमें लगाकर, उनके परस्पर विरोधको दूर करके उनको परस्पर सहायक बना कर, दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंका पोषण करता हूं, इस प्रकार अतीन्द्रियार्थ दृष्टिसे स्थूलके अंदर सूक्ष्म शक्तिको देखकर अपने काव्यसे उस चालक अन्तःशक्तिके सन्मुख भक्तियुक्त अन्तःकरणसे नम्र होता हूं ॥ ५ ॥

इस पञ्चम मंत्रके मनन करनेके पश्चात् अब षष्ठ मंत्रका विचार करते हैं—

(१९) **कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः, तासां एकां इत् अभि अगात्, अंहुरः**— ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं, उनमेंसे एक मर्यादाका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। '(१) चोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) ब्रह्महत्या न करना, (४) गर्भपात न करना, (५) सुरापान न करना, (६) वारंवार दुराचार न करना, (७) पाप होनेपर असत्य बोलकर उसको न छिपाना' ये सात मर्यादाएं कवि लोगोंने निश्चित की हैं। इनमेंसे एक एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी बनता है, फिर अधिक मर्यादाओंका उल्लंघन हुआ तो उसके पापी होनेमें शंका ही क्या है? इन सात मर्यादाओंका विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं कि सात पुण्य कर्म कौनसे और सात पाप कर्म कौनसे हैं। इन सात मर्यादाओंमें छठी और सातवीं मर्यादा बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यके हाथसे किसी न

किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचनेका यत्न करेगा, तो बहुत हानिकी संभावना नहीं है । परंतु यदि वह वारंवार दण्ड मिलने या मना करनेपर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अवनतिकी सीमा नहीं रह सकती । इसलिये उन्नति चाहनेवाले लोगोंको उचित है कि वे अज्ञानसे एक वार दोषमय आचरण हुआ भी, तो उसको वारंवार न करें और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानीसे होगा, तो उसको असत्य बोलकर छिपानेका भी यत्न न करें । क्योंकि ऐसा करनेसे वह कलंक बडा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है । इसलिये दोष होनेपर सत्य बोलकर उसको यथार्थ रूपमें प्रकट करना ही उचित है । मनुष्यकी उन्नतिके लिये ये सात मर्यादाएं अत्यंत सहायकारी हैं, इसलिये कोई मनुष्य किसी भी कारण इनका उल्लंघन न करें। (मं. ६)

(१०) **आयोः स्कंभ—** आयुका आधार स्तंभ बन अर्थात् आयुका विघात करनेवाला न बन । उक्त सात मर्यादाओंका उल्लंघन करनेसे जीवनका घात होता है और मर्यादाओंका पालन करनेसे आयुका आधार दृढ होता है । मर्यादाओंका पालन करनेका तात्पर्य संयमसे रहना है। संयमसे जीवन व्यतीत करनेसे जीवनका आधार शक्तिशाली होता है और उत्तम दीर्घ जीवन प्राप्त होता है । (मं. ६)

(११) **उपमस्य नीडे, पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ—** जो उपमा देने योग्य है और सबके अत्यंत समीप है उस परमात्माके स्थानमें, तथा अनेक मार्गोंकी जहां समाप्ति होती है, ऐसे धारक केन्द्रोंमें रहता है । यहां तीन उपदेश हैं, (**उपमस्य नीडे**) उपमा देने योग्य वह परमात्मा है, (**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव** । ऋ. ६।४७।४८) जगत्‌के प्रत्येक रूपके लिये वही आदर्श नमूना बना है, इस प्रकारके वर्णन वेदमें आते हैं, इससे सिद्ध है कि वह परम आत्मा सबके लिये आदर्श है, उसके (**नीडे**) घोंसलेमें अपने लिये स्थान प्राप्त करना चाहिये । सदाचार आदि करनेसे ही उसके घोंसलेमें आरामसे रहनेके लिये स्थान मिल सकता है । वह स्थान और कैसा है, उसका वर्णन '**पथां विसर्गे**' इन शब्दोंसे हुआ है । 'विसर्ग' का अर्थ है विरामका स्थान अथवा समाप्तिका स्थान, (**पथां**) संपूर्ण मार्गोंका (**विसर्गः**) वह विरामका अथवा समाप्तिका स्थान है। किंवा 'सर्ग' का अर्थ है 'उत्पत्ति,' 'वि+सर्ग' का अर्थ होता है विगत सर्ग अर्थात् 'उत्पत्ति जहां नहीं है ऐसा स्थान'। जहां विविध मार्गोंका झंझट नहीं है, अथवा जहां विविध मार्ग एकरूप हो जाते हैं वह स्थान । ऐसे स्थानमें रहना चाहिये कि जिस स्थानमें रहनेसे विविध मार्गोंके ऊपरसे आक्रमण करनेका कष्ट उठाना न पडे । सभी मार्गोंसे गये हुए लोग जहां पहुंचते हैं, उस स्थानमें पहुंचना और वहां जाकर स्थिर रहना चाहिये ।

षष्ठ मंत्रका भाव ।

सात मर्यादाएं ।

'ज्ञानी मनुष्योंने मनुष्य व्यवहारके लिये सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। उनमेंसे एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पापी होता है । परंतु जो सातों मर्यादाओंका उल्लंघन न करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवनका आधारस्तंभ बनता है, वह सबके लिये उपमा देने योग्य परमात्माके स्थानमें, जहां अनेक मार्ग पहुंचते हैं, वहांके आधारस्थानमें स्थिर रहता है ॥ ६ ॥

छठे मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब सप्तम मंत्र देखते हैं—

(१२) **व्रतः कृण्वन् अमृतासुः एमि—** व्रतरूप होकर विविध सत्कर्म करता हुआ अमर प्राणशक्तिसे युक्त होकर आगे बढता हूं । उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको योग्य है कि वह (**व्रतः**) व्रतरूप बने । व्रतरूप बननेका तात्पर्य यह है कि व्रत पालन करना जिसका स्वभाव ही बना है । एक मनुष्य ऐसा होता है कि वह नियम करता है और उनके अनुकूल चलता है । और दूसरा ऐसा मनुष्य होता है कि जो स्वभावसे ही नियमके विरुद्ध नहीं जाता है । पहिला मनुष्य प्रयत्नसे नियम पालन करता है और दूसरा स्वभावसे ही पालन करता है । इस प्रकार नियम रूप जो बना है वह मनुष्य '**व्रतः**' शब्दसे यहां बताया है । ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य स्वभावसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मोंको करता है और (**अ+मृत+असुः**) अमर जीवन शक्तिसे संपन्न बनता है । स्वभावसे व्रत पालन करना और स्वभावसे ही सत्कर्म करना यहां अभीष्ट है । पहिले जब प्रयत्नसे वह व्रत पालन और सत्कर्म करेगा, तब जाकर बहुत समयके पश्चात् इसका यह स्वभाव बनेगा और स्वभाव बननेसे अमृत रूप बनेगा । यहां अमर बननेकी मुख्य बात कही है, यह पाठक न भूलें । इस समय मनुष्य स्वभावसे असत्य बोलता है, कुकर्म करता है और नियम तोडता है, इस कारण इसका अधःपात होता है । परंतु जिस समय यह स्वभावसे सत्य बोलेगा और असत्यकी कल्पना तक इसके मनमें न उठेगी, इसी प्रकार अन्यान्य नियम पालन स्वभावसे ही होगा, तब इसकी सब रुकावटें दूर होंगी और यह अमर बनेगा। (मं. ७)

(१३) **तत् आत्मा असुः तन्वः सुमद्गुः—** उक्त अनुष्ठानसे आत्मा, प्राण और शरीर ये सब उत्तम गुणवान् बनते

हैं'। अर्थात् आत्मा, प्राण और शरीर शुभगुणोंसे और बलसे संपन्न होते हैं और वह मनुष्य विलक्षण कार्य सफल करनेमें समर्थ होता है। पूर्वोक्त अनुष्ठानसे यह लाभ होता है। (मं.७)

(२४) शक्रः रत्नं दधाति— समर्थ होकर धनको धारण करता है। यह भी पूर्वोक्त अनुष्ठानका ही फल है। (मं. ७)

(२५) हविर्दाः ऊर्जया सचते— अपनी हवि समर्पित करनेवाला बलसे संयुक्त होता है। तन, मन, धन यज्ञके लिये समर्पित करनेवाले मनुष्यकी शक्ति वृद्धिंगत होती है, परोपकारसे उसका बल बढता है। (मं. ७)

सप्तम मंत्रका भाव।

'उत्तम व्रतोंका अनुष्ठान करना और परम पुरुषार्थ करना यह जिसका स्वभाव है, वह अदम्य अमर जीवन शक्तिसे युक्त होकर और आत्मिक, प्राणसंबंधी और शारीरिक शक्तियोंसे बलवान् और पूर्ण समर्थ होता हुआ, आत्मशक्तियोंका परोपकारार्थ यज्ञ करके कृतकृत्य होता जाता है॥ ७॥

सप्तम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेके पश्चात् अब अष्टम मंत्रका विचार करते हैं—

(२६) पुत्रः क्षत्रं पितरं ईट्टे— पुत्र अपने दुःख निवारण करनेवाले पिताकी स्तुति करता है, सहायता चाहता है, अथवा उसकी कृपा चाहता है। (क्षत्+त्र) क्षत्र शब्दका अर्थ है दुःखसे बचानेवाला। पिता दुःखसे बचानेवाला है, इस कारण पुत्र पिताकी शरणमें जाता है। इसी प्रकार मनुष्य इसीलिये परमात्माकी उपासना करते हैं कि वह सबके दुःखोंको दूर करता है। परमेश्वर इसी हेतुसे सबका परमपिता कहलाता है। (मं. ८)

(२७) मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्त— मर्यादाके पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषकी प्रार्थना अपने कल्याणके लिये ही सब करते हैं। अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा हरएक मनुष्यमें है इस लिये वह श्रेष्ठ गुरुजनोंकी उपासना और ईश्वरकी पूजा करता है। (मं. ८) अर्थात् दुःखोंसे बचने और कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये।

(२८) विस्थाः दर्शयन्— वह ईश्वर अपने (वि) विशेष (स्थाः) स्थान दिखाता है। जो मनुष्य उस परमात्माकी उपासना करते हैं उनको वह ईश्वर अपने विशेष आनंद प्राप्तिके स्थान देता है कि वहां ये जीवात्मा जांय और वहांका आनंद प्राप्त करें। (मं. ८)

(२९) आवर्वृतः वपूंषि कृणवः— वारंवार जन्ममरणके मार्गमें भ्रमण करनेवालोंके शरीरोंको बनाता है। अर्थात् जो मनुष्य पूर्वोक्त उपासना द्वारा मुक्तिको प्राप्त नहीं करते, मुक्ति देनेकी इच्छासे वही ईश्वर उत्तम उत्तम शरीर उनको देता है। इसका हेतु यह है कि ये जीव इन शरीरोंकी सहायतासे प्रशस्ततम कर्म करें और अपने लिये मुक्तिधाम प्राप्त करें, तथा वहांके परम आनंदके भागी बनें। (मं. ८)

अष्टम मंत्रका भाव।

परमपिताकी उपासना।

'पुत्र अपनी रक्षाके लिये पिताकी शरण जाता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने कल्याणके लिये श्रेष्ठोंकी संगति करता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने परमपिता और परमगुरु जो परमात्मा है उसकी उपासना करते हैं। ऐसे उपासकोंको वह ईश्वर अपने विशेष आनंदके स्थान बताता है, इसलिये कि वे वहां जायें और आनंदसे पूर्ण बनें। परंतु जो मनुष्य उसकी उपासना नहीं करते, उनके लिये वारंवार जन्ममरणके अनुभव देनेके लिये शरीर देता है, ताकि वे इन शरीरोंसे आवश्यक अनुभव प्राप्त करें और अपनी शक्ति विकसित करके मुक्तिधामके योग्य बनें॥ ८॥

यहां अष्टम मंत्रका भाव समाप्त हुआ है। इसको स्मरण करके अब नवम मंत्रका विचार करते हैं—

(३०) अर्धेन पयसा अर्धं पृणक्षि— आधे पौष्टिक रससे आधा भाग पूर्ण करता है। यहां शरीर, इंद्रियां आदि स्थूल शरीरकी पुष्टि विवक्षित है। आधा भाग स्थूलका है और आधा भाग सूक्ष्मका है। हमारे स्थूल भागकी अर्थात् शरीर, इंद्रियां आदिकी पुष्टि विविध पौष्टिक रसोंसे परमेश्वर ही करता है। इन पदार्थोंके निर्माण करनेके द्वारा उसने संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर अनंत उपकार किये हैं। यह देखकर उनके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। (मं. ९)

(३१) अर्धेन शुष्म वर्धसे— आधेसे बल बढाता है। जैसा वह आधेसे पोषण करता है उसी प्रकार आधेसे बल बढाता है। इस प्रकार पुष्टि और बल देकर वह परमात्मा सबको पुष्ट और बलवान् करता है। (मं. ९)

(३२) वह ईश्वर (अविं = अवति)— रक्षक, (शग्मियं) सुख बढानेवाला, (सखायं) सबका मित्र, (इषिरं) अन्नादिसे युक्त और (वरुणं-वरं) वरिष्ठ सबसे श्रेष्ठ है। इसके ये गुण जगत्में अनुभव करने चाहियें और इन

गुणोंका स्मरण और अनुभव करते हुए उसकी उपासना करना चाहिये। (मं. ९)

(३३) **कविशस्तानि वपूंषि अस्मै अवोचाम—** कविकी दृष्टिसे प्रशस्त विविध रूपोंको देखकर इसकी हम प्रशंसा करते हैं। इस जगतमें जो विविध शरीर हैं उनके विलक्षण गुणधर्म देखकर मनुष्य इस ईश्वरके महान् ऐश्वर्यका अनुमान करता है, और ईश्वरके सामर्थ्यकी कल्पना करता है।

(३४) **रोदसी सत्यवाचा—** द्यावा पृथिवीमें उसीकी सत्यवाणी भरपूर हुई है, वही गुह्य वाणी है जो सदा सत्य है। इसी गुह्य वाणीका गुप्त संदेश मनुष्यको अपनाना चाहिये। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें अप्रकट वाणीका जो संदेश सुननेको कहा है, वही वाणी (**सत्या वाक्**) सत्यवाणी है और वह इस द्यावा पृथिवीके अंदर अर्थात् इस संपूर्ण विश्वके अंदर भरी है। हमारी बोलनेकी वैखरी वाणी क्षणभंगुर है, परंतु यह विश्वव्यापक सत्यवाणी अमृतरूप है, इसलिये शुद्धात्माओंको उसका अखंड संदेश हृदयके अंदरसे सुनाई देता है। जगत्के स्थूल शब्द सुननेके कान भिन्न हैं और यह सत्यवाणीका अखंड संदेश अन्य श्रुतियों द्वारा सुना जाता है। (मं. ९)

नवम मंत्रका भाव।

ईश गुणवर्णन।

'परमेश्वर अपने एक भागसे सबका पोषण करता है, और दूसरे भागसे सबको बल देता है। वह सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सुखदाता है, वही सबको अन्नादि देकर पोषण करता है, संपूर्ण जगत्के पदार्थोंको देखकर और उसमें कविकी दृष्टिसे प्रशंसायोग्य गुणधर्मोंका अनुभव करके उसके द्वारा हम सब परमात्माकी ही प्रशंसा करते हैं, हम देखते हैं कि उसकी सत्यवाणीने संपूर्ण द्यावापृथिवीको व्यापा है।' ॥ ९ ॥

यहां नवम मंत्रका मनन समाप्त होता है। पाठक इन नौ मंत्रोंमें आत्माके साक्षात्कारका मार्ग देख सकते हैं और वैदिक गूढ अध्यात्मविद्या इस सूक्तमें कैसी है इसका अनुभव मनन पूर्वक ले सकते हैं। इस सूक्तमें जो गूढ रीतिसे उन्नतिके मार्गका उपदेश किया है उसका सारांश यह है—

इस सूक्तका सार।

(१) मनुष्य अपने आपको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे। अपने जन्मकी सार्थकताके लिये प्रशस्त कर्म करे। अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यपालनसे अपनी आत्मिक शक्तिको अदम्य बनावे। जनताका रक्षक और आधार बनकर अपनी सब अवस्थाओंको अपने आधीन रखे। इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वरूपस्थितिके केन्द्रमें आनंदसे रहे।

(२) मनुष्य श्रेष्ठ बननेकी इच्छा मनमें धारण करे। उसकी सिद्धिके लिये सदा श्रेष्ठ सत्कर्म करता रहे। अपने शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, आदिकी शक्तियां विकसित करके उनको स्वाधीन रखे। गुह्य वाणीके गुप्त संदेशको सुन कर, उसके अनुसार आचरण करे और अपनी स्वरूपस्थितिको प्राप्त करके वहां आनंदसे रहे।

(३) मनुष्यको ये शरीर इसलिये प्राप्त हुए हैं कि, इसके आत्माका प्रकाश चारों ओर फैल जावे। इसमें अनेक अमृत रस भी भरे हैं। जिसकी कृपासे यह सब प्राप्त हुआ है उसके सन्मुख शुद्ध होकर और दोषोंको दूर करके ही जाना उचित है। अर्थात् अपने मलिन वस्त्र दूर करके उसके सन्मुख अपने शुद्ध रूपमें खडा होना चाहिये।

(४) सज्जनोंकी संगतिमें रह, परमात्माकी प्राप्तिका विचार उनके साथ रहकर कर। दिव्य दृष्टिसे देख और हरएक प्रकारके यत्नका आदर कर। हरएकके साथ अत्यंत आदरके साथ बर्ताव कर, कभी किसीका निरादर न कर।

(५) अपनी सब शक्तियोंको सत्कार्यमें प्रयुक्त कर। परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका विरोध भाव दूर करके उनको परस्पर सहायक बना, ऐसा करनेसे परस्परकी शक्तिसे परस्परका पोषण होगा। स्थूलमें सूक्ष्म शक्तिका कार्य देखकर सब महान् सूक्ष्म शक्तिके सन्मुख नम्रतासे रह।

(६) चोरी, व्यभिचार, दुराचार, मद्यपान, गर्भपात आदि कुकर्म न कर, ज्ञानीके मार्गमें विघ्न न खडे कर, एक ही बार कुकर्म में मना करनेपर भी वारंवार न करता रह और दुराचार होनेपर भी उसको छिपानेका यत्न न कर। सदाचारकी ये मर्यादाएं हैं। उनका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओंमें रहनेसे मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नतिको प्राप्त होता है। यह पुण्यमार्गी मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ संयमसे अपने जीवनका आधार बनकर ऐसे स्थानमें जाता है कि जहां संपूर्ण विविध मार्ग एकरूप बनते हैं और जहां उपमा देने योग्य परमात्माका स्थान है।

(७) उत्तम व्रतों और नियमोंका पालन कर और परमपुरुषार्थी बन। अपनी आत्माकी अदम्य शक्तिका अनुभव कर और अपनी शक्तियोंका विस्तार करके उनका उपयोग जनताकी भलाईके प्रशस्त सत्कर्मोंमें कर।

(८) जिस प्रकार बालक निर्भयताके लिये अपने पिताकी

शरण और कल्याणके लिये सद्गुरुकी शरण जाता है, इसी प्रकार निर्भयता और कल्याण प्राप्त करनेके लिये परमपिता और परमगुरु परमात्माकी शरणमें जा। वह सब उपासकोंको आनंदके स्थानमें पहुंचाता है और जो उसकी भक्ति नहीं करते, उनको विविध शरीर धारण कराता है, वे वहांके विविध अनुभव लेते हुए अन्तमें उसीके पास पहुंचते हैं।

(९) परमेश्वर अपनी आधी शक्तिसे सबकी पुष्टि करता है और आधी शक्तिसे सबको बलवान् बनाता है। वही सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सहाय्यक है। उसके गुणोंका ध्यान करके उसके गुणोंका कार्य जगत्में देखकर उसकी बडी शक्तिका अनुभव सब करें। उसीकी सत्यवाणी सर्वत्र व्यापक है, उस गुह्यवाणीका संदेश प्राप्त कर और उन्नत हो।

इस प्रकार इस सूक्तका सार है। यह सार बडा ही बोधप्रद है और सच्ची आत्मोन्नतिका मार्ग बता रहा है। पाठक इसका अधिक मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। इस सूक्तका उपदेश अपने आचरणमें लानेवाले पाठक निःसंदेह अपनी विशेष योग्यता बना सकते हैं और उच्च श्रेणीमें जाकर सन्मानित हो सकते हैं।

यह सूक्त गूढ अध्यात्मविद्याका उपदेश दे रहा है। यह विद्या अत्यंत गूढ है, संभवतः इसीलिये इस सूक्तकी भाषा भी अत्यंत गूढ और गुप्त भावसे परिपूर्ण रखी गई है। इस सूक्तके शब्द और वाक्य सरल नहीं हैं जो सहजहीमें समझे जा सकें। इस कारण इस सूक्तका मनन पाठकोंको बहुत करना चाहिये। यहां हमने विविध प्रकारसे सूक्तका भाव सरलताके साथ बतानेका प्रयत्न किया है, तथापि कई मंत्रभाग दुर्बोध और अस्पष्ट ही रहे हैं। यदि कोई पाठक अधिक मनन करके इन मंत्रोंपर अधिक प्रकाश डालेंगे तो उनके जनतापर बहुत उपकार हो सकते हैं।

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव।

(२) भुवनेषु ज्येष्ठः।

(ऋषिः— बृहद्दिवो अथर्वा। देवता — वरुणः।)

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ १ ॥
वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

अर्थ— (**तत् इत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस**) वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, (**यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे**) जहांसे उग्र तेजोबलसे युक्त सूर्य उत्पन्न हुआ। वह (**सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति**) तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंका नाश करता है। (**यत् एनं विश्वे ऊमाः अनु मदन्ति**) इस कारण इसको प्राप्त करके सब संरक्षक हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

(**शवसा वावृधानः भूरि-ओजाः शत्रुः**) बलसे बढनेवाला महाबलवान् शत्रु (**दासाय भियसं दधाति**) दासको ही भय देता है। यहां (**अव्यनत् च व्यनत् च सस्नि**) प्राणरहित और प्राणयुक्त साथ साथ रह रहे हैं। और (**ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त**) वे पोषित होकर आनन्दमें स्तुति करते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण भुवनोंमें वही श्रेष्ठ तत्त्व है कि, जहांसे सूर्य जैसे तेजस्वी गोल निर्मित होते हैं। उसके प्रकट होते ही अंधेरा दूर होता है, इसलिये इसको देख कर संरक्षक लोग निर्भय होनेके कारण हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

बहुत बलवान् शत्रु दास वृत्तिवाले लोगोंके अन्तःकरणमें ही भय उत्पन्न करते हैं [वीर वृत्तिके लोग शत्रुसे कभी नहीं डरते।] इस जगत्में प्राणरहित और प्राणसहित ये दोनों एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं और वे परस्परकी सहायतासे परिपुष्ट होकर आनंदित होते हैं [अर्थात् विभक्त होनेपर वे क्षीण हो जाते हैं।] ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥
त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥
नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥
स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् एते ऊमाः) जब ये रक्षक (त्वे अपि क्रतुं भूरि पृञ्चन्ति) तुझमें ही अपनी बुद्धिको बहुत प्रकार जोडते हैं। तब (द्विः त्रिः भवन्ति) दुगुने तिगुने हो जाते हैं। (स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सं सृज) स्वादुसे भी अधिक मधुर रसको मीठेके साथ संयुक्त कर। और (अदः सुमधु मधुना समभि योधीः) उस मधुर रसके प्रति मधुरताके साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे (शुष्मिन्) बलवान् ! (चित् नु) निश्चयसे (रणे रणे धना जयन्तं त्वा) प्रत्येक युद्धमें धनको जीतनेवाले तुझको प्राप्त होकर (यदि विप्राः अनुमदन्ति) यदि ज्ञानी लोग आनंदित हों, तो उनके लिये (स्थिर ओजीयः आ-तनुष्व) स्थिर बल फैला। (दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्) दुराचारी और शोक करनेवाले तुझे न दबावें ॥ ४ ॥

(भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तः) बहुत युद्धमें प्राप्त धनोंको देखते हुए (वयं रणेषु त्वया शाशद्महे) हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। (ते आयुधा वचोभिः चोदयामि) तेरे शस्त्रोंको वचनोंके द्वारा चलाता हूं। और (ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि) तेरी गतियोंको ज्ञानसे मैं तीक्ष्ण करता हूं ॥ ५ ॥

(अवरे परे च) छोटे और बडे दोनोंको (यस्मिन् दुरोणे) जिस घरमें (नि दधिषे) धारण करता है और वहां (तत् अवसा अविथ) उस अपनी रक्षणशक्तिसे रक्षा करता है। (जिगत्नुं मातरं आस्थापयत) प्रगतिशील माताको स्थापित करके (अतः भूरि कर्वराणि इन्वत) इससे बहुत कर्मोंको पार करो ॥ ६ ॥

हे (वर्ष्मन्) बलवान् ! (पुरुवर्त्मानं ऋभ्वाणं) बहुत मार्गवाले, बहुत तेजस्वी, (इनतमं आप्त्यानां आप्तं) श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त की ही (संस्तुष्व) स्तुति कर। (भूरि-ओजाः शवसा आदर्शति) महाबलवान् बलसे आदर्श होता है और (पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति) भूमिकी समानताको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— सब रक्षक जब परमात्मामें अपनी बुद्धिका योग करते हैं, तब दुगुना और तिगुना बल प्राप्त करते हैं। ये स्वयं मधुर रससे भी अधिक मीठे बन कर उसमें भी अधिक माधुर्य उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करके धन कमानेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। और ये दोनों मिलकर स्थिर बल फैलावें। दुष्ट दुराचारी लोग सज्जनोंको कभी न दबा सकें ॥ ४ ॥

युद्धमें प्राप्त होनेवाले धनोंको देखते हुए हम सब तेरे जैसे उत्तम वीरके साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। तेरे शस्त्रोंको हम अपने वक्तृत्वसे उत्तेजित करके चलाते हैं और तेरी हलचलोंको ज्ञानसे तेज करते हैं ॥ ५ ॥

छोटे हों या बडे हों, सब एक घरमें रहनेके समान रहेंगे, तब बल बढकर उनकी रक्षा होगी। सब लोग अपने मनमें अपनी विजयी मातृभूमिको स्थापित करें जिससे वे बहुत कर्मोंको कर सकेंगे ॥ ६ ॥

बहुत मार्गोंसे उन्नति करनेवाले तेजस्वी श्रेष्ठ और आप्त पुरुषोंकी स्तुति करो। वे महाबलवान् अपने बलसे आदर्शरूप बनते हैं और जिस प्रकार भूमि सबको आधार देती है उसी प्रकार सबको आधार देते हैं ॥ ७ ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान् ॥ ८ ॥
एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥ (१८)

अर्थ—(अग्रियः स्वः-साः बृहद्दिवः) पहिले आत्मिक प्रकाशसे युक्त बृहद्दिव अर्थात् महान् तेजस्वी ऋषिने (शूषं इमा ब्रह्म) बलयुक्त यह स्तोत्र (इन्द्राय कृणवत्) प्रभुके लिये किया। वह (महः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति) बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर रहता है। वह (तुरः तपस्वान् चित् विश्वं अर्णवत्) वेगवान् तपस्वी निःसन्देह विश्वमें भ्रमण करता है ॥ ८ ॥

(महान् बृहद्दिवः अथर्वा) बडे महातेजस्वी योगी ऋषिने (स्वां तन्वं इन्द्रं एव एव अवोचत्) अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रको ही यह स्तोत्र कहा। (मातरिभ्वरी स्वसारा) मातृभूमिमें भरणपोषण करनेवाली दोनों बहिनें (च अ+रिप्रे एने) जो निर्दोष हैं उन दोनोंको (शवसा हिन्वन्ति च वर्धयन्ति) बलसे प्रेरित करते हैं और बढाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— आत्मिक प्रकाशसे युक्त तेजस्वी ज्ञानी लोग प्रभुकी बहुत स्तुति करते हैं अर्थात् उसके गुण वर्णन करते हैं। वे राष्ट्रके स्वाधीन राजा होकर वेगशील और तपस्वी होते हुए संपूर्ण विश्वमें अपने प्रभावको बढाते हैं ॥ ८ ॥

बडे तेजस्वी योगी ज्ञानी जन अपने शरीरमें रहनेवाले आत्माका स्तोत्र करते हैं। मातृभूमिमें रहनेवालीं दोनों बहिनें [अर्थात् मातृभाषा और मातृसभ्यता] मातृभूमिका भरणपोषण करती हुई निर्दोष बनकर अपने बलसे सबको प्रेरित करके सबको बढाती हैं ॥ ९ ॥

सूक्तकी विशेषता।

यह सूक्त यद्यपि मुख्यतया सर्वश्रेष्ठ परमात्माका वर्णन करता है और उसकी प्राप्तिका उपाय बताता है; तथापि श्लेषालंकारसे राज्यशासन विषयक और अन्यान्य अभ्युदय विषयक महत्त्वपूर्ण बातोंका भी साथ साथ उपदेश दे रहा है। इस कारण यह सूक्त जिस प्रकार संसारी जनोंको लाभकारी है, उसी प्रकार परमार्थके लिये प्रयत्न करनेवालोंके लिये भी बोधकर है। इसमें प्रायः प्रत्येक मंत्रमें श्लेषार्थ होनेसे यह सूक्त भी पूर्व सूक्तकी तरह अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध हुआ है। तथापि इसके मनन करनेसे जो विचार मनमें आ गये हैं, उनको यहां देते हैं—

ज्येष्ठके लक्षण।

प्रथम मंत्रमें ज्येष्ठके तीन लक्षण कहे हैं। ये लक्षण प्रथम यहां देखिये—

(१) यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे— जहांसे उग्र तेज उत्पन्न होता है। जिससे तेजस्विता बढती है। (मं. १)

(२) सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति— उत्पन्न होते ही शत्रुओंको दूर करता है। कार्यको प्रारंभ करते ही वैरियोंको पराजित करता है। (मं. १)

(३) विश्वे ऊमाः एनं अनुमदन्ति— सब संरक्षक जिसके अनुकूल रहकर आनंदित होते हैं। जिसके साथ आनंदसे रहते हुए सब संरक्षक अपना रक्षाका कार्य उत्तम प्रकार करते हैं। (मं. १)

(४) तत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस— वह निःसंदेह भुवनोंमें श्रेष्ठ है। जिसमें पूर्वोक्त तीन लक्षण संगत होते हैं, वह सबमें श्रेष्ठ है ऐसा कहना चाहिये। (मं. १)

सबसे प्रथम परमेश्वरको 'ज्येष्ठ और श्रेष्ठ' कहते हैं क्योंकि (१) उससे सूर्यके समान तेजोगोल उत्पन्न होते हैं और प्रकाशते हैं, (२) वह जहां प्रकट होता है वहां शत्रुता नष्ट होती है और (३) सब उसकी मान्यता करते हैं। अर्थात् ज्येष्ठत्वके तीनों लक्षण उसमें सार्थक होते हैं, इसी कारण कहते हैं कि परमेश्वर सब भुवनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, दूसरा कोई उसके बराबरीका श्रेष्ठ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि तेजस्विता, शत्रुदूरीकरणकी शक्ति और रक्षक वीरोंकी अनुकूलता, जिसके पास होती है उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहना योग्य है। राष्ट्रमें भी जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं 'वे तेजस्वी होते हैं, उनकी योजनाओंसे दूसरे मनुष्य भी तेजस्वी कार्य करनेमें

समर्थ होते हैं, वे धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, अथवा राजकीय शत्रुओंको हटा देते हैं और इनके साथ राष्ट्रके वीरोंकी अनुकूल संमति होती है। ' जिन पुरुषोंमें ये तीन लक्षण होते हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ और सबके धुरीण माने जाते हैं।

प्रथम लक्षणमें 'त्वेष+नृम्णः' शब्द है। वस्तुतः यह शब्द 'त्वेष+नृ+मनः' है अर्थात इसका अर्थ 'तेजस्वी मनुष्यका मन, अथवा मनुष्यका तेजस्वी मन है। जिसमें ऐसा तेजस्वी मन होता है वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। वह मन भी 'उग्र' अर्थात् वीरता युक्त चाहिये। शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि गुणोंसे युक्त मन होना चाहिये। मनुष्यका मन तेजस्वी और वीर भावनासे युक्त होनेसे ही वह अपने शत्रुओंको दूर हटा सकता है और लोकमतकी अनुकूलता भी उसको मिल सकती है। व्यक्तिके अंदर भी श्रेष्ठत्वके लिये ये ही तीन गुण आवश्यक हैं। जिस आत्मासे ऐसा मनका बल प्रकट होता है वह श्रेष्ठ आत्मा है। इस प्रकार प्रथम मंत्रका व्यापक भाव है।

दासकी घबराहट।

दासके लक्षण।

द्वितीय मन्त्रमें 'दास' के लक्षण कहे हैं। पहिले मन्त्रमें श्रेष्ठ वीर पुरुषके तीन लक्षण कहे हैं, इस द्वितीय मंत्रमें दासका एक ही लक्षण कहा है, वह लक्षण ' भीरुता ' है—

(५) शत्रुः दासाय भियसं दधाति— शत्रु दासके लिये भय धारण करता है। शत्रुको देखकर दासकी घबराहट होती है। शत्रु केवल दास वृत्तिके मनुष्यको ही डरा सकता है। वीर वृत्तिका मनुष्य शत्रुसे डरता नहीं। शत्रु कितना भी प्रबल हो वीर वृत्तिवाला मनुष्य कभी उसे डरता नहीं। डरनेका संबंध दासभावके साथ है। यहां 'शत्रुसे घबराना' यह एक दासका लक्षण कहा है। लोग दास इसी लिये बनते हैं कि वे शत्रुसे घबरा जाते हैं। इन लक्षणोंके साथ प्रथम मंत्रोक्त वीरोंके लक्षणोंसे अनुमान होनेवाले विरोधी दासभावके तीन लक्षण जाने जा सकते हैं— '(१) तेजोहीन जीवन, (२) अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना और (३) आत्मरक्षा न करनेवालोंकी अनुकूलता ' ये तीन लक्षण और मिलायेंगे तो दासके चार लक्षण होंगे। तेजहीन मन्द जीवन, अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना, आत्मरक्षा न करना, और शत्रुसे डरना ये चार लक्षण दासके हैं। ये लक्षण जहां हों वहां दास निवास करते हैं ऐसा समझना चाहिये अथवा ये लक्षण जिस राष्ट्रमें होंगे उस राष्ट्रमें दास होंगे। इन लक्षणोंसे पाठकोंको पता लग सकता है कि दास कौन है और आर्य कौन है। श्रेष्ठ कौन है और कनिष्ठ कौन है। प्रथम मन्त्रने आर्य अथवा श्रेष्ठके तीन लक्षण बताये और इस द्वितीय मंत्रने दासके लक्षण बताये हैं। पाठक इनका विचार करके आत्मपरीक्षा करें और अपनेमें यदि कोई दासके लक्षण दे दिये, तो उनको दूर करके अपनेमें ज्येष्ठ, श्रेष्ठ आर्यत्वके लक्षण बढावें।

विरोधियोंका सहकार्य।

इस जगत्में विरोधियोंके झगडोंका वृत्तान्त बहुत स्थानोंमें सुनाई देता है। विरोधियोंके झगडोंमें संमिलित होनेवाले दोनों पक्षप्रतिपक्षियोंकी शक्ति क्षीण होती है। इस प्रकारके नाशसे बचनेका उपाय इस द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है, वह उपाय है विरुद्ध धर्मियोंकी सहकारिता करना। देखिये—

(६) अ-व्यनत् च व्यनत् च सस्नि, ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त।— जड और चेतन ये विरुद्ध धर्मवाले दोनों परस्पर मिलजुलकर रहते हैं, इसलिये वे पुष्ट होकर आनन्दमें रहते हैं। (मं. २)

अपने शरीरमें ही देखिये शरीर जड है और आत्मा चेतन है। इन दोनोंके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं। इन दोनोंके धर्म परस्पर भिन्न होते हुए भी ये एक स्थान पर ऐसे मिले जुले रहते हैं कि इनको कोई भिन्न नहीं कर सकता। इस प्रकारकी इन विभिन्न धर्मियोंकी एकता होनेसे ये दोनों परस्परकी शक्तिसे परिपुष्ट होते हैं और दोनोंकी वृद्धि होती है। स्थूलसे सूक्ष्मकी वृद्धि और सूक्ष्मसे स्थूलकी पुष्टि होती है। जडकी सहायता चेतनके लिये और चेतनकी जडके लिये होती है। परस्पर विरुद्ध धर्मवाले ये दोनों एक दूसरेके साथ रहनेसे विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। यदि ये दोनों साथ न रहेंगे, तो यह जगत्का चमत्कार नहीं दिखाई देगा। यह चमत्कार केवल इन विरुद्ध शक्तियोंके एक स्थानपर कार्य करनेसे ही हो सकता है। पूर्वके सूक्तमें ' दो विरोधी चक्रोंके एक स्थानपर कार्य करनेपर उन दोनोंकी शक्ति बढ जाती है। (मं. १।५)' ऐसा कहा है। इस कथनके साथ इस उपदेशकी तुलना पाठक करें।

जड चेतनके साथ साथ कार्य करनेका यह उपदेश यहां इस हेतुसे कहा है कि जनतामें कई लोग जडबुद्धिके होते हैं और कई तीव्र बुद्धिके होते हैं। ये दोनों आपसमें न लडें। इसके अतिरिक्त भी बली निर्बल, ज्ञानी अज्ञानी, धनी निर्धन, पूंजीपति मजदूर, इस प्रकारके विरुद्ध धर्मवाले लोग रहते हैं। प्रायः इनका झगडा होता रहता है और झगडेसे आपसकी

शक्ति नष्ट होती है। अतः इनको उचित है कि जडचेतन या प्रकृति पुरुषके समान परस्पर मिलजुलकर रहें और परस्परकी सहायतासे दोनोंकी शक्ति बढावें। यह उपदेश बडा बहुमोल है और जो इसका मनन करेंगे उनको उन्नतिका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। ज्ञानी और अज्ञानी आपसमें मिलें, अज्ञानियोंको ज्ञानी ज्ञानदान दें और अज्ञानी ज्ञानियोंकी सहायता अपने बलसे करें। इसी प्रकार स्त्रीपुरुष विषमधर्मी होनेपर भी गृहस्थधर्मसे मिलें, इससे स्त्रीकी पुरुषको और पुरुषकी स्त्रीको सहायता होगी, और दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंकी उन्नति होगी। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मियोंका मेल होनेसे दोनोंकी बडी उन्नति होती है। उन्नतिका यह महासिद्धान्त इस द्वितीय मंत्रमें कहा है, इसलिये इस द्वितीय मंत्रका महत्त्व बहुत ही अधिक है।

राजनैतिक क्षेत्रमें जहां विविध जातियोंका आपसमें संघर्ष होता है वहां यह मेलका तत्त्व काममें लाया जाय, तो बडा लाभ होना संभव है। इस तत्वपर जब जातियां आपसमें मिलेंगी, तब सबका मिलकर एक बडा राष्ट्र होगा और उसकी शक्ति विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ होगी। ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय बलसे, वैश्य धनसे और शूद्र अपनी कारीगरीसे अपने राष्ट्रकी पूजा करें, ये परस्पर विभिन्न धर्मवाले लोग परस्पर मिलकर रहें और अपनी शक्ति बढावें। इस प्रकारकी एकता हमेशा लाभदायक हो सकती है। मनुष्यके व्यवहारमें विरोधके प्रसंग अनेक आते हैं, उस समय यदि इस नियमका स्मरण होगा तो जनताका बडा कल्याण हो सकता है।

शक्तिकी वृद्धि।

(७) ऋभवः त्वे क्रतुं पृञ्चन्ति, द्विः त्रिः भवन्ति- संरक्षक वीर तेरे अन्दर अपनी बुद्धिका योग करते हैं, जिससे वे दुगने और तिगने बलवान् हो जाते हैं। जो लोग अपने अन्तःकरणको ईश्वरमें लगाते हैं, विशेष एकाग्रता करके परमेश्वरका ध्यान करते हैं, उनका बल बढ जाता है। यहां 'क्रतु' शब्दका अर्थ 'प्रज्ञाशक्ति और कर्मशक्ति' है। अर्थात् जो मनुष्य अपनी बुद्धिको और कर्तृत्वशक्तिको ईश्वरार्पण बुद्धिसे एक ही सत्कर्ममें लगाते हैं, उनकी शक्ति बढती है। यहां बुद्धि और कर्मशक्तिको एक केन्द्रमें लगानेका महत्त्व बताया है। किसी भी व्यवहारके एक केन्द्रमें मन, बुद्धि, चित्त आदि अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है अथवा थोडी शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य होनेकी संभावना हो जाती है। अपने अन्तःकरणको अनेक कार्योंमें व्यग्र रखनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है, परंतु अनेक व्यवसायोंका झंझाट हटाकर किसी एक कार्यमें मनको लगाया जाय, तो एकाग्रतासे अपना बल बढनेके कारण सिद्धि सहजहीमें हो जाती है। 'ऋभ' का अर्थ है स्वसंरक्षण करनेवाले लोग। जो अपनी और जनताकी रक्षाके कार्य करते हैं, उनको इस प्रकार अपने मनको एकाग्र करना अत्यंत आवश्यक है, यदि उनका मन अनंत चिन्ताओंसे व्यग्र रहेगा, तो उनसे रक्षाका कार्य भी नहीं हो सकता। अर्थात् चित्तको एकाग्र करनेसे शक्ति द्विगुणित अथवा त्रिगुणित हो सकती है और चित्तकी व्यग्रता बढानेसे शक्ति क्षीण होती है। इसी नियमसे योगमार्गकी उत्पत्ति हुई है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका नाम योग है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका ही अर्थ चित्तको अनेक स्थानोंसे हटाकर किसी एक स्थानमें स्थिर करना। अपने मनकी शक्ति बढानेके लिये ही यह योग-साधन है। उदाहरणके लिये पाठक देखें कि किसी मनुष्यके पास एक रुपयेकी शक्ति है। यदि वह एक कार्यमें एक पाईकी शक्ति देगा तो १९२ कार्योंको एक एक पाईकी शक्ति ही मिल पायेगी और कोई कार्य नहीं होगा, परंतु यदि वह एक रुपयेकी शक्ति किसी एक ही कार्यमें लगायेगा, तो उसको अधिक सिद्धि मिल सकती है। एकाग्रतासे शक्ति इस प्रकार बढती है। अपनी थोडी शक्ति अनेक कार्योंमें खर्च करनेकी अपेक्षा अपनी सब शक्ति ही एक कार्यमें खर्च करना उक्त कारणसे बहुत लाभकारी है। इस वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात आ गई ही होगी कि यहां शक्ति बढानेका अर्थ शक्ति द्विगुणित होना नहीं है, अपितु उतनी ही शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य कर सकना है। एकाग्रतासे कार्यक्षमता बढ जाती है यही नियम यहां कहा है।

माधुर्य।

(८) स्वादोः स्वादीयः स्वादुना संसृज। सुमधु मधुना समभियोधीः— मीठेसे मीठा बनकर उसमें और मीठा रखो। उत्तम मधु मधुरतासे संयुक्त कर। यह रूपक है। प्रकृतिके स्वादुरसके साथ जीवात्माका स्वादुरस मिला है, इस मिलापसे यह मानवदेहरूपी स्वादु मीठा रस बना, इसमें और अधिक मधुर परमात्माका अमृत रस मिलाया जाय, तो सबसे उत्तम मधुरता हो जायगी। यह मीठापन संतों और महन्तोंमें दिखाई देता है। उत्तम मधु परमात्मा है उसको अपने जीवात्माके माधुर्यमें मिलाना चाहिये। यह अध्यात्मोन्नतिका अनुष्ठान इस मंत्रमें कहा है। जो अपनी उन्नति इस साधनसे करना चाहते हैं वे यह मधुर साधन करें। मनुष्यको सबसे प्रथम प्रकृति पुरुषके संबंधमें माधुर्य अनुभव करना चाहिये और उसमें

परमात्माकी मधुरता मिलानी चाहिये। यह माधुर्यका मार्ग व्यवहारमें भी बडा उपयोगी है। व्यवहारमें, बातचीतमें और विचारोंमें माधुर्य रखनेसे मित्र बढते हैं, और शत्रु कम हो जाते हैं। कई मनुष्य ऐसे कटुवचनी होते हैं कि कारणके विना ही कटु वाक्प्रहारसे मित्रोंको भी शत्रु बनाते हैं और हानि उठाते हैं। यह बहुत ही अनिष्ट है इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंदर मीठास बढावे और अपने सब व्यवहार माधुर्ययुक्त करे जिससे इसके मित्र बढेंगे और अनेक प्रकारसे लाभ होगा। (मं. ३)

ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकता।

(९) रणे रणे धना जयन्तं त्वा विप्राः अनुमदन्ति, स्थिरं ओजीयः आ तनुष्व- प्रत्येक युद्धमें धनोंको जीतनेवाले तेरे जैसे वीरोंका जब ज्ञानी अनुमोदन करते हैं, तब तू स्थिर बल फैला। इसमें मुख्य कथन यह है कि परमेश्वर हरएक युद्धमें विजय प्राप्त करता है, इसलिये ज्ञानी लोग उसकी उपासना करते हैं और परमेश्वर भी उनके लिये स्थिर बल उत्पन्न करता है। यह तो परमेश्वर विषयक भावार्थ हुआ। परंतु यहां इससे भी अधिक आशय है वह यह है- 'प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले क्षत्रिय वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी ब्राह्मण करेंगे, तो जिस देशमें ऐसे मिलजुलकर कार्य करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय रहते हैं, उस राष्ट्रमें हमेशा रहनेवाला स्थिर बल उत्पन्न होता है, अर्थात् वह राष्ट्र अत्यंत बलवान् होता जाता है।' यजुर्वेदमें कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
यजु. २०।२५

'जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर साथ साथ चलते हैं, उस राष्ट्रको पुण्य देश कहते हैं।' इस कथनके साथ इस सूक्तके पूर्वोक्त कथनकी तुलना पाठक करें।

१ रणे रणे जयन्तं विप्राः अनुमदन्ति— युद्धमें विजय पानेवाले वीरका ज्ञानी अनुमोदन करते हैं।

२ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ सह चरतः— जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर रहते हैं।

ये दोनों वर्णन जहां सङ्गत होते हैं, उस राष्ट्रमें स्थिर बल रहता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके ज्ञानी और शूर मिलजुलकर रहें, और अपना बल बढावें। इसकी प्रतिकूल स्थिति जहां होगी वहां अर्थात् जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें झगडते रहेंगे, वह राष्ट्र अधोगतिके कीचडमें फंस जायगा, इसमें कोई शङ्का नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकतासे बलकी वृद्धि और आपसके युद्धसे बलका नाश होता है।

(१०) दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्— दुष्ट और शोक उत्पन्न करनेवाले तुझे न दबावें। अध्यात्मपक्षमें- 'दुष्ट विचार और शोकके विचार मनुष्यके मनको न दबावें। राष्ट्रके पक्षमें दुष्ट घात करनेवाले लोग और दूसरोंको रुलानेवाले लोग राष्ट्रको न दबावें।' ब्राह्मण और क्षत्रियोंको आपसमें एकता करके अपने राष्ट्रका बल ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें दुष्ट लोगोंका उपद्रव बढने न पावे। सर्वत्र रक्षाका प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो कि जिससे दुष्ट सदा दबे रहें और कभी सिर ऊपर न उठा सकें। *व्यक्तिमें, कुटुम्बमें, जातिमें* और राष्ट्रमें यह उपदेश बडा बोधप्रद है। ब्राह्मण क्षत्रियोंका आपसमें युद्ध हुआ, अर्थात् दोनोंमें एकमत न रहा, तो इन दुष्टोंको सिर ऊपर उठानेके लिये अवसर मिल जाता है, अतः राष्ट्रके अन्दर अभेद्य एकता रखना चाहिये, और दुष्टोंको बढनेके लिये समय ही नहीं देना चाहिये।

(११) युधेन्यानि प्र पश्यन्तः वयं रणेषु त्वया शाशद्महे— युद्धोंमें विजय प्राप्त करके जो धन मिलते हैं उनको देखकर हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका निःपात करेंगे। यहां भी पुनः पूर्ववत् ज्ञानी और शूरोंकी सहकारिताका उपदेश किया है। ज्ञानी और शूर मिलकर एक मतसे युद्ध चलावें और विजय प्राप्त करके धन और यश कमावें। (मं. ५)

(१२) ते आयुधा वचोभिः चोदयामि— तुझ क्षत्रियके आयुध मैं ब्राह्मण अपनी वाणीसे प्रेरित करता हूं। ब्राह्मण अपने उपदेशसे क्षत्रियके अनुकूल वायुमंडल बनावे और क्षत्रिय भी ब्राह्मणकी विद्या बढनेके लिये योग्य सहायता देवे। क्षत्रियके शस्त्रोंको ब्राह्मण अपने भाषणसे प्रेरणा देवे। (मं. ५)

(१३) ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि— तेरी गतियोंको मैं अपने ज्ञानसे तेज करता हूं। अर्थात क्षत्रियोंकी हलचलोंको ब्राह्मण अपने ज्ञानसे योग्य दिशामें चलावे। (मं. ५)

इस पञ्चम मंत्रमें भी वही ब्राह्मण-क्षत्रियकी एकताका विषय बडी उत्तम रीतिसे कहा है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रका यह एक ही भाव है। जिस देशमें शूर और ज्ञानी ऐसे एक विचारसे व्यवहार करेंगे, उस देशका तेज निःसंदेह चारों ओर फैलेगा। आगेके छठे मंत्रमें भी यही एकताका विषय भिन्न रीतिसे कहा है, वह अब देखिये—

(१४) यस्मिन् दुरोणे अवरे परे च नि दधिषे, तत् अवसा अविथ— जिस घरमें छोटे और बडे मिलकर रहते हैं वह घर बलसे सुरक्षित होता है। उच्च नीच, छोटे बडे, बली निर्बल, सधन निर्धन, मालिक नौकर इत्यादि प्रकारके लोग होते हैं। प्रायः इनमें विरोध रहता है और विरोधके कारण एक दूसरेसे झगडते रहते हैं। परंतु जिस घरमें अथवा जिस राष्ट्रमें छोटे और बडे लोगोंमें एकता रहती है और ये सब एक घरमें रहनेके समान मिलजुलकर रहते हैं, वहां ही उनका अपनी एकताके बलसे रक्षण होता है। अर्थात् जिस देशके छोटे और बडे आपसमें झगडते रहते हैं, वह देश असुरक्षित होनेके कारण गिर जाता है। कितना ही बडा राष्ट्र क्यों न हो, वह एक छोटेसे घरके समान सब लोगोंको मालूम होना चाहिये। राष्ट्रमें किसीको भी ऐसा नहीं मालूम होना चाहिये, कि मैं छोटा हूं या दूसरा बडा है, इस विषयमें एक मंत्र देखिये—

(१) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋ. ५।६०।५)
(२) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। (ऋ. ५।५९।६)

'(१) जिनमें कोई बडा नहीं और जिनमें छोटा भी कोई नहीं है, ये सब परस्पर भाई हैं और ये सब अपने कल्याणके लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं॥ (२) इनमें कोई बडा नहीं, कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। वे सब एक जैसे हैं और वे अपने उदयके लिये उत्साहसे प्रयत्न करते हैं। वे उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, भूमिको माता माननेवाले, दिव्य मनुष्य, हमारे पास अच्छी प्रकार आवें।'

इन मंत्रोंमें ऐसे वीरोंका वर्णन है कि जिनमें उच्च नीच कोई नहीं है, सब एक ही श्रेणीके हैं और सब मातृभूमिकी उपासना करनेवाले और अपने सामुदायिक यशके लिये यत्न करनेवाले हैं। येही छोटे और बडे एक घरमें रहनेके समान रहते हैं और अपने मेलसे अपनी शक्ति बढाते हुए उन्नति करते हैं। अध्यात्मपक्षमें परमात्माके घरमें छोटे और बडे सब एक जैसे ही होते हैं, यहांका छोटेपन वहां छोटा नहीं होता और यहांका बडापन वहां बडा नहीं होता। वहां तो अन्तःशुद्धतासे सबकी उच्चनीच श्रेणी मानी जाती है। (मं. ६)

(१५) जिगत्नुं मातरं आस्थापयत— प्रगतिशील अपनी मातृभूमिको अपने अन्तःकरणमें स्थापन करते हैं। पूर्व स्थानमें दिये हुए ऋग्वेद मंत्रोंमें ये मातृभूमिके उपासक होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा ही है, वही बात यहां कही है। इसी विषयमें दूसरा एक मंत्र यहां देखने योग्य है वह अब देखिये—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ (ऋ. १।१३।९)
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना॥ (अथर्व. ५।२७।९; यजु. २७।१९)

'(**इळा भारती**) मातृभाषा (**सरस्वती**) मातृसभ्यता वा मातृसंस्कृति और (**मही**) मातृभूमि ये तीन देवियां अन्तः करणमें स्थिर रहें।' अर्थात् मनुष्यको अपने अन्तःकरणसे इन तीन देवियोंकी उपासना करनी चाहिये। यही उपदेश इस सूक्तके इस मन्त्रभागमें है, (**मातरं आस्थापयत**) मातृभूमिको अपने मनमें उत्तम प्रकार स्थापित करो अर्थात् मातृभूमिके उद्देश्यसे ब्राह्मण क्षत्रिय, छोटे बडे, उच्च नीच सब एक हों और मिलजुलकर अपनी उन्नति करनेके लिये यत्न करें तथा आपसमें झगडे खडे करके अपनी शक्तिका ही नाश कदापि न करें। (मं. ६)

(१६) अतः भूरि कर्वराणि इन्वत— इससे बहुत उत्तम कर्म तुम सिद्ध कर सकोगे। यदि पूर्वोक्त प्रकार एकतासे लोग रहेंगे, तो ही वे प्रबल पुरुषार्थ कर सकेंगे। अर्थात् आपसके झगडोंमें अपना समय बिता देंगे, तो उनसे कोई पुरुषार्थ नहीं होगा, और वे गिरते जायगे। आपसके झगडोंसे मनुष्योंकी पुरुषार्थ शक्ति ही नष्ट होती है। (मं. ६)

आप्त पुरुषकी स्तुति।

(१७) पुरुतमानं ऋभ्वाणं इनतमं आप्त्यानां आप्तं सं स्तुष्व— बहुत मार्गवाले, तेजस्वी, श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त पुरुषकी ही प्रशंसा कर। अन्यकी स्तुति न कर। परमेश्वरके पास जानेके अनेक मार्ग हैं और वह अनेक मार्गोंसे लोगोंका कल्याण कर सकता है, वह तेजस्वी और सबमें श्रेष्ठ है, और सब आप्तोंमें परम आप्त वही है, इसलिये वही स्तुति करने योग्य है। उसके स्थानपर किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। जो सदा सत्यवचनी होता है और कभी किसीके अहितकी बात नहीं करता, जिसके शब्द *प्रमाण माने जा सकते हैं उसका नाम आप्त है।* ऐसे आप्तोंमें जो सबसे श्रेष्ठ आप्त पुरुष होता है, वह '**आप्त्यानां आप्तः**' है अर्थात् प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक वही है। इसीलिये परमेश्वरको सब गुरुओंका भी महागुरु अथवा आदिगुरु कहते हैं। यह वर्णन तो परमात्मविषयक हुआ, अब इस

सूक्तका अन्य मनुष्य विषयक भावार्थ देखते हैं। जो मनुष्य (पुरु-वर्त्मा) बहुत मार्गोंवाला है अर्थात् अपनी उन्नतिके लिये तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अनेक मार्गोंसे बहुत प्रयत्न करता है, एक मार्गसे असिद्धि हो जाने पर दूसरे मार्गसे अपना कदम आगे बढाता है और सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है, (ऋभ्वाणं, ऋभु) कुशल, कारीगर, कला जाननेवाला, हुनर जाननेवाला, कुशलतासे कार्य करनेवाला, जो कार्य हाथमें ले उसे कुशलतासे करनेवाला, (इन+तमं) अत्यंत शक्तिमान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् ओजस्वी, (आप्त्यानां आप्तं) प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक, ऐसा जो पुरुष होगा उसकी स्तुति कर। जो अनेक उपायोंसे कार्य सिद्धि करनेवाला, कर्म करनेमें कुशल और प्रामाणिक पुरुष हो, वही प्रशंसाके लिये योग्य है। किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। केवल ज्ञानी, केवल अधिकारी, केवल धनी पुरुष जो होंगे, वे यदि ऊपर लिखा हुआ जनहितका कार्य तत्परतासे नहीं करेंगे, तो वे स्तुतिके लिये योग्य नहीं होंगे। (मं. ७)

आदर्श पुरुष।

(१८) **भूरि+ओजाः शवसा आदर्शति**— बहुत बलवाला मनुष्य अपने सामर्थ्यसे आदर्शरूप होता है। मनुष्य जो जनतामें आदर्श हो जाता है वह बलके कारण होता है। जिसमें किसी भी प्रकारका बल नहीं है, वह कदापि आदर्श पुरुष नहीं हो सकता। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आदि अनेक बल हैं। पुरुषमें किसी भी बलकी अधिकता होगी, तो ही वह लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। मनुष्यमें बल हो और उस बलका उपयोग जनताका उद्धार करनेके कार्यमें वह करे, तो वह सबके लिये आदर्श होता है। पूर्वापर संगतिसे पाठक इस भावार्थको स्वयं जान सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुष किन गुणोंसे बनते हैं, इसका बोध इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें प्रकाशित हो सकता है. उस आशयके साथ इस मंत्रभागको देखनेसे स्पष्ट होता है कि आदर्श पुरुष बननेके लिये स्वयं बल कमाना और उस बलका उपयोग परोपकारार्थ करना आवश्यक है। इस विषयमें अगला मंत्रभाग देखने योग्य है—

(१९) **पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति**— वह पृथिवीके साथ समानता प्राप्त करता है, वह भूमिका नमूना बनता है। जिस प्रकार गंभीरता, गुरुत्व और सहनशीलताका आदर्श पृथ्वी है, उसी प्रकार वह गंभीर, बडा और सहनशील बनता है। पृथ्वी सब स्थिरचरको आधार देती है, स्थिरचरके आघात सहन करती हुई भी सबको उत्तम पोषणके पदार्थ देती है। यह शांति और परोपकारका आदर्श है। पृथ्वी सबको यह उपदेश दे रही है। यह आदर्श जो पुरुष अपने सन्मुख रख सकता है और अपने जीवनमें ढाल सकता है, वही आदर्श पुरुष बन सकता है। पृथ्वी जिस प्रकार अपनी शक्ति परोपकारमें लगाती है, उस प्रकार जो पुरुष अपनी सब शक्तिको जनताकी भलाईके लिये खर्च करता है, वही अन्य लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। (मं. ७)

काव्य कैसा हो !

(२०) **अग्रियः स्वर्+साः बृहद्दिवः शूषं ब्रह्म कृण्वत्**— प्रथम श्रेणीमें स्थित, अपने प्रकाशसे युक्त, बडे द्युलोकके समान तेजस्वी ऋषि, बल उत्पन्न करनेवाला काव्य करता है। इस मंत्रमें प्रथम ऋषिके गुण कहे हैं। वह कवि सबमें प्रथम स्थानमें विराजनेवाला आत्मिक प्रकाशसे प्रकाशनेवाला, द्युलोकसे भी अधिक विस्तृत और प्रभावशाली हो, तभी वह कवि ऋषि कहलायेगा। यह ऋषि (शूषं ब्रह्म) बल बढानेवाला स्तोत्र या काव्य बनावे। कवि लोग काव्य इस प्रकारका बनावें कि जिसके पढनेसे पढनेवालेके मनमें बलका पोषण होवे, निर्बल अन्तःकरण भी बलशाली बनें, उदासीन लोग उत्साही बनें और पुरुषार्थ हीन लोग प्रबल पुरुषार्थी बनें। काव्य इस प्रकारका बनना चाहिये। ऋषिके काव्यका यही लक्षण है। ऋषिका काव्य निर्जीव मनुष्योंको भी विलक्षण पुरुषार्थी बना सकता है। इस प्रकारके ऋषिके काव्यको पढनेवालेकी योग्यता किस प्रकार बढ सकती है, यह अगले मंत्रभागमें देखिये—

(२१) **महः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति**— बडे गोरक्षण राष्ट्रका स्वतंत्र राजा होकर रहता है। 'गो+त्र' का अर्थ गौकी रक्षा करनेवाला। पुष्टि और बलके लिये गौकी रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसे गोरक्षक राष्ट्रमें वह राजा बनकर रहता है। जो पूर्वोक्त प्रकार बल बढानेवाला काव्य करता है, वह मानो राष्ट्रका स्वतंत्र राजा ही होता है, जो राजाको सन्मान मिलता है वही उक्त ज्ञानीको मिलता है, किंवा उससे भी अधिक उसकी मान्यता हो जाती है इसका कारण अगले मंत्रभागमें देखिये—

(२२) **तुरः चित् तपस्वान् विश्वं अर्णवत्**— शीघ्रतासे कार्य सफल करनेवाला वह तपस्वी विश्वको ही हिला देता है। इतनी उसमें शक्ति उत्पन्न होती है। तपस्वी मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने काव्यसे हिला देता है, संपूर्ण जगत्में चेतना उत्पन्न करता है। (मं. ८)

(२३) **महान् बृहद्दिवः अ+थर्वा स्वां तन्वं इन्द्रं एव अवोचत्**— बडा तेजस्वी स्थिर चित्तवाला योगी अपने

शरीरमें रहनेवाले इन्द्रसे ही इस प्रकार बोला। उक्त योगी ऋषिने अपने शरीरके इन्द्र-आत्मा-को ही इस प्रकार स्तोत्र रूपी वचन कहा, किंवा उसका वर्णन किया। अर्थात् इस सूक्तमें जो है वह अपने शरीरके अंदरके आत्माका ही वर्णन है, ऐसी भावनासे ऋषिने वर्णन किया है। दूसरोंको जो उपदेश दिया जाता है, या जो काव्य कवि करते हैं, वह दूसरोंके लिये नहीं करते, प्रत्युत वह अपने अंदर चरितार्थ हुआ देखते हैं, किंवा उनमें जगत्के कल्याणका भाव उतना ही तीव्र होता है, जितना कि अपने कल्याणका भाव साधारण मनुष्यमें हुआ करता है। इसलिये कवि और ऋषि जो भी बोलते हैं वह विशेष करके अपने अन्तरात्माके लिये होता है, उससे जगत्के लोग जितना चाहें उतना लाभ उठावें। परंतु कविमें उपदेश देनेका घमंड नहीं होता, वे जो बोलते हैं केवल अपने आत्माकी शान्तिके लिये होता है। (मं. ९)

(१४) **मातरि+श्वरि स्वसारौ अ+रिप्रे हिन्वन्ति, शवसा वर्धयन्ति**— मातृभूमिका पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता] निर्दोष होनेके कारण सबको हिलाती हैं और बलसे बढाती मां हैं। मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता ये तीन देवियां हैं, इस विषयमें इसी सूक्तके विवरणके प्रसंगमें अन्यत्र विशेष रीतिसे कहा ही है। ये तीनों देवियां दोषरहित हैं, सबको चेतना देनेवाली हैं और सबको बलके साथ बढानेवाली हैं। कवि अथवा ऋषि अपने काव्यसे ऐसी चेतना मनुष्यके अन्तःकरणमें उत्पन्न करते हैं, इसीलिये उनकी योग्यता असाधारण समझी जाती है।

परमेश्वर महाकवि और महाऋषि होनेके कारण यह वर्णन उसके काव्यके लिये पूर्ण रूपसे लगता है। मनुष्योंमें जो कवि हों उनके लिये यहां आदेश देकर सूचित किया जाता है कि वे अपने काव्यमें उक्त प्रकारकी चेतनाशक्ति रखें। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका वर्णन परमगुरु परमात्मपरक और मानवी कवियोंपरक भी लगता है इतना कहनेके पश्चात् इस सूक्तकी एक विशेष बातकी ओर पाठकोंका मन आकर्षित करना चाहते हैं, वह बात यह है कि इस सूक्तका ऋषि '**बृहद्दिवः अथर्वा**' है और वह ही ऋषिनाम मं. ८ और ९ में आया है। इसलिये इसी ऋषिका यह सूक्त है ऐसा कहते हैं। यह नाम इस ऋषिका है इसमें संदेह ही नहीं है, तथापि इसका श्लेषालंकारसे अर्थ हमने ऊपर बताया है। इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ भी ऊपरके अर्थमें विशद हुआ है। (**बृहत्+दिवः अ+थर्वा**) द्युलोकसे बडा निश्चल आत्मा यह इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ है। इस प्रकार ये शब्द तीनों स्थानोंमें योग्य प्रकार लग सकते हैं। पाठक इस बातका अधिक विचार करें। अब यहां इस सूक्तका राष्ट्र उन्नतिपरक भावार्थ सरल शब्दोंमें देते हैं—

राष्ट्रोन्नतिका सन्देश।

(१) जिससे उग्र तेजस्विता निर्माण होती है वही सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। वह निर्माण होते ही शत्रुओंका पराभव करता है, इसलिये सब संरक्षकगण उसको अपना अग्रणी करके हर्षित होते हैं।

(२) शक्तिसे युक्त होकर बढनेवाले प्रबल शत्रुको देखकर दासवृत्तिवाले मनुष्य ही डरते हैं (वीर वृत्तिवाले कदापि नहीं डरते)। वस्तुतः देखा जाय तो जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जड और चेतन इकट्ठे रहनेसे परस्परके बलसे बलवान् होकर आनंदित होते हैं [उसी प्रकार विरुद्ध धर्मवाले मनुष्यगण यदि इकट्ठे होकर रहने लगे, तो ही वे परस्परके बलसे बलवान् होकर परमानन्दको प्राप्त कर सकते हैं।]

(३) जो अपनी बुद्धि और कर्मशक्तिको बहुत देरतक एक ही कार्यमें स्थिर करते हैं, वे द्विगुणित और त्रिगुणित बलको प्राप्त करते हैं। मीठेसे मीठे पदार्थमें और भी मिठास रखकर उत्तम मधुरता उत्पन्न कर, और मीठेसे मीठेको बढा [अर्थात् अपने आचरणमें मिठास रखो और जिनके साथ संबंध आ जाय उनको भी मीठा बनाओ।]

(४) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। इस प्रकार वीर और ज्ञानियोंके ऐक्यसे राष्ट्रमें स्थिर बल उत्पन्न होगा और दुष्ट मनुष्य प्रबल नहीं होंगे।

(५) युद्धसे प्राप्त होनेवाले विजयादिको देखकर हम सब ज्ञानी वीरोंके साथ होकर शत्रुका नाश करते हैं, और अपने ज्ञानसे वीरोंके शत्रोंको चेतावनी देते हैं तथा वीरोंकी हलचलोंको अधिक तेज बनाते हैं।

(६) बडे और छोटे जिस देशमें एक घरमें रहनेके समान रहते हैं, उसी देशकी अपने बलसे रक्षा होती है। प्रगतिशील मातृभूमिका अपने अन्तःकरणमें स्थापन करो और विशेष पुरुषार्थ करो।

(७) जो बहुत मार्गोंसे उन्नति सिद्ध करता है, जो कुशल कर्म करनेवाला होता है, जो श्रेष्ठ होता है, और जो अधिक प्रामाणिक है उसी उत्तम पुरुषकी प्रशंसा किया करो [किसी अन्य हीन पुरुषकी स्तुति न करो।] बहुत बलवाला मनुष्य अपने बलके कार्योंसे आदर्श पुरुष बन जाता है, जो पृथिवीके समान लोगोंके लिये आधार देनेवाला बनता है।

(८) बडे तेजस्वी आत्मिक बलवाले श्रेष्ठ ऋषिका बल उत्पन्न करनेवाला यह इन्द्र सूक्त है। यह तपस्वी ऋषि सब

विश्वको ही हिला देता है, और स्वतंत्र राजा जैसा बनकर रहता है।

(९) बडे तेजस्वी योगी ऋषिने इन्द्रका- मानों अपने अन्दरकी देवताका- ही स्तोत्र बनाया। इसमें मातृभूमिका भरण-पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृ-सभ्यता ये दोनों] निर्दोष रहकर उन्नतिके लिये प्रेरणा करती हैं और सबको बलवान् बनाकर बढाती हैं।

यह भावार्थ राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। यह अर्थ इस सूक्तमें प्रधान स्थान रखता है, इसलिये विस्तारपूर्वक दिया है। परमात्माके वर्णनपरक अर्थ भी यहां विशेष करके हैं वह आशय पाठक समझ ही गये होंगे।

देवता।

इस सूक्तका देवता 'वरुण' सर्वानुक्रमकारने लिखा है। परंतु इसी सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें यह सूक्त 'इन्द्र' देवताका है ऐसा स्वयं स्पष्ट कहा है, इस लिये इसका देवता 'इन्द्र' मानना उचित है। तथापि यह बात खोज करने योग्य है।

ईश्वरविषयक भावार्थ।

अब इस सूक्तका ईश्वर विषयक भावार्थ संक्षेपसे लिखते हैं- '(१) जिससे सूर्यादि तेजस्वी गोल निर्माण हुए हैं, वह ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है। इससे अंधेरा दूर होता है अतः सब रक्षक इससे आनंदित होते हैं। (२) यह बलसे बढता और दुष्टको भय देता है। इसीकी योजनासे जड चेतन इकट्ठे रहकर सबको आनन्द देते हैं। (३) जो इस ईश्वरमें मन लगाते हैं वे द्विगुणित बल प्राप्त करते हैं और मधुरसे भी अधिक मधुर होते हैं। (४) यह ईश्वर हरएक युद्धमें विजयी होता है इसलिये ज्ञानी इसको प्राप्त करके आनंद भोगते, स्थिर बल प्राप्त करते और दुष्टोंको दूर करते हैं। (५) हे ईश्वर! तेरा विजय सर्वत्र देखकर हम तेरे साथ रहते हुए शत्रुको हटायेंगे। तेरे आयुधोंको हम शब्दोंसे प्रेरित करेंगे और ज्ञानसे तेरी गतिको जानेंगे। (६) तेरे घरमें छोटे और बडे समान अधिकारसे रहते हैं, और तू बलसे सबकी उत्तम रक्षा करता है। हमको तुम प्रकृति-माताकी गोदमें रखते हो जिससे हम उत्तम कर्म कर सकते हैं। (७) जो विविध मार्गोंसे प्राप्त होनेवाला, श्रेष्ठ कारीगर और परमआप्त पुरुष है, उसकी ही स्तुति कर। वह बलवान् होनेसे सबके लिये आदर्श है, और पृथ्वीके समान सबका आधार है। (८) महातेजस्वी आत्मप्रभावी आदि ऋषिने यह सूक्त इंद्रकी प्रशंसामें किया। वह महातपस्वी इस संपूर्ण जगतको चलाता है, और स्वतंत्र राजा होकर इस जगत्‌में रहता है। (९) महा-तेजस्वी योगी ऋषिने यह स्वयं अपने ही प्रभुशक्तिपर स्तोत्र किया। जिसके पास (प्रकृति) माता और दो बहिनें (शक्तियां) रहकर सबको प्रेरित करती हैं और बलसे सबकी वृद्धि करती हैं।'

इस प्रकार इस सूक्तका परमात्म विषयक भावार्थ है। पाठक इन दोनों भावार्थोंकी तुलनासे इस सूक्तका गंभीर आशय जान सकते हैं। और अनुष्ठानसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह सूक्त समझनेमें बहुत कठिन है अतः इतना विवरण करनेपर भी इसके अर्थकी अधिक खोज करनी आवश्यक है।

विजयकी प्राप्ति।

(३) विजयाय प्रार्थना।

(ऋषिः — बृहद्दिवोऽथर्वा। देवता — अग्निः। विश्वे देवाः।)

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं᳡ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वया॑ध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (विहवेषु मम वर्चः अस्तु) सब युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। (वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम) हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीरको पुष्ट बनावें। (चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सन्मुख नमें। (त्वया अध्यक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अध्यक्षके साथ रहकर संग्रामोंमें विजय प्राप्त करें॥ १॥

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ २ ॥
मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ॥ ३ ॥
मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥ ४ ॥
मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैवा होतारः सनिषन्न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुदन्) शत्रुओंके क्रोधको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नः विश्वतः परि पाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर। (दुरस्यवः अपाञ्चः निवता यन्तु) दुःखदायी दूर हटाने योग्य नीच लोग दूर चले जायें। (एषां प्रबुधां चित्तं अमा वि नेशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हों तो भी उनका चित्त साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

(सर्वे देवाः इन्द्रवन्तः मरुतः विष्णुः अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत्, विष्णु और अग्नि (विहवे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों। (मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशेष स्थानवाला होवे। (वातः मह्यं अस्मै कामाय पवतां) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहता रहे ॥ ३ ॥

(मम यानि इष्टा मह्यं यजन्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे। (अहं कतमच्चन एनः मा नि गां) मैं किसी भी प्रकारके पापको न करूं। (विश्वे देवाः इह मा अभि रक्षन्तु) सब देव यहां मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

(देवाः मयि द्रविणं आ यजन्तां) देव मेरे लिये धन देवें। (मयि आशीः, मयि देवहूतिः अस्तु) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें देवताओंको पुकारनेकी शक्ति रहे। (दैवा होतारः नः एतत् सनिषन्) दिव्य होतागण हमें यह देवें। हम (तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे। तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान् करें। मेरे सन्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नम्र हों। तेरी अध्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका क्रोध दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर। दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जांय। यदि वे शत्रु बुद्धिमान् हों तो उनकी दुष्ट बुद्धि भी साथ साथ ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

सब देवोंकी सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा अन्यान्य देव हमें सहायक हों। मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरी सब कामनाएं पूर्णतया सिद्ध हों। मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों। मेरेसे कोई पापकर्म न हो। और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी उपासना करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो। यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो। हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥
तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ७ ॥
उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥
धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सवितामिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥
ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

अर्थ— (दैवीः षट् ऊर्वीः) ये दिव्य छः बडी दिशाओं ! (नः उरु कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान करो। हे (विश्वे देवासः) सब देवो ! (इह मादयध्वं) यहां हमें आनंदित करो। (अभिभाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो। (अशस्तिः मा उ) अकीर्ति न आवे, (या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पास न आ जावें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियो ! (नः महि शर्म यच्छत) हमें बडा सुख प्रदान करो। (यत् च पुष्टं नः तन्वे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजाके लिये दो। (प्रजया मा हास्महि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनूभिः) शरीर भी कृश न हो। हे (राजन् सोम) राजा सोम ! (द्विषते मा रधाम) शत्रुके कारण हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

(उरुव्यचाः पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षुः शर्म यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अन्नयुक्त सुख देवे। हे (हर्यश्व इन्द्र) रसहरणशील किरणवाले देव ! हे प्रभो ! (नः प्रजायै मृड) हमारी प्रजाके लिये सुख दो। (नः मा रीरिषः) हमारा नाश न कर। (मा परादाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

(धाता विधाता) धारक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिषाहः सविता देवः) जो भुवनका पालक सञ्चालक घमंडी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उभा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) विनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

(ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्यां एनान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्निकी सहायतासे इनका हम प्रतिबन्ध करते हैं। (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेत्तारं अधिराजं अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान देवें। सब देव हमें आनन्दित करें। निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियां हमें बडा सुख देवें। हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिको प्राप्त हो। हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीडित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें उत्तम सुख देवे। हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विभक्त न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥ ९ ॥

14524

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥ (१९)

अर्थ— (यः गोजित् धनजित् यः अश्वजित्) जो गौ, धन और घोडोंको जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्चं इन्द्रं अमुतः हवामहे) हमारे पासवाले इन्द्रकी वहांसे स्तुति करते हैं। (नः विहवे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धामें किये हमारे इस यज्ञको सुनें। हे (हर्यश्व) रसहरणशील किरणवाले देव! (अस्माकं मेदी अभूः) तू हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं। तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान् ऐसा राजा दें ॥ १० ॥

जो गौ, घोडे, आदि विविध धनोंको देनेवाला है, उस प्रभुकी हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं। हे प्रभो! यह हमारी प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥

अपने विजयकी प्रार्थना।

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है। मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है। यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परंतु उस विजयको प्राप्त करनेके लिये किस प्रकार मनमें विचार धारण करने चाहिये, बुद्धिमें कौनसे संकल्प स्थिर करने चाहिये, और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता। मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि, विजय प्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्ति-पर ही निर्भर है। बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होंगे, उनका ही परिणाम जय अथवा पराजय होता है। अर्थात् मनमें विजयी विचार रहें तो विजय और हीन विचार रहें तो पराजय होगा। इसका संबंध ऐसा है कि, मनके शुभाशुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें होता है। इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहियें, जिससे विजय प्राप्तिकी संभावना हो। इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनको मनमें धारण करनेसे मनुष्यकी निःसन्देह विजय होगी। ये विचार अब देखिये—

विजयी विचार।

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये। इस सूक्तमें प्रारम्भसे अन्ततक कहे हैं। इसलिये इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं, और उनका विजय निःसन्देह हो सकता है। ये विजयी विचार अब देखिये-

१ विहवेषु मम वर्चः अस्तु। (मं. १)

२ पृतनाः जयेम। (मं. १)

'युद्धोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे, और हम युद्धोंमें शत्रुओंकी सेनाओंको पराजित करेंगे।' यह मनका निश्चय रहना चाहिये। मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूंगा और विजय संपादन करूंगा।

३ पनान् अव बाधामहे। (मं. १)

'इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबंध करेंगे।' अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रु आने लगे तो उनको हम रोक देंगे और आगे बढने नहीं देंगे। इस मंत्रभागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है। हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये। मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे। जिसकी इतनी तैयारी रहेगी वही युद्धोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा। इस विजयके विषयमें व्यक्तिके लिये क्या और राष्ट्रके लिये क्या दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बडे होते हुए भी, शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेष ही रीतिसे करना आवश्यक है। इस प्रकारकी पूर्व तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही वह कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम्। (मं. १)

' चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें ' अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे । इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु । (मं. ३)

' मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे । ' हरएक मनुष्य का अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बडा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है । जो प्रबल पुरुषार्थी होते हैं उनका संपूर्ण जगत्के समान विशाल अंतरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मघातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष आ गया है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसको देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है । मानों, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटो ही है । पाठक इन पांचों वाक्योंकी परस्पर संगति देखेंगे, तो इनको विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है । इस विजयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना ।

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रुको दबाकर रखना और उसको उठने न देना, यह करना विजयके लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रभाग देखिये—

६ सपत्ना अप भवन्तु । (मं. १०)

७ दुरस्यवः निवताः अवाञ्चः यन्तु । (मं. ३)

' वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओर चले जावें । ' अर्थात् वे अपना सिर ऊपर न करें । तथा और देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विदन् । (मं. ६)

' निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिलता हमारे पास न आवे ' अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें । इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सकें । इन मंत्रभागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य, तथा समाजके अन्तर्गत और बाह्यके सब शत्रु दूर करनेकी सूचना मिलती है । सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे और अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे ।

कामनाकी तृप्ति ।

अपना विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है । मनुष्यके अन्तःकरणमें कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णता हुई तो उसको अपने जीवनकी सार्थकता हो गई ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनको निरर्थक समझता है । इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं किस प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं. ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं. ४)

११ मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु । (मं. ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः, देवहूतिः च आ यजन्ताम् । (मं. ५)

१३ तिस्रो देवीः नः महि शर्म यच्छत । (मं. ७)

१४ नः प्रजायै मृड । (मं. ८)

' मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अथवा प्राण चले । जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों । मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों । सब देव मुझे धन, आशीर्वाद, और देवभक्ति दें । तीन देवियां अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बडा सुख देवें । ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे । ' इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हरएक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं । मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी न्यूनाधिक पूर्तिपर अवलंबित है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही होने दे, और उनमें कोई अशुभ वासना न रहे, ऐसी मनकी उच्च अवस्था बना दे । उन्नतिके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है । इस प्रकार भावनाकी शुद्धताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

ईश्वर उपासना ।

१५ इंद्रं हवामहे । (मं. ११)

' प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं । ' ईश्वर सब श्रेष्ठ गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मनन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना शुद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और संकल्प शुद्ध होते हैं । यही बात निम्नलिखित मंत्र-भागोंमें कही है—

निष्पाप बनना ।

१६ अहं कतमच्चन एनः मा नि गाम् । (मं. ४)

' मैं किसी प्रकारका छोटा या बडा पाप न करूं अथवा पापके पास भी नहीं जाऊं । ' मंत्रमें कहा है कि ' पापके

पाप नहीं जाऊंगा ' यह बडा भारी उच्च निश्चय है। जो मनुष्य ऐसा निश्चय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। पाप स्वयं करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। पातक स्वयं करनेकी अपेक्षा पापके पास जाना सहज है। मनुष्य प्रथम पापकर्मका वर्णन सुनता है, पश्चात् दूसरेका किया पापकर्म देखता है, तदनंतर स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मंत्रमें उपदेश दिया है कि पापकर्मकी ओर ही मनुष्य न जावे। पाठक इस अमूल्य उपदेशका महत्त्व जानें और तदनुसार अपना आचरण सुधारकर उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें। इस प्रकार निष्पाप होकर ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

ईश प्रार्थना।

१७ इमं यज्ञं विहवे शृणोतु। (मं. ११)

' इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने। ' अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूं उसको परमेश्वर सुनें। यहां पाठक स्मरण रखें कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्पाप होकर शुद्धाचारी रहते हुए उन्नतिके मार्गसे जाना चाहते हैं। इस प्रकारके मनुष्यको देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता चाहें, इस समय इन उपासकोंका विश्वास कैसा होता है यह बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें देखिये। हरएक मनुष्य यद्यपि यशका भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है।

देवोंकी सहायता।

प्रायः मनुष्य संकटके समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकती है। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य हैं—

१८ विहवे सर्वे देवा मम सन्तु। (मं. ३)
१९ इह विश्वेदेवाः मा अभिरक्षन्तु। (मं. ४)
२० विश्वेदेवासः इह मादयध्वम्। (मं. ६)
२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः निर्ऋथात् पान्तु। (मं. ७)
२२ अस्मिन् इषे पुरुहूतः महिषः पुरुलु शर्म यच्छतु। (मं. ८)
२३ अस्माकं मेदी अभूः। (मं. ११)
२४ देवीः षट् उर्वीः नः उरु कृणोत। (मं. ६)
२५ परेषां मन्युं प्रतिनुदन् नः विश्वतः परिपाहि। (मं. २)

' युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। संपूर्ण देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहां मेरा आनन्द बढावें। धाता विधाता भुवनपति और अन्य देव दुःखसे हमारी रक्षा करें। इस यज्ञके समय बहुत प्रशंसित समर्थ प्रभु बहुत भोगयुक्त सुख हमें देवें। प्रभु हमारा सहायक हो। दिव्य छः दिशाएं हमारे लिये बडा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें। शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें। '

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें येही इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको भी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करनी चाहियें। पूर्वोक्त वाक्योंमेंसे अन्तिम वाक्यमें ' शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना ' है। यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है। ' शत्रुका क्रोध दूर करके उनकी शुद्धता कर ' यह आशय इस प्रार्थनामें है। शत्रुका नाश करनेकी अपेक्षा यदि शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर होकर वह भला आदमी हुआ तो अच्छा ही है। इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है। वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे प्रथम शत्रुके दोष दूर करके उसको शुद्ध करनेका यत्न करें, यह न हुआ तो उसको दूर करें अथवा नाश करें। यह नीतिका उत्तम नियम इस वेदमंत्र द्वारा बताया है।

राजप्रबंध।

अपने राजप्रबन्धकी उत्तमतासे विजय हो सकता है और राज्यशासनकी अव्यवस्थासे हानि होती है, इसलिये अपने शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहियें इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवाः चेतारं उग्रं अधिराजं अक्रत। (मं. १०)

' सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनावें ' अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राज्यगद्दीपर न आवे, यह उपदेश इस स्थानपर मिलता है। विजय प्राप्त करनेके मार्गका आक्रमण करनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल।

विजय प्राप्तिके लिये शारीरिक बल बढाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुषेम। (मं. १)
२८ तन्वा अरिष्टाः सुवीराः स्याम (मं. ५)
२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्टम्। (मं. ७)
३० तनूभिः प्रजया मा हासिषम्। (मं. ७)
३१ नः मा रीरिषः। (मं. ८)

'अपने शरीरका बल बढायें और उनको पुष्ट करें। शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बनें। हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों। हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों। हम दुर्बल न हों।' इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें इतने हैं। पाठक इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्तिके साधन किस प्रकार कहे हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि पाठक मनमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण करेंगे तो विजयका मार्ग उनके लिये खुला और भयरहित हो जायगा।

कुष्ठ औषधि।

(४) कुष्ठतक्मनाशन्।

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता — कुष्ठो, यक्ष्मनाशनम्।)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १॥
सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम्॥ २॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३॥

अर्थ— हे (तक्मनाशन कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ नामक औषधि! (यः गिरिषु अजायथाः) जो तू पर्वतोंमें उत्पन्न होता है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें अत्यंत बल देनेवाला है, वह तू (तक्मानं नाशयन् इतः आ इहि) रोगोंका नाश करता हुआ वहांसे यहां आ॥ १॥

(सुपर्ण-सुवने गिरौ हिमवतः परि जातं) गरुड जहां होते हैं ऐसे हिमालयके शिखरपर जो होता है उसका वर्णन (श्रुत्वा धनैः अभि यन्ति) सुनकर धनोंके साथ लोग वहां जाते हैं और (तक्म-नाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं॥ २॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतका दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं॥ ३॥

भावार्थ— कुष्ठ औषधि पर्वतोंपर उगती है। बलवर्धक औषधियोंमें सबसे अधिक बलवर्धक है। इससे क्षयादि रोग दूर होते हैं॥ १॥

हिमालयकी ऊंची ऊंची चोटियोंपर यह औषधि उगती है, वहां मिलती है यह जानकर बडा धन खर्च करके लोग वहां जाते हैं और रोगनाशक इस औषधिको प्राप्त करते हैं॥ २॥

यहांसे तीसरे उच्च द्युलोकमें जहां देवताएं बैठती हैं वहां अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं॥ ३॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन्याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥
उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥
उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता । यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥
शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः । कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥ (३९)

अर्थ—(हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौ दिवि अचरत्) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थान आसन्) सोनेके मार्ग थे और (अरित्राणि हिरण्यया) बल्लियां भी सोनेकी थीं तथा (नावः हिरण्ययीः आसन्) नौकायें भी सोनेकी थीं (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया गया था ॥ ५ ॥

हे कुष्ठ नामक औषधि ! (मे इमं पुरुषं आ वह) मेरे इस पुरुषको उठा, (तं निष्कुरु) उसको निःशेष रीतिसे चंगा कर और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरोग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अधि जातः असि) देवोंसे तू उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिका तू मित्र और हितकारी है । इसलिये (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षु आदिके लिये इस मेरे पुरुषको सुख दे ॥ ७ ॥

(सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्यां उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है। (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहां कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (वि भेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे कुष्ठ ! (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है, (ते पिता उत्तमः नाम) तेरा उत्पादक अथवा रक्षक भी उत्तम है। (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर (च तक्मानं अरसं कृधि) और ज्वरको निःसत्त्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामयं) शिरके रोग, (अक्ष्योः उपहत्यां) आंखोंकी कमजोरी, और (तन्वः रपः) शरीरके दोष (तत् सर्वं) इन सबको (दैवं वृष्ण्यं सं अह) दिव्य बल बढाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधि दूर करती है ॥ १० ॥

भावार्थ— सुवर्णके समान तेजस्वी आकाशनौका जहां चलती है वहां अमृतका ही पुष्परूप यह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

उस आकाशनौकाके मार्ग भी सुवर्णके थे और बल्लियां भी सोनेकी थीं जिनसे कुष्ठ औषधी यहां लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधि मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमके समान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान, चक्षु आदिके लिये सुखकारी है ॥ ७ ॥

हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी उन्नति करती है, इस लिये इसके यश बहुत गाये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है, जो उसको अपने पास रखता है, वह भी उत्तम है । इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे शिरके रोग, आंखोंके व्याधि, तथा शरीरके दोष दूर होते हैं । इस कुष्ठसे शरीरका बल बढता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

@

कुष्ठ औषधि।

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है। इस औषधिसे सिरके रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्यत्र होनेवाले रोग, ज्वर तथा क्षय और कुष्ठ रोग भी इस औषधिसे दूर होते हैं। इसलिये सोमके समान ही इस औषधिका महत्त्व है। इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है। रस आदि पेटमें लिये जाते हैं और घृतादि बनाकर शरीरपर लेप दिये जाते हैं। इस औषधिके गुणधर्म वैद्यक ग्रन्थमें देखने योग्य हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें आये हुए इसके नाम विचार करने योग्य हैं—

१ नीरुजं = नीरोगता उत्पन्न करनेवाली औषधि।

२ पारिभद्रकं = सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला।

३ रामं = आनंद देनेवाला।

४ पावनं = शुद्धि करनेवाला।

कुष्ठ औषधिके ये नाम वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इन नामोंसे इस औषधिसे होनेवाले लाभ ज्ञात हो सकते हैं। अब इसके गुण देखिये—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु।
हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥
भा. प्र. पू. १

विषकण्डूखर्जूदद्रुहृत् कान्तिकरं च॥ रा. नि. व. १०

'यह कुष्ठ औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्र उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है। वात, रक्त, वीसर्प, खांसी, कुष्ठ और कफ इन रोगोंको दूर करती है। इसी प्रकार विष, खुजली, दाद आदि रोगोंको दूर करती है और कान्तिको बढाती है।'

वैद्यक ग्रंथोंमें लिखे हुए ये वर्णन बिलकुल स्पष्ट हैं और पाठक इन गुणोंकी तुलना वेदके मंत्रोंके साथ करेंगे तो उनको वेद मंत्रोंका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा।

इस औषधिका हिंदी नाम 'कुठ' है। यह अतिप्रसिद्ध औषधि है। इसका उपयोग अन्दर पीने और बाहरसे लेपन करनेमें होता है। इसका शीतोष्ण कषाय पीनेसे अन्तःशुद्धि होती है और इसके तैल, घृत आदिका लेप करनेसे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी दूर होते हैं। वैद्योंको इस औषधिके प्रयोग करनेकी रीतिका अधिक विचार करना चाहिये।

लाक्षा।

(५) लाक्षा।

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — लाक्षा।)

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥
यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम्। भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी॥ २॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नभः, पितामहः अर्यमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अर्यमा है। (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलाची है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है॥ १॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्यकी रक्षा करती है। (शश्वतां जनानां हि भर्त्री न्यञ्चनी च असि) सब जनोंका भरण-पोषण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है॥ २॥

भावार्थ— सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है। यह इंद्रियोंको बहिनके समान सुखदायक है॥ १॥

जो इस औषधिके रसका पान करता है वह जीवित रहता है। इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा पुष्टि और नीरोगिता होती है॥ २॥

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला । जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥
यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम् । तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥
भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात् । भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे । रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे । अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य ह्यास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

अर्थ — (वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको चाहनेवाली कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं आ रोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढती है । तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है । (स्परणी नाम वै असि) तेरा नाम स्परणी भी है ॥ ३ ॥

(यत् दण्डेन, य इष्वा) जो दण्डसे और जो बाणसे, (यत् वा हरसा अरुः कृतं) अथवा जो रगडसे घाव हो गया है, (तस्य निष्कृतिः त्वं असि) उससे बचाव करनेवाली तू है, (सा इमं पुरुषं निष्कृधि) वह तू इस पुरुषको चंगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् प्लक्षात् अश्वत्थात् खदिरात् धवात्) भद्र, पाकड, पीपल, खैर, धव, (भद्रात् न्यग्रोधात् पर्णात्) बड, पलाश इन वृक्षोंसे (निः तिष्ठति) निकलती है । हे (अरु-धति) घावोंको भरनेवाली वनस्पति ! (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रंगवाली भाग्यशालिनी ! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्णवाली और शरीरके लिये हितकारी हे (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली ! तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) व्रण या रोगके पास पहुंचती है ॥ ६ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रंगवाली भाग्यशालिनी ! हे (शुष्मे लोमश-वक्षणे) बलशालिनी और बालोंवाली ! हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध ! (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है । (ते आत्मा वातः ह बभूव) तेरा आत्मा वायु ही हुआ है ॥ ७ ॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है । (तव पिता अजबभ्रु) तेरा पालक अजबभ्रु अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है । (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह अस्ना उक्षिता असि) उसके मुखसे तू सींची गई है ॥ ८ ॥

भावार्थ— बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्परणी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

दण्डा, बाण अथवा किसीकी रगड लगनेसे जो व्रण होता है वह व्रण इस औषधिसे अच्छा हो जाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खैर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह घावको भरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकारी है । यह रोग दूर करती है इसलिये इसका निष्कृति नाम हुआ है ॥ ६ ॥

यह सुवर्णके रंगवाली, बलवाली और अंदरसे तन्तु निकालनेवाली है । इसका नाम लाक्षा औषधि है । यह रसवाली है, परंतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानीना भी है । जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं, उनपर यह मिलती है । सूर्यके गतिशील किरणोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

अश्व॑स्या॒स्नः संप॑तिता॒ सा वृ॒क्षाँ अ॒भि सि॑ष्यदे ।
स॒रा प॑त॒त्रिणी॑ भू॒त्वा सा न॒ एह्य॑रुन्धति ॥ ९ ॥ (४८)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— (अश्वस्य अस्नः सम्पतिता) घोडेके मुखसे संमिलित हुई (सा वृक्षान् अभि सिष्यदे) वह वृक्षोंको सींचती है। हे (अरु-धति) घावको भरनेवाली ! (पतत्रिणी सरा भूत्वा) चूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एहि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ— सूर्यकिरणसे तप्त होकर वृक्षोंसे बाहर आती है। यह वृक्षसे चूती है और बाहर आती है। यह व्रणोंको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा।

लाक्षाका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है। इसको भाषामें लाही कहते हैं। लाख भी इसीका नाम है। इसके संस्कृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जतु, जतुका- कृमियोंसे बननेवाली।
२ क्रिमिजा, कीटजा- कृमियोंसे बननेवाली।
३ क्रिमिहा- क्रिमियोंका नाश करनेवाली।
४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा- रक्षा करनेवाली।
५ रक्तमाता- रक्त जिससे बनता है।
६ क्षतघ्ना, क्षतघ्नी- व्रणका नाश करनेवाली।
७ खदरिका- खैरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।
८ पलाशी- पलाश वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली।
९ द्रुमव्याधिः, द्रुमामयः- यह वृक्षका रोग है।
१० दीप्तिः- यह तेजःस्वरूप है।
११ द्रवरसा- द्रव रसरूप है।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहा आशय ही बता रहे हैं। देखिये—

यह लाक्षा खैर और पलाश तथा अन्यान्य वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कही है। जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें 'खदरिका और पलाशी' ये हैं। इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें 'दीप्ति' कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें 'हिरण्यवर्णा' आदि शब्दोंसे हुआ है। 'द्रवरसा' इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है। यही भाव नवम मंत्रके 'सरा' पदसे जाना जाता है। सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उलट पुलट होनेसे भी बनते हैं।

लाक्षाका नाम 'क्षत-घ्नी' है।। इसका अर्थ व्रणको ठीक करनेवाली है। यही बात इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है। 'दण्डेसे, बाणसे अथवा रगडसे होनेवाला व्रण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है' इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं। अब इस लाक्षाके गुण देखिये—

> तिक्ता कषाया श्लेष्मपित्तघ्नी विषघ्नी रक्तघ्नी
> विषमज्वरघ्नी च। रा. नि. व. ६

'लाक्षा, तिक्त और कषाय है। तथा कफ, पित, विष, रक्तदोष और विषमज्वरको दूर करनेवाली है।' इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पिता, पितामह, बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन मं. १, ७, ८ में आ गया है। इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चाहिये। वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें।

प्रथम मंत्रमें सिलाची लाक्षाका वर्णन करते हुए 'देवानां स्वसा' ऐसा उसका वर्णन किया है। यह लाक्षा देवोंकी बहिन है, अर्थात इंद्रियोंकी सहायक है। 'देव' शब्द यहां इंद्रियवाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके व्रणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इंद्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है। यह लाक्षा रस करके किस प्रकार पीयी जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका सेवन पेटमें करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है। रक्षा करनेके कारण ही इसको 'रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा' कहते हैं। यह व्रणको ठीक करती है, सडने नहीं देती और मनुष्योंका भरण-पोषण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है। द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वोक्त वैद्यक ग्रंथोक्त गुणोंके साथ भी मिलता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय करती है, रोगोंका सामना करती है। इस कारण बहुत लोग इसको चाहते हैं। सब लोगों द्वारा इसकी स्पृहा करनेके कारण इसका नाम ही ' स्परणी ' हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारसे उत्पन्न हुए व्रण आदिको यह लाक्षा दूर करती है। रोगोंकी निष्कृति करनेके कारण इसका नाम ' निष्कृति ' हुआ है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि पिलखन, पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह ' अरुं-घती ' है अर्थात् व्रणोंको चंगा करनेवाली है। इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके घाव भर जाते हैं।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है। सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके समान तेज इसमें है। यह ' वपुष्टमा ' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है। शरीरको पुष्ट और तेजस्वी करनेवाली है। ' रुत ' अर्थात् व्रण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है। रोगों और व्रणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको ' निष्कृति ' नाम प्राप्त हुआ है। यह बात प्रकृतिवाली है, मानों इसका आत्मा ही बात है।

अष्टम मंत्रमें ' अजबभ्रु ' यह लाक्षाका पिता है, ऐसा कहा है। अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है। जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियां खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है। इनपर लाख उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है। वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करें और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करें।

यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्या।

(६) ब्रह्मविद्या।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सोमारुद्रौ।)

ब्रह्म॑ ज॒ज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑ ॥ १ ॥
अना॑प्ता॒ ये वः॑ प्रथ॒मा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे।
वी॒रान्नो॒ अत्र॒ मा द॑भ॒न्तद्व॑ ए॒तत्पु॒रो द॑धे ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-ष्ठाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-मा) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत्के उत्पत्ति स्थानको भी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्ताः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख धर देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत्के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

पहिले ज्ञानी पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वैसे कर्म तुम करो, और बालबच्चों और वीरोंको बचाओ, यही तुम्हारे लिये कहना है ॥ २ ॥

सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥
पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥
न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥
अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ६ ॥
अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥
मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (दिवः सहस्रधारे नाके एव) द्युलोकके सहस्रों धाराओंसे युक्त सुखपूर्ण स्थानमें ही (ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्) वे निश्चल शांत स्वभाववाले और मधुरभाषणी लोग सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं, कि (तस्य भूर्णयः स्पशः न नि मिषन्ति) उसके पकडनेवाले पाश लिये दूत कभी आंख नहीं बंद करते हैं। (सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति) बांधनेके लिये पद पद पर पाश लिये खडे हैं ॥ ३ ॥

(वाजसातये वृत्राणि सक्षणिः) अन्नदानके लिये प्रतिबंध करनेवाले शत्रुओंको दूर करनेवाला बनकर (उपरि सु प्र धन्व) उनको सब ओरसे भगा दे। क्योंकि (तत् द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे) तू शत्रुओंपर समुद्रकी ओरसे भी चढाई करते हो। इस कारण आपका (सनि-स्रसः नाम असि) सनिस्रस अर्थात् चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम है। (त्रयोदशः मास इन्द्रस्य गृहः) तेरहवां महिना इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

(नु एतेन असौ अरात्सीः) निश्चयसे इस प्रकार उस तूने सिद्धि प्राप्त की है। (स्वा-हाः) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही सिद्धिका मार्ग है। (तिग्मायुधौ तिग्महेती) तीक्ष्ण हथियारवाले और तीक्ष्ण अस्त्रवाले (सुसेवौ सोमारुद्रौ) उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र (इह नः मृडतं) यहां हमें सुखी करें ॥ ५ ॥

(एतेन असौ अव अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है, (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है। (तिग्मायुधौ०) उत्तम शस्त्रास्त्रवाले वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

(एतेन असौ अप अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है। (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है। (तिग्मा०) उत्तम शस्त्रास्त्रधारी वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

(अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तं) हम सबको निंदनीय पापसे छुडावो, (यज्ञं जुषेथां) यज्ञका सेवन करो और (अस्मासु अमृतं धत्तं) हममें अमृत धारण कराओ ॥ ८ ॥

भावार्थ— प्रकाशपूर्ण स्वर्ग धाममें रहनेवाले शांत और मधुर स्वभाववाले ज्ञानी लोग एक स्वरसे कहते हैं कि उस प्रभुके दूत कभी आंख बंद नहीं करते; अपने आंख सदा खुले रखकर हाथमें पाश लिये हुए पापियोंको बांधनेके लिये पद पद पर तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

जो लोग अन्नदान आदि परोपकारके कार्योंमें विघ्न उत्पन्न करते हैं, उनको दूर करो। जिस प्रकार शत्रुपर भूमिसे चढाई की जाती है, उस प्रकार समुद्रकी ओरसे शत्रुपर चढाई करनेमें भी तू कुशल बन। तेरहवां महिना भी अन्य मासोंके समान इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

इस मार्गसे हरएकको सिद्धि मिल सकती है। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करना ही सिद्धिका मूल है। उत्तम शस्त्रास्त्रधारी सेवा करने योग्य वीर उक्त प्रकार यहां सबको सुखी करें ॥ ५ ॥

इसी रीतिसे हरएक मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। त्याग भाव ही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

इसी प्रकार सिद्धि मिलती है। त्याग भाव ही सिद्धिका मूल है। सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

पापसे दूर रहो। प्रशस्त सत्कर्म करो और अमरत्व प्राप्त करो ॥ ८ ॥

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥
योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥
इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १२ ॥
इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १३ ॥
इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १४ ॥ (६२)

अर्थ— हे (चक्षुषः हेते) आंखके आयुध ! (मनसः हेते) हे मनके शस्त्र ! (ब्रह्मणः हेते) हे ज्ञानके आयुध ! और (तपसः च हेते) तपके आयुध ! तू (मेन्याः मेनिः असि) शस्त्रका शस्त्र है । (ये अस्मान् अभ्यघायन्ति) जो हमें सताते हैं (ते अ-मेनयः सन्तु) वे शस्त्ररहित बनें ॥ ९ ॥

(यः यः अघायुः अस्मान्) जो कोई पापाचरण करनेवाला हमें (चक्षुषा मनसा चित्त्या) आंख, मन, चित्त, (च आकूत्या अभिदासात्) और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करे, हे अग्ने ! (त्वं तान् मेन्या अ-मेनीन् कृणु) तू उनको शस्त्रसे शस्त्रहीन कर । (स्वा-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही मुक्तिका हेतु है ॥ १० ॥

(इन्द्रस्य गृहः असि) तू इन्द्रका घर है। मैं (सर्व-गुः) सर्व प्रकारकी गतिसे युक्त, (सर्व-पूरुषः) सब पुरुषार्थ-शक्तिसे युक्त (सर्व-आत्मा) सर्व आत्मबलसे युक्त, (सर्व-तनूः) सब शारीरिक शक्तियोंसे युक्त (यत् मे अस्ति तेन सह) जो कुछ मेरा है, उसके साथ (तं त्वा प्र पद्ये) उस तुझको प्राप्त करता हूं, और (तं त्वा प्र विशामि) उस तुझमें प्रविष्ट हुआ हूं ॥ ११ ॥

(इन्द्रस्य शर्म असि) इन्द्रका तू आश्रयस्थान है । मैं (सर्व-गुः) सब गति, पुरुषार्थ शक्ति, आत्मिक बल और शारीरिक शक्तिसे युक्त होकर तथा जो भी कुछ मेरे पास है उसके साथ तुझे प्राप्त होता हूं, और तुझमें आश्रय लेता हूं ॥ १२ ॥

(इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्रका कवच तू है । मैं सब गति, पौरुषशक्ति, आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होकर तथा जो कुछ मेरे पास है, उसको लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १३ ॥

(इन्द्रस्य वरूथं असि) इन्द्रकी ढाल तू है । मैं सब गति, पौरुषशक्ति, तथा आत्मिक और शारीरिक बलके साथ तथा जो कुछ मेरा है, उस सबके साथ तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ— आंख, मन, ज्ञान और तप ये बडे शस्त्रास्त्र हैं, ये शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं । इनसे उन दुष्टोंको शस्त्रहीन कर, कि जो अपने बलसे दूसरोंको सताते हैं ॥ ९ ॥

जो कोई पापी आततायी चक्षु, मन, चित्त अथवा संकल्पसे दूसरोंको दास बनानेका यत्न करे, उसको तू उक्त शस्त्रोंसे शस्त्रहीन कर । इस मार्गमें आत्मसर्वस्वका समर्पण ही बंधमुक्त होनेका उपाय है ॥ १० ॥

सब गति, सब पुरुषार्थ शक्ति, सब आत्मिक बल और संपूर्ण शारीरिक बलोंके साथ तथा और भी जो कुछ मेरा कहने योग्य है उसको साथ लेकर, प्रभुके शरणमें जाता हूं, उसके घरमें प्रविष्ट होता हूं और वहां ही रहता हूं । वही हम सबका सच्चा घर और संघके लिये सुरक्षित स्थान है ॥ ११-१४ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां. ४।१।१) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां. ४।७।७) काण्डमें सप्तम सूक्तका सप्तम मंत्र है। इन मंत्रोंके अर्थ, भावार्थ और स्पष्टीकरण पाठक वहां देखें।

यद्यपि द्वितीय मंत्र कां. ४।७।७ में है, तथापि यह मंत्र वहां विष दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है। इसलिये प्रकरणानुसार वहां औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है। परन्तु यहां ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वे ही अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा। क्योंकि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहांके योग्य अर्थ बता सकते हैं। जैसा किसीने अपने अनुयायियोंसे कहा कि 'तुम तैयार हो जाओ' तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हरएक शाखाके कार्यकर्ता अपने अपने कर्तव्य-कर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरीके कार्यमें अपनी सिद्धता कर सकता है। एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न श्रोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है। इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां. ४।७।७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहां उपासनायोगकी प्रेरणा देती है। पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्त्व जान सकते हैं।

प्रथम मंत्रका विस्तृत स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू. १, मं. १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं। इस प्रथम मंत्रका यह आशय है— 'ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहां मर्यादा होती है, वहां देखकर ज्ञानी इस ब्रह्मको जानता है। यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनको उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस हृदयके अनुसंधानसे मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है। (मं. १)'

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता; इसी प्रकार परमात्माके परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता है अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्माके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है। परमात्मा परम तेजस्वी है, सबसे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अन्तिम सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्यका पता लग सकता है। जिस प्रकार घरके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरेकी दिवारोंपर गिरनेसे नजर आता है। यदि दिवारोंकी रुकावट न हो, तो नजर नहीं आवेगा। इसी प्रकार इस विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवतारूपी दिवारोंपर उसके किरण पडकर जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढी है।

जगत्में परमात्माकी शक्तिका कार्य देख कर सदसत्के मूल आदि कारणको जानना चाहिये। ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं।

यह प्रथम मंत्रका आशय है। इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि— 'पूर्व कालके ज्ञानी भद्रपुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तुम भी प्रशस्ततम कर्म करो, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचाओ और उनकी उन्नति करो, यही तुम्हें कहना है। (मं. २)' तुम्हारे सन्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीनकालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था। इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सन्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर। उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए अपने बालबच्चोंकी उन्नति किस प्रकार की, अपने संतानोंको विनाशसे कैसे बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देख कर उन बातोंको अपनी जीवनमें ढाल और उनके समान आचरण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन कर। यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है। यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहां आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साथ परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा है। पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्त्व यहां देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें।

इन दो मंत्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं।

स्वर्गके महन्तोंकी घोषणा।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जन-

ताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते असश्चतः मधुजिह्वाः सहस्रधारे
दिवो नाके समस्वरन् ॥ (मं. ३)

'ये निरलस, मधुर भाषण करनेवाले, सहस्र धाराओंसे जहां अमृत प्राप्त होता है उस द्युलोकके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक स्वरसे यह उपदेश देते हैं।' अर्थात् ये लोग जनताकी भलाईके लिये एक स्वरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति ।
सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति ॥ (मं. ३)

'इस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आंख कभी मूंदते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुली आंखोंसे सदा देखते रहते हैं। पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्में हरएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं।' अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, हरएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये ये दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही सब पापीको बांध देते हैं। अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊं। पद पद पर उसके दूत आंख खोलकर खडे हैं, वे तत्काल पापीको पकडते हैं। यहां तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकडा गया हुआ पापी कभी कभी अपने आपको स्वतंत्र भी समझता है, परन्तु वह उस समय पूर्ण रीतिसे बंधा हुआ होता है। परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इस लिये सब मनुष्योंको उचित है कि वे उचित धर्मानुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें। पापसे बचें और इस प्रकारके सावधान आचरणसे परमात्माके इन गुप्तचरोंसे बच जांय। यह बिलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपनेसे बच जाय। इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य पुण्यमार्गपरसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा वेही ईश्वरके दूत उतनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माओंको किसीसे डर नहीं होता।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि आत्मिकशक्तिके विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये पवित्र आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है।

शत्रुको भगाना।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है। 'वृत्र' शब्द यहां शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता है, विशेषतः (**वाजसातये**) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खडी करता है, वह शत्रु है। पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका उनको पता लग जायगा। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा सांघिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान् हैं। इनको दूर करके अपना उन्नतिका मार्ग खुला करना आवश्यक है। ऐसे शत्रुओंको (**परि सु प्र धन्व**) सब ओरसे उत्तम प्रकार विशेष रीतिसे भगा दो। अपने पास ठहरने न दो। शत्रुपर चढाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है। तथा ऊपरसे भी हो सकती है। कोई अन्य रीतियां भी होती होंगी। यहां तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है। जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उन्नतिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे। प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है। उसका मार्ग इस मंत्रने बताया है। यह तो आध्यात्मिक मुक्तिके लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है।

सिद्धिका मार्ग।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंधरहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्वोक्त प्रकार किया है। अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरात्सीः। (मं. ५)
एतेन अव अरात्सीः। (मं. ६)
एतेन अप अरात्सीः। (मं. ७)

'इसी मार्गसे तू सिद्धिको प्राप्त करेगा' अर्थात् पूर्वोक्त चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि मिल सकती है। चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है— (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने सन्मुख रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना।' ये उन्नतिके चार सूत्र हैं। इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। इस उन्नतिमें एक बातकी आवश्यकता है और वह है 'स्वाहा' करना। स्वाहा करनेका अर्थ अब देखिये—

स्वा-हा करो।

इस सूक्तमें मं. ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर चार वार 'स्वाहा' शब्द आया है। इसलिये इस सूक्तमें वार वार स्वाहा आनेसे इसका महत्त्व इस सूक्तोक्त सिद्धिमें अधिक है। इसलिये 'स्वाहा' शब्दका अर्थ देखना चाहिये।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है। अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है। अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढानेमें ही खर्च न करते हुए संपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यय करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है। इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढाना नहीं चाहता। यही यज्ञकी शिक्षा है। द्रव्ययज्ञ, विद्यायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ ही यह है कि द्रव्यज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्धि होगी। सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है। मं. ५-७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन बार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यहां देख सकते हैं कि जगत्‌में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी जैसी विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्थी मनुष्यकी नहीं होती। अर्थात् स्वार्थत्याग जैसा जगत्‌के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है।

सोम और रुद्र।

जगत्‌में शांति करनेवाली और उग्रता बढानेवाली दो शक्तियां हैं, इनके 'सोम-रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम' ये नाम वेदमें आये हैं। सोमशक्ति जगत्‌में शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढानेवाली है। प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियां कार्य करती हैं, कहीं कदाचित् एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है। जो प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष शूर वीर, युद्धप्रिय, क्रूर अथवा कठोर होगा। इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है।

जिस प्रकार व्यक्तिमें सोम अथवा रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार समाजमें अथवा जातिमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है। इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शांत स्वभाव तथा उग्र स्वभाव हुए हैं। ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारण ही सुप्रसिद्ध है। अतः सोमारुद्रौ इस देवता वाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण-क्षत्रियोंका बोध होता है।

मं. ५-७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमारुद्रौ देवता हैं। 'ये दोनों देवता हमें सुखी करें' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अंदर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहां लेना उचित है। समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढता रहे और कोई हीन और दीन न हो। पूर्वोक्त कही रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिको प्राप्त करे। यह आशय इन तीन मंत्रोंका है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि किस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण पूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलंबन करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है। इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं—

तीन उपदेश।

१ अवद्यात् दुरितात् अस्मान् मुमुक्तम्। (मं. ८)
२ यज्ञं जुषेथाम्। (मं. ८)
३ अस्मासु अमृतं धत्तम्। (मं. ८)

'(१) निंद्य पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतको धारण करो।' ये तीन उपदेश अष्टम मंत्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतको प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मंत्रोंका सार है। इस समयतक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मंत्रभागोंमें आ गया है।

' पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युको दूर करके अमृतको प्राप्त करना ' सब धर्मके नियम इन तीन मंत्रभागोंमें संमिलित हुए हैं । अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका विधि है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है । इस प्रकार यह त्रिवृत यज्ञ किंवा त्रिकर्म करना है । यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहे तो उसका बेडा पार हो सकता है । कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने थोडे शब्दोंमें वेदने यहां दिये हैं; इसका विचार पाठक करेंगे; तो उनको इन उपदेशोंका महत्त्व समझ सकता है ।

शस्त्रोंके शस्त्र ।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कई बार किया है । उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र बढानेकी आवश्यकता होती है । हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रु भी अपने शस्त्रास्त्र बढाता है । इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र बढने लगे, तो वे इतने बढ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती । इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय, यह प्रश्न विचारी मनुष्योंके सन्मुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः ब्रह्मणः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः ।
(मं. ९)

' आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं, वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं । ' अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुनी अधिक शक्ति इनमें है । इनमें जो आत्मिकबल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके बलसे कई गुना अधिक समर्थ होता है । इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवी बलका प्रतिकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपरूपी आत्मिक बलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है । केवल दृष्टिक्षेपसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है । लोहेके शस्त्रास्त्र क्षत्रियके हैं और ये आत्मिक बल ब्राह्मणके होते हैं । विश्वामित्रके पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने व्यर्थ सिद्ध हुए, यह ऐतिहासिक कथा यहां देखने योग्य है ।

पाशवी बलका आत्मिक बलसे प्रतिकार ।

पाशवी बल जिसके पास बढता है, वह अपने सुखको बढानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह (**अघ+आयुः**) जिसकी आयु पापमय हो चुकी है, ऐसा पापी बनता है । जिस प्रकार एक पापी व्यक्ति दूसरोंपर अत्याचार करता है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक पापी राष्ट्र भी दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इसलिये उसको भी ' अघ-आयु ' अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है—

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति । (मं. ९)
यो अघायुः अस्मान् अभिदासात् । (मं. १०)

' जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं । जो पापी हमें दास करना चाहता है अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है । ' इन मंत्रभागोंमें पाशवी अत्याचारका स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दूसरेका घातपात पापपुण्यका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है कि दूसरोंका सर्वस्व नाश करना । यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है । *जगतके अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख* इसीके कारण हैं । पाठक जगत्के इतिहासमें देखेंगे, तो उनको मालूम होगा कि ' एक बलवाला दूसरे निर्बलको अपने पेटकी पूर्तिके लिये खा रहा है । ' यही पाशवी अत्याचार है । इस बलवान्के शस्त्रोंको निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही है—

चक्षुषा मनसा चित्त्या आकूत्या मेन्या तान्
अमेनीन् कृणु । (मं. १०)
ब्रह्मणः तपसः च मेन्या ते अमेनयः सन्तु ।
(मं. ९)

' आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुओंको शस्त्र रहित कर । ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनको शस्त्रहीन कर । ' अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका सामना इन आत्मिक बलसे कर । अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये ही आत्माके शस्त्र हैं । इनको तेजस्वी बना और इनसे तू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर । तेरे अंदर ये आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढेंगे, उतने ही प्रमाणसे शत्रुके पाशवी बल सत्त्वहीन हो जायंगे । पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका *यही सनातन मार्ग है* । इसी मार्गके आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था । इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्तमें निःसंदेह विजय होगा । सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है । जो पाशवी बलवाले होते हैं वे अपने लोहशस्त्रोंके घमंडसे अपना आत्मिकबल बढानेका यत्न नहीं करते किंवा वे अत्याचारकी प्रवृत्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढा नहीं सकते । इसलिये अनत्याचारी शान्तिपूर्ण अहिंसामय आत्मिकबलके मार्गपरसे जानेवाले लोग जितना अपना मार्ग आक्रमण करेंगे; उतना उनका विजय ही होता रहता है, क्योंकि उनके शत्रु इस मार्गमें आते नहीं, और यदि इस आत्मिकबलके मार्गपर वे आ गये, तो भी उसमें इन ही

आत्मिक उन्नतिवालोंकी ही जीत होगी। इसका कारण यह है कि यदि इस मार्गपर चलनेके लिये वे शत्रु अहिंसामय अनत्याचारी बने, तो दुःखका मूल ही नष्ट हो गया और फिर झगडेका कारण ही नहीं रहा। जैसा वसिष्ठका आत्मिकबल देखकर विश्वामित्रने अत्याचारी क्षात्रबलका त्याग करके शांतिमय अनत्याचारी ब्राह्मबल स्वीकार किया। तत्पश्चात् दोनोंमें झगडा होनेका कुछ भी कारण न रहा। इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है।

इस आत्मिकबल द्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें '**स्वा-हा**' अर्थात् आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुनः '**स्वाहा**' शब्द द्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है। पाठक यहां स्मरण रखें, कि अत्यंत स्वार्थत्यागके बिना यह आत्मशुद्धि और आत्मबलके मार्गपरसे चलना असंभव है। इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण।

'अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है।' इसका वर्णन इस प्रकार है—

यत् मे अस्ति तेन सह, सर्वतनूः, सर्वगुः, सर्वात्मा, सर्वपूरुषः त्वा प्र पद्ये, त्वा प्र विशामि ॥ ११-१४ ॥

'जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियां, सब पुरुषार्थशक्तियां लेकर तुझे प्राप्त होता हूं और तुझमें प्रविष्ट होता हूं।'

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमाका वर्णन है। जो कुछ मेरा इस जगत्‌में है उसको भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हूं और उसके साथ अपना शरीर, अपनी इंद्रिय, अपना मन आदि शक्तियां, और सब पुरुषार्थकी शक्तियां भी उसी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूं। अर्थात् जो कुछ अपना कहने योग्य है, वह सब ध्येयकी सिद्धिके लिये समर्पित करता हूं। यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रों द्वारा बताया गया है। इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ कितना व्यापक है, इस बातका पता लग सकता है। इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वे ही त्यागी अन्तमें बंधमुक्त होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिसे बांधा नहीं जा सकता।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिके मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्मशुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन मनुष्य कर सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। जो पाठक इस दर्शायी रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं।

ऐश्वर्यमयी विपत्ति।

(७) अरातिनाशनम्।

(ऋषि — अथर्वा। देवता — बहुदैवत्यम्, अरातयः, सरस्वती।)

**आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम्।
नमो॑ वी॒र्त्सायां॒ अस॑मृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥ १ ॥**

अर्थ— हे (**अराते**) अदानी! (**नः आ भर**) हमें धन भर दे, हमसे (**मा परि स्थाः**) मत अलग हो, (**नः नीयमानां दक्षिणां मा रक्षीः**) हमारी लाई गई दक्षिणाको मत अपने पास रख। ऐसी (**वीर्त्सायै असमृद्धये नमः**) ईर्ष्या युक्त असमृद्धिके लिये नमस्कार है और (**अरातये नमः अस्तु**) अदानके लिये दूरसे नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ— दान न देनेका गुण संपत्तिको संग्रहित करता है, इसलिये यह गुण कुछ मर्यादा तक अलग न हो। परंतु देने योग्य दक्षिणाका दान कम न हो। इस मर्यादा तककी कंजूसी और असमृद्धिका हम आदर करते हैं ॥ १ ॥

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्। नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥
प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्। अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥
सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे। वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥
यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा। श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥
मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥
परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि। वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी! (यं परिरापिणं पुरुषं पुरोधत्से) जिस बडबडनेवाले पुरुषको तू आगे धरती है (ते तस्मै नमः कृण्मः) तेरे उस पुरुषको हम नमस्कार करते हैं। परंतु (मम वनिं मा व्यथयीः) मेरे मनकी इच्छाको तू पीडा न दे ॥ २ ॥

(नः देवकृता वनिः) हमारी देवों द्वारा निर्मित इच्छा (दिवा नक्तं च कल्पतां) दिन और रात समर्थ होवे। (वयं अरातिं अनुप्रेमः) हम अदानशीलताको प्राप्त हों (अरातये नमः अस्तु) अदानशक्तिको नमस्कार होवे ॥ ३ ॥

(यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे) हलचल करनेवाले हम विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको पास बुलाते हैं। (देवहूतिषु देवानां जुष्टां वाचं अवादिषं) देवोंके आह्वानके प्रसंगमें देवोंके लिये प्रिय वाणी ही मैं बोलता हूं ॥ ४ ॥

(यं अहं मनोयुजा सरस्वत्या वाचा याचामि) जिससे मैं उत्तम मनसे युक्त ज्ञानमय वाणीको मांगता हूं (तं अद्य बभ्रुणा सोमेन दत्ता) उसको आज भरणकर्ता सोमने दी हुई (श्रद्धा विन्दतु) श्रद्धा प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(नः वनिं मा) हमारी भक्तिको न कम कर और (वाचं मा वि ईर्त्सीः) वाणीको भी न रोक। (उभौ इन्द्राग्नी नः वसूनि आ भरतां) दोनों इन्द्र और अग्नि हमें धन प्राप्त करावें। (नः दित्सन्तः सर्वे) हमें दान करनेवाले सब तुम (अरातिं प्रति हर्यत) अदानशीलताको विरोधके साथ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

हे (असमृद्धे) असमृद्धि! (परः अप इहि) परे चली जा (ते हेतिं वि नयामसि) तेरे शस्त्रको हम अलग करते हैं। हे (अराते) अदानशीलते! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेद) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुभनेवाली जानता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस पुरुषपर उक्त प्रकारकी अदानशीलताका प्रभाव हुआ है उसको भी हम नमस्कार करते हैं, तथापि मेरी मनकी इच्छाको उससे व्यथा न पहुंचे ॥ २ ॥

देवों द्वारा प्रेरित हमारी सदिच्छा दिन और रात बढती रहे। हम उक्त प्रकारकी अदानशीलताको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

हम हलचल करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं। हम सदा प्रियवाणी ही बोलें ॥ ४ ॥

मैं उत्तम सुसंस्कृत मन और ज्ञानमयी वाणीको चाहता हूं। उत्तम श्रद्धा भी हम सबको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हमारी सदिच्छा कम न हो और वाणी न रुके। देव हमें धन देवें। दान देनेवाले सब दानी उक्त प्रकारकी अदानशीलताको दूरसे नमस्कार करें ॥ ६ ॥

असमृद्धि दूर चली जावे। तेरे आघातको हम हटाते हैं। मैं जानता हूं कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया संचसे जनम् । अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे । तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही । तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥ (७२)

अर्थ— हे (अराते) अदानशीलते ! (उत नग्ना बोभुवती) और नंगी होकर (जनं स्वप्नया सचसे) मनुष्यको आलस्यसे युक्त करती है । इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बडी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानशे) सब दिशाओंमें फैली है । (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्यै) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिको (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) बडी सुवर्ण वस्त्रवाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्यै) उस सुवर्णके वस्त्रोंसे आच्छादित अदानशीलताके लिये (नमः अकरं) नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ— कंजूसी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है। और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

यह बडी विशाल है और सर्वत्र फैली है । उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसे ही नमस्कार हैं ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदानशीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति।

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियां हैं । इनमेंसे वस्तुतः दोनों निंदनीय ही हैं; परंतु पहिलीका सर्वथैव निषेध और दूसरीका कुछ नियमोंसे निषेध वेदमें किया है । आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण निर्धनताके साथ अनंत आपत्तियां लगीं रहतीं हैं । यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये। परंतु दूसरी जो संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाषामें 'कंजूसी' कहते हैं; इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है; परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धन होते हुए भी इसकी स्थिति कंगाल जैसी होती है । यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो बडा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्यके लिये भी दान नहीं देता है । ऐसा मनुष्य संपत्तिमय विपत्तिसे घेरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है । जो पाठक इन दोनों मंत्रोंका आशय ठीक प्रकार समझेंगे, उनको इस सूक्तका तात्पर्य समझनेमें कोई काठिनता न होगी ।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है । जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसा यह धनमय निर्धनता है । इसीको धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है । इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही, हिरण्यद्रापी, अरातिः। (मं. १०)

'सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम भाग्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, बडी और सोनेके कपडे ओढी अदानशीलता यह है।' जिस धनीके पास सोना, चांदी विपुल है, अन्यान्य ऐश्वर्य जितना चाहिये उससे भी अधिक है, हरएक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कपडे, बर्तन और अन्यान्य साधन भी सुवर्णके ही बने हैं, ऐसे महाधनी पुरुषके अंदर जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम 'धनयुक्त निर्धनता' है । निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्योंकि उसके पास देनेके लिये कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिसे लदा हुआ होनेपर भी सत्कर्मके लिये उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं । मं. १०) नमस्कार करना चाहिये। उसके पास भी जाना योग्य नहीं है । इस प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे। (मं. ९)

'यह संपत्तिमयी विपत्ति बडी विशाल है और सब दिशाओंमें व्याप्त है' अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है। हरएक दिशामें इस संपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं। कोई गांव इससे खाली नहीं है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका पूर्णतया समर्पण करनेवाले उदारधी दानी महात्मा थोडे ही होते हैं। परंतु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा बिलकुल दान न देनेवाले लोग ही बहुत होते हैं। इसीलिये नवम मंत्रमें कहा कि 'यह दानहीनता बडी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है।' कोई नगर इससे खाली नहीं है। प्रशस्त धर्म करनेके लिये धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहां इस प्रकारके धनवान् होते हुए भी निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनको चारों ओर दिखाई देंगे। इस कंजूसीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट।

नग्ना योभुवती स्वमया जनं सचते॥
अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकूतिं च वीत्सयन्ती॥ (मं. ८)

'यह कंजूसी स्वयं नंगी रहनेके समान लोगोंको भी नंगा बना देती है। और उनको आलसी भी बना देती है। यह कंजूसी मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलिन कर देती है।' उदारचित्त दानी पुरुष जैसा सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसको चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कंजूसका नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और संकल्प मलिन होता है। उसमें कभी प्रसन्नता नहीं होती। यह कितनी हानि है, इसका विचार पाठक करें और इस कंजूसीसे बचनेका प्रयत्न करें। क्योंकि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसे भी गिरा देती है। इसीलिये सप्तम मंत्रमें कहा है—

असमृद्धे। परः अपेहि। तं हेतिं विनयामसि।
अराते। अहं त्वा निर्मावर्न्तीं नितुदन्तीं वेद। (मं. ७)

'हे असमृद्धि! दूर हट जा। तेरे शस्त्र हम दूर हटा देते हैं। मैं खूब जानता हूं कि तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाली है।' वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है इसलिये इसको हटा देना चाहिये। किसीको भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये। क्यों कि यह निर्बलता बढानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है। इसीसे मनुष्य गिर जाता है। इसलिये कहा है कि—

अरातिं प्रतिहर्यत (मं. ६)

'कंजूसीका विरोध करो।' विरोध करके अपने अंदर कंजूसी न रहे ऐसी व्यवस्था करो। और अपने अंदर—

अद्य सर्वे दित्सन्तः। (मं. ६)

'आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होवें।' कोई कंजूस अपने अंदर न रहे। समाज ऐसे उदारचित्त दानी महाशयोंसे युक्त होवे और कभी कंजूसोंसे युक्त न होवे।

हार्दिक इच्छा

हमारी हार्दिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मंत्रभाग हमारे सन्मुख आ जाता है।

१ यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे। (मं. ४)
२ जुष्टां मधुमतीं वाचं अवादिषम्। (मं. ५)
३ सरस्वत्या मनोयुजा वाचा यं याचामि
तं अद्य श्रद्धा विन्दतु। (मं. ५)

'(१) हम प्रगतिका प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं। (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही बोलते हैं। (३) विद्या और सुविचारसे युक्त सुसंस्कृत वाणीसे जिसके पास हम मांगते हैं, उसमें देनेकी श्रद्धा होवे।' वास्तवमें हम चाहते हैं कि हम सबको विद्या, सुबुद्धि और संपत्ति प्राप्त हो। हम इसीलिये मधुर वाणीसे बोलते हैं। हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं, इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंगे, उसमें देनेकी बुद्धि बसे। इस प्रकारके दानसे जनताकी भलाईके प्रशस्ततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार होता और सबका यश बढता है। तथा—

१ नः देवकृता वनिः दिवा नक्तं वर्धताम्। (मं. ३)
२ नः वनिं वाचं मा वीत्सीः। (मं. ६)

'देवों द्वारा बनायी हमारी यह श्रद्धामयी बुद्धि दिनरात बढे और (२) इस श्रद्धाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे।' अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी श्रद्धा हममें स्थिर रहे और बढे। इस धर्मबुद्धिसे परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों।

यहांतक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ। इससे पाठ-

कोंको पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है। अदानशीलता अथवा कंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है; प्रत्युत मनुष्योंको हानिकारक कंजूसीसे निकालकर उच्चता स्थापन करनेवाले श्रद्धापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना ही इस सूक्तको अभीष्ट है।

प्रथम मंत्रमें भी अदानशीलताको दूरसे नमन किया है। जो कंजूसी (दक्षिणां मा रक्षीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन फिर अपनी संदूकमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह बुरी नहीं है, उस संग्रहशक्तिसे (आ भर) अपने पास धन भर ले और खजाना जिस प्रमाणसे भरे उस प्रमाणसे दान भी दे। परन्तु जो (अराति) कंजूसी असमृद्धि कंगालताका प्रदर्शन करती है और (बीर्त्सा) मलिनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है। यह प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है। इसका भाव यह है कि योग्य प्रमाणसे संग्रह किया जाय और उचित दान भी दिया जाय। जो कंजूसी कंगालके समान दिखती है वह हानिकारक है। धन पास होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी बुद्धि बहुत हानिकारक है। मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी वृत्ति तो रहनी नहीं चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है। यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस वृत्तिको दूर करनेके लिये ही है। इस दृष्टिसे विचार करनेसे इस सूक्तमें बड़ा गंभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी। यह सूक्त बड़ा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है। तथापि जो पाठक इस स्पष्टीकरणमें दर्शायी रीतिसे इसका मनन करेंगे, वे इस सूक्तका आशय जान सकते हैं।

शत्रुको दबाना।

(८) शत्रुनाशनम्।

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — नानादैवत्यं, अग्निः, विश्वे देवाः, इन्द्रः।)

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।
तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने (वैकङ्कतेन इध्मेन) स्रुवा वृक्षके इन्धनसे (देवेभ्यः आज्यं वह) देवोंके लिये घृत पहुंचा। और (तान् इह मादय) उनको यहां प्रसन्न कर, वे (सर्वे) सब (मे हवं आ यन्तु) मेरे यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञमें आ पहुंच। जो (इदं करिष्यामि तत् शृणु) यह प्रार्थना मैं करूंगा, वह तू सुन। (इमे ऐन्द्रा अतिसराः) ये इन्द्रसंबंधी अग्रगामी पुरुष (मे आकूतिं सं नमन्तु) मेरे संकल्पके अनुकूल झुकें। हे (तनू-वशिन् जातवेद) शरीरको वशमें करनेवाले ज्ञानवान् ! (तेभिः वीर्यं शकेम) उन प्रयत्नोंसे वीर्यकी प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें देवोंके लिये घृतकी आहुतियां पहुंचावे और यहां देवोंको आनन्दित करे, जिससे सब देव संतोषसे मेरे यज्ञमें आते रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! तू मेरे यज्ञमें आ और जो मैं प्रार्थना करता हूं, वह श्रवण कर। ये जो इन्द्रके संबंधमें कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें। हे शरीरको वश करनेवाले ज्ञानी ! उनसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

यदुसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति ।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥ ३ ॥
अतिं धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।
अविं वृकं इव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥ ४ ॥
यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।
इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥ ६ ॥
यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन्प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (असौ अ-देवः सन्) वह देवता रहित होकर (अमुतः यत् चिकीर्षति) वहांसे जो कुछ घात करना चाहता है, (तस्य हव्यं अग्निः मा वाक्षीत्) उसका हव्य अग्नि न पहुंचावे। (देवाः अस्य हवं मा उपगुः) देव भी इसके यज्ञमें न जावें। प्रत्युत (मम एव हवं एतन) मेरे ही यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे (अतिसराः) अग्रगामी पुरुषो! (अति धावत) वेगसे दौडो। (इन्द्रस्य वचसा हत) इन्द्रके वचनसे मारो। (अविं वृक इव मथ्नीत) जैसे भेडको भेडिया मारता है, उस प्रकार शत्रुको मथ डालो। (सः जीवन्) वह शत्रु जीता हुआ (वः मा मोचि) तुम्हारेसे न छूट जावे। (अस्य प्राणं अपि नह्यत) इसके प्राणको भी बांध डालो ॥ ४ ॥

(अमी यं ब्रह्माणं) ये जिस ज्ञानीको (अपभूतये पुरः दधिरे) अवनतिके लिये ही आगे धर देते हैं। हे इन्द्र! (सः ते अधस्पदं) वह तेरे पांवके नीचे होवे, (तं मृत्यवे प्रत्यस्यामि) उसको मृत्युके लिये फेंकता हूं ॥ ५ ॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) जो शत्रुओंने देवोंके नगरोंपर चढाई की है और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानको ही अपना कवच बनाया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीररक्षक साधन भी जो बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वं तत् अरसं कृधि) वह सब नीरस करो ॥ ६ ॥

(असौ यान् अतिसरान् चकार) इसने जिनको अग्रगामी बनाया था और (च यान् कृणवत्) जिनको अभी बनाया है। हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र! (त्वं तान् पुनः प्रतीचः आ कृधि) तू उनको पुनः प्रतिगामी कर (यथा अमुं जनं तृणहान्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे देवो! जो वस्तुतः प्रभुकी भक्ति न करता हुआ जो कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी आहुतियां अग्नि भी देवोंको न पहुंचावे और देव भी इसके यज्ञमें न जावें। परन्तु वे मेरे यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे अग्रगामी पुरुषो! वेगसे शत्रुपर हमला करो। इन्द्रकी आज्ञासे शत्रुका वध करो। जैसे भेडिया भेडको मारता है, उस प्रकार तुम शत्रुको मार डालो। शत्रुके प्राण लो। कोई शत्रु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो शत्रु अपने अन्दरके विद्वान् पुरुषको भी अवनतिके कार्यमें ही लगा देते हैं, उनकी अधोगति होवे, मैं तो उसको मृत्युके लिये समर्पित करता हूं ॥ ५ ॥

जो देवोंके नगरोंपर शत्रुओंने चढाई की है, और अपनी शरीररक्षाके लिये कवचादिके द्वारा अच्छी तैयारी की है, तथा अपने सब ज्ञानको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे शत्रुका यह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो शत्रु अपने वीरोंको अग्रगामी करके हमला करते हैं, वे शत्रुके प्रयत्न उलटे हो जावें, जिससे सब शत्रुओंको हम मार डालें ॥ ७ ॥

❀

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वे३ऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥
अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्माणि विध्य । अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१ऽहं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥ (८१)

अर्थ— (यथा इन्द्रः उद्वाचनं लब्ध्वा) जैसे इन्द्रने बडबडानेवाले शत्रुको प्राप्त करके उसको (अधस्पदं चक्रे) पांवके नीचे किया (तथा अहं) उस प्रकार मैं (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) सदाके लिये (अमून् अधरान् कृण्वे) इन शत्रुओंको नीचे करता हूं ॥ ८ ॥

हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (अत्र उग्रः एनान् मर्माणि विध्य) यहां शूर होकर इनको मर्मोंमें छेद। हे इन्द्र ! (अत्र एव एनान् अभि तिष्ठ) यहां ही इन पर चढाई कर। (अहं तव मेदी) मैं तेरा मित्र होकर रहता हूं। हे इन्द्र ! (त्वा अनु आ रभामहे) तेरे अनुकूल हम कार्यारम्भ करते हैं और (तव सुमतौ स्याम) तेरी सुमतिमें हम रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार इन्द्र घमंडी शत्रुको भी नीचे दबाता है, उस प्रकार मैं सदा अपने शत्रुको नीचे दबाकर रखता हूं ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! तू उग्र होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंको छेद, इन शत्रुओंपर चढाई कर। मैं तेरा मित्र होकर तेरे अनुकूल कार्य करता हूं और तेरी सुमतिमें स्थिर रहता हूं ॥ ९ ॥

शत्रुका नाश।

यह सूक्त शत्रुका नाश करनेका उपदेश करनेवाला है। इसके पहिले दो मंत्रोंमें परमेश्वरकी प्रार्थना करके बल प्राप्त करनेका उपदेश किया है—

ईश प्रार्थना।

अग्निमें घृतकी आहुतियां देकर यजमान प्रार्थना करता है कि- ' मैं देवताओंके उद्देश्यसे ये आहुतियां इस यज्ञमें दे रहा हूं, ये आहुतियां देवताओंको प्राप्त हों और इससे देवताएं सन्तुष्ट होकर मेरी प्रार्थना सुनें। प्रभुकी भी मैं प्रार्थना करता हूं कि वह मेरी प्रार्थना सुने और सब उसकी शक्तियां मेरे अनुकूल हों और हमको बहुत बल प्राप्त होवे। (मं. १-२)

नास्तिकोंकी असफलता।

जिस पुरुषके मनमें परमात्माकी भक्ति नहीं होती, उसको नास्तिक अथवा भक्तिहीन मनुष्य कहा करते हैं। युद्ध उपस्थित होनेपर दोनों पक्षके लोग प्रभुकी प्रार्थना करते हैं। सत्पक्ष भी जैसा अपने यशके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता है, उसी प्रकार दुष्ट पक्षके लोग भी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार दोनों ओरके सैनिकों द्वारा विजय प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने पर, प्रभु किस पक्षकी सहायता करता है और किसकी नहीं करता, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उपदेश लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है।

' जिस समय नास्तिक भक्तिहीन दुष्ट मनुष्य अपने विजयके लिये यज्ञयाग अथवा ईशप्रार्थना आदि करता है, उस समय अग्नि उसकी आहुतियां देवताओंके प्रति नहीं पहुंचाती और देवतायें भी उसके यज्ञमें नहीं आतीं, क्योंकि देवताएं केवल आस्तिक भक्तोंके यज्ञमें जाती हैं। ' (मं. ३)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि, दोनों पक्षके प्रार्थना करने पर भी धार्मिक लोगोंकी ही प्रार्थना परमेश्वर सुनता है, दुष्टोंकी प्रार्थनाएं कभी नहीं सुनता। इसलिये सत्यपक्षके लोग ही प्रार्थनासे ईश्वरीय बल प्राप्त करते हैं और वह बल असत्य पक्षके लोगोंको नहीं प्राप्त होता; इस कारण सदा अन्तमें सत्पक्षकी ही विजय होती है। इसलिये चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि- ' प्रभुकी आज्ञाके अनुसार शत्रुपर हमला करो, शत्रुको मार डालो, कोई शत्रु तुम्हारे हमलेसे जीता न बचे। ' (मं. ४) यह बल सत्यपक्षको ही प्राप्त होता है, इसलिये सत्यका पक्ष व्यवहारकी दृष्टिसे अशक्त प्रतीत होने पर भी वह आत्मिक बलकी दृष्टिसे शक्तिसंपन्न होनेके कारण अन्तमें विजयी होता है। असत्पक्षवालोंको परमेश्वरकी भक्तिसे लाभ नहीं होता, यही बतानेके लिये पंचम और षष्ठ मंत्रोंका उपदेश है—

' जो असत्पक्षका आश्रय करनेवाले लोग अपनी विजयके लिये ब्राह्मणको भी अपने अवनतिकारक कर्ममें उपासनादि

कार्य करनेके लिये बाधित करते हैं, उनको परमेश्वर अवनत करता है और मृत्यु तक पहुंचाता है। जो दुष्ट देवजनोंके नगरोंपर हमला करके अपने विजयके उपासनादि कर्म करते रहते हैं और समझते हैं कि इससे हमारी रक्षा होगी और हम सुरक्षित होंगे, वे भ्रममें रहते हैं, क्यों कि उनके ये सब प्रयत्न विफल होनेवाले हैं। (मं. ५-६)

अर्थात् असत्पक्षकी विजय कभी नहीं होगी। सदा सत्यका पक्ष ही जय प्राप्त करेगा। यह वैदिकधर्मका त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। कोई इसको उलटपुलट नहीं कर सकता।

अन्तिम तीनों मंत्रोंमें यही बात भिन्न रीतिसे कही है— ' जो दुष्ट शत्रु अपने सैनिकोंको आगे बढाकर वेगसे हमला करता है, उसका वह कार्य उसीके विरुद्ध अन्तमें हो जाता है। (मं. ७) ' अर्थात् बलके घमंडमें आकर शत्रु सत्पक्षका नाश करनेकी जैसी जैसी तैयारी करता है, वैसा वैसा वह अधिकसे अधिक गिरता जाता है। बडे बडे साम्राज्य इसी दुष्ट भावके कारण नाशको प्राप्त हुए हैं और वे कभी पुनः उठे नहीं, यह जान कर लोगोंको उचित है कि वे कभी अधर्मपथसे न चलें और दूसरोंके नाशसे अपनी उन्नति करनेके कार्य न करें। क्योंकि ऐसे कार्योंमें कदापि सफलता प्राप्त नहीं होगी।

' ऐसे घमंडी और बकबक करनेवाले शत्रु प्राप्त होनेपर उनको नीचे दबाना चाहिये, यह सदा पालन करने योग्य नियम है।' (मं. ८) अर्थात् सज्जनोंको भी शत्रुकी उपेक्षा करनी योग्य नहीं है।

शत्रुके नाशका उपाय।

नवम मंत्रमें शत्रुके नाश करनेका उपाय कहा है। यह बात अब देखिये—

(१) **उग्रः अत्र मर्माणि विध्य**— शूर होकर यहां शत्रुके मर्मस्थानोंपर वेध कर। (मं. ९)

(२) **अत्रैव एनान् अभि तिष्ठ**—यहां ही उनका सामना कर अर्थात् उन शत्रुओंपर वेगसे हमला कर दे। (मं. ९)

(३) **अहं तव मेदी। तव सुमतौ स्याम। त्वा अन्वारभामहे**— मैं तेरा मित्र होकर रहूंगा, तेरी सुमतिमें मैं रहूंगा और तेरे अनुकूल कार्य करूंगा। (मं. ९)

परमात्माके अनुकूल कार्य करनेका तात्पर्य धर्मानुकूल व्यवहार करना है। इस प्रकार धार्मिक व्यवहार करते हुए आत्मिक बल बढाकर, परमात्माके प्रेमी बनकर रहना और शत्रुका हमला उलटा देनेका सामर्थ्य भी अपने पास रखना, अर्थात् अपने पक्षको कमजोर न रखना। इस प्रकार आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होनेसे सब युद्धोंमें विजय अवश्य ही प्राप्त होती है।

आत्मिक बल।

(१) आत्मा।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वास्तोष्पतिः, आत्मा।)

दि॒वे स्वाहा॑ ॥ १ ॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥ २ ॥ अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥ दि॒वे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— (दिवे) द्युलोक (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोकके लिये (स्वाहा = सु + आह) उत्तम प्रशंसाका वचन कहते हैं ॥ १-६ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक इन तीनों लोकोंकी और इनमें विद्यमान पदार्थोंकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ १—६ ॥

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥
उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥ (८९)

(१०) आत्मरक्षा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वास्तोष्पतिः ।)

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ १ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ४ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात् । एतत्स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

अर्थ— (**सूर्यः मे चक्षुः**) सूर्य मेरा चक्षु है (**वातः प्राणः**) वायु प्राण है, (**अन्तरिक्षं आत्मा**) अन्तरिक्ष आत्मा है और (**पृथिवी शरीरं**) पृथिवी मेरा शरीर है । (**अस्तृतः नाम अयं अहं अस्मि**) अमर नामवाला यह मैं हूं । (**द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय**) द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये (**सः आत्मानं निदधे**) वह मैं अपने आपको निःशेष देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी (**आयुः उत्**) आयु उत्तम, (**बलं उत्**) बल उत्तम, (**कृतं उत्**) किया हुआ कर्म उत्तम, (**कृत्यां उत्**) काटनेकी शक्ति उत्तम, (**मनीषां उत्**) बुद्धि उत्तम, (**इन्द्रियं उत्**) इन्द्रिय उत्तम होवे । (**आयुष्कृत् आयुष्पत्नी**) आयुकी वृद्धि करनेवाली और जीवनका पालन करनेवाली तथा (**स्वधावन्तौ**) अपनी धारकशक्ति बढानेवाली तुम दोनों द्यावापृथिवी ! (**मे गोपा स्तं**) मेरे रक्षक होओ । (**मा गोपायतं**) मेरी रक्षा करो । (**मे आत्मसदौ स्तं**) मेरी आत्मामें रहनेवाले हो और (**मा मा हिंसिष्टं**) मेरा कभी विनाश न करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सूर्य ही मेरी आंख, वायु मेरा प्राण, अन्तरिक्ष मेरा अन्तःकरण, और पृथ्वी मेरा स्थूल शरीर बना है । मैं अमर और अदम्य हूं । द्युलोक और पृथिवी लोक मेरी रक्षा करते हैं, इसलिये मैं अपने आपको उनके आधीन कर देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी आयु, शक्ति, क्रियाशक्ति, काटनेकी शक्ति, मननशक्ति इंद्रियशक्ति, आदि शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें । आयु देनेवाली तथा जीवनका पालन करनेवाली और धारकशक्तिसे युक्त दोनों द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें, वे दोनों मेरे अंदर रहकर मेरी रक्षा करें और कभी मेरी शक्ति क्षीण न करें ॥ ८ ॥

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ। सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥ (१७)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (मे अश्मवर्म असि) मेरा पत्थरका दृढ कवच तू है। (यः अघायुः) जो पापी (प्राच्याः, दक्षिणायाः, प्रतीच्याः, उदीच्याः, ध्रुवायाः, दिशां अन्तर्देशेभ्यः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व और इन दिशाओंके मध्यके प्रदेशोंसे (मा अभिदासात्) मेरा नाश करे, (सः पतन् ऋच्छात्) वह स्वयं इस विनाशको प्राप्त होवे ॥ १-७ ॥

(बृहता मन उप ह्वये) बडे ज्ञानके साथ मनको मैं मांगता हूं। (मातरिश्वना प्राणापानौ) वायुसे प्राण और अपान, (सूर्यात् चक्षु) सूर्यसे आंख, (अन्तरिक्षात् श्रोत्रं) अन्तरिक्षसे कान, (पृथिव्याः शरीरं) पृथिवीसे शरीर, (मनोयुजा सरस्वत्या वाचं) मननसे युक्त विद्याके साथ वाणीको (उप ह्वयामहे) मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मेरा कवच है। जो पापी मेरे ऊपर सब दिशा उपदिशाओंसे हमला करके मेरा नाश करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट होवे ॥ १—७ ॥

मुझे ज्ञानयुक्त मन, वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथ्वीसे स्थूल शरीर और मननशक्तिसे संयुक्त विद्याके साथ उत्तम वाणीको चाहता हूं, इनकी मुझे प्राप्ति होवे ॥ ८ ॥

आत्मिक शक्ति।

अपने अन्दर आत्मिकशक्तिका विकास करनेके लिये जिन विशेष विचारोंकी धारणा अपने मनके अंदर करना आवश्यक है, वह धारणा इन दो सूक्तोंमें कही है। नवम और दशम इन दोनों सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है और देवता वास्तोष्पति है। अर्थात् ये दोनों एक ही विषयके सूक्त हैं, इसलिये इनका मनन भी साथ साथ ही करते हैं।

नवम सूक्तके पहिले छः मंत्र, वस्तुतः ये तीन ही मंत्र हैं और दुबारा आनेसे छः बने हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंके लिये स्वाहा अर्थात् (सु+आह) उत्तम शब्दों द्वारा प्रशंसा कही है। द्युलोकमें सूर्य नक्षत्र आदि हैं, अन्तरिक्षमें इन्द्र, वायु, चंद्र, विद्युत् आदि हैं और पृथ्वीपर धान्य, जल आदि अनंत पदार्थ हैं, जिनका उपयोग मनुष्य करता है और सुखी होता है। इस कारण ये तीन लोक और इनमें रहनेवाले अनंत पदार्थ मनुष्यके द्वारा प्रशंसा करने योग्य हैं। क्योंकि इनके विना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता, अतः ये प्रशंसा करने योग्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इन तीनों लोकोंके अंदर रहनेवाले सभी पदार्थ इस प्रकार मनुष्यके लिये उपकारक हैं अत एव मनुष्यके प्रशंसाके लिये योग्य हैं। यह जानकर इनको अपने अंदर देखना चाहिये, अर्थात् ये मेरे अंदर आकर रह रहे हैं और मेरी शक्तिको बढाते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। यह भाव मनमें धारण करनेको सप्तम मंत्रने कहा है। इस मंत्रका आशय यह है—

' सूर्य मेरा आंख हुआ है, वायु मेरा प्राण बना है, अन्तरिक्ष लोक मेरा अन्तःकरण बना है, और पृथिवीसे मेरा स्थूल शरीर बना है। (मं. ७) ' यह सप्तम मंत्रका कहना है। देखिये, इस प्रकार द्युलोकका सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु, और पृथिवी-लोकके पदार्थ क्रमशः मेरे आंख, प्राण और स्थूल शरीरमें आकर रह रहे हैं, इस प्रकार मेरा साक्षात् संबंध इन तीनों लोकोंके साथ है, इन तीनों लोकोंके अंश आकर मेरे शरीरमें रह रहे हैं, अथवा इनका अवतार मेरे शरीरमें हुआ है। इस बातका विचार कर-नेसे अपनी आत्मशक्तिकी कल्पना सहजहीमें हो सकती है, यही बात अथर्ववेदके अन्य मंत्रोंमें भी कही है, देखिये—

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥

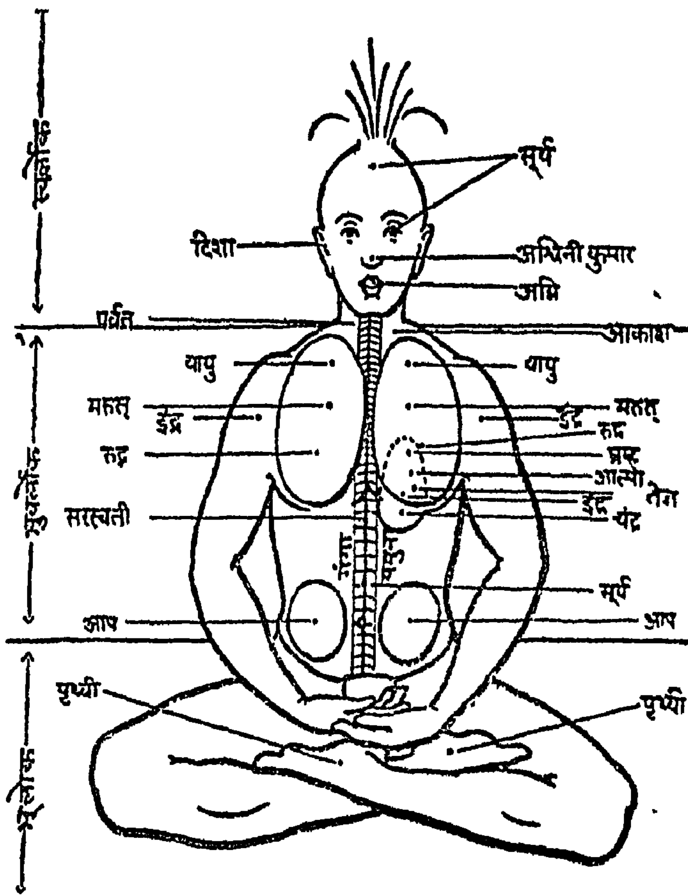
अथर्व. ११।८ (१०) ३१

' सूर्य और वायु ये क्रमशः पुरुषके आंख और प्राणमें विभक्त हुए हैं, इसी प्रकार इसके इतर आत्मभागोंको इतर देवोंने दिया है। ' अतः कहते हैं कि—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते।

अथर्व. ११।८ (१०) ३२

' इसीलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्योंकि सब देवताएं इसमें वैसी रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं। ' इस मंत्रमें तो सभी देवताएं मनुष्यके शरीरमें विविध अवयवोंमें रहती हैं, ऐसा कहा है। पूर्वोक्त मंत्रोंमें कुछ देवताओंके यहांका



शरीरमें देवोंके निवासस्थान

निवासका वर्णन किया है, और इस मंत्रमें कहा है कि सब देवताएं यहां रहती हैं, अर्थात् अन्य देवताओंका पता मननसे लगाना चाहिये। यह मनन करके उपनिषदोंमें कुछ अन्य देवताओंका भी स्थान निर्देश किया है, वह मनोरंजक विषय अब देखिये-

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत् ॥ ऐ. उ. १।२।४

' अग्नि वाणी बनकर मुखमें घुसी, वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं कान बनकर कानके स्थानपर रहने लगीं, औषधि और वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट हो गई, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें घुसा, मृत्यु अपान होकर नाभिमें रहने लगी, जल रेत बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ। ' इस प्रकार अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें रहने लगीं। यह है अपने शरीरमें देवताओंका निवास। यहां देवताएं रहतीं हैं, इसलिये इस शरीरको ' देवोंका मन्दिर ' कहते हैं बाह्य सृष्टिमें बडे बडे सूर्यादि देव हैं, उनके अंश बीजरूपसे यहां अपने शरीरमें आ गये हैं और इन्हीं अंशोंके बडे विस्तृत देव फिर बनते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित उपनिषद्वचन देखिये—

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः, ... नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः, ... अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः, ... कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः, ... त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः, ... हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः, ... नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिश्नाद्रेतो रेतसः आपः ॥ ४ ॥ ऐतरेय उप. १।१

' मुखसे वाणी, वाणीसे वाचा;... नासिकासे प्राण, प्राणसे वायु; ... आंखोंसे चक्षु, चक्षुसे सूर्य; ... कानोंसे श्रोत्र, श्रोत्रसे दिशाएं; ... त्वचासे लोम, लोमोंसे ओषधिवनस्पतियां; ... हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा, ... नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु; ... शिश्नसे रेत और रेतसे जल हुआ। '

इन दोनों वचनोंमें पाठक तुलना करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि पहिलेमें बृहत् देवताओंसे अपने अन्दरके सूक्ष्म देव होनेका वर्णन है और दूसरेमें इन सूक्ष्म अंशोंसे फिर वृद्धि होकर बडे देव बननेका वर्णन है। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरसे वीर्यबिंदु उत्पन्न होता है और फिर इस वीर्यबिन्दुसे मनुष्य शरीर बनता है, उसी प्रकार संकोच और विस्तार यहां भी होता है। अस्तु।

मनुष्यके अंदर सूर्यादि सब देवोंकी शक्तियां हैं यह बात यहां मनुष्यके स्मरणमें रखनी चाहिये। मैं तुच्छ नहीं हूं, परंतु मैं उन ही शक्तियोंसे युक्त हूं कि जिनसे युक्त परमात्मा है। मेरी शक्तियां अंशरूप हैं और उसकी पूर्णरूप हैं। अर्थात शक्तियां मेरे शरीरमें हैं, जिनका विकास धर्मानुष्ठानसे करना है। यह सप्तम मंत्रका आशय है, यह मंत्र मनुष्यको एक विशेष ही शक्ति दे रहा है। पाठक, इसका अनुभव अपने मनमें करें। इस शक्तिको अपने अन्दर देखनेके बाद ही कहा जाता है कि—

अयं अहं अस्तृतः नाम अस्मि। (मं. ७)

'यह मैं अमर अथवा अदम्य शक्तिसे युक्त हूं' पाठक इसका विचार करें। अपने अन्दर इतनी शक्ति है और मैं अमर हूं, शरीरनाश होनेसे मैं नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार परमात्मा 'अ-मर' है, उसी प्रकार आत्मदृष्टिसे मैं भी 'अ-मर' हूं। यह विश्वास इस मंत्रने दिया है। पाठक ही अनुभव करें कि इस विचारको मनमें धारण करनेसे कितना आत्मिक बल बढता है। वेदकी शिक्षा आत्मिक बल बढाती है और अपनी शक्तियोंका ज्ञान कराती है, वह बात इस प्रकार है। जब यह मनुष्य इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव करता है, तब जगत्के लिये अपने आपका समर्पण करता है—

आत्मानं द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय नि दधे।
(मं. ७)

'मैं अपने आपको द्यावा पृथिवीके लिये रक्षाके अर्थ देता हूं।' इस प्रकार सब जगत् इसकी रक्षा करता है, सब विश्वसे जो सुरक्षित होता है, वह निर्भय होकर विचरता है। इसी निर्भयतासे उसकी उन्नति होती है। इसके पश्चात् वह जितना अधिक आत्मसमर्पण करता है, उतना अधिक बल प्राप्त करता है। इस रीतिसे 'आयु, बल, शक्ति, कर्म, बुद्धि, इन्द्रिय आदिकी शक्तियां उत्कृष्टतम हो जाती हैं।' (मं. ८) यह उसकी शक्तिका विकास है। 'इस प्रकार अन्न देनेवाले दोनों लोक इसकी पूर्ण रक्षा करते हैं।' (मं. ८) ये लोक वस्तुतः—

मे आत्मसदौ स्तम्। (मं. ८)

'मेरी आत्मामें रहनेवाले हैं।' यह बात उपनिषद्वचनोंसे इसके पूर्व बता दी है। अपने शरीरमें आत्माके आधारसे ये सब सूर्यादि पदार्थ अर्थात् तीनों लोक रहते हैं।

ये सब उन्नति ही करते हैं और धर्मपथपर चलनेसे कभी अवनति नहीं करते। इस प्रकार नवम सूक्तका विचार हुआ, अब दशम सूक्तका विचार करते हैं—

पत्थरका कवच।

दशम सूक्तके आदिके सात मंत्रोंमें 'पत्थरके कवच' का वर्णन आया है। पूर्वोक्त ज्ञान ही मनुष्यका 'पत्थर जैसा दृढ कवच' है, जिससे मनुष्य सुरक्षित होकर उन्नतिको प्राप्त कर सकता है। 'किसी भी दिशासे शत्रु हमला करें, जिसके शरीरपर यह पूर्वोक्त ज्ञानरूपी कवच है वह हमेशा सुरक्षित रहता है।' (मं. १-७) यह इन सात मंत्रोंका तात्पर्य है। जो ज्ञान पत्थर जैसा सुदृढ कवच है, वही पूर्वोक्त मंत्रमें कहा हुआ ज्ञान इस सूक्तके अष्टम मंत्रमें पुनः कहा है—

'सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथिवीसे शरीर, वायुसे प्राणापान और बृहच्छक्तिसे मन, सरस्वतीसे वाणी, प्राप्त करता हूं।' (मं. ८) इस मंत्रमें भी पूर्व सूत्रोक्त ज्ञान ही कहा है। क्योंकि यही मनुष्यका रक्षक सुदृढ कवच है। पाठक इस ज्ञानको अपनावें और निर्भय बनें।

यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

श्रेष्ठ देव।

(११) संपत्कर्म।

(ऋषि — अथर्वा। देवता — वरुणः (प्रश्नोत्तरम्)।)

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

अर्थ— (महे असुराय कथं अब्रवीः) महान् शक्तिवान्के लिये तुमने किस प्रकार और क्या कहा? और (त्वेष-नृम्णः इह हरये पित्रे कथं) स्वयं तेजस्वी होते हुए तुमने यहां दुःख हरण करनेवाले पिताके लिये भी किस प्रकार और क्या कहा! हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो! हे (पुनर्मघ) पुनः पुनः धन देनेवाले देव! (पृश्निं दक्षिणां ददावान्) गौ आदि दक्षिणा देते हुए (त्वं मनसा आचिकित्सीः) तुमने मनसे हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न्काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥
स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥ ३ ॥
न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑ मा॒यी बि॑भाय ॥ ४ ॥
त्वं ह्य॑१ङ्ग वरुण स्वधाव॒न्विश्वा॑ वेत्थ॒ जनि॑मा सुप्रणीते।
किं रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्येना॒ किं परे॒णाव॑रममुर ॥ ५ ॥

अर्थ— (कामेन पुनर्मघः न भवामि) केवल इच्छासे ही मैं पुनः पुनः धनवाला नहीं होता हूं। मैं (कं संचक्षे) किसे यह कहूं? (एतां पृश्निं उप अजे) इस गौ आदिको पास ले चलता हूं। हे (अथर्वन्) शान्त स्वभाववाले देव! (केन नु काव्येन त्वं) किस काव्यसे तू और (केन जातेन जातवेदाः असि) किसके होनेसे तू जातवेद हुआ है ॥ २ ॥

(सत्यं अहं गभीरः) सत्य है कि मैं गंभीर हूं। और (सत्यं) यह भी सत्य है कि मैं (जातेन काव्येन जातवेदाः अस्मि) काव्य उत्पन्न करनेसे ही जातवेद कहलाता हूं। (यत् अहं धरिष्ये) जिसको मैं धारण करता हूं (मे व्रतं) उस मेरे नियमको (न दासः न आर्यः) न तो दास और न आर्य (महित्वा मीमाय) महत्वके साथ तोड सकता है ॥ ३ ॥

हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारण शक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव! (त्वत् अन्यः कवितरः न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक कवि नहीं है। (मेधया धीरतरः न) और बुद्धिके कारण अधिक धीरवाला भी कोई नहीं है। (त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ) तू उन सब भुवनोंको जानता है। इसलिये (सः मायी जनः) वह कपटी मनुष्य (त्वत् चित् नु बिभाय) तुझसे निःसंदेह भयभीत होता है ॥ ४ ॥

हे (अङ्ग स्वधावन् सुप्रणीते वरुण) प्रिय, अपनी धारणशक्तिसे युक्त, उत्तम चलानेवाले श्रेष्ठ देव! (त्वं हि विश्वा जनिमा वेत्थ) तू ही सब जन्मोंको जानता है। हे (अ-सुर) ज्ञानी! (एना रजसः परः अन्यत् किं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है? (एना परेण अवरं किं) और इस परेवालेके उरे भी क्या है? ॥ ५ ॥

भावार्थ— (भक्तका कथन)= हे ईश्वर! बडे बडे शक्तिमान्‌को भी तूने क्या उपदेश दिया है? और सबका दुःख हरण करनेवाले पिताको भी तूने क्या कहा था? तू स्वयं तेजस्वी है। तूने ही यह गौ, भूमि, वाणी आदिका दान दिया है और हे पुनः पुनः धन देनेवाले देव! तूने ही हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

केवल इच्छा करने मात्रसे ही धनवान् नहीं होता हूँ। यह मैं किसे ठीक प्रकार कहूं? मैं इस गौ, भूमि, वाणी आदिको प्राप्त करता हूं। हे देव! किस काव्यके बनानेसे तथा किस पदार्थके बननेसे तू जातवेद कहा जाता है? ॥ २ ॥

(ईश्वरका उत्तर)= यह बात सत्य है कि मैं बडा गंभीर हूं और यह भी सत्य है, कि इस काव्यके प्रकाशित होनेके कारण मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हूं। जिस नियमको मैं बनाता हूं, उसको कोई तोड नहीं सकता, फिर वह आर्य हो या दास हो ॥ ३ ॥

(भक्तका कथन)= हे श्रेष्ठ और समर्थ देव! तेरेसे भिन्न कोई भी अधिक श्रेष्ठ कवि नहीं है और बुद्धिमान् भी नहीं है। तू ही संपूर्ण भुवनोंका ज्ञाता है इसलिये सब दुष्ट कपटी लोग तेरेसे ही डरते रहते हैं ॥ ४ ॥

हे ईश्वर! तू सबके सब जन्मोंको जानता है। हे देव! इस प्रकृतिके परे क्या है और सबसे परे है उसके उरे भी क्या है? ॥ ५ ॥

एकं॑ रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना प॒र एके॑न दु॒र्णशं॑ चि॒दर्वा॒क् ।
तत्ते॑ वि॒द्वान्व॑रुण॒ प्र ब्र॑वीम्य॒धोव॑चसः प॒णयो॑ भवन्तु नी॒चैर्दा॒सा उप॑ सर्पन्तु॒ भूमि॑म् ॥ ६ ॥
त्वं ह्य१ङ्ग व॑रुण॒ ब्रवी॑षि॒ पुन॑र्मघेष्ववद्या॒नि भूरि॑ ।
मो षु प॒णीँर॒भ्ये॒३॑तावतो॑ भून्मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः ॥ ७ ॥
मा मा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः पुन॑स्ते॒ पृश्निं॑ जरितर्ददामि ।
स्तो॒त्रं मे॒ विश्व॒मा या॑हि॒ शची॑भिर॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ॥ ८ ॥
आ ते॑ स्तो॒त्राण्यु॒द्यता॑नि यन्त्व॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ।
दे॒हि नु मे॒ यन्मे॒ अद॑त्तो॒ असि॒ युज्यो॑ मे स॒प्तप॑दः सखा॑सि ॥ ९ ॥

अर्थ— (**एना रजसः परः अन्यत् एकं अस्ति**) इस प्रकृतिके परे दूसरा एक पदार्थ है। और (**एना एकेन परः**) इस एकसे परे जो है उसके (**अर्वाक् चित् दुर्णशं**) उरेका भी पदार्थ दुष्प्राप्य है। हे (**वरुण**) श्रेष्ठ देव ! (**ते तत् विद्वान् प्र ब्रवीमि**) तेरी वह महिमा जाननेवाला मैं कहता हूं कि (**पणयः अधो वचसः भवन्तु**) कुत्सित व्यवहार करनेवाले लोग नीचे मुख करनेवाले होवें, तथा (**दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु**) दास भाववाले लोग भूमिपर नीचेसे चलते रहें ॥ ६ ॥

हे (**अङ्ग वरुण**) प्रिय श्रेष्ठ प्रभो ! (**त्वं हि पुनर्मघेषु**) तू भी फिर धन प्राप्त करनेके व्यवसायोंमें (**भूरि अवद्यानि ब्रवीषि**) बहुत निन्दायोग्य दोष होते हैं, ऐसा कहता है। (**एतावतः पणीन् मो सु अभिभूत्**) इन व्यवहार करनेवालोंको भी हानि कभी न होवे और (**जनासः त्वा अराधसं मा वोचन्**) लोग तुझे धनहीन भी न कहें ॥ ७ ॥

(**जनासः मा अराधसं मा वोचन्**) लोग मुझे धनहीन न कहें। हे (**जरितः**) स्तुति करनेवाले ! (**ते पृश्निं पुनः ददामि**) तेरी गौको मैं फिर देता हूं। (**विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंके बीचमें (**शचीभिः मे विश्वं स्तोत्रं आ याहि**) बुद्धियोंके साथ मेरे सब स्तोत्रको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(**ते स्तोत्राणि**) तेरे स्तोत्र (**विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंमें (**उद्यतानि यन्तु**) उत्तम प्रकार फैलें। (**यत् मे अदत्तः**) जो मुझे दिया नहीं, (**नु मे देहि**) वह मुझे दे। क्योंकि तू (**मे सप्तपदः युज्यः सखा असि**) मेरे सात चरण चलकर बने हुएके समान योग्य मित्र है ॥ ९ ॥

भावार्थ— (ईश्वरका उत्तर)= इस प्रकृतिके परे एक वस्तु है, और उस अन्तिम वस्तुके उरे भी एक दुष्प्राप्य वस्तु है। (भक्तका कथन)= हे देव ! तेरा महिमा जानकर मैं कहता हूं कि दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका मुख नीचे हो जावे और सब दास भाववाले भी अधोगतिको पहुंचें ॥ ६ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! तुमने कहा है कि वारंवार धन बढानेके प्रयत्नोंमें बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये मैं प्रार्थना करता हूं कि सबपर ऐसी दया कर, कि ये व्यवहार करनेवाले भी कभी हानि न उठावें और दूसरे लोग भी तुझको कंजूस न कहें ॥ ७ ॥

लोग मुझे भी धनहीन या कंजूस न कहें। हे देव ! जो गौ आदि मेरा धन है, वह सब तेरे लिये समर्पित करता हूं। मैं चाहता हूं कि यह तेरा स्तोत्र सर्वत्र जगत्के मनुष्योंमें फैले ॥ ८ ॥

तेरे स्तोत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल जांय। हे देव ! जो अभीतक मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह मुझे अब प्राप्त हो, क्योंकि मैं तेरा सुयोग्य मित्र हूं ॥ ९ ॥

✿

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥
देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥ (१०८)

अर्थ— हे (वरुण) श्रेष्ठ देव! (नौ समा बन्धुः) हम दोनों समान बन्धु हैं। और (जा समा) हमारी उत्पत्ति भी समान है। (अहं तत् वेद) मैं वह भी जानता हूं (यत् नौ एषा समा जा) कि जो हमारी यह समान उत्पत्ति है। (यत् ते अदत्तः) जो तुझे नहीं दिया है (तत् ददामि) मैं वह देता हूं। (ते युज्यः अस्मि) तेरे योग्य मैं हूं। तेरा (सप्तपदः सखा अस्मि) सात चरण चलकर बना हुआ मित्र मैं हूं॥ १०॥

(गृणते देवाय वयोधाः देवः) स्तुति करनेवाले विद्वान्‌के लिये अन्न देनेवाला देव तू है। तथा तू (स्तुवते विप्राय सुमेधाः विप्रः) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है। हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारणाशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव! तू (देवबंधुं पितरं अथर्वाणं अजीजनः) देवोंके भाई जैसे पालक अथर्वा योगीको बनाता है। (तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि) उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर। (नः सखा असि) तू हमारा मित्र है और (परमं च बन्धुः) परम बन्धु भी तू ही है॥ ११॥

भावार्थ— हे ईश्वर! हम दोनों बन्धु हैं, हमारा जन्म भी समान है। मैं जानता हूं कि यह हमारी समानता कैसी है। मैंने जो अभीतक तेरे लिये समर्पित नहीं किया है, वह मैं तुम्हें अब समर्पित करता हूं। अब मैं तेरा योग्य मित्र हूं और सखा भी हूं॥ १०॥

स्तुति करनेवाले उपासकको अन्नादि देनेवाला तू ही एक देव है। उपासकको उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तू ही है। हे श्रेष्ठ देव! तू ही रक्षकोंको उत्पन्न करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा सिद्धि देता है। तू ही हम सबका मित्र है और भाई भी है॥ ११॥

ईश्वर और भक्तका संवाद।

ईश्वर और भक्तका संवाद इस सूक्तमें होनेसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। वेदमें इस प्रकारके संवादात्मक सूक्त बहुत थोडे हैं, इसलिये इन सूक्तोंका मनन कुछ विशेष रीतिसे करना आवश्यक है।

इस सूक्तमें ईश्वरका नाम 'पुनर्मघ' आया है। पुनः पुनः धन देनेवाला, जो एक बार निर्धन हुआ है, उसको भी पुनः धन देनेवाला, यह इस शब्दका अर्थ है। दो प्रकारसे ईश्वरकी सहायता होती है। यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है–

१ पृश्निं दक्षिणां ददावान्। (मं. १)
२ त्वं मनसा अचिकित्सीः। (मं. १)

'(१) परमेश्वर भूमि, गौ, वाणी आदि धनोंकी दक्षिणा बारंबार देता है, और (२) सबकी मनसे चिकित्सा करता है।' अर्थात् जगत्‌के विविध पदार्थ देकर उपभोगके अनंत साधन प्रदान करता है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक इस भूमिपर रह सकता है। यह स्थूल शरीरके सुखका प्रबंध ईश्वर द्वारा होता है। इसी प्रकार सबकी मानस चिकित्सा भी करता है। हरएक मनुष्यको सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है, उलटे मार्ग पर लगे मनुष्यको सीधे मार्गपर लाता है, सन्मार्गकी प्रेरणा करता है। इस प्रकार अनंत रीतियां हैं, जिनके द्वारा वह सबका भला करता है।

ये ईश्वरके सबपर अनंत उपकार हैं। इस मंत्रमें 'पृश्नि' शब्द है, जिसका अर्थ 'प्रकृति, भूमि, गौ, वाणी, विद्या' आदि अनेक प्रकार हो सकता है। यहां प्राकृतिक विश्वके उपलक्षणमें यह शब्द आया है।

दो प्रकारके लोग।

जगत्‌में दो प्रकारके लोग हैं और उनको ज्ञान देनेके भी

दो प्रकार हैं। एक प्रकारके लोग 'असुर' कहलाते हैं और दूसरे प्रकारके 'पिता हरि' कहलाते हैं। 'असुर' शब्द शारीरिक बलसे युक्त पुरुषोंका वाचक है और 'पिता हरि' का अर्थ है कि जो 'रक्षक और दुःख हरण करनेवाले' होते हैं। इनके विषयमें यह कहा है—

१ महे असुराय कथं अब्रवीः (मं. १)
२ पित्रे हरये कथं अब्रवीः। (मं. १)

'(१) बडे शक्तिशालीके लिये तूने क्या और कैसे कहा? और (२) दूसरोंके रक्षक और दूसरोंका दुःख हरण करनेवाले मनुष्यके लिये कैसे और क्या उपदेश दिया?' इस जगत्में कई लोग शारीरिक शक्तिके घमंडमें कुछ विशेष प्रकारसे व्यवहार कर रहे हैं और दूसरे लोग ऐसे हैं कि जो अपना बल परोपकारार्थ लगाते हैं और दूसरोंकी रक्षा करते हैं, और दूसरोंके दुःखोंका हरण करते हैं, इन सत्पुरुषोंको किस प्रकारका उपदेश तूने दिया है? कई बलवान् लोग ऐसे होते हैं कि जो अपनी शक्तिका उपयोग दूसरोंकी भलाईके लिये स्वार्थसे करते हैं, परंतु कई शक्तिमान् लोग ऐसे हैं कि जो अपनी शक्तिसे दूसरोंकी सहायता निःस्वार्थ करते हैं। इन सब लोगोंको तूने किस प्रकारका उपदेश दिया है, जिससे ये विविध प्रकारकी प्रवृत्तियां लोगोंमें दिखाई देती हैं? यह आशय इस प्रथम मंत्रके प्रश्नोंका है। तू लोगोंको सब जगत्के पदार्थ अर्पण करके तथा उनकी आधि-व्याधियोंका शमन करके सबका भला करता है, तथापि जनतामें ऐसी भिन्न प्रवृत्तिके लोग किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह भाव यहां है।

प्रयत्नका महत्त्व।

केवल इच्छा करनेसे ही सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इच्छाके साथ प्रयत्नकी भी अत्यंत आवश्यकता है, यह बात विशेष रीतिसे द्वितीय मंत्रमें कही है—

न कामेन पुनर्मघो भवामि। (मं. २)

'केवल इच्छा करने मात्रसे ही पुनः धनयुक्त नहीं होता हूं।' अर्थात् इच्छाके साथ विशेष प्रयत्नकी भी आवश्यकता है। जो इच्छा करेगा और सिद्धिके लिये प्रयत्न करेगा उसको ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नहीं तो इच्छा करनेवाला कोई मनुष्य धनहीन नहीं रहेगा। परंतु हम देखते हैं कि हरएक मनुष्य धनी बननेकी इच्छा करता है, परंतु सभी निर्धन रहते हैं और क्वचित् कोई मनुष्य धनी होता है और धनी होनेपर बहुत ही थोडे सुखी होते हैं। इसलिये पुरुषार्थका महत्त्व विशेष ही है। यह बात—

कं संचक्षे? (मं. २)

'किससे मैं कहूं।' अर्थात् हर कोई मनुष्य धनी होना चाहता है, परंतु प्रयत्न करनेकी तैयारी नहीं करता। यह अवस्था होनेके कारण मंत्र कहता है कि 'केवल इच्छामात्रसे सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात मैं किससे कहूं? कौन इस उपदेशको सच्चे प्रकार सुननेको तैयार है? सुनते तो सब ही हैं, परंतु करते बहुत ही थोडे हैं। जो प्रयत्न करते हैं वे—

एतां पृश्निं उप आजे। (मं. २)

'इस प्रकृति (भूमि, वाणी, गौ आदि) को चलाते हैं, प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य लेते हैं।' यह सब प्रयत्नसे ही साध्य होता है, परंतु जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं और इच्छाएं बडी बडी करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे सदिच्छा धारण करें और उसकी सिद्धताके लिये जितना हो सकता है उतना प्रयत्न भी करें।

ईश्वरका महत्त्व।

जैसे इतर पदार्थ हैं वैसा ही ईश्वर भी है। फिर सबके ऊपर परमेश्वरका शासन कैसे हुआ, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका प्रश्न बडा मननीय है—

हे अथर्वन्! त्वं केन? केन काव्येन जातेन जातवेदाः असि? (मं. २)

'हे निश्चल देव! तू किस कारण निश्चल हुआ है और किस काव्यके प्रकट करनेसे जातवेद कहलाता है?' अर्थात् तू जो निश्चल है और तुझे कोई भी अपने स्थानसे हिला नहीं सकता, इतनी शक्ति तेरे अन्दर किस कारण प्राप्त हुई है और तुम्हें ज्ञानका उद्गम कहते हैं, वह भी किस कारणसे? किस पुरुषार्थके कारण परमेश्वरका यह महात्म्य प्रसिद्ध हुआ है, परमेश्वरकी ऐसी कौनसी पुरुषार्थ शक्ति है कि जिससे परमेश्वरका ऐसा ऐश्वर्य बढा हुआ है? यह प्रश्न यहां है। भक्तका यह प्रश्न श्रवण करके परमेश्वर तृतीय मंत्रमें उत्तर देते हैं—

यत् अहं धरिष्ये, (तत्) मे व्रतं न दासः आर्यः मीमाय। (मं. ३)

'मैं जो नियम करता हूं, उस मेरे नियमको दास अथवा आर्य कोई भी तोड नहीं सकता।' व्रतपालनकी यह दक्षता परमेश्वरमें है, इसलिये उसका शासन सर्वतोपरि हुआ है। नियमका पालन स्वयं करना और दूसरोंसे नियमका पालन करवाना, ये कार्य आत्मशक्तिसे होते हैं। परमेश्वर सबसे अधिक

शक्तिमान् है, इसलिये वह स्वयं नियमपालन करता है और दूसरोंसे नियमपालन करवाता है और उसने अपने विश्वव्यापक राज्यमें ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि उसके नियमोंको कोई भी तोड न सके। ऐसा उत्तम शासन रहनेके कारण उसका अधिकार सर्वतोपरि हुआ है। यह बात परमेश्वरकी शक्तिके विषयमें हुई, अब उसके ज्ञानके विषयमें देखिये—

सत्यं, काव्येन जातेन अहं जातवेदाः आसि । (मं. ३)

'यह बात सत्य है कि यह काव्य प्रसिद्ध होनेके कारण ही मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ हूं।' जातवेदका अर्थ 'जिससे वेद प्रसिद्ध हुए' ऐसा है। परमेश्वरका यह निश्वसित वेद जगत्में प्रसिद्ध होनेके कारण ही ईश्वरकी ज्ञानविषयमें श्रेष्ठता जगत्में प्रसिद्ध हो गई है। पहिले मंत्रभागमें उसकी शक्तिका वर्णन हुआ और प्रबंधशक्तिका भी वर्णन हुआ है। इस मंत्र भागमें उसकी ज्ञानशक्तिका वर्णन हुआ। सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ ज्ञान परमेश्वर ही सबको देता है, जो ध्यान लगाते हैं वे उससे समाधान प्राप्त करते हैं। यह सामर्थ्य परमेश्वरका ही है। इसी प्रकार परमेश्वरकी गंभीरताका भी वर्णन इसी मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार है—

सत्यं, अहं गभीरः। (मं. ३)

'यह सत्य है कि, मैं गंभीर हूं।' गंभीर उसको कहते हैं कि जिसकी गहराईका किसीको पता नहीं लगता। सबसे गंभीर परमेश्वर ही है, क्योंकि उसकी गहराईका पता अभीतक किसीको लगा नहीं, इतना ही नहीं, परंतु उसके द्वारा बनाई गयी यह सृष्टि है, इसकी गंभीरताका भी पता अभीतक किसीको भी लगा नहीं है। उसकी गंभीरता इतनी है। ये गुण परमात्मामें होनेसे ही परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि है।

इस प्रकार तृतीय मंत्रमें परमात्माका भाषण श्रवण करके भक्त फिर ईश गुणोंका वर्णन कर रहा है—

१ त्वत् अन्यः कावितरः न। (मं. ४)
२ [त्वत् अन्यः] मेधया धीरतरः न। (मं. ४)

'(१) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक श्रेष्ठ कवि वा ज्ञानी नहीं है, और (२) तेरेसे भिन्न बुद्धिसे अधिक बुद्धिमान् भी कोई नहीं है।' अर्थात् तू ही इन गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि—

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ। (मं. ४)
त्वं विश्वा जनिमा वेद। (मं. ४)

'तू ही इन सब भुवनोंको और जन्मोंको जानता है।' संपूर्ण पदार्थमात्रका ज्ञान तेरे अन्दर है, तेरे लिये कोई अज्ञात पदार्थ नहीं है। तू सर्वज्ञ, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होनेके कारण सब लोगोंके गुणदोष तू यथावत् जानता है, इसी कारण—

मायी जनः त्वत् बिभाय। (मं. ४)

'कुटिल मनुष्य तुझसे डरता रहता है।" क्योंकि: कपटी मनुष्य यद्यपि अन्य लोगोंके साथ कपट कर सकता है, तथापि वह परमेश्वरके साथ नहीं कर सकता; क्योंकि परमेश्वर उसके कर्मोंको यथावत् जानता है, उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है। इसीलिये सब छली और कपटी उस परमेश्वरसे सदा डरते रहते हैं। जाहिरी तौरपर बतावें या न बतावें, परन्तु वे मनमें डरते रहते हैं। इस सर्वज्ञताके कारण परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हुआ है।

पंचम मंत्रमें भी यही बात पुनः कही है कि 'वह ईश्वर सबके जन्मोंको यथावत् जानता है।' फिर कौन उससे किस प्रकार छिपा सकता है? पञ्चम मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि—

रजसः परः किम् अन्यत् अस्ति ? (मं. ५)
किं परेण अवरम् ? (मं. ५)

'इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है और उसके परे भी और क्या है?' उत्तरमें कहते हैं—

रजसः एकं परः अन्यत् अस्ति।
परः एकेन दुर्णशं चित् अर्वाक्॥ (मं. ६)

'इस प्रकृतिके परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है और उसके परे अविनाशी तत्व है।' यहां प्रकृति जीवात्मा और परमात्माका वर्णन स्पष्टतासे आया है। मनुष्यको उचित है कि वह इनको जाने और अपनी उन्नतिका मार्ग इनके आश्रयसे है यह निश्चित रूपसे समझे।

धनप्राप्तिमें दोष।

पूर्वोक्त प्रकार अध्यात्मका विषय बतानेके पश्चात् व्यवहारका थोडासा उपदेश करते हैं। इहलोकका व्यवहार करनेके लिये धन बहुत चाहिये, यहां धन कमानेके बहुत मार्ग हैं, परंतु—

पुनर्मघेषु भूरि अनवद्यानि। (मं. ७)

'पुनः धन कमानेमें बहुत दोष अथवा निंद्य कर्म होते हैं' अर्थात् दोष न करते हुए और निंद्य कर्म न करते हुए जितना धन कमाया जा सकता है, उतना कमाना चाहिये। दोष और

निंद्य कर्म करके जो धन कमानेका व्यवहार करते हैं, वे दण्ड-नीय समझने चाहिये, इस विषयमें देखिये—

पणयः अधोवचसः भवन्तु। (मं. ६)
दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु। (मं. ६)

'व्यवहारमें निंद्य कर्म करके धन कमानेकी इच्छा करनेवालोंका मुख नीचेकी ओर होवे। और दूसरेका घात करके धन कमानेवाले नीच स्थितिमें गिर जावें।' अर्थात् जो धन कमाना हो, वह धर्मानुकूल व्यवहार करके कमाया जावे। और कोई मनुष्य निंद्य व्यवहार और घातपात करके धन कमानेका यत्न न करे।

इस मंत्रभागमें 'पणि' शब्द है, इसका अर्थ 'क्रय विक्रय करनेवाला बनिया' है। पणि शब्दमें कोई वस्तुतः बुरा भाव नहीं है। परंतु पाठक जानते ही हैं कि बनियोंमें शुद्ध धर्मानुसार व्यवहार करके धन कमानेकी इच्छा करनेवाले बहुत थोडे होते हैं, और जैसी मर्जी चाहि बुरा भला व्यवहार करके शीघ्र धनी होनेकी इच्छा करनेवाले ही बहुत होते हैं। इसलिये उक्त मंत्रभागोंमें जिन (पणियों) बनियोंको नीचे मुख करनेका शाप दिया है, वे दुष्ट व्यवहार करनेवाले हैं। इसी प्रकार 'दास' शब्दका धात्वर्थ 'क्षय करनेवाले, घातपात करनेवाले' ऐसा होता है। दूसरोंकी लूटमार करके धनी होनेवाले यह अर्थ इस मंत्रमें दास शब्दसे लेना योग्य है। इन सब कुत्सित व्यवहार करनेवालोंकी अन्तमें दुर्दशा होती है, इसलिये धर्ममार्गसे उत्तम व्यवहार करके धनी बननेका प्रयत्न सब लोग करें, यह उपदेश यहां है। इतना होनेपर भी—

एतावतः पणीन् मा सु अभि भूत्। (मं. ७)

'बनियोंको भी नुकसान न होवे।' अर्थात् वे भी धर्मानुकूल व्यवहार करके योग्य लाभ अवश्य कमावें। जबतक धर्मानुकूल व्यवहार वे करें तब तक उनको कोई रुकावट न होवे, परंतु जिस समय वे धर्मनियमका भंग करें, तब ही उनको दूर किया जावे। हरएक व्यवहार करनेवाले लोग इस उपदेशके अनुसार अपना व्यवहार करें और धनी बनें।

आगे अष्टम और नवम मंत्रमें 'परमेश्वरका स्तोत्र अर्थात् ईशभक्ति सब लोगोंमें फैले' यह इच्छा प्रकट की है, इसका अर्थ यही है कि, सब लोग एक ईश्वरकी भक्तिसे रंगे जांयगे, तो उनमें बुराईका व्यवहार करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी और सब लोग उत्तम रीतिसे धर्मानुकूल चलेंगे। ईशभक्तिसे मनुष्यका जीवन ही पवित्र होता है।

ईश्वरका सखा।

हरएक मनुष्यको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मैं परमेश्वरका मित्र हूं। जो धार्मिक भक्त होते हैं, उनमें ही यह भाव हो सकता है—

१ मे युज्यः सप्तपदः सखा असि। (मं. ९)
१ ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि। (मं. १०)
३ सखा नः असि। बंधुः च असि। (मं. ११)

'ईश्वर मेरा मित्र और बन्धु है।' वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा परस्पर मित्र, बंधु और एक वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंके समान परस्पर सख्य करनेवाले हैं। परंतु कितने लोग ऐसे हैं कि जो इस मित्रताका अनुभव करते हैं, इसका विचार किया जाय तो पता लगेगा कि बहुत ही मनुष्योंने इस मित्रताको भुला दिया है। ईश्वरके साथ जीवित और जाग्रत मित्रताका संबंध रखनेवाले क्वचित् कोई सन्त महंत होते हैं, शेष लोग इस मित्रताके संबंधको भूले हुए होते हैं। यह ईशमित्रताका संबंध जितने अन्तःकरणोंमें जाग्रत हो जाय उतना अच्छा है। जिनमें यह संबंध जाग्रत होता है वे ही—

देहि नु मे यत् मे अदत्त। (मं. ९)
ददामि तत् यत् ते अदत्त। (मं. १०)

'दे मुझे वह जो अभीतक नहीं दिया है। मैं तुझे वह देता हूं कि जो तुझे अभीतक नहीं दिया है।' यह भक्त और ईश्वरका वार्तालाप तब प्रत्यक्ष हो सकता है कि जब मनुष्य ईश्वरको अपना मित्र अनुभव करेगा। जो अबतक दी नहीं गई ऐसी वस्तु 'मोक्ष' ही है जो इस समय भक्त मांगता है और परमेश्वर भी देता है। परमेश्वरसे प्राप्त होनेवाला यह अन्तिम दान है जो भक्तको सबसे अन्तमें प्राप्त होता है।

यज्ञ ।

(१२) ऋतस्य यज्ञः ।

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — जातवेदाः ।)

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥
तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥
आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

अर्थ — हे (जातवेदः) ज्ञान प्रकाशक देव ! (अद्य मनुषः दुरोणे समिद्धः देवः) आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ तू देव (देवान् यजसि) देवोंका यजन करता है । हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य देव ! तू (चिकित्वान् आ वह च) ज्ञानवान् उनको यहां ला । (त्वं कविः प्रचेता दूतः असि) तू कवि और विशेष ज्ञानी दूत है ॥ १ ॥

हे (तनू-न-पात् सुजिह्व) शरीरको न गिरानेवाले और उत्तम जिह्वावाले देव ! (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जन् स्वदय) सत्यके चलने योग्य मार्गोंको मधुरतासे युक्त करता हुआ स्वादयुक्त कर । (धीभिः मन्मानि) बुद्धियोंसे मननीय विचारोंको (उत यज्ञं ऋन्धन्) और यज्ञको सिद्ध करता हुआ (देवत्रा नः अध्वरं च कृणुहि) देवोंके मध्यमें हमारा अहिंसामय कर्म पूर्ण कर ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च) हवन करनेवाला स्तुति और वन्दन करने योग्य तू (सजोषाः वसुभिः आ याहि) प्रेमसे वसुओंके साथ आ । हे (यह्व) पूज्य ! (त्वं देवानां होता असि) तू देवोंका आह्वान करनेवाला है । (सः इषितः यजीयान् एनान् यक्षि) वह इष्ट और याजक तू इनका यजन कर ॥ ३ ॥

(अह्नां अग्रे) दिनके प्रथम भागमें (अस्याः पृथिव्याः प्रदिशा) इस पृथ्वीकी दिशासे (वस्तोः बर्हिः प्राचीनं आ वृज्यते) आच्छादनके लिये तृणादि पूर्व दिशाके अभिमुख फैलाया जाता है । यह आसन (वितरं वरीयः) विस्तृत और श्रेष्ठ (देवेभ्यः अदितये स्योनं) देवोंके लिये तथा स्वतंत्रताके लिये सुखदायक (उ विप्रथते) फैलाया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ — आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ अग्निदेव देवोंके लिये यज्ञ करता है और उनको यहां लाता है । यह मित्रके समान पूज्य, ज्ञानी, कवि, उत्तम चित्तवाला देवोंका दूत है ॥ १ ॥

शरीरको न गिरानेवाला और मधुर भाषी देव सत्यको पहुंचानेवाले मार्गोंको माधुर्ययुक्त करता है । उत्तम मननीय विचारोंसे यज्ञको सिद्ध करके देवोंके बीचमें हमारा यज्ञ पहुंचता है ॥ २ ॥

उत्तम हवन करनेवाला, स्तुति योग्य और नमस्कारके लिये योग्य तू देव वसुओंके साथ यहां इस यज्ञमें आ । तू देवोंको बुलानेवाला है । इसलिये तू याजकोंमें उत्तम याजक उन देवोंको यहां ले आ ॥ ३ ॥

प्रातःकालमें ही इस पृथिवीको आच्छादित करनेके लिये पूर्वदिशाकी ओरसे आसन फैलाते हैं । यह विस्तृत और उत्तम आसन सब देवोंके बैठनेके लिये सुखदायक है और यह स्वतंत्रताके लिये भी उत्तम है ॥ ४ ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥
दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥
य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

अर्थ— (शुम्भमाना जनयः पतिभ्यः न) शोभायमान स्त्रियां जिस प्रकार पतियोंका आदर करती हैं उस प्रकार (व्यचस्वती उर्विया) विस्तृत और महान् (बृहतीः विश्वं इन्वाः) बडे और सबको प्राप्त करनेवाले (देवीः द्वारः) हे दिव्य द्वारो ! (देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत) देवोंके लिये सुखसे आने जाने योग्य होवो ॥ ५ ॥

(सुष्वयन्ती यजते उपाके) उत्तम चलनेवाली यजनीय और समीपस्थित (दिव्ये योषणे) दिव्य और सेवनीय (बृहती सुरुक्मे) बडी सुन्दर (शुक्रपिशं श्रियं अधि दधाने) शुद्ध शोभाको धारण करनेवालीं (उषासानक्ता योनौ नि आ सदताम्) दिन और रात्री हमारे घरमें आवें ॥ ६ ॥

(प्रथमा सुवाचा दैव्या होतारा) पहिले, सुन्दर बोलनेवाले दोनों दिव्य होता (मनुषः यज्ञं यजध्यै मिमाना) मनुष्यके यज्ञमें यजन करनेके लिये निर्माण करनेवाले (विदथेषु प्रचोदयन्ता कारू) यज्ञोंमें प्रेरणा करनेवाले कर्मकर्ता (प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता) प्राचीन ज्योतिको उसकी दिशासे बताते हैं ॥ ७ ॥

(भारती नः यज्ञं तूयं आ एतु) सबका भरण करनेवाली मातृभूमि हमारे यज्ञमें बलके साथ आवे। (इडा मनुष्वत् यज्ञं चेतन्ती इह) मातृभाषा मनुष्योंसे युक्त यज्ञको चेतना देती हुई यहां आवे। (सरस्वती सु-अपसः आ सदन्तां) मातृसभ्यता उत्तम कर्म करनेवालोंके पास बैठे और ये (तिस्रः देवीः इदं स्योनं बर्हिः) तीनों देवियां इस उत्तम आसनपर आकर विराजें ॥ ८ ॥

(इमे जनित्री द्यावापृथिवी) इन उत्पन्न करनेवाली द्यु और पृथिवीमें (विश्वा भुवनानि रूपैः यः अपिंशत्) सब भुवनोंको विविध रूपोंसे रूपवान् जिसने बनाया है। हे (होतः) याजक ! (यजीयान् इषितः विद्वान्) यज्ञ करनेवाला इष्ट विद्वान तू (अद्य इह तं देवं त्वष्टारं यक्षि) आज यहां उस त्वष्टा देवके लिये यजन कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— स्त्रियां जिस प्रकार पतिको सुख देती हैं उस प्रकार ये हमारे दिव्य दरवाजे, जो विस्तृत बडे और सबको आने जानेके लिये योग्य हैं, वे देवोंको सुखपूर्वक अन्दर लानेवाले हों ॥ ५ ॥

उत्तम गमन करने योग्य, एक दूसरेके साथ संबंधित, दिव्य और सुन्दर प्रातःकाल और रात्रीका समय सुखपूर्वक हमारे घरमें बीते ॥ ६ ॥

ये सुन्दर मंत्रगान करनेवाले दिव्य होतागण मनुष्योंका यह यज्ञ पूर्ण करनेके लिये पूर्वदिशाकी ज्योतिका संदेश देते हुए, सबको प्रेरणा करनेके लिये यहां आवें ॥ ७ ॥

हमारे इस यज्ञमें सबका पोषण करनेवाली मातृभूमि, यज्ञकी प्रेरणा करनेवाली मातृभाषा और उत्तम कर्मकी प्रेरणा करनेवाली प्रवाहसे प्राप्त मातृसभ्यता यहां आकर इस यज्ञमें विराजें ॥ ८ ॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥
सद्यो जातो व्य(मिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥ (११९)

अर्थ— (त्मन्या समञ्जन्) स्वयं प्रकट होता हुआ तू (देवानां पाथः हवींषि ऋतुथा उप अव सृज) देवोंके लिये अन्न और हवन ऋतुके अनुसार दे । (वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः) वनस्पति, शान्तिकर्ता अग्निदेव (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर घृतके साथ हव्यका स्वाद लेवें ॥ १० ॥

(सद्यः जातः अग्निः यज्ञं वि अमिमीत) शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि यज्ञका निर्माण करता है । वह (देवानां पुरोगाः अभवत्) वह देवोंका अग्रगामी होता है । (अस्य ऋतस्य होतुः प्रशिषि वाचि) इस सत्य प्रवर्तक होताकी प्रकृष्ट शासनवाली वाणीमें (स्वाहाकृतं हविः देवा अदन्तु) स्वाहाकार द्वारा दिया हुआ हव्य देव खावें ॥ ११ ॥

भावार्थ- जो सब भूतोंको विविध रूप देती है वे दोनों द्यावापृथिवी हैं । हमारा याजक त्वष्टा देवका यहां यजन करे॥९॥

स्वयं यहां प्रकट होकर सब देवोंको ऋतुओंके अनुसार हवि और अन्न दे । वनस्पति, शमिता, और देव अग्नि ये सब हमारी हवि और घृत मीठेसे युक्त करें ॥ १० ॥

प्रज्वलित अग्नि यहां हमारा यज्ञ निर्माण करता है । यह देवोंका अग्रणी है । इस होता अग्निकी वाणीमें अर्थात् मुखमें स्वाहाकारपूर्वक डाला हुआ हवि सब देव खावें ॥ ११ ॥

यजमानकी इच्छा ।

यजमान अपने घरमें यज्ञ अथवा होम करता है, उस समय उसके मनमें जो विचार होने चाहिये वे इस सूक्तमें बडे सुंदर वर्णनके साथ दिये हैं । घरमें कोई धर्मकृत्य, धर्मका कोई संस्कार, करनेके समयमें ये विचार यजमानको मनमें धारण करने योग्य हैं—

'(१) यह मेरे घरमें प्रदीप्त किया हुआ यज्ञीय अग्नि निःसंदेह सब देवताओंका यजन करता है । वह निःसंदेह सब देवोंको यज्ञस्थानमें ले आता है, क्योंकि वह देवोंको बुलानेवाला, और हवि उनको पहुंचानेवाला प्रत्यक्ष देवदूत ही है ।

(२) यह उत्तम जिह्वावाला अग्निदेव सत्यको पहुंचनेवाले धर्ममार्गोंपर मीठे पाथेय देनेवाला है। यह यहां आता है, उत्तम स्तोत्रोंसे यज्ञ करता है, और अहिंसामय कर्मोंको देवोंतक पहुंचा देता है ।

(३) हे अग्ने ! पृथिव्यादि आठ वसु देवोंको तू यहां इस यज्ञमें ला। तू वंदनीय और प्रशंसनीय देव है । तू देवोंको यहां बुलानेवाला है, इसलिये देवोंको यहां बुलाकर उनके लिये यजन कर ।

(४) हमने प्रातःकालसे ही देवताओंके सुखपूर्वक बैठनेके लिये पूर्वदिशाके सन्मुख आसन फैलाकर रखे हैं। देव यहां आवें और सुखपूर्वक यहां विराजें ।

(५) हमारे घरके द्वार पूर्णतया खोलकर रखे हैं, इनमेंसे देव सुखपूर्वक आवें और इस यज्ञमें मंगल करें ।

(६) सबेरेसे सायंकालतकका समय शोभन और तेजस्वी है, यह सब समय उत्तम आनन्दकारक रीतिसे हमारे घरमें बीते अर्थात् हमारे लिये यह समय सुख देनेवाला होवे ।

(७) दिव्य होतागण हमारे यज्ञमें आ जांय, मनुष्योंको बुलावें, उत्तम प्रकार यज्ञ कर्म करें और इस यज्ञसे प्रकाशका मार्ग सबको बतावें ।

(८) इस यज्ञसे सबका भरणपोषण करनेवाली मातृभूमिका सत्कार हो, यहां मातृभाषा सबको उत्तम प्रेरणा देवे, प्रवाहसे प्राप्त सभ्यता उत्तम कर्मकी प्रेरणा करे। इस प्रकार ये तीनों देवियां इस यज्ञमें आकर कार्य करें ।

(९) ये द्यावापृथिवी हैं, इनके कारण ही सब स्थिर चर पदार्थ रूपसे संपन्न हुए हैं । इनके बीचमें यह यज्ञ चल रहा है, अतः इस यज्ञमें सबको आकार देनेवाले त्वष्टा देवके लिये हवन अवश्य होवे ।

(१०) यज्ञकी समिधाएं, अग्नि और हवन सामग्री घीसे युक्त होवे, हवन सामग्रीमें मीठा मिलाया जावे । और ऋतुओंके अनुकूल देवोंके निमित्त हवन होता रहे ।

(११) अग्नि प्रदीप्त होते ही यज्ञका प्रारंभ होता है, और देव भी उस यज्ञ स्थानमें आते हैं । इस अग्निमें स्वाहाकारपूर्वक

किया हुआ हवन सब देव खाते हैं और तृप्त होते हुए हमारा कल्याण करते हैं।

इस प्रकार यजमान अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है। जिस यजमानके मनमें विश्वासपूर्वक ये बातें रहती हैं और जो सचमुच समझता है कि इस यज्ञकर्ममें सब देवताएं भाग लेतीं हैं और मनुष्यका कल्याण करतीं हैं, वही यजमान वैदिक कर्मोंसे आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। अविश्वासीके उद्धारका कोई मार्ग नहीं है।

इस सूक्तके कथनानुसार पाठक स्वयं जान सकते हैं कि सामग्री कैसी सिद्ध करनी चाहिये। यज्ञकी विधि जाननेके लिये भी इस सूक्तके मननसे बहुत लाभ हो सकता है।

अग्निका नाम इस सूक्तमें 'तनू-न-पात्' आया है। इसका अर्थ है 'शरीरको न गिरानेवाला' अर्थात् शरीरको चलानेवाला। इस शरीरमें अग्नि शरीरको चलाता है, यह बात इस मंत्रमें स्पष्ट कही है। पाठक स्थूल दृष्टिसे भी विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मृत मनुष्यका शरीर ठण्डा हो जाता है और जीवित मनुष्यके शरीरमें उष्णता रहती है। इस अनुभवसे भी पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरको चलानेवाला अग्नि है। आगे चलकर यही तनूनपात् शब्द आत्माका वाचक हो जाता है और आत्मा शरीरका चालक है यह बात सब जानते ही हैं।

जो यज्ञ अग्निमें किया जाता है उसका नाम अध्वर है, यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। अ-ध्वरका अर्थ 'अ-हिंसा' है अथवा 'अ-कुटिलता' भी है। अर्थात् यज्ञका अर्थ अहिंसा युक्त और कुटिलता रहित कर्म है। मनुष्यको इस प्रकारके ही कर्म करने चाहिये। परन्तु कई मनुष्य यज्ञके नामसे हिंसामय कर्म करते हैं, और आश्चर्यकी बात तो यह है कि वे उस हिंसाको भी अहिंसा मानते हैं। इससे अर्थका अनर्थ न हो तो और क्या हो सकता है? अस्तु।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक उचित बोध प्राप्त करें।

सर्पविष दूर करना।

(१३) सर्पविषनाशनम्।

(ऋषिः — गरुत्मान्। देवता — तक्षकः, विषम्।)

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥ १ ॥
यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

अर्थ— (दिवः कविः वरुणः हि मह्यं ददिः) द्युलोकके कवि वरुणने मुझे उपदेश दिया है कि (उग्रैः वचोभिः ते विषं नि रिणामि) बलवान् वचनोंके द्वारा तेरा विष दूर करता हूं। (खातं अखातं उत सक्तं) घाव अधिक खुदा हुआ हो, न खुदा हुआ हो अथवा विष केवल ऊपर चिपका ही हुआ हो, इस सब विषको (अग्रभं) मैं लेता हूं। (धन्वन् इरा इव) रेतीले स्थानमें जिस प्रकार जलधारा नष्ट होती है उस प्रकार (ते विषं नि जजास) तेरा विष निःशेष नष्ट करता हूं ॥ १ ॥

(यत् ते अप-उदकं विषं) जो तेरा जलशोषक विष है (तत् ते एतासु अग्रभं) वह तेरा विष इनमें लेता हूं। (ते उत्तमं मध्यमं उत अवमं रसं गृह्णामि) तेरा उत्तम, मध्यम और नीचेवाला रस पकडकर लेता हूं। जो (आत् उ ते भियसा नेशत्) तेरे भयसे नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— दिव्य ज्ञानी कहता है कि बलवाले वचनोंसे सर्पका विष दूर होता है। विष गहरे घावमें गया हो, छोटे घावमें गया हो अथवा केवल ऊपर ही ऊपर चिपका हो। उसको मैं पकडता हूं और निःशेष करता हूं ॥ १ ॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥
चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥
कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥ ५ ॥
असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥ ६ ॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च । विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

अर्थ— (मे रवः नभसा तन्यतुः न वृषा) मेरा शब्द आकाशकी गर्जनाके समान बलवान् है। (उग्रेण वचसा आत् उ ते ते बाधे) बलवाले वचनोंसे निश्चयपूर्वक तुझे तुझे ही बाधा करता हूं। (अहं नृभिः अस्य तं रसं अग्रभं) मैंने मनुष्योंके साथ इसके उस रसको लिया है। (तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु) अन्धकारसे ज्योति देनेवाले सूर्यके समान यह उदयको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(चक्षुषा ते चक्षुः हन्मि) आंखसे तेरे आंखका नाश करता हूं। (विषेण ते विषं हन्मि) विषसे तेरा विष नष्ट करता हूं। हे (अहे म्रियस्व, मा जीवीः) सर्प ! तू मर जा, मत जीता रह। (विषं त्वा प्रत्यक् अभ्येतु) विष तेरे प्रति लौटकर आ जावे ॥ ४ ॥

हे (कैरात, पृश्ने, उपतृण्य, बभ्रो, असिताः, अलीकाः) जंगलमें रहनेवाले, धब्बेवाले, घासमें रहनेवाले, भूरे रंगवाले, कृष्ण और निंदनीय सर्पो ! (मे आ शृणुत) मेरा भाषण सुनो। (मे सख्युः स्तामानं अपि मा स्थात) मेरे मित्रके घरके पास मत ठहरो। (आश्रावयन्तः विषे नि रमध्वं) सुनाते हुए दूर अपने विषमें ही रमते रहो। ॥ ५ ॥

(असितस्य) कृष्ण (तैमातस्य) गीले स्थानपर रहनेवाले (बभ्रोः) भूरे रंगवाले (अप-उदकस्य) जलसे दूर रहनेवाले और (सात्रासाहस्य मन्योः) सबको पराजित करनेवाले क्रोधी सर्पके विषबाधाको मैं (वि मुञ्चामि) ढीला करता हूं, जिस प्रकार (धन्वनः ज्यां इव, रथान् इव) धनुष्यसे डोरी और रथोंके बंधनोंको ढीला करते हैं ॥ ६ ॥

(आलिगी च विलिगी च) चिपकनेवाली और न चिपकनेवाली (पिता च माता च) तथा नर और मादा (वः बन्धु सर्वतः विद्म) तुम्हारे सबके बंधुओंको भी हम सब प्रकारसे जानते हैं। (अरसाः किं करिष्यथ) तुम नीरस होने पर क्या करोगे ? ॥ ७ ॥

भावार्थ— सर्प विष शोषक है। उसको ऊपर मध्यभागमें और नीचेके भागमें पकड लेता हूं और सर्वविषके भयसे तुम्हें दूर करता हूं ॥ २ ॥

मेरा शब्द प्रभावशाली है, उससे विषकी बाधा दूर करता हूं। मैं अन्य मनुष्योंकी सहायतासे विषके रसको स्तंभित किया है, अब यह सूर्यउदयके समान जाग उठेगा ॥ ३ ॥

विषसे विष दूर करता हूं। हे सांप ! अब तू मर जा, जीवित न रह। तेरा विष लौटकर तेरे प्रति जावे ॥ ४ ॥

जंगलमें रहनेवाले, धब्बोंवाले, घासमें रहनेवाले और भूरे रंगवाले, काले और घृणित ऐसे सांप होते हैं। हे सब सर्पो ! मेरे मित्रके घरके पास न ठहरो ! दूर कहीं जाकर अपने विषके साथ रमो ॥ ५ ॥

कृष्ण, गीले स्थानपर रहनेवाले और भूरे रंगवाले, जलस्थानसे दूर रहनेवाले और क्रोधी सर्पकी विषबाधाको मैं दूर करता हूं। धनुष्यपरसे डोरी उतारनेके समान मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

विषकी बाधकता नष्ट होनेपर सांपोंका नर या मादा क्या हानि करेगा ? ॥ ७ ॥

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या । प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥
कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका । याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥
ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥ (१३०)

अर्थ— (उरु-गुलाया दुहिता जाता) बहुत हिंसक सर्पिणीकी दुहिता (असिक्न्याः दासी) कृष्णसर्पिणीकी दासी हो गई है। इन (दद्रुषीणां सर्वासां) दाद पैदा करनेवाली सब सांपिनियोंका (प्रतङ्कं विषं अरसं) कष्ट दायक विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

(कर्णा श्वावित्) कानवाली साही (गिरेः अवचरन्तिका) पहाडके नीचे घूमनेवाली (तत् अब्रवीत्) वह बोली (याः काः च इमाः खनित्रिमाः) जो कोई ये भूमिको खोदकर रहते हैं, (तासां विषं अरसतमं) उनका विष नीरस होवे ॥ ९ ॥

(ताबुवं न ताबुवं) ताबुव हिंसक नहीं है। (त्वं ताबुवं न घ इत् असि) तू ताबुव तो हिंसक निःसंदेह नहीं है। (ताबुवेन विषं अरसं) ताबुवके द्वारा विष नीरस होता है ॥ १० ॥

(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव भी नाशक नहीं है। (त्वं तस्तुवं न घ इत् असि) तू तस्तुव तो नाशक निःसंदेह नहीं है। (तस्तुवेन विषं अरसं) तस्तुव द्वारा विष निरस होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— हिंसक, कृष्णसर्पिणी, और दाद उत्पन्न करनेवाली सांपिणीका विष नीरस होवे ॥ ८ ॥
सब पहाडी सर्पोंका विष साररहित हो जावे ॥ ९ ॥
ताबुव और तस्तुव नामक पदार्थ विशेषसे सर्पोंका विष निर्बल होता है ॥ १०-११ ॥

सर्प विष।

इस सूक्तमें निम्नलिखित सर्पजातियोंका वर्णन है—

१ कैरातः— भील जहां रहते हैं उस जंगलमें रहनेवाला सर्प,
२ पृश्निः— धब्बोंवाला सर्प,
३ उपतृण्यः— घासमें रहनेवाला सर्प,
४ बभ्रुः— भूरे रंगवाला सर्प,
५ असितः— काले रंगवाला सर्प,
६ अलीकः— अमंगल सर्प,
७ तैमातः— गीले प्रदेशमें रहनेवाला सर्प,
८ अपोदकः— जो जलके पास नहीं रहता,
९ सात्रासाहः— इसके संबंधमें आनेवालेका नाश करनेवाला सर्प,
१० मन्युः— क्रोध धारण करनेवाला सर्प,
११ आलिगी— चिपकनेवाली अर्थात् शरीरको लपेटनेवाली सांपिन,
१२ विलिगी— शरीरसे दूर रहनेवाली सांपिन,
१३ उरु-गुला— जिसका निम्न प्रदेश बडा होता है,
१४ असिक्नी— काली सांपिन,
१५ दद्रुषी— जिस सांपिनके काटनेसे शरीरपर दाद उठता है और दादसे रक्त निकलता है।
१६ कर्णा— कानवाली सांपिन,
१७ श्वावित्— कुत्ता जिसको काटता है, कुत्ता जिसको ढूंढकर निकालता है।
१८ खनित्रिमा— खोदी हुई भूमिमें रहनेवाली सांपिन,

इतनी सांपोंकी जातियोंके नाम इस सूक्तमें हैं। इनमेंसे दो तीन नामोंके विषयमें हमें संदेह है और उनके ज्ञान निश्चित करनेके लिये अभी बहुत खोजकी अपेक्षा है।

उपाय।

सर्पविषकी बाधापर 'ताबुव और तस्तुव' का उपाय इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंमें लिखा है। परन्तु ये पदार्थ क्या हैं इसका ज्ञान खोज करनेपर भी अभीतक हमें नहीं हुआ। संभव है कि ये कुछ औषधी, खनिज पदार्थ या पत्थर जैसे पदार्थ अथवा मणि हों। संभव है ये सर्पविशेषके मस्तकमें मिलनेवाले मणियोंके नाम हों। कुछ निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें खोज करनेकी आवश्यकता है।

दूसरा उपाय तीन स्थानपर बंध लगाकर विषकी गतिको रोकना है—

गृह्णामि ते मध्यमं उत्तमं अवमम्।
पतातु विषं अग्रभम् ॥ (मं. २)

' ऊपर, मध्यमें और नीचे रस्सीसे बांधके, इनमें विषको पकड लेता हूं। ' यह विधि इस प्रकार है। प्रायः हाथ या पांवको सांप काटता है। जहां काटता है वहांसे विष ऊपर चढता है, इसलिये काटते ही जंघाके मूलमें, घुटनेपर तथा कटे स्थानसे किंचित् ऊपर रसीसे बांध देनेसे विषकी ऊपर जानेकी गति रुक जाती है। इस प्रकार विषकी गति रोककर फिर जहांतक विष गया हो, वहांपर उक्त पदार्थोंका प्रयोग करनेसे विष निःसत्त्व हो जाता है।

परन्तु ' ताबुव और तस्तुव ' पदार्थ प्राप्त न होनेकी अवस्थामें यह उपाय कैसे किया जाय यह एक शंका है।

जहांतक धमनीमें विष पहुंचा होता है, वहांके बाल खडे नहीं रहते, इसलिये बालोंको देखनेसे पता लगता है कि यहांतक विष आया है। अतः विष जहां है वहां जलता अग्नि रखकर वह स्थान जला दिया जाय तो मनुष्य बच सकता है। परन्तु यह बात इस सूक्तमें कही नहीं है।

यह सूक्त दुर्बोध है। इसलिये कई मंत्रोंका अर्थ भी ठीक प्रकार समझमें नहीं आया है, इस कारण मंत्रोंका विवरण भी अधिक नहीं हो सकता।

इस सूक्तके कई मंत्र ऐसे हैं कि मंत्रसामर्थ्यसे सांपको कुछ कहनेके समान भाषा उसमें है। जैसा—

प्रत्यक् अभ्येतु ते विषम्। (मं. ४)
अहे! म्रियस्व। (मं. ४)

' हे सांप! तेरा विष लौटकर तेरे पास आवे! हे सर्प! तू मर जा। ' तथा—

मे सख्युः स्तामानं मा अपि स्थाः। (मं. ५)

' मेरे मित्रके घरके पास न ठहर। ' इत्यादि मंत्र पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रप्रभाव, अथवा कहनेवालेकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे सर्पपर कुछ परिणाम होता है। हमने स्वयं अभीतक देखा नहीं है, परन्तु बहुत लोग कहते हैं कि महाराष्ट्रमें ऐसे मांत्रिक हैं कि जो सर्प द्वारा दंशित मनुष्यके पास उस काटनेवाले सांपको बुलाते हैं, और उससे मणसे सब विष चुसवा लेते हैं। और इस प्रकार सर्पका विष शरीरसे बाहर हो जाने पर वह मनुष्य जाग्रत होनेके समान उठता है। तृतीय मन्त्रके अन्तिम चरणमें ' अन्धकारसे सूर्य उदय होनेके समान यह मनुष्य जाग उठे ' (मं. ३) ऐसा कहा है। संभव है कि इस प्रकारका कुछ भाव ही इसमें हो।

यह सर्पदंशका विषय अत्यंत महत्त्वका है और इसलिये सब प्रकारके उपचारोंकी बडी खोज करनी चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि कौनसा उपाय निश्चित गुणकारी है।

इस प्रकारसे सूक्त गूढ आशय होनेके कारण बडे दुर्बोध होते हैं और इसी कारण इस विषयको सुबोध करनेके लिये बहुत खोजकी अपेक्षा होती है।

घातक प्रयोगको लौटाना।

(१४) कृत्याप्रतिहरणम्।

(ऋषिः — शुक्रः। देवता — वनस्पतिः, कृत्याप्रतिहरणम्।)

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥
अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि। अथो यो अस्मान्दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

अर्थ— (**सुपर्णः त्वा अन्वविन्दत्**) गरुडने तुझे प्राप्त किया और (**सूकरः त्वा नसा अखनत्**) सूकरने तुझे अपनी नासिकासे खोदा है। हे औषधे! (**त्वं दिप्सन्तं दिप्स**) तू नाशकका नाश कर और (**कृत्याकृतं अवजहि**) हिंसा करनेवालेको मार डाल ॥ १ ॥

(**यातुधानान् अवजहि**) यातना देनेवालोंको मार डाल। (**कृत्याकृतं अवजहि**) काटनेवालेको मार डाल। (**अथो यः अस्मान् दिप्सति**) और जो हमें मारना चाहता है, हे औषधे! (**तं उ त्वं जहि**) उसको तू मार ॥ २ ॥

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः। कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥
पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय। समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥
कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते। सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥
यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने। तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥
यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता। तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥
अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व। पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥
कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि। न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥
पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश। बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥१०॥
उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव। कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (रिश्यस्य परिशासं इव) हिंसकको चारों ओरसे चुभनेवालोंके समान और (निष्कं इव) सुवर्णभूषणके समान (त्वचः परि परिकृत्य) त्वचाके ऊपर घाव करके, (कृत्याकृते कृत्यां प्रति मुञ्चत) हत्या करनेवालेके प्रति उसीके काटनेवाले प्रयोगको वापस करो ॥ ३ ॥

(पुनः कृत्यां हस्ते गृह्य) फिर काटनेवाले साधनको हाथमें पकडकर (कृत्याकृते परा णय) प्राणघातक उपाय करनेवालेके पास वापस भेजो (अस्मै समक्षं आ धेहि) इसके लिये सामने रख दे, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे हिंसक मारा जाय ॥ ४ ॥

(कृत्याः कृत्याकृते सन्तु) मारक साधन हिंसकोंके ऊपर ही लौट जांय। (शपथः शपथीकृते) गालियां गाली देनेवालेके पास लौट जांय। (सुखः रथः इव) सुख देनेवाला रथ जैसे जाता है उस प्रकार (कृत्याः कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातपातके उपाय घातकके ऊपर ही फिर पहुंच जावें ॥ ५ ॥

(यदि स्त्री यदि वा पुमान्) चाहे स्त्रीने अथवा चाहे पुरुषने (कृत्यां पाप्मने चकार) घातक प्रयोग पापकी इच्छासे किया है। (तां उ तस्मै नयामसि) उसको उसके पास ही हम लौटा देते हैं, (अश्वा-अभि-धान्या अश्वं इव) घोडेको बांधनेकी रस्सी जिस प्रकार घोडेके पास ले जाते हैं ॥ ६ ॥

(यदि वा देवकृता असि) यदि तू देवोंद्वारा की गई हो अथवा (यदि वा पुरुषैः कृता) यदि मनुष्योंद्वारा बनाई गई हो, (तां त्वा वयं) उस तुझको हम (इन्द्रेण सयुजा) सहयोगी इन्द्रके द्वारा (पुनः नयामसि) पुनः हटा देते हैं ॥ ७ ॥

हे (पृतनाषट् अग्ने) संग्राम जीतनेवाले तेजस्वी पुरुष ! (पृतनाः सहस्व) शत्रुसेनाओंका पराभव कर। (पुनः कृत्याकृते) फिर घातपात करनेवालेके प्रति (प्रतिहरेण कृत्यां प्रति हरामसि) प्रतिहार करनेके उपायसे घातक प्रयोगको लौटा देते हैं ॥ ८ ॥

हे (कृत-व्यधनि) घातकका वेध करनेवाले ! तू (तं विध्य) उसका वेध कर। (यः चकार तं इत् जहि) जिसने घात किया उसका नाश कर (अचक्रुषे त्वां वधाय न संशिशीमहि) हिंसा न करनेवाले तुझको वधके लिये हम उत्तेजना नहीं देते ॥ ९ ॥

(पुत्र इव पितरं गच्छ) पुत्रके समान पिताके प्रति जा। (स्वज इव अभितिष्ठतः दश) लिपटनेवाले सांपके समान घात करनेवालेको काट। (बन्ध इव अवक्रामी) बन्धनके प्रति जानेके समान जा। हे (कृत्ये) हिंसे ! (कृत्या कृतं पुनः गच्छ) हिंसकके प्रति पुनः जा ॥ १० ॥

(वारिणी एणी इव मृगी इव) हाथिनी मृगीके ऊपर जानेके समान (अभिस्कन्दं कर्तारं कृत्या उद् ऋच्छतु) चढाई करनेवाले, घात करनेवालेके प्रति घातक प्रयोग चला जावे ॥ ११ ॥

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति। सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१२॥
अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम्। सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१३॥(१४३)

अर्थ— हे द्यावापृथिवी! (सा कृत्या तं प्रति इष्वाः ऋजीयः पततु) वह घातक प्रयोग उस कर्ताके प्रति बाणके समान सीधा गिरे। और (मृगं इव) मृगके समान वह (तं कृत्याकृतं पुनः गृह्णातु) उस घातक प्रयोग करनेवालेको फिर पकड लेवे ॥ १२॥

(अग्निः इव प्रतिकूलं) अग्निके समान प्रतिकूलके प्रति और (उदकं इव अनुकूलं एतु) जलके समान अनुकूलताके साथ वह चले। (सुखः रथः इव) सुखकारक रथके समान (कृत्या कृत्याकृतं पुनः वर्ततां) घातक प्रयोग-कर्ताके पास फिर चला जावे ॥ १३॥

दुष्ट कृत्यका परिणाम।

दुष्ट कृत्य यदि दूसरेके घातपातके लिये किया जावे, तो वह अन्तमें कर्ताका ही घात करता है, यह इस सूक्तका तात्पर्य है। इसमें कृत्या नामका कुछ घातक प्रयोग कोई दुष्ट लोग करते हैं, ऐसा जो विषय कहा है, वह बडा दुर्बोध है और अबतक उस विषयमें हमें कोई पता नहीं लगा है। इसलिये हम इसपर अधिक कुछ लिख नहीं सकते। यदि कोई पाठक इस मारण प्रयोगके विषयमें कुछ निश्चित और सप्रयोग ज्ञान रखते हों, तो प्रकाशित करनेकी कृपा करें।

सत्यका विजय।

(१५) रोगोपशमनम्।

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता — मधुला वनस्पतिः।)

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि! तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधु करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर। (मे एका च दश च अपवक्तारः) मेरे लिये एक या दस निंदक क्यों न हों। इसी प्रकार (द्वे विंशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशत् च) तीन और तीस, (चतस्रः चत्वारिंशत् च) चार और चालीस, (पञ्च पञ्चाशत्) पांच और पचास, (षट् षष्टिः च) छः और साठ, (सप्त

नवं च मे नवतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ९ ॥
दशं च मे शतं च मेऽपवक्तारं ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तारं ओषधे । ऋतंजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥ (१५४)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

सप्ततिः च) सात और सत्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवतिः च) नौ और नब्बे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवक्तारः) निंदक क्यों न खडे हों और मुझे प्रतिबंध करनेका यत्न क्यों न करे, मैं सत्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूंगा। इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैले ॥ १-११ ॥

सत्यसे यश ।

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है। यह कौन औषधि है, इसका पता नहीं लगता। परन्तु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है। परन्तु जो निंदक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहारसे ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है। सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएं मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता। सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित हो जाता है। मानो ' सत्यपालनका व्रत ' ही सब दोषोंको धोनेवाली दोषधी अथवा ओषधि है। इस सूक्तमें कही संख्याका क्या भाव है वह समझमें नहीं आता।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

आत्मबल ।

(१६) वृषरोगशमनम् ।

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — एकवृषः ।)

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १ ॥ यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ २ ॥
यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ३ ॥ यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ४ ॥
यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ५ ॥ यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ६ ॥
यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ७ ॥ यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ८ ॥
यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ ९ ॥ यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥ ११ ॥ (१६५)

अर्थ— (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः, असि) यदि तू एक दो तीन चार पांच छः सात आठ नौ और दस शक्तियोंसे युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसः असि) तू निःसत्व ही रहेगा। तथा यदि तू (एकादशः असि) ग्यारहवां है, तो (अपउदकः असि) तू प्राकृतिक जीवन रससे रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें दस इंद्रिय शक्तियां हैं। प्रत्येक इंद्रियमें बडी भारी वृषशक्ति, अथवा अश्वशक्ति भी कहिये, है। शरीरस्थ आत्मा इन दस शक्तियोंसे युक्त रहता है। आत्माके शरीरमें आनेके पश्चात् उसको चाहिए कि वह अपना बल बढावे, यदि वह बल बढानेका प्रयत्न न करेगा, तो निःसंदेह इसका बल घटता जायगा। बल न घटे इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना बल बढानेका यत्न करे। जिस समय यह ग्यारहवां शुद्ध आत्म अर्थात् देहसे विरहित आत्मा होता है, उस समय उसके पास, ये प्राकृतिक शक्तियां नहीं होती हैं। उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिसे ही युक्त रहता है और वह अखंड शक्ति होती हैं, इसलिये उस समय उसमें घट-बढ कुछ नहीं हो सकता है।

स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा।

(१७) ब्रह्मजाया।

(ऋषि — मयोभूः। देवता — ब्रह्मजाया।)

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥
सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥ २ ॥
हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥
यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥

अर्थ— (**अ-कू-पारः सलिलः**) अगाध समुद्र, (**मातरिश्वा**) वायु (**वीडुहराः**) बलवान् तेजवाला अग्नि (**उग्रं तपः**) उग्र ताप देनेवाला सूर्य (**मयो-भूः**) सुख देनेवाला चन्द्र, (**देवीः आपः**) दिव्य जल, (**ऋतस्य प्रथमजाः**) ऋतका पहिला प्रवर्तक देव (**ते प्रथमाः**) ये पहिले देव भी (**ब्रह्म किल्बिषे अवदन्**) ब्राह्मणके संबंधमें पातक करनेवालेके विषयमें गवाही देते हैं ॥ १ ॥

(**अहृणीयमानः प्रथमः सोमो राजा**) क्रोध न करता हुआ पहिला सोम राजा (**ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्**) ब्राह्मणकी भार्याको पुनः वापस देने लगा। उस समय (**वरुणः मित्रः अन्वर्तिता आसीत्**) वरुण और मित्र ये साथ चलनेवाले थे और (**होता अग्निः हस्तगृह्य निनाय**) होता अग्नि हाथ पकडकर चलाता रहा ॥ २ ॥

(**हस्तेन एव ग्राह्यः अस्याः आधिः**) हाथसे ही ग्रहण किया जावे, ऐसा इसका आदेश है, (**ब्रह्मजाया इति चेत् अवोचत्**) यदि यह ब्राह्मणकी पत्नी है ऐसा कहा जाय। (**एषा दूताय प्रहेया न तस्थे**) यह दूतके लिये ले जाने योग्य होकर नहीं ठहरती, (**तथा क्षत्रियस्य गुपितं राष्ट्रं**) वैसा ही क्षत्रियका सुरक्षित राष्ट्र होता है ॥ ३ ॥

(**विकेशी एषा तारका इति**) बंधन रहित यह तारका है ऐसा (**ग्रामं अवपद्यमानां दुच्छुनां यां आहुः**) जिसको ग्रामके ऊपर गिरनेवाली विपत्ति करके कहते हैं। इसी प्रकार (**सा ब्रह्मजाया राष्ट्रं वि दुनोति**) वह ब्राह्मण स्त्री राष्ट्रको विशेष हिला देती है, (**यत्र उल्कुषीमान् शश प्र अपादि**) जहां उल्कायुक्त शशक गिरता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— अग्नि, जलनिधि समुद्र, वायु, तेजस्वी सूर्य, सुख देनेवाला चन्द्रमा, तथा अन्य सब देव ब्राह्मणके संबंधमें पाप करनेवाले पापीके पापाचरणके विषयमें सत्य बात स्पष्ट कह देते हैं ॥ १ ॥

सोमने शान्तिके साथ ब्राह्मणकी स्त्रीको पुनः वापस दिया, वहां वरुण और मित्र उपस्थित थे और अग्नि भी पाणिग्रहणके समय होता बना था ॥ २ ॥

जो ब्राह्मणकी पत्नी कही जाती है वह पाणिग्रहण विधिसे ही विवाहित हुई होती है। यह किसीके दूतद्वारा भगाई जाने योग्य नहीं होती, इसकी सुरक्षासे क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित होता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाशकी तारका और उल्का किसी ग्रामपर गिरती है और वह दुश्चिन्ह कहा जाता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मणस्त्री भगाई जानेपर राष्ट्रका नाश करती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥
देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥
ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते। वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥
उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः। तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या३ अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी विषः वेविषत् चरति) ब्रह्मचारी प्रजाओंकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये (सः देवानां एकं अंगं भवति) वह देवोंका एक अंग बनता है। (तेन बृहस्पतिः जायां अन्वविन्दत्) उसके द्वारा बृहस्पतिने भार्या प्राप्त की (सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः) जिस प्रकार सोमके द्वारा लायी हुई चमससे हुत आहुति देव प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

(एतस्यां पूर्वे देवाः वै अवदन्त) इसके संबंधमें पूर्व देवोंने कहा है, तथा (ये तपसा निषेदुः सप्त ऋषयः) जो तप करनेके लिये बैठते हैं उन सप्त ऋषियोंने भी वैसा ही कहा है। (ब्राह्मणस्य अपनीता जाया भीमा) ब्राह्मणकी भगाई पत्नी भयंकर होती है, (परमे व्योमन् दुर्धां दधाति) परम धाममें भी दुःख देनेवाली वह होती है ऐसी धारणा करते हैं ॥ ६ ॥

(ये गर्भाः अवपद्यन्ते) जो गर्भ गिर पडते हैं, (जगत् यत् च अप लुप्यते) जो चलनेवाले प्राणी नाशको प्राप्त होते हैं, (ये वीराः मिथः तृह्यन्ते) जो वीर परस्पर लडते भिडते हैं, (तान् ब्रह्मजाया हिनस्ति) उनको ब्राह्मणकी भार्या मार डालती है ॥ ७ ॥

(उत यत् पूर्वे अब्राह्मणाः स्त्रियाः दश पतयः) और जो पहिले ब्राह्मणसे भिन्न स्त्रीके दस पति होते हैं, (ब्रह्मा चेत् हस्तं अग्रहीत्) ब्राह्मणने यदि उसका पाणिग्रहण किया, तो (स एव एकधा पतिः) वह उसका एक ही पति होता है ॥ ८ ॥

(ब्राह्मण एव पतिः न राजन्यः न वैश्यः) ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। (सूर्यः पञ्चभ्यः मानवेभ्यः तत् प्रब्रुवन् एति) सूर्य पांचों मनुष्योंको वह कहता हुआ चलता है ॥ ९ ॥

(देवाः वै पुनः अददुः) देवोंने पुनः दिया, (मनुष्याः पुनः अददुः) मनुष्योंने पुनः दिया है। (सत्यं गृह्णानाः राजानः) सत्यका पालन करनेवाले राजा लोग भी (ब्रह्मजायां पुनः ददुः) ब्राह्मणस्त्रीको पुनः देते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारी विद्या समाप्त करनेपर जनताकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये उसको देवतांश कहते हैं। यह उक्त अत्याचारका पता लगाता है, और जिसकी स्त्री होती है उसके पास पहुंचाता है ॥ ५ ॥

तप करनेवाले ऋषि और सब देवता लोग इस विषयमें वारंवार कहते आये हैं कि, इस प्रकार भगाई गुरुपत्नी भयानक हानि करती है और दूसरे उच्च लोकोंमें भी बडी पीडा देती है ॥ ६ ॥

राष्ट्रमें जिस समय अकालमें बालकोंकी मृत्यु होती है और प्राणियोंका बहुत संहार होता है, और आपसमें वीर लोग एक दूसरेके सिर फोडने लगते हैं, तब समझना चाहिये कि यह परिणाम गुरुपत्नीके पूर्वोक्त कष्टसे ही हो रहा है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणसे भिन्न दस पति स्त्रीके होते हैं, परंतु जिस समय ब्राह्मण किसी स्त्रीका पाणिग्रहण करता है, उस समय उस स्त्रीका वही एक पति होता है, कदापि उस स्त्रीका दूसरा पति नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, यह बात सूर्य ही पञ्चजनोंको कहता है ॥ ९ ॥

*

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १३ ॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १४ ॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १५ ॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १६ ॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १७ ॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्। विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥ (१८३)

अर्थ— (**देवैः निकिल्बिषं कृत्वा ब्रह्मजायां पुनर्दाय**) देवोंने पापरहित करके ब्राह्मणस्त्रीको पुनः देकर (**पृथिव्याः ऊर्जं भक्त्वा**) पृथिवीके बलका विभाग करके (**उरुगायं उपासते**) बडी प्रशंसा करने योग्य देवताकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

(**यस्मिन् राष्ट्रे अचित्त्या ब्रह्मजाया निरुध्यते**) जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है। (**अस्य शतवाही कल्याणी जाया तल्पं न आशये**) उसकी सौ संतान उत्पन्न करनेवाली कल्याणकारिणी स्त्री भी बिस्तरेपर न सोवे ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडती है (**तस्मिन् वेश्मनि विकर्णः पृथुशिराः न जायते**) उस घरमें विशेष सुननेवाला और बडे शिरवाला पुत्र उत्पन्न नहीं होता ॥ १३ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडती है, (**अस्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानां अग्रतः न एति**) उस राष्ट्रका वीर सुवर्णालंकार गलेमें धारण करके लडकियोंके सन्मुख नहीं आता है ॥ १४ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधमें पडी होती है (**अस्य श्वेतः कृष्णकर्णः धुरि युक्तः न महीयते**) उस राष्ट्रमें श्यामकर्ण श्वेतवर्णका घोडा धुरामें युक्त होकर महत्त्वको प्राप्त नहीं होता ॥ १५ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणस्त्री प्रतिबंधित होती है (**अस्य क्षेत्रे न पुष्करिणी**) उसके क्षेत्रमें कमलोंवाले तलाव नहीं होते और (**बिसं आण्डीकं न जायते**) कमलका बीज भी नहीं होता ॥ १६ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी स्त्री प्रतिबंधमें डाली जाती है, उस राष्ट्रमें (**ये अस्याः दोहं उपासते**) जो इसके दोहनके लिये बैठते हैं वे (**अस्मै पृश्निं न दुहन्ति**) इसके लिये गौ दुहते नहीं ॥ १७ ॥

(**विजानिः ब्राह्मणः**) स्त्रीरहित होकर ब्राह्मण (**यत्र रात्रिं पापया वसति**) जहां रात्रीमें पापबुद्धिसे रहता है, (**अस्य**) उसके राष्ट्रमें (**न कल्याणी धेनुः**) कल्याण करनेवाली धेनु नहीं होती है और (**न अनड्वान् धुरं सहते**) न बैल धुराको सहता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— देव, मनुष्य और सत्यपालक राजा लोग गुरुपत्नीको सुरक्षित गुरुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ १० ॥

जहां निष्पापतासे गुरुपत्नीको सुरक्षितताके साथ गुरुगृहके प्रति पहुंचाया जाता है, वहां भूमिका सत्व बढता है और यश फैलता है ॥ ११ ॥

परंतु जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीको प्रतिबंध होता है, उस राष्ट्रमें मानो कोई सुवासिनी स्त्री बिस्तरेपर सुरक्षित नहीं सो सकती ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका अपमान होता है उस राष्ट्रमें उत्तम पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकते ॥ सुवर्णके आभूषण धारण करके कोई वीर बालिकाओंके साथ खेल नहीं सकता ॥ श्यामकर्ण घोडेको कोई जोत नहीं सकता ॥ कमलयुक्त तालाव प्रफुल्लित नहीं होते ॥ गौवें दूध नहीं देतीं ॥ १३-१७ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीकी मानहानि होती है और उस कारण धर्मपत्नी न होनेसे गुरु अकेला ही त्रस्त होकर क्रोधकी भावना मनमें धारण करके सोता है, उस राष्ट्रमें गौ भी कल्याण नहीं करती और बैल भी कार्य करनेवाला नहीं होता है ॥ १८ ॥

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा।

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा करनी चाहिये, यह उपदेश देनेके लिये यह सूक्त है। जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा की जाती है, और सब पुरुष स्त्रीके चारित्र्यकी रक्षा करनेके लिये तत्पर रहते हैं उस राष्ट्रकी उन्नति होती है। परन्तु जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा नहीं होती, वह राष्ट्र पतित होता है। सारांशसे इस सूक्तका यह उपदेश है।

इस सूक्तमें ब्राह्मणकी स्त्री क्षत्रियके द्वारा भगाई जानेसे राष्ट्र पर कितने अनर्थ गुजरते हैं, इसका वर्णन है। '**वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।**' अर्थात् सब वर्णोंको विद्यादान देनेवाला सबका अध्यापक अथवा 'गुरु' ब्राह्मण है। इसलिये ब्राह्मणकी स्त्री सबकी 'गुरुपत्नी' होती है। जिस प्रकार 'ब्राह्मण' सब पुरुषोंको ज्ञानोपदेश देता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, उसी प्रकार 'ब्राह्मणी' भी सब स्त्रियोंको धर्मका उपदेश करती हुई भ्रमण करती है। गुरुपत्नीका यह कर्तव्य ही है। यह कर्तव्य करनेके लिये जब गुरुपत्नी बाहर भ्रमण करती है तब उसके चारित्र्यका रक्षण सब लोग करें। कोई भी उसको प्रतिबन्ध न करें और न उसका किसी प्रकार अपमान करें।

जो गुरुपत्नीका अपमान करनेका साहस करेंगे, वे अन्य स्त्रियोंका अपमान करनेसे पीछे नहीं हटेंगे, यह भाव यहां है। वास्तवमें सभी स्त्रियोंके चारित्र्यकी रक्षा होनी चाहिये। क्योंकि इसी पर राष्ट्रका गौरव अवलंबित है। जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका भी चारित्र्य अथवा पातिव्रत्य गुण्डोंके अत्याचारके कारण सुरक्षित नहीं रहता, वहांकी अन्य स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन ही क्या हो सकता है? इसलिये सब स्त्रियोंके चारित्र्यके उत्कर्षकी दृष्टिसे ही इस सूक्तमें कहा है कि कोई भी गुरुपत्नीका अपमान न करे। यह सूक्त आकाशस्थ तारोंकी गतिपर रचा हुआ अलंकार है, इसका स्पष्टीकरण अब देखिये—

बृहस्पति और तारा।

आकाशमें बृहस्पति नामका एक सितारा है, जिसको 'गुरु' भी कहते हैं। यह प्रसिद्ध सितारा है, जो रात्रीके समय पाठक देख सकते हैं। आकाशस्थ अन्य नक्षत्रोंमें 'तारा अथवा तारका' नामका एक नक्षत्र है, रूपकसे समझा जाता है कि यह 'गुरु' की 'धर्मपत्नी' है, अर्थात् बृहस्पतिकी यह भार्या है। यहां धर्मपत्नी कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह बृहस्पति इस नक्षत्रमें बहुत देरतक और इसके बहुत समीप रहता है। इसलिये इनकी आपसमें पतिपत्नीकी कल्पना की है। बृहस्पतिका 'ब्रह्मणस्पति' भी दूसरा नाम वेदमें है। इसका अर्थ 'ज्ञानी गुरु' होनेसे इसका वर्ण ब्राह्मण माना गया, अर्थात् इसकी धर्मपत्नी होनेसे तारा भी 'ब्राह्मणी, गुरुपत्नी अथवा ब्रह्मजाया' कहलाती है। इस प्रकार यहां एक ब्राह्मण परिवारकी कल्पना हुई। यह बृहस्पति देवोंका गुरु है और जब आकाशमें देवोंकी सभा रात्रीके समय लगती है, उस समय यह देव गुरु उसमें विराजते हैं और मानो, देवोंको सुयोग्य सलाह देते हैं।

इसी प्रकार राजा सोम भी देवसभामें उपस्थित होते हैं। इस समय ये एक क्षत्रिय राजा माने गये हैं। ये क्षत्रिय राजा अपनी राज्याधिकारके मंदमें अनेक तारागणोंसे संबंधित होते हैं अर्थात् अनेक स्त्रियोंसे संबंध करते हैं। इस अत्याचारके कारण उनको क्षयरोग होता है। इस अनाचारके कारण बिचारे राजासाहेब क्षीण होते जाते हैं, अमावास्याकी रात्रीमें तो इनकी हालत बहुत खराब होती है। उस समय कुछ उपचार करनेपर शुक्लपक्षमें कुछ पुष्ट होने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें गुरुपत्नी ताराका दर्शन होता है और उसका दर्शन होते ही क्षयी राजाका मन चञ्चल हो जाता है। राजा अपने शासनाधिकारके कारण उन्मत्त होनेके कारण गुरुपत्नीका गौरव और आदर न करता हुआ, उसका धर्षण करता है। इस प्रकार स्त्रीके पातिव्रत्यका नाश करनेके कारण जो पाप होता है, उस पापके कारण राष्ट्रमें बड़ा क्षोभ होता है। और सब प्रजा त्रस्त हो जाती है। जहां गुरुपत्नीका इस प्रकार अपमान होता है, वहां अन्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यका क्या होता होगा, ऐसा विचार करके अत्याचारी राजाका निषेध उपस्थित ऋषि और सदस्य देव करने लगते हैं। राजा अपने घमंडमें आकर विरोधक ऋषियों और देवोंको दबानेका यत्न करता है, इससे प्रजामें अधिक क्षोभ होता है। तत्पश्चात् राजा सोम देखता है कि अपनी प्रजा प्रतिकूल होगई है और अपनेको राज्यसे पदच्युत करनेका विचार करती है, इसपर प्रजाको अधिक दबानेके लिये असुर सेनाकी सहायता लेता है। और विदेशी असुर सेनाके अपनी प्रजाको दबानेकी चेष्टा करता है। इससे प्रजा अधिक क्षुब्ध होती है और बडी लडाई छिडती है। दोनों ओरका बहुत संहार होनेपर दोनों पक्षोंकी आपसमें कुछ सलाह होती है। इस संधिके अनुसार राजा सोम गुरुपत्नीको वापस करता है। उस समय वरुण और मित्र साथ रहते हैं और अग्नि मार्गदर्शक होता है। इस प्रकार चन्द्रमाको कलंक लगकर इस बुरे कर्मका फल उसको मिलता है।

इस समय सोम और ताराके संगमसे बुधकी उत्पत्ति होती है। तारा अग्नितापसे शुद्ध होकर फिर अपने घर पहुंचती है। इस प्रकारकी कथा बहुत पुराणोंमें है। इस विस्तृत कथाका कुछ मूल इस सूक्तमें दिखाई देता है। जिस प्रकार वृत्रकी कथा मेघ

और सूर्य इसपर रूपकालंकार मानकर रची है, उसी प्रकार चंद्रमा, तारका, गुरु आदिके ऊपर यह बोधप्रद अलंकार रचा है। वेदमें इस प्रकारके अनेक अलंकार हैं। और उनसे अनेक प्रकारका बोध प्राप्त होता है।

यहां भी यह बोध मिलता है कि कोई राजा अपने अधिकारके मदसे उन्मत्त होकर स्त्रियोंपर अत्याचार न करे, यदि करेगा, तो उसको परमेश्वरके राज्यमें उसी प्रकार दण्ड मिलेगा जैसा कि सोम राजाको जन्मभर कलंकित होना पडा था। उसका अपमान हुआ, कलंकित होना पडा, रोगी होना पडा, राजविद्रोह हुआ, राष्ट्रमें बलवा हो गया, और न जाने क्या क्या आपत्तियां आ पडीं। यदि इतने समर्थ सोम राजाकी यह अवस्था हुई, तो उससे बहुत छोटे पार्थिव राजाकी क्या अवस्था होगी। और यदि राजाकी ऐसी दुर्दशा हो गई तो कोई प्रजाजन यदि ऐसा कुकर्म करेगा तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, ऐसा विचार मनमें लाकर हरएक पुरुषको स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा करनी चाहिए। केवल गुरुपत्नीके ही पातिव्रत्यकी रक्षा यहां अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत संपूर्ण स्त्रीजातिके पातिव्रत्यकी रक्षाका यहां उपदेश है। गुरुपत्नी यहां केवल उपलक्षण मात्र है।

जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंकी पातिव्रत्यरक्षा अच्छी प्रकार होती है और स्त्रीके इधर उधर सुखपूर्वक भ्रमण करनेमें उसके किसी प्रकार भी अपमानकी संभावना नहीं होती, वह राष्ट्र अत्यंत सुरक्षित होता है—

न दूताय प्रहेया तस्थ एषा
राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ (मं. ३)

'यह स्त्री दूतद्वारा ले जाने योग्य नहीं होती, अर्थात् किसीका दूत इस प्रकारका भयानक कुकर्म करनेको जिस राष्ट्रमें साहस नहीं कर सकता, वह क्षत्रियका राष्ट्र सुरक्षित रहता है।' अर्थात् जिस राष्ट्रमें स्त्रीके ऊपर अत्याचार होते हैं वह राष्ट्र किसी सज्जनके रहनेके लिये योग्य नहीं होता है।

'जिस राष्ट्रमें स्त्रियोंपर अत्याचार होते हैं उस राष्ट्रमें गर्भपात भी होते हैं, प्राणी अकालमें मरते हैं, वीर लोग आपसमें लडते भिडते हैं' (मं. ७) इस लिये स्त्रियोंकी सुरक्षा अवश्य होनी चाहिये।

क्षत्रिय तथा वैश्योंमें नियोगके कारण और शूद्रोंमें पुनर्विवाहके कारण एकके पश्चात् दूसरा इस प्रकार दस तक पतियोंकी संख्या हो सकती है। परंतु ब्राह्मणोंके लिये तो न नियोगकी प्रथा और ना ही पुनर्विवाहकी प्रथा उचित समझी जाती है, इसलिये ब्राह्मणीका ब्राह्मणके साथ एक वार विवाह हुआ तो उसका किसी भी कारण दूसरा पति नहीं हो सकता। क्योंकि ब्राह्मणोंको भोगमें फंसना नहीं चाहिये। इत्यादि विषय आठवें मंत्रमें देखने योग्य है। शेष मंत्रोंमें स्त्रीपर अत्याचार करनेवाले राष्ट्रकी जो दुर्दशा होती है उसका वर्णन है। इसलिये उनके अधिक विचारकी आवश्यकता नहीं है।

इस सूक्तमें कई प्रकारके बोध प्राप्त होते हैं। सबसे प्रथम लेने योग्य बोध यह है कि राजाको अपना आचरण बहुत ही निर्दोष रखना चाहिये। बहुत स्त्रियां करना और दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ कुकर्म करना बहुत ही बुरा है। बहुपत्नी व्यवहार करनेसे सबसे पहिला जो कष्ट होता है वह ब्रह्मचर्य नाश और वीर्यनाशके कारण क्षयरोग होनेकी संभावना है। शरीरमें जबतक भरपूर वीर्य रहता है तब तक क्षयरोग हो ही नहीं सकता। वीर्य दोष उत्पन्न होनेसे क्षयरोग होता है और अन्तमें उससे मृत्यु निश्चित है। राजाका आचार व्यवहार देखकर अन्य लोग उसी प्रकार आचार करते हैं, राजाओंके ऊपर यह बडी भारी जिम्मेवारी है। राजा बिगड जानेसे राष्ट्रके लोग बिगड जाते हैं और इस प्रकार राष्ट्रका नाश होता है। अतः बडे लोगोंको अपने आचार व्यवहार धर्मानुकूल ही करने चाहिये। राजाके पास जो अधिकार होता है उसका घमंड करके अपने अधिकारका दुरुपयोग करना राजाको योग्य नहीं है। प्रजाके कल्याणका उद्योग करनेके लिये राजाके पास अधिकार दिया होता है। इस अधिकारका उपयोग अपने स्वार्थ भोग भोगनेके लिये करनेसे ही राजा दोषी होता है। इसलिये राजाको उचित है कि वह सदा समझे कि मेरा निरीक्षण करनेवाला परमेश्वर है, इसलिये मुझे कोई अकार्य करना योग्य नहीं है। इस प्रकार विचार करके राजा अपना आचार व्यवहार सुधारे और अपने योग्य प्रबंधसे संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार करे।

ब्राह्मणकी गौ।

(१८) ब्रह्मगवी।

(ऋषि — मयोभूः। देवता — ब्रह्मगवी।)

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥
अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥
आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥
निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

अर्थ— हे नृपते! (ते देवाः एतां तुभ्यं अत्तवे न ददुः) उन देवोंने इस गौको तुम्हारे लिये खानेके अर्थ नहीं दिया है। हे (राजन्य) क्षत्रिय! (ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः) ब्राह्मणकी न खाने योग्य गौको मत खा॥१॥

(अक्ष-द्रुग्धः पापः) जुआडी, पापी (आत्म-पराजितः राजन्यः) अपने कारण पराजित हुआ हुआ क्षत्रिय, (सः ब्राह्मणस्य गां अद्यात्) वह यदि ब्राह्मणकी गौको खावे, तो (अद्य जीवानि, मा श्वः) वह आज जीवे, कल नहीं॥ २॥

हे (राजन्य) क्षत्रिय! (एषा ब्राह्मणस्य गौः अनाद्या) यह ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं है। क्योंकि (सा चर्मणा आविष्टिता) वह चर्मसे ढंकी (तृष्टा पृदाकूः इव अघविषा) प्यासी सांपिनके समान भयंकर विषसे भरी होती है॥ ३॥

(यः ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते) जो क्षत्रिय ब्राह्मणको अपना अन्न ही मानता है, (स तैमातस्य विषस्य पिबति) वह सांपका विष ही पीता है। वह अपमानित ब्राह्मण (क्षत्रं वै निः नयति) क्षत्रियको निःशेष करता है, (वर्चः हन्ति) तेजका नाश करता है, (आरब्धः अग्निः इव) आरंभ हुए प्रदीप्त अग्निके समान (सर्वं वि दुनोति) सब नष्ट करता है॥ ४॥

भावार्थ— हे क्षत्रिय! हे राजा! यह सब तेरे ही उपभोगके लिये तुम्हारे पास देवोंने नहीं दिया है। ब्राह्मणकी भूमि, गाय आदि जो भी कुछ धन होगा वह बलसे हरण करना तुम्हें योग्य नहीं है॥ १॥

जो जूएमें हरा हुआ, पापी, दुराचारी और आत्मघातकी क्षत्रिय होगा वही ब्राह्मणकी भूमि और गौ आदिका बलसे हरण करके भोग करेगा, इससे वह आज जीवित रहा, तो कल भी जीवित रहेगा, इस विषयमें निश्चय नहीं है॥ २॥

हे क्षत्रिय! ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ तुम्हारे उपभोगके लिये नहीं है। वह चर्मसे ढंकी हुई, विषभरी, क्रोधी सांपिनके समान वह तुम्हारे लिये नाशक सिद्ध होगी॥ ३॥

जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणको अपने भोगका विषय मानता है, वह मानो सांपका विष ही पीता है। उस प्रकार अपमानित हुआ ब्राह्मण क्षत्रियका नाश करता है, उसका तेज नष्ट करता है, और जलती आगके समान सब राष्ट्रको हिला देता है॥ ४॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥
न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥
शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥
जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥
तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (यः देवपीयुः धनकामः) जो देवशत्रु धनलोभी (एनं मृदुं मन्यमानः न चित्तात् हन्ति) इस ब्राह्मणको कोमल मानता हुआ बिना विचारे मारता है। (इन्द्रः तस्य हृदये अग्निं सं इन्धे) इन्द्र उसके हृदयमें अग्नि जला देता है (उभे नभसी चरन्तं एनं द्विष्टः) दोनों भूलोक और द्युलोक विचरते हुए इससे द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

(प्रियतनोः अग्निः इव) प्रियतनुरूप अग्निके समान (ब्राह्मणः न हिंसितव्यः) ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। (सोमः हि अस्य दायादः) सोम इसका संबंधी है और (इन्द्रः अस्य अभिशस्ति-पाः) इन्द्र इसको शापसे बचानेवाला है ॥ ६ ॥

(यः मल्वः ब्रह्मणां अन्नं) जो मलीन पुरुष ब्राह्मणोंका अन्न (स्वादु अद्मि इति मन्यते) स्वादसे खाता हूं ऐसा समझता है वह (शत-अपाष्ठां नि गिरति) सैकडों प्रकारकी दुर्गतिको प्राप्त होता है और (निःखिदन् तां न शक्नोति) उसको प्राप्त करके सहन नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणकी (जिह्वा ज्या भवति) जीभ धनुषकी डोरी होती है। (वाक् कुल्मलं) वाणी धनुष्यका दण्डा होती है (तपसा अभिदिग्धाः दन्ताः नाडीकाः) तपसे तीक्ष्ण बने हुए दान्त बाणरूप होते हैं। (ब्रह्मा) ब्राह्मण (तेभिः देवजूतैः हृद्बलैः धनुर्भिः) उन देवसेवित आत्मबलके धनुष्योंसे (देव-पीयून् विध्यति) देव शत्रुओंपर आघात करता है ॥ ८ ॥

(तीक्ष्ण-इषवः हेतिमन्तः ब्राह्मणाः) तीक्ष्ण बाणोंसे युक्त, अस्त्रोंसे युक्त ब्राह्मण (यां शरव्यां अस्यन्ति) जिस बाणप्रवाहको फेंकते हैं (न सा मृषा) वह मिथ्या नहीं होती है। (तपसा च उत मन्युना अनुहाय) तपके और क्रोधके साथ पीछा करके (एनं दूरात् अवभिन्दन्ति) इसको दूरसे ही भेद डालते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो क्षत्रिय धनलोभसे देवोंका अन्नभाग स्वयं खाता है, और ब्राह्मणको निर्बल मानकर उसको कष्ट देता है, उसके हृदयमें अग्नि जलाकर इन्द्र उसका नाश करता है और सब द्यावापृथिवीके निवासी उसकी निन्दा करते हैं ॥ ५ ॥

अग्निके समान ही ब्राह्मण है, जिसको छेडना उचित नहीं है। क्योंकि सोम उसका संबंधी और इन्द्र उसका रक्षक है ॥ ६ ॥

जो पापी क्षत्रिय ब्राह्मणका धन अपने भोगके लिये है, ऐसा मानता है और उसका मैं उत्तम भोग करता हूं ऐसा समझता है उसपर सैंकडों आपत्तियां आती हैं और उसका सामर्थ्य ही नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

उस समय ब्राह्मणकी जिह्वा डोरी, वाणी धनुष्य, और उसके तपसे युक्त दन्त बाण होते हैं। इन धनुष्योंसे वह ब्राह्मण देवतोंका अन्न खानेवालेका नाश करता है ॥ ८ ॥

ये ब्राह्मण बडे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंवाले होते हैं, इसलिये उक्त अस्त्र ये जिसपर फेंकते हैं वे व्यर्थ नहीं होते। अपने तप और क्रोधसे पीछा करके दूरसे ही ये उसका नाश करते हैं ॥ ९ ॥

ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥
गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥
एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥
देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ १३ ॥
अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ—(ये वैत-हव्याः सहस्रं अराजन्) जो देवोंका हव्य खानेवाले सहस्रों राजे हो गये थे, (ये उत दशशताः आसन्) और जो दस सौ थे, (ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) वे ब्राह्मणकी गौ खाकर (पराभवन्) पराभवको प्राप्त हुए ॥ १० ॥

(हन्यमाना गौः एव) कष्ट दी हुई गौने ही (तान् वैतहव्यान् अवातिरत्) उन देवतोंका अन्न खानेवालोंका विनाश किया। (ये केसरप्रबन्धायाः चरम-अजां अपेचिरन्) जो केशोंकी रस्सीसे बांधी हुई अन्तिम अजाको भी पचाते हैं, हडप करते हैं ॥ ११ ॥

(ताः जनताः एक-शतं) वे जनताके लोग एकसौ एक थे (याः भूमिः व्यधूनुत) जिन्होंने भूमिको हिला दिया। (ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) ब्राह्मणकी प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) विना संभावनाके ही वे पराभवके प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

(देव-पीयुः गर-गीर्णः मर्त्येषु चरति) देवशत्रु जहर पीये हुये मनुष्यके समान मनुष्योंके बीचमें घूमता है। और (अस्थि-भूयान् भवति) वह केवल हड्डी ही हड्डीवाला होता है। (यः देव-बन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) जो देवोंके बन्धु-रूप ब्राह्मणको कष्ट देता है (सः पितृयाणं अपि लोकं न एति) वह पितृयाण लोकको भी नहीं प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

(अग्निः वै नः पदवायः) अग्नि ही हमारा मार्गदर्शक है। (सोमः दायादः उच्यते) सोम संबंधी है, ऐसा कहा जाता है। (इन्द्रः अभिशस्ता हन्ता) इन्द्र इस शाप देनेवालेका नाश करता है (तथा वेधसः तत् विदुः) उस प्रकार ज्ञानी यह बात जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— देवतोंके उद्देश्यसे अलग रखा हुआ अन्न स्वयं भोग करनेवाले सहस्रों राजा लोग ब्राह्मणकी भूमि अथवा गौ हरण करके, उसका भोग करनेसे पराभूत हो गये ॥ १० ॥

वह कष्टको प्राप्त हुई ब्राह्मणकी गाय ही उन देवतान्नभोजी क्षत्रियोंके नाश करनेका कारण होती है ॥ ११ ॥

सैंकडों क्षत्रिय भूमिपर बडा पराक्रम करनेवाले होते हैं, परन्तु यदि उन्होंने ब्राह्मणोंको कष्ट देना शुरू किया तो वे सहजहीमें पराभूत होते हैं ॥ १२ ॥

देवोंका शत्रुरूप बनकर पृथ्वीपर संचार करनेवाला दुष्ट मनुष्य विष पीये अतिकृश मनुष्यके समान निर्बल होता है और जो देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है उसको पितृलोक भी नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

सब ज्ञानी जानते हैं कि अग्नि हमारा मार्गदर्शक, सोम हमारा संबंधी, और इन्द्र हमारा रक्षक है ॥ १४ ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥ (१९८)

अर्थ– हे नृपते ! हे गोपते ! (दिग्धा इषुः इव) विषभरे बाणके समान, (पृदाकु इव) सांपके समान, (सा ब्राह्मणस्य घोरा इषुः) वह ब्राह्मणका भयंकर बाण (तया पीयतः विध्यति) उससे हिंसकका वेध करता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— हे राजन् ! तू स्मरणमें धर कि विषयुक्त बाणके समान और सांपके समान ब्राह्मणका भयंकर बाण हिंसकका अवश्य नाश करता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

' गौ ' शब्दका अर्थ ' वाणी, भूमि, गाय, इन्द्रिय, प्रकाश ' आदि है। अर्थात् ' ब्रह्मगवी ' का अर्थ ' ब्राह्मणकी वाणी, भूमि, गाय ' आदि होता है । यही ब्राह्मणकी संपत्ति होती है। ब्राह्मण शम, दम, तप युक्त कर्म करता है, इसलिये शान्त-वृत्तिवाला होता है, अतः उग्रवृत्तिवाले क्षत्रिय अशक्त ब्राह्मणको लूटमार कर उसकी संपत्ति हरकर उस धनसे अपना भोग बढा सकते हैं । परन्तु ब्राह्मण तपस्वी और अध्यापन करनेवाला होनेके कारण यदि वह इस प्रकार दुःखी हुआ तो राष्ट्रमें अध्ययन अध्यापन बंद हो जाता है और उस कारण अन्तमें सब राष्ट्रका ही नाश होता है । इस प्रकार ब्राह्मणके कष्ट राजाके नाशके कारण होते हैं ।

' ब्राह्मणस्य गौ अनाद्या ' (ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं) ऐसा इस सूक्तमें वारंवार कहा है । कई लोग इस वाक्यसे, ' क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी गौ खाने योग्य है ऐसा अर्थ करते हैं और ब्राह्मणकी गौ कोई नहीं खाता था, परन्तु अन्य वर्णोंकी गौ लोग खाते थे, ' ऐसा अनर्थकारक अनुमान निकालते हैं । इसलिये इस विषयमें अवश्य विचार करना चाहिये । क्योंकि ' गौ अघ्न्या ' है ऐसा वेदमें सर्वत्र कहा है, उसके विरुद्ध इस सूक्तमें गौ खानेका उल्लेख कैसे आ गया है । इसलिये यह बात अवश्य विचार करने योग्य है । इस सूक्तका आशय देखनेके लिये निम्नलिखित वचन सबसे प्रथम देखिये—

यो ब्राह्मणं अन्नं एव मन्यते, स विषस्य पिबति ।
(मं. ४)

' जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह मानो, विष ही पीता है । ' इस मंत्रमें उग्र क्षत्रिय नरम स्वभाववाले ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है ऐसा कहा है । इससे ब्राह्मणके टुकडे करके क्षत्रिय खाते थे यह भाव लेना उचित नहीं है, क्षत्रिय नरमांस भोजी कदापि नहीं थे । फिर जो क्षत्रिय कदापि नरमांस नहीं खाते वे ब्राह्मणको ही अपना अन्न कैसे मान सकते हैं, इस शंकाको दूर करनेके लिये निम्नलिखित मंत्रका भाग देखिये—

यो मल्वः ब्रह्मणां अन्नं स्वादु अद्मि इति मन्यते ।
स शतापाष्ठां गिरति । (मं. ७)

' जो मलीन क्षत्रिय ब्राह्मणोंका अन्न सुखसे मैं भोगता हूं, ऐसा मानता है वह सैकडों विपत्तियोंमें गिरता है । ' यहां ब्राह्मणका अन्न लूट मारकर क्षत्रिय खावे, तो उसकी बडी दुर्गति होती है ऐसा कहा है । ' ब्राह्मणको अन्न माननेका अर्थ ' यह है कि ब्राह्मणके पासके सब उपभोगके पदार्थ लूटकर अथवा जबरदस्तीसे छीनकर, उनका उपभोग करना । हैहयवंशी क्षत्रियोंने ऐसा ही किया था । वे क्षत्रिय ब्राह्मणोंके आश्रम लूटते थे और अपने भोग बढाते थे, इस कारण परशुरामने उनका नाश करके पुनः धर्मका स्थापन किया । इस सूक्तमें भी वीतहव्य नामक राजाओंका पराभव ब्राह्मणोंको पीडा देनेसे हुआ ऐसा कहा है । वसिष्ठ ऋषिको इसी प्रकार विश्वामित्रने कष्ट दिये थे । इस सबका तात्पर्य ब्राह्मणका मांस खानेसे नहीं है, अपितु ब्राह्मणकी संपत्ति, गौवें, भूमि, तथा अन्य समृद्धि लूटना और उसका उपभोग स्वयं करना यही है ।

ब्राह्मणके पासका धन यज्ञयाग और विद्यावृद्धिके लिये होता है, यदि वह धन लूटा जावे, तो यज्ञ नहीं होंगे और विद्याका नाश होगा । इससे अन्तमें सब जनताका नाश होगा । ब्राह्मणोंकी वाणीको प्रतिबंध करना, उनकी संपत्ति लूटना, गौ चुराना अथवा बलसे हरण करना, और अन्यान्य प्रकार ब्राह्मणोंके आश्रमोंको कष्ट देना अन्तमें राज्यके नाशका कारण होता है; ब्राह्मणको अन्न माननेका यह अर्थ है । इसी प्रकार ब्राह्मणकी गाय हरण करना और उसका दूध आदि स्वयं पीना, उसकी भूमि हरण करके उस भूमिका धान्य स्वयं खाना, इत्यादि प्रकार हानिकारक है यह भाव यहां है । ब्राह्मण जनताको विद्या देते हैं, जनताके रोगोंकी चिकित्सा करते हैं, धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, इसलिये जनताका प्रेम ब्राह्मणोंपर होता है, और जो

क्षत्रिय ब्राह्मणोंको कष्ट देता है उसको जनता राज्यभ्रष्ट कर देती है। वेदमें 'गौ' शब्द 'गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, गौके दूधसे और घीसे बनी सब प्रकारकी मिठाई, गोचर्म, गायके सींग, और गौ' इतने पदार्थोंका वाचक है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यहां 'क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणकी गौ रखना' ब्राह्मणकी गौ आदि सब संपत्ति हडप करना ही है। सब सूक्तका आशय ध्यानमें लानेसे यही आशय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा असंभव्यं पराभवन्। (मं. १२)

ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (मं. १०)

यो देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति स पितृयानं लोकं न एति। (मं. १३)

'ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देनेसे सहज पराभव होता है। ब्राह्मणकी गौ हडप करनेसे वीतहव्य क्षत्रिय पराभूत हुए। जो क्षत्रिय ब्राह्मणको कष्ट देता है वह पितृलोकको भी प्राप्त नहीं होता है।' इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणोंको कष्ट देना, उनको लूटना, उनके धर्म, कर्म चलानेमें रुकावटें उत्पन्न करना, राजाके लिये अनिष्ट कारक है। यहां ब्राह्मणको खाने अथवा उसकी गौको खानेका आशय बिलकुल नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'खानेका' अर्थ कई प्रकारसे होता है। 'वह ओहदेदार पैसा खाता है,' इस वाक्यका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अन्न न खाते हुए रुपये, आने और पाई खाकर हजम करता है। परंतु इसका अर्थ इतना ही है कि अयोग्य रीतिसे वह धन कमाता है। यही अर्थ संस्कृतमें भी है। ब्राह्मणको खानेका अर्थ ब्राह्मणकी धन दौलत लूटना और उसका स्वयं उपभोग करना। आजकल कहते हैं कि अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा मनुष्योंका मांस खाता है, अपितु राजा प्रजाको सताता है यह इसका अर्थ है। शतपथमें—

तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। श. प. ब्रा. १३।२।९।७

'अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है।' यहां जो प्रजाके घातका वर्णन किया है वह केवल प्रजाको काटना नहीं; अपितु प्रजाकी उन्नतिमें बाधा डालना है। इस सब वर्णनसे इस सूक्तका आशय ध्यानमें आ सकता है।

राजाका कर्तव्य।

राजाका कर्तव्य है कि वह ज्ञानियोंको विद्यादान करनेमें, वैश्योंको व्यापार करनेमें, शूद्रोंको अपनी कारीगरीके व्यवहार करनेमें उत्तेजना दे। अपने पास शक्ति है इसलिये निर्बलोंपर अत्याचार स्वयं न करे और ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे सबकी उन्नति यथायोग्य रीतिसे हो सके। जिस राज्यमें शम, दम और तप करनेवाले ब्राह्मणोंपर अत्याचार होते हैं वहां अन्योंकी सुरक्षितता कहां रहेगी?

पाठक पूर्व सूक्तके साथ ही इस सूक्तको पढें और उचित बोध प्राप्त करें। आगामी सूक्त भी इसी आशयका है।

ब्राह्मणको कष्ट।

(१९) ब्रह्मगवी

(ऋषि — मयोभूः। देवता — ब्रह्मगवी।)

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्। भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥
ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः। पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

अर्थ— (सृञ्जयाः) हमला करके जय प्राप्त करनेवाले वीर (अतिमात्रं अवर्धन्त) अत्यन्त बढे, (न दिवं इव उत्स्पृशन्) इतने कि द्युलोकको मानों उन्होंने स्पर्श किया। परंतु वे (वैत-हव्याः) देवोंका अन्न स्वयं भोगने लगे तब (भृगुं हिंसित्वा) भृगुऋषिकी हिंसा करके (पराभवन्) पराभूत हो गये ॥ १ ॥

(ये जनाः बृहत्सामानं) जो लोग बडे सामगायक (आंगिरसं ब्राह्मणं आर्पयन्) आंगिरस ब्राह्मणको सताते रहे, (तेषां तोकानि) उनके संतानोंको (पेत्वः अविः) हिंसक (उभयादं आवयत्) दोनों दांतोंके बीचमें रगडता रहा ॥ २ ॥

भावार्थ— विजयी सृंजय क्षत्रिय बहुत बढ गये थे, परंतु जब वे ब्राह्मणोंको सताने लगे और देवोंके लिये दिया हव्य स्वयं भोगने लगे, तब राज्यभ्रष्ट हो गये ॥ १ ॥

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे। अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते ॥ ३ ॥
ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे। तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते। क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥
अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः। द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥
तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्। ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥
तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति। यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्) जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, (ये वा अस्मिन् शुल्कं ईषिरे) अथवा जो इससे धन छीनना चाहते हैं, (ते अस्नः कुल्यायाः मध्ये) वे रुधिरकी नदीके बीचमें (केशान् खादन्त आसते) केशोंको खाते हुए बैठते हैं ॥ ३ ॥

(सा पच्यमाना ब्रह्मगवी) वह हडप की गई ब्राह्मणकी गौ (यावत् अभि विजङ्गहे) जिस कारण तडपती रहती है, उस कारण उस (राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति) राष्ट्रका तेज मारा जाता है और वहां (वृषा वीरः न जायते) बलवान् वीर भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४ ॥

(अस्याः आशसनं क्रूरं) इसको कष्ट देना बडा क्रूरताका कार्य है, (पिशितं तृष्टं अस्यते) मांस तो तृषा बढानेवाला होनेके कारण फेंकने योग्य है। (यत् अस्याः क्षीरं पीयते) जो इस ब्राह्मणकी गौका दूध पीना है (तत् वै पितृषु किल्बिषं) वह निःसंदेह पितरोंमें पाप कहा जाता है ॥ ५ ॥

(यः राजा उग्रः मन्यमानः) जो राजा अपने आपको उग्र मानता हुआ (ब्राह्मणं जिघत्सति) ब्राह्मणको सताता है, (तत् राष्ट्रं परा सिच्यते) वह राष्ट्र बहुत गिर जाता है (यत्र ब्राह्मणः जीयते) जहां ब्राह्मणको कष्ट पंहुचता है ॥ ६ ॥

(अष्टापदी चतुरक्षी) आठ पांववाली, चार आंखोंवाली, (चतुः श्रोत्रा चतुर्हनुः) चार कानोंवाली और चार हनुवाली (द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा) दो मुखवाली और दो जिह्वावाली होकर (ब्रह्मज्यस्य राष्ट्रं सा अव धूनुते) ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको वह हिला देती है ॥ ७ ॥

(यत्र ब्राह्मणं हिंसन्ति) जहां ब्राह्मणको कष्ट पहुंचते हैं (तत् राष्ट्रं दुच्छुना हन्ति) वह राष्ट्र विपत्तिसे मरता है। और (तत् वै राष्ट्रं) वह राष्ट्रको (आ स्रवति) गिरा देता है (उदकं भिन्नां नावं इव) जैसा जल टूटी हुई नौकाको बहा देता है ॥ ८ ॥

(नः छायां मा उपगाः इति) हमारी छायामें यह न आवे, इस इच्छासे (तं वृक्षाः अपसेधन्ति) उसको वृक्ष दूर हटा देते हैं। हे नारद ! (यः ब्राह्मणस्य धनं सत् अभि मन्यते) जो ब्राह्मणका धन बलसे अपना मानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ— जिन्होंने सामगायक आंगिरस ब्राह्मणको सताया था, उनके बालबच्चोंको हिंसक पशुओंने दांतोंसे पीसा था ॥ २ ॥
जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, और उससे धन छीनते हैं, वे रुधिरकी नदीमें बालोंको खाते रहते हैं ॥ ३ ॥
जो ब्राह्मणकी गाय हडप करता है उस क्षत्रियके राष्ट्रका तेज नष्ट होता है और उसमें बलवान् वीर नहीं उत्पन्न होते ॥ ४ ॥
गायको कष्ट देना बडी क्रूरताका कार्य है। दूसरेकी गायका दूध पीना भी विषके समान ही है ॥ ५ ॥
अपने आपको बलवान् मानता हुआ जो राजा ब्राह्मणको सताता है, उसका राष्ट्र गिर जाता है ॥ ६ ॥
ब्राह्मणकी गाय दुखी होनेपर द्विगुणित मारक सींग आदिसे युक्त होकर उसके राष्ट्रका नाश करती है ॥ ७ ॥
जहां ब्राह्मण सताया जाता है वह राष्ट्र विपत्तिमें गिरता है। टूटी नौकाके समान वह बीचमें ही डूब जाता है ॥ ८ ॥
जो ब्राह्मणका धन छीनता है उसको वृक्ष भी अपनी छायामें नहीं आने देते ॥ ९ ॥

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् । न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत । प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥
यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् । तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥
अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः । तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥
येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते । तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥
न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति । नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥ (११३)

अर्थ— (राजा वरुणः अब्रवीत्) वरुण राजाने कहा है कि (एतत् देवकृतं विषं) यह देवोंका बनाया विष है। (ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) ब्राह्मणकी गायको हडप कर (कश्चन राष्ट्रे न जागार) कोई भी राष्ट्रमें नहीं जागता ॥ १० ॥

(याः नव नवतयः) जो निन्यानवें प्रकारकी प्रजाएं हैं (ताः भूमिः एव वि अधूनुत) उनको भूमिने ही हटा दिया है। वे (कल्याणीं ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) कल्याण करनेवाली ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभव्यं पराभवन्) असंभवनीय रीतिसे परास्त हुए ॥ ११ ॥

(यां पदयोपनीं कूद्यं) जिस पादचिन्ह हटानेवाली कांटोंवाली झाडूको (मृताय अनुबध्नन्ति) मृतके साथ बांधते हैं, हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (देवाः तत् ते उपस्तरणं अब्रुवन्) देवोंने कहा है कि वह तेरा बिस्तर है ॥ १२ ॥

हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (यानि अश्रूणि) जो आंसू (कृपमाणस्य जीतस्य वावृतुः) निर्बल और जीते गये मनुष्यके बहते हैं। (देवाः तं वै ते अपां भागं अधारयन्) देवोंने उसको ही तेरा जलका भाग निश्चय किया है ॥ १३ ॥

हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (येन मृतं स्नपयन्ति) जिससे प्रेतको स्नान कराते हैं, (येन श्मश्रूणि च उन्दते) जिससे मूंछ दाढीके बाल गीले करते हैं (तं वै देवाः ते अपां भागं अधारयन्) उसको ही देवोंने तेरा जलभाग निश्चय किया है ॥ १४ ॥

(मैत्रावरुणं वर्षं) मित्रावरुणसे प्राप्त होनेवाली वृष्टि (ब्रह्मज्यं न अभि वर्षति) ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके ऊपर नहीं गिरती। और (अस्मै समितिः न कल्पते) इसको सभा सहमति नहीं देती (न मित्रं वशं नयते) और न मित्र वशमें रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— राजा वरुणने कहा है कि ब्राह्मणकी गौको हडप करना विष पीनेके समान हानिकारक है, उसको स्वीकार करनेसे कोई भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १० ॥

निन्यानवें वीर जिन्होंने सब भूमिपर विजय प्राप्त किया था, वे जब ब्राह्मणोंको सताने लगे तब वे परास्त हो गये ॥ ११ ॥

कांटोंकी झाडू जो श्मशान झाडनेके लिये काम आती है, उसपर वह मनुष्य सोता है कि जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १२ ॥

निर्बल होनेके कारण पराजित हुए मनुष्यकी आंखमें जो आंसू आते हैं, उन आंसुओंका जल उसको पीनेके लिये दिया जाता है, जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १३ ॥

जिस जलसे मुर्देको स्नान कराते हैं और जो जल हजामत करनेके समय दाढी मूंछ भिगोनेके काम आता है, वह जल उसको मिलता है, कि जो ब्राह्मणको कष्ट देता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके राष्ट्रमें अच्छी वृष्टि नहीं होती, राष्ट्रसभा वैसे राजाके लिये अनुकूल नहीं होती, और वैसे क्षत्रियका कोई मित्र नहीं रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानीका कष्ट।

ज्ञानी मनुष्यको दिया हुआ कष्ट राज्यका नाश करता है। जिस राज्यशासनमें ज्ञानी सज्जनोंको कष्ट भोगने पडते हैं वह राज्यशासन नष्ट हो जाता है। जिस राज्यशासनमें ज्ञानी लोगोंकी वाणीपर प्रतिबंध लगाया जाता है, उनको उत्तम उपदेश देनेसे रोका जाता है, जहां सुविज्ञ ज्ञानी पुरुषोंकी धनसंपत्ति सुरक्षित नहीं होती, जहां अन्य प्रकारसे ज्ञानी सज्जनोंको क्लेश पहुंचते हैं, वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है।

यह आशय इस सूक्तका है। राष्ट्रमें ज्ञानकी और ज्ञानीकी पूजा होती रहे। क्योंकि ज्ञानोपदेशसे ही राष्ट्रका सच्चा कल्याण हो सकता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके लोग ज्ञानीका सत्कार करें और अपनी उन्नतिके भागी बनें।

अन्त्येष्टीकी कुछ बातें।

इस सूक्तका विचार करनेसे कुछ बातोंका पता लगता है, देखिये—

(१) मृतं स्नपयन्ति— मृत मनुष्यके शवको स्नान कराते हैं।

(२) मृताय पदयोपनीं कूद्यं अनुबध्नन्ति— मृतको पांवका चिन्ह मिटानेवाली झाडूसे अथवा किसी अन्य चीजसे बांधते हैं। (इसमें 'कूद्य' का अर्थ ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। यह खोजका विषय है।)

हजामत।

(३) श्मश्रूणि उन्दते— हजामत बनवानेके समय बाल भिगोये जाते हैं।

इस सूक्तके कुछ कथनोंका ठीक ठीक भाव समझमें नहीं आता है, इस कारण यह सूक्त क्लिष्टसा प्रतीत होता है। उन मंत्रोंका अधिक विचार पाठक करें।

दुन्दुभीका घोष।

(२०) शत्रुसेनात्रासनम्।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः।)

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥
सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥
वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव संधनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उच्चैर्घोषः सत्व-नायन्) जिसका ऊंचा शब्द है और जो बल बढाता है, उस प्रकारका (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बना हुआ दुन्दुभि (उस्रियाभिः संभृतः) गौचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुणुवानः) शब्द करता हुआ, (सपत्नान् दमयन्) शत्रुओंको दबाता हुआ और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहता हुआ यह ढोल (अभि तंस्तनीहि) गर्जता रहे ॥ १ ॥

तू (द्रुवयः विबद्धः) वृक्षसे निर्माण हुआ और विशेष बांधा हुआ (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गर्जता है। (वासितां वृषभः अभिक्रन्दन् इव) गौके लिये जैसे बैल गर्जता है। (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नाः वध्रयः) तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभिमातिषाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौकी कामना करनेवाले सांडके समान तू (सहसा संधनाजित्) बलसे विजय प्राप्त करनेवाला, और (विदानः) जाना हुआ (अभि रुव) गर्जना कर। (परेषां हृदयं शुचा विध्य) शत्रुओंका हृदय शोकसे युक्त कर। (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गांवोंको छोडकर गिरते हुए भाग जावें ॥ ३ ॥

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥
दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥
पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥
अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥
धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥
संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥ ९ ॥

अर्थ— हे दुन्दुभे ! (ऊर्ध्व-मायुः पृतनाः संजयन्) ऊंचा शब्द करनेवाला, शत्रुसेनाओंको पराजित करता हुआ (गृह्याः गृणानः बहुधा वि चक्ष्व) ग्रहण करने योग्योंको लेनेवाला तू बहुत प्रकार देख । (दैवीं वाचं आ गुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर । (वेधाः शत्रूणां वेदः आ भरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके धन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्तीं) दुन्दुभिका स्पष्ट बोला हुआ (वाचं आश्रृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे जागी हुई (भीता नाथिता आमित्री नारी) डरी हुई दुःखी शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे हुये वीरोंके पुत्रको (हस्तगृह्य धावतु) हाथ पकडकर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वः वाचं प्र वदासि) सबसे पहिले तू शब्द करता है । भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशता हुआ तू शब्द कर । हे ढोल ! (अमित्रसेनां अभिजञ्भानः) शत्रुसेनाका नाश करता हुआ तू (द्युमत् सूनृतावत् वद) प्रकाश युक्त रीतिसे सत्य बोल ॥ ६ ॥

(इमे नभसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें तेरा घोष होवे । (ते ध्वनयः शीभं पृथक् यन्तु) तेरे ध्वनि शीघ्र चारों दिशाओंमें फैलें। (उत्पिपानः श्लोककृत्) बढनेवाला और यश करनेवाला (मित्रतूर्याय स्वर्धी) मित्रहितके लिये संपन्न होता हुआ (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्द कर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

(धीभिः कृतः वाचं प्र वदाति) बुद्धिके द्वारा बनाया हुआ ढोल शब्द करता है । (सत्वनां आयुधानि उद्धर्षय) वीरोंके आयुधोंको ऊंचा उठा । (इन्द्रमेदी सत्वनः नि ह्वयस्व) शूरको आनन्द देनेवाला तू वीरोंको बुला (मित्रैः अमित्रान् अव जङ्घनीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥ ८ ॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवाला और घोषणा करनेवाला, (धृष्णुसेनः प्रवेदकृत्) विजयी सेनासे युक्त, चेतना देनेवाला, (बहुधा ग्रामघोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाला, (श्रेयः वन्वानः) कल्याण प्राप्त करानेवाला, (वयुनानि विद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवाला तू दुंदुभि (द्वि-राजे) दो राजाओंमें होनेवाले युद्धमें (बहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त कर ॥ ९ ॥

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥
शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥
अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥ (९६५)

(२१) शत्रुसेनात्रासनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः, आदित्यादयः ।)

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥
उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥
वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) ढोल ! तू (श्रेयःकेतः वसुजित्) श्रेय करनेवाला, धन जीतनेवाला, (सहीयान् संग्रामजित्) बलवान्, युद्धोंको जीतनेवाला, (ब्रह्मणा संशितः असि) ज्ञानके द्वारा तैयार किया हुआ है। (अधिषवणे अद्रिः ग्रावा अंशून् इव) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उस प्रकार (गव्यन् वेदः अधिनृत्य) भूमी जीतनेकी इच्छा करनेवाला तू शत्रुके धनपर नाच ॥ १० ॥

(शत्रूषाड् नीषाड्) शत्रुको जीतनेवाला, नित्यविजयी, (अभिमातिषाहः गवेषणः) वैरियोंको वशमें करनेवाला, खोज करनेवाला, (सहमानः उद्भित्) बलवान् और उखेडनेवाला, तू ढोल (वाचं प्र भरस्व) शब्दको सर्वत्र भर दे। (वाग्वी मंत्रं इव) जैसा वक्ता उपदेशको श्रोताओंमें भर देता है। (संग्राम-जित्याय इह इषं उत् वद) संग्रामको जीतनेके लिये यहां अन्नके विषयमें बडी घोषणा कर ॥ ११ ॥

(अच्युत-च्युत्) न गिरनेवाले शत्रुओंको गिरानेवाला (स-मदः गमिष्ठः) आनंदयुक्त, यात्रा करनेवाला, (मृधः-जेता) युद्धोंको जीतनेवाला, (पुर-एता अयोध्यः) आगे बढनेवाला और युद्ध करनेके लिये कठिन, (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्रद्वारा रक्षित, (विदथा निचक्यत्) युद्धकर्मोंको जाननेवाला, (द्विषतां हृद्-द्योतनः) शत्रुओंके हृदयोंको घबरानेवाला, तू ढोल (शीभं याहि) शीघ्र शत्रुपर गमन कर ॥ १२ ॥

[२१]

हे (दुन्दुभे) ढोल ! तू (अमित्रेषु विहृदयं वैमनस्यं वद) शत्रुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदासीनता कह दे। (विद्वेशं कश्मशं भयं अमित्रेषु नि दध्मसि) द्वेष, कशमकश, झगडा, भय शत्रुओंमें रख दे। हे दुंदुभे ! (एनान् अव जहि) इनको निकाल दे ॥ १ ॥

(आज्ये हुते) घृतकी आहुति देने जितने थोडे समयमें ही (अमित्राः प्रत्रासेन) शत्रु घबराहटसे (मनसा चक्षुषा हृदयेन च बिभ्यतः) मन, आंख और हृदयसे डरते हुए (धावन्तु) भाग जावें ॥ २ ॥

(वानस्पत्यः उस्रियाभिः संभृतः) वनस्पतिसे अर्थात् लकडीसे उत्पन्न ढोल जिसपर चमडेकी रस्सियां बंधी है, (विश्व-गो-त्र्यः) सब प्रकार भूमिका रक्षक और (आज्येन अभिघारितः) घृतसे सींचा हुआ तू (अमित्रेभ्यः प्रत्रासं वद) शत्रुओंके लिये कष्टोंकी घोषणा कर ॥ ३ ॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥
यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ५ ॥
यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥
परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥
यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह । तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥
ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥
आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।

अर्थ— (यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते) जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, हे दुन्दुभे ! (एवा त्वं अमित्रान् अभि क्रन्द) इसी प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (प्रत्रासय) उनको डरा दे और (अथो चित्तानि मोहय) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयः वृकात् बहु बिभ्यतीः धावन्ति) जिस प्रकार भेड बकरियां भेडियेसे बहुत डरतीं हुई भाग जाती हैं, उसी प्रकार हे दुंदुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं, और (यथा स्तनथोः सिंहस्य अहः-दिवि) जिस प्रकार गर्जनेवाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनको डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

(ये संग्रामस्य ईशते) जो युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवाः) सब देव (हरिणस्य अजिनेन दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाडेसे ही (अमित्रान् परा अतित्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद्-घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छायारूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है, (तैः नः अमीः अमित्राः त्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको त्रास होवे कि (ये अनीकशः यन्ति) जो सेनाकी पंक्तियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

(ज्या-घोषाः दुन्दुभयः) धनुष्यकी डोरीके शब्दके साथ ढोल (याः दिशः अभि क्रोशन्तु) जो दिशाएं हैं उनमें शब्द करें। जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी संघशः पराजित हुई सेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले। (मरीचयः अनु धावत) प्रकाश किरण हमारे अनुकूल दौडें। (बाहुवीर्ये विगते) बाहु वीर्य कम होनेपर (पत्-संगिनीः आ सजन्तु) पांवोंको बांधनेकी रसियां शत्रुओंके पांवमें बांधी जावें ॥ १० ॥

(पृश्निमातरः उग्राः मरुतः) हे भूमिको माता माननेवाले, शूर, मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरो ! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्र मृणीत) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डालो। सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंको सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥ (१३७)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— (एताः देवसेनाः सूर्यकेतवः) ये दिव्य सेनाएं सूर्यका ध्वज लेकर चलनेवाली (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (नः अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें। विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगाडा।

ये दोनों सूक्त नगाडेका वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन स्पष्ट और सहज समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आर्योंका ध्वज।

बारहवें मंत्रमें सूर्यचिन्हयुक्त केतुका वर्णन है। यह वर्णन देखनेसे आर्योंका ध्वज सूर्यचिन्हयुक्त था यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

ज्वर निवारण।

(२२) तक्मनाशनम्।

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — तक्मनाशनम्।)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पूतदक्षाः वेदि, ये पवित्र बलवाले देव और (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें। (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं यः विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है। (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है। हे (तक्मन्) ज्वर! (अधाहि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर हो जा ॥ २ ॥

(यः परुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अव-ध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है। हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले! (तक्मानं अधराञ्चं परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा, और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥
ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥
ज्वरसे पर्व-पर्वमें दर्द होता है, इसलिये ऐसे ज्वरको दूर हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने । शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥
ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः । यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥
तक्मन्व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय । दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥
तक्मन्मूजवतो गच्छ बल्हिकान्वा परस्तराम् । शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन्वीव धूनुहि ॥ ७ ॥
महावृषान्मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य । प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥
अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः । अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥
यत्त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः । भीमास्ते तक्मन्हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

अर्थ— (तक्मने नमः कृत्वा) ज्वरको नमन करके (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे उतार देता हूँ। (शकंभरस्य मुष्टिहा) शाक भक्षककी मुष्टिसे अर्थात् बलसे मरनेवाला यह रोग (महावृषान् पुनः एतु) महावृष्टिवाले देशोंमें पुनः पुनः आ जाता है ॥ ४ ॥

(अस्य ओकः मूजवतः) इसका घर मूंज घासवाला स्थान है तथा (अस्य ओकः महावृषाः) इसका घर बडी वृष्टिवाला स्थान है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (यावत् जातः) जबसे तू उत्पन्न हुआ है। (तावान् बल्हिकेषु गोचरः असि) तबसे बाल्हिकोंमें दीखता है ॥ ५ ॥

हे (व्याल व्यङ्ग तक्मन्) सर्पके समान विषवाले और विरूप अंग करनेवाले ज्वर ! हे (वि गद) विशेष रोग ! तू (भूरि यावय) बहुत दूर चला जा। तू (निष्टकरीं दासीं इच्छ) निकृष्टतामें रहनेके कारण क्षयको प्राप्त होनेवालीकी इच्छा कर और (तां वज्रेण समर्पय) उसपर अपना वज्र चला ॥ ६ ॥

(तक्मन् ! मूजवतः गच्छ) हे ज्वर ! मूंजवाले स्थानकी इच्छा कर, (बल्हीकान् वा परस्तराम्) दूरके बाल्हीक देशोंकी इच्छा कर। वैसे देशोंमें (प्रफर्व्यं शूद्रां इच्छ) भ्रमण करनेवाली शोकमय स्त्रीकी इच्छा कर। हे (तक्मन्) ज्वर ! (तां वि इव धूनुहि) उसको कंपा दे ॥ ७ ॥

(महावृषान् मूजवतः बन्धु अद्धि) बडी वृष्टिवाले और मूंज घास जहां होती है, उन बंधन करनेवाले स्थानोंको तू खा। (परेत्य) दूर जाकर (एतानि इमा अन्यक्षेत्राणि) इन सब अन्य क्षेत्रोंको (तक्मने वै प्र ब्रूमः) हम ज्वरके लिये बतलाते हैं ॥ ८ ॥

(अन्यक्षेत्रे न रमसे) दूसरे क्षेत्रमें तू रमता नहीं, (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें रहकर हमें सुखी करता है। (तक्मा प्रार्थः अभूत् उ) ज्वर प्रबल हो गया है। (स बल्हीकान् गमिष्यति) वह बाल्हीकोंके प्रति जावेगा ॥ ९ ॥

(यत् त्वं शीतः) जो तू सर्दी लगकर आनेवाला है, (अथो रूरः) अथवा अधिक पीडा देनेवाला रूक्ष है, (कासा सह अवेपयः) खांसीके साथ कंपा देता है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (ते हेतयः भीमाः) तेरे शस्त्र भयंकर हैं। (ताभिः नः परिवृङ्ग्धि स्म) उनसे हम सबको बचाये रख ॥ १० ॥

भावार्थ— बहुत वृष्टि जहां होती है, उन देशोंमें यह ज्वर होता है। शाकभोगी लोगोंमें एक विशेष बल होता है इस कारण उनसे यह ज्वर दूर भागता है ॥ ४ ॥

बहुवृष्टिवाले और मूंज घासवाले देशोंमें यह ज्वर बहुत होता है ॥ ५ ॥

इस ज्वरका विष सर्पके समान होता है जिससे शरीर टेढा मेढा होता है। मलिन जीवनवाले लोगोंमें यह होता है ॥ ६ ॥

घासवाले स्थानोंमें यह ज्वर होता है और इस ज्वरके आनेपर शरीर कांपता है ॥ ७ ॥

बडी वृष्टिवाले और घासवाले प्रदेशोंसे भिन्न अन्य उत्तम क्षेत्रोंमें यह ज्वर नहीं होता है ॥ ८ ॥

अन्य स्थानोंमें नहीं होता है। वहां नियमपूर्वक रहनेवाले लोगोंको यह नहीं होता। उनसे दूर भागता है ॥ ९ ॥

यह ज्वर शीत, रूक्ष, और कफयुक्त होता है। इसका परिणाम भयंकर होता है, इसलिये इससे बचना चाहिये ॥ १० ॥

मा स्मैतान्त्सखींन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् । मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत्त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥
तक्मन्भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह । पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् । तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः । प्रैष्यन्जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥ (१५१)

अर्थ— हे (तक्मन्) ज्वर ! (बलासं कासं उद्युगं) कफ, खांसी, और क्षय (एतान् सखीन् मा स्म कुरुथाः) इनको अपने मित्र मत बना। (अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः) इससे समीप न आ। हे (तक्मन्) ज्वर! (तत् त्वा पुनः उपब्रुवे) यह तुझे मैं पुनः कहता हूं ॥ ११ ॥

हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (भ्रात्रा बलासेन) अपने भाई कफके साथ, (स्वस्रा कासिकया सह) बहिन खांसीके साथ, (पाप्मा भ्रातृव्येन सह) पापी भतीजे क्षयके साथ (अमुं अरणं जनं गच्छ) उस मलिन मनुष्यके पास जा ॥ १२ ॥

(तृतीयकं) तीसरे दिन आनेवाले, (वितृतीयकं) तीन दिन छोडकर आनेवाले, (सदन्दि) सदा रहनेवाले, (उत शारदं) और शरदृतुमें होनेवाले, (शीतं, रूरं) शीत अथवा पीडा करनेवाले, (ग्रैष्मं, वार्षिकं) ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके संबंधसे आनेवाले ज्वरको (नाशय) हटा दे ॥ १३ ॥

(गन्धारिभ्यः मूजवद्भ्यः) गांधार, मूजवान् (अङ्गेभ्यः मगधेभ्यः) अंग और मगधोंको (प्रैष्यन् शेवधिं जनं इव) भेजे जानेवाले खजानेके रक्षक मनुष्यके समान (तक्मानं परि दद्मसि) ज्वरको हम भेज देते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— इस ज्वरके कफ, खांसी और क्षय ये तीन मित्र हैं। यह ज्वर हमारे पास कभी न आवे ॥ ११ ॥

इस ज्वरका भाई कफ; बहिन खांसी और भतीजा क्षय है। मलिन लोगोंको यह होता है ॥ १२ ॥

तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन या तीन दिन छोडकर आनेवाला, सदा अर्थात् प्रतिदिन आनेवाला, शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके कारण होनेवाला, शीत और रूक्ष, ये सब ज्वर हटाने चाहिये ॥ १३ ॥

जिस प्रकार रक्षक मनुष्य दूसरे देशको भेजे जाते हैं, उस प्रकार सब ज्वर दूर भेजे जाय, अर्थात् वे मनुष्योंको कष्ट न दें ॥ १४ ॥

ज्वर रोग ।

ज्वर रोगके विषयमें बहुतसी बडी विचारणीय बातें इस सूक्तमें कहीं हैं—

ज्वरके भेद ।

१ सदन्दिः— सदा, प्रतिदिन आनेवाला ज्वर।

२ तृतीयकः— तीसरे दिन आनेवाला ज्वर।

३ वि-तृतीयकः— तीन दिन छोडकर चौथे दिन आनेवाला चातुर्थिक आदि ज्वर। (मं. १३)

ये तीन भेद दिनोंके अन्तरके कारण होते हैं। ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके नाम ये हैं—

१ ग्रैष्मः— ग्रीष्म ऋतुमें होनेवाला ज्वर।

२ वार्षिकः— वर्षा ऋतुके कारण आनेवाला ज्वर।

३ शारदः— शरदृतुके कारण आनेवाला ज्वर। (मं. १३)

ये तीन भेद ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके हैं। अब इस ज्वरके स्वरूप भेद देखिये।

१ शीतः— शीत ज्वर, जिसमें प्रथम शीत लगकर पश्चात् ज्वर आता है।

२ रूरः— रूक्ष, पित्त ज्वर, अथवा पीडा देनेवाला ज्वर। (मं. १३)

ये भेद इसका स्वरूप बता रहे हैं। ज्वरके साथ होनेवाले रोग ये हैं।

१ बलासः— कफ बलगम, यह ज्वरमें होता है।

२ कासः— खांसी भी ज्वरमें होती है। (मं. ११, १२)

ये दोनों लक्षण बहुत खराब हैं, इसका परिणाम—

३ उद्-युगं— ये दोनों अर्थात् कफ और खांसी इकट्ठी आती है, इसका नाम क्षय है। यह तो इसका भयङ्कर परिणाम होता है। (मं. ११)

देश विशेषके कारण होनेवाले ज्वरोंका परिगणन निम्न प्रकार इस सूक्तमें किया है।

१ महावृषः— बडी वृष्टिवाले प्रदेशमें होनेवाला ज्वर।

'अस्य ओकः महावृषः'— इसका घर बडी वृष्टि-वाला प्रदेश है। (मं. ५)

२ मूजवान्— घास जहां होता है ऐसे कीचडके स्थानमें यह ज्वर होता है।

'अस्य ओकः मूजवतः'— इसका घर मूजवाला स्थान है। (मं. ५)

इस प्रकारके प्रदेश इस ज्वरके लिये बढानेवाले होते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें यह नहीं बढता है, अर्थात हुआ भी तो शीघ्र हट जाता है। इस ज्वरमें बहुत विष होता है, जो शरीरमें जाता है और वहां पीडा करता है—

१ व्यालः— सर्पके समान यह ज्वरका विष है।

२ व्यंगः— अंगों और इंद्रियोंमें विहरता करनेवाला यह ज्वर है। (मं. ६)

मलिन स्त्रीपुरुषोंको यह विशेषकर होता है, अर्थात् अन्तर्बाह्य पवित्र रहनेवालोंको नहीं होता, इस विषयमें मंत्रका प्रमाण देखिये—

१ अरणं जनं— नीच जीवन व्यतीत करनेवालेको होता है। (मं. १२)

२ निष्टकरीं— क्षीण और मलिनको होता है। (मं. ६)

३ प्रफर्व्यं— फूला मनुष्य, जिसमें सच्चा बल नहीं होता उसको होता है। (मं. ७)

यम, नियम पालन करनेवाला संयमी पुरुष सुखसे रहता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र मननपूर्वक देखिये—

नः वशी मृडयासि। (मं. ९)

'हममें जो वशी अर्थात् संयमी पुरुष होता है, उसको सुख देता है,' अर्थात् यह ज्वर उसको कष्ट नहीं देता है। इस प्रकार यह संयम ज्वरादिसे और क्षयादिसे बचनेका एकमात्र उपाय है। पाठक इसका विचार करके ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंके पालनद्वारा अपना स्वास्थ्य बढावें और रोगोंसे दूर रहें।

ज्वर निवृत्तिका उपाय।

संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपाय ज्वरप्रतिबंधक हैं, परंतु ज्वर आनेपर उसको हटानेके उपाय निम्नलिखित हैं—

१ यज्ञः— अग्निमें सोमादि औषधियोंका हवन करनेसे ज्वर हटता है। (मं. १)

२ अधराङ् परेहि— नीचेके मार्गसे ज्वर दूर होता है, अर्थात् शौच शुद्धिसे, पेट साफ रहनेसे ज्वर दूर होता है। (मं. २)

३ शकं-भरस्य मुष्टि-हा— शाकभोजीकी मुष्टिसे मरनेवाला ज्वर होता है। मांसभोजी मनुष्यकी अपेक्षा शाकभोजी मनुष्यमें ज्वरप्रतिबंधकशक्ति अधिक होती है, इस लिये मानो शाकभोजी मनुष्य इस ज्वरको मुक्केसे मार देता है। (मं. ४)

इस प्रकार इस ज्वरके संबंधका विवरण इस सूक्तमें है। वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें। इस सूक्तमें कहे लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि यह तक्मा आजकलका शीतज्वर अथवा 'मलेरिया' है।

रोगजन्तुओंका नाश।

(१३) क्रिमिघ्नम्।

(ऋषिः — कण्वः। देवता — इन्द्रः, क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना।)

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती। ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ क्रिमिं॑ जम्भयता॒मिति॑ ॥ १ ॥

अ॒स्येन्द्र॑ कु॒मार॑स्य॒ क्रिमी॑न्धनपते जहि। ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॒ वच॑सा॒ मम॑ ॥ २ ॥

अर्थ— द्यावापृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र, अग्नि ये सब देव (ओते, ओता, ओतौ) परस्पर मिले जुले (मे मे क्रिमिं जम्भयतां) मेरे लिये क्रिमियोंका नाश करें ॥ १ ॥

हे धनपते इन्द्र! (अस्य कुमारस्य क्रिमीन् जहि) इस कुमारके क्रिमियोंको हटा दे। (मम उग्रेण वचसा विश्वाः अरातयः हताः) मेरे वाणकी उग्र वचासे सब दुःखदायी क्रिमि मारे गये हैं ॥ २ ॥

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति । दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥ ३ ॥
सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः । ये के च विश्वरूपास्तान्क्रिमीञ्जम्भयामसि ॥ ५ ॥
उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा । दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन्क्रिमीन् ॥ ६ ॥
येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः । दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥
हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत । सर्वान्नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

अर्थ—(यः अक्ष्यौ परिसर्पति) जो आंखोंमें भ्रमण करता है, (यः नासे परिसर्पति) जो नाकमें घुसा होता है, (दतां यो मध्यं गच्छति) दांतोंके बीचमें जो जाता है, (तं क्रिमिं जम्भयामसि) उस क्रिमिको हम विनाश करें ॥ ३ ॥

(सरूपौ द्वौ, विरूपौ द्वौ) दो समान रूपवाले और दो विरुद्ध रूपवाले, (द्वौ कृष्णौ, द्वौ रोहितौ) दो काले और दो लाल, (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला, (गृध्रः कोकः च) गिद्ध और भेडिया (ते हताः) वे सब मर गये ॥ ४ ॥

(ये क्रिमयः शितिकक्षाः) जो क्रिमि श्वेत कोखवाले, (ये कृष्णाः शितिबाहवः) जो काले और काली भुजावाले और (ये के च विश्वरूपाः) और जो बहुत रूपवाले हैं (तान् क्रिमीन् जम्भयामसि) उन क्रिमियोंका नाश करते हैं ॥ ५ ॥

(सूर्यः उत पुरस्तात् एति) सूर्य आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्टः अदृष्ट-हा) सबको जो प्रत्यक्ष है और जो न दीखनेवाले क्रमियोंका भी नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान् च अदृष्टान् च सर्वान् क्रिमीन्) दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंको (घ्नन् प्रमृणन्) नाश करता है और कुचल डालता है ॥ ६ ॥

(येवाषासः कष्कषासः) येवाष, कष्कष, (एजत्काः शिपवित्नुकाः) एजत्क और शिपवित्नुक ये क्रिमी हैं। (दृष्टः क्रिमिः हन्यतां) दीखनेवाले क्रिमीको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न दीखनेवाला भी मारा जाय ॥ ७ ॥

(क्रिमीणां येवाषः हतः) क्रिमियोंमेंसे येवाष नामक क्रिमी मारा गया (उत नदनिमा हतः) और नाद करनेवाला भी मर गया। (सर्वान् मष्मषा नि अकरं) सबको मसल मसलकर नष्ट किया (दृषदा खल्वां इव) जिस प्रकार पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥

(त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन शिरोंवाले, तीन कुदानवाले, (सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं) चित्रविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले क्रिमीको (शृणामि) मैं मारता हूं। (अस्य पृष्टीः अपि) इसकी पसुलियोंको भी तोडता हूं और (यत् शिरः वृश्चामि) जो सिर है उसको कुचलता हूं ॥ ९ ॥

हे (क्रिमयः) जंतुओं ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिके ज्ञानसे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) रोगके क्रिमियोंको पीसता हूं ॥ १० ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) रोगक्रिमियोंका राजा मारा गया, (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति मारा गया। और (हत-माता हत-भ्राता) जिसके माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा क्रिमिः हतः) जिसकी बहिन मारी गई है ऐसा क्रिमी भी मारा गया ॥ ११ ॥

हुतासौ अस्य वेशसौ हुतासः परिवेशसः। अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥ १२ ॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्। भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥ (२६४)

अर्थ— (अस्य वेशसः हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः) इसके परिवारवाले मारे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुल्लक क्रिमि थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमि मारे गये हैं ॥ १२ ॥

(सर्वेषां च क्रिमीणां) सब पुरुष क्रिमियोंका और (सर्वासां च क्रिमीणां) सब स्त्री क्रिमियोंका (अश्मना शिरः भिनद्मि) पत्थरसे सिर तोडता हूं और (अग्निना मुखं दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूं ॥ १३ ॥

रोगक्रिमियोंका नाश।

रोगके क्रिमि शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है। अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन क्रिमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। छोटे बालकोंके शरीरमें भी क्रिमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये वचा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मंत्रका उपदेश मननीय है।

आंख, नाक और दांतोंमें क्रिमि जाते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मंत्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें क्रिमियोंके रंगोंका वर्णन है। सूर्यकिरणसे सब रोगक्रिमियोंका नाश होता है, यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात षष्ठ मंत्रमें कही है। विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना संबंध करके पाठक रोगक्रिमियोंसे अपना बचाव कर सकते हैं। अन्य मंत्रोंका कथन स्पष्ट है, इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सुरक्षितताकी प्रार्थना।

(२४) ब्रह्मकर्म।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ब्रह्मकर्मात्मा, नानादेवताः।)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ— (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायां) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्त्यां) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकूत्यां) इस संकल्पमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें, (अस्यां देवहूत्यां) इस देवोंकी प्रार्थनामें, (स्व-आ-हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण करता हूं, इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति प्रेरक परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(सः वनस्पतीनां अधिपतिः, अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ३ ॥
वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ४ ॥
मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ५ ॥
मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ६ ॥
सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥
वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥
सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥

अर्थ-- (ते दातॄणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपति द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(सः अपां अधिपतिः वरुणः मा अवतु) वह जलोंका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

(तौ वृष्ट्या अधिपती मित्रावरुणौ मा अवतां) वे दोनों वृष्टिके अधिपति मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपति मरुत् मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

(सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह औषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १५ ॥

तता अवरे ते मावन्तु ।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १६ ॥

अर्थ— (सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः मा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥
(सः दिवः अधिपतिः इन्द्रः मा अवतु) वह द्युलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥
(सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता मा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुत्पिता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥
(सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः मा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥
(सः पितॄणां अधिपतिः यमः मा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥
(ते परे पितरः मा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥ (१८१)

अर्थ—(ते अवरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥
(ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बडे प्रपितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्यान्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सबकी स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, चित्तसे चिंतन मनन आदि कर्म, संकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्यकर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। यह स्पष्ट आशय-वाला है इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

गर्भधारणा।

(२५) गर्भाधानम्।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — योनिगर्भः, पृथिव्यादयो देवताः।)

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्। शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥
गर्भं ते मित्रावरुणा गर्भं देवो बृहस्पतिः। गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

अर्थ— (पर्वतात् दिवः) पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत स्थित पदार्थोंके (अंगात् अंगात् सं आभृतं) अंग प्रत्यंगसे इकट्ठा किया हुआ (योनेः) योनिके स्थानमें (रेतोधाः शेपः) वीर्यकी स्थापना करनेवाला पुरुषेन्द्रिय (सरौ पर्णं इव) जल-प्रवाहमें पत्तेको रखनेके समान (गर्भस्य आ दधत्) गर्भका बीज आधान करता है ॥ १ ॥

(यथा इमं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) समस्त भूतोंके गर्भको धारण करती है, (एवा ते गर्भं दधामि) इस प्रकार तेरा गर्भ धारण करती हूं (तस्मै अवसे त्वां हुवे) उस रक्षाके लिये तुझे बुलाती हूं ॥ २ ॥

हे (सिनीवालि) अल्प चन्द्रवाली रात्री देवी! (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर। हे (सरस्वति) ज्ञानदेवी! (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर। (उभौ पुष्करस्रजौ) दोनों कमलमाला धारण करनेवाले अश्विदेवो (ते गर्भं आ धत्तां) तेरे गर्भको धारण करें ॥ ३ ॥

(मित्रावरुणौ ते गर्भं) मित्र और वरुण तेरे गर्भको पुष्ट करें (देवः बृहस्पतिः गर्भं) देव बृहस्पति गर्भको धारण करे। (इन्द्रः च अग्निः च ते गर्भं) इन्द्र और अग्नि तेरे गर्भको धारण करें। (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ४ ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥
यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती । यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥
अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् । वृषासि वृष्ण्यावन्प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥
वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् । अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥
धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ११ ॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १२ ॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥(२९४)

अर्थ— (**विष्णुः योनिं कल्पयतु**) विष्णु योनिको समर्थ बनावे। (**त्वष्टा रूपाणि पिंशतु**) त्वष्टा रूपोंको अवयवोंवाला बनावे। (**प्रजापतिः आ सिंचतु**) प्रजापति गर्भको सींचे और (**धाता ते गर्भं दधातु**) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ५ ॥

(**यत् राजा वरुणः वेद**) जो वरुण राजा जानता है, (**या यत् देवी सरस्वती**) अथवा जो देवी सरस्वती जानती है। (**यत् वृत्रहा इन्द्रः वेद**) जो वृत्रका नाश करनेवाला इन्द्र जानता है (**तत् गर्भ-करणं पिब**) वह गर्भको स्थिर करनेवाला यह रस पान कर ॥ ६ ॥

(**ओषधीनां गर्भः असि**) तू औषधियोंका गर्भ है, और (**वनस्पतीनां गर्भः असि**) तू वनस्पतियोंका गर्भ है, तू (**विश्वस्य भूतस्य गर्भः**) सब भूतमात्रका गर्भ है, हे अग्ने! (**सः इह गर्भं आधाः**) वह तू यहां गर्भको धारण कर ॥७॥

(**अधिस्कंध**) उठकर खडा हो, (**वीरयस्व**) वीरता कर, (**योन्यां गर्भं आ धेहि**) योनिमें गर्भकी स्थापना कर। हे (**वृष्ण्यावन्! वृषा असि**) वीर्यवान्! तू बलवान् है। (**त्वा प्रजायै नयामसि**) तुझे केवल सन्तानके लिये ही ले जाते हैं ॥ ८ ॥

हे (**बार्हत्सामे**) बृहत्साम गानेवाली स्त्री! तू (**विजिहीष्व**) विशेष प्रकार तैयार रह। (**ते योनिं गर्भः आशयां**) तेरी योनिमें गर्भ स्थिर होवे। (**सोमपाः देवाः उभयाविनं पुत्रं ते अदुः**) सोमपान करनेवाले देवोंने तुम दोनोंकी रक्षा करनेवाले पुत्रको तुझे दिया है ॥ ९ ॥

हे (**धातः**) धाता! और हे (**त्वष्टः**) रूप बनानेवाले देव! हे (**सवितः**) उत्पादक देव! हे (**प्रजापते**) प्रजापालक देव! (**अस्याः नार्याः गवीन्योः**) इस स्त्रीके दोनों गर्भधारक नाडियोंके बीचमें (**श्रेष्ठेन रूपेण पुमांसं पुत्रं आधेहि**) उत्तम सुंदर रूपके साथ पुरुष संतान स्थापन कर और (**दशमे मासि सूतवे**) दसवें मासमें उत्पत्ति होनेके लिये उसे योग्य कर ॥ १०-१३ ॥

गर्भकी सुरक्षितता।

गर्भकी सुरक्षितताके लिये परमेश्वरकी तथा अन्यान्य देवताओंकी प्रार्थना इस सूक्तमें की गई है। इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे मानस शक्तिकी जाग्रति द्वारा बहुत लाभ होता है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें गर्भविषयक अन्यान्य बहुतसी उपयुक्त बातें कहीं हैं, उसका थोडासा विचार यहां करना आवश्यक है।

पृथ्वीके ऊपर पर्वतसे लेकर द्युलोकपर्यंत अर्थात् इस द्यावापृथिवीके अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन सबके अंग प्रत्यंगोंके अंश ले लेकर और उन सब अंशोंको विशेष योजनासे इकट्ठा करके यह गर्भ बनाया गया है। यह प्रथम मंत्रका कथन है। अर्थात् इस गर्भमें जिस प्रकार सूर्य और चंद्रके अंश हैं, उसी प्रकार वायु और जलके अंश भी हैं और उसी रीतिसे ओषधि-वनस्पतियोंके भी अंश हैं। जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है।

ब्रह्माण्डका एक अंश ही पिंड है। इसी प्रकार पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व वीर्य बिन्दुमें आता है और उसी वीर्य बिन्दुसे गर्भ होता है, इस लिये गर्भमें पिताके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व आया हुआ होता है। इस प्रकार एक दृष्टिसे यह गर्भ सब ब्रह्माण्डका सत्त्वांश है और दूसरी दृष्टिसे यह गर्भ पिताका सत्त्वांश है। गर्भमें, मानो, इतनी प्रचण्ड शक्तियां हैं, इस लिये गर्भकी जितनी सुरक्षा हो उतनी करनी चाहिये और उसकी जिस प्रकार उन्नति हो सके उस प्रकार यत्न करना चाहिये।

मंत्र २ से ५ तक देवताओंकी प्रार्थना है कि सब देव इस गर्भकी रक्षामेंसे सहायता देवें। और जो देवताओंके अंश यहां रह रहे हैं उनको अपनी शक्तिसे सुरक्षित रखें और बढावें। पाठक यहां स्मरण रखें कि रक्षा तो देवों द्वारा ही होनी है, मनुष्यका कार्य इतना ही है कि वह उसमें रुकावट न करे। जिस प्रकार बंद कमरेमें सदा रहनेसे सूर्यकी रक्षासे मनुष्य दूर रहते हैं, उसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी रक्षासे मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण दूर रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको इन देवताओंके स्वाधीन करे। ऐसा करनेसे इसकी उत्तम रक्षा हो सकती है। गर्भकी भी सुरक्षितताके लिये गर्भिणी स्त्री शुद्ध वायुमें तथा धूप आदिमें अपने आपको रखे और सूर्यादि देवोंसे जो रक्षा प्राप्त होती है उससे लाभ उठावे तो अधिक लाभ हो सकता।

गर्भ उत्तम रीतिसे बढकर दसवें मासमें माताके उदरसे बाहर आना चाहिये। यह समय उसकी पूर्ण वृद्धिका है। यह बात दशम मंत्रमें कही है।

अन्य मंत्र गर्भाधान विषयक हैं वे सुविज्ञ पाठक सहजहीमें समझ सकते हैं।

यज्ञ।

(२६) नवशालायां घृतहोमः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — वास्तोष्पतिः, नानादेवताः।)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥
प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥
एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रविद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (वः यजूंषि समिधः) आपके लिये यजुर्वेद मंत्र और समिधाएं (युनक्तु स्वाहा) उपयोगमें लावे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं॥ १ ॥

(महिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियां समर्पित करता हूं ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयुजः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थमदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्तुतिस्तोत्रोंको प्रयुक्त करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रैषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आज्ञाएं और आत्मनिवेदन करनेकी रीतियां जाननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः वहत, स्वाहा,) अपनी धर्मपत्नियोंके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥४॥

(माता इव पुत्रं) माता जैसे पुत्रको पूर्ण करती है, उस प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत् देव (छंदांसि पिपृत, स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

(इयं अदितिः बर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिति देवी हवन सामग्री और शोधक साधनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ अगन् स्वाहा) यज्ञका विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥
त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥
भगो युनक्त्वाशिषोन्वस्मा अस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥
सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥
इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥
अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥ (३०६)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (सुयुजः विष्णुः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपाः नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भगः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (अस्मै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इसके लिये आशीर्वाद देवे। इस यज्ञमें मेरा आत्मसमर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पयांसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) जलोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे। इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (ब्रह्मणा वषट् कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान और दान द्वारा यज्ञको बढाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आवो। हे बृहस्पते ! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ। (अयं यज्ञः यजमानाय स्वः) यह यज्ञ यजमानके लिये तेज बढानेवाला होवे। (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

'स्वाहा' शब्दका अर्थ (स्व + आ + हा) 'अपना कहने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगतकी भलाईके लिये समर्पण करना।' है। वास्तविक रीतिसे यज्ञमें यह आत्म-शक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है। मानो, इसके विना कोई यज्ञ हो नहीं सकता। यज्ञमें आहुति देते समय 'स्वाहा, न मम' (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है, अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है। इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें 'स्वाहा' शब्दका पाठ इसीलिये किया है।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत्, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग, सोम, अश्विनौ, बृहस्पति आदि सब देवताएं जगत्के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रहीं हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रही हैं, यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्थकता यज्ञद्वारा करे। अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत् जीवन देते हैं, अदिति आधार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबकी रक्षा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबको भाग्यवान् बनाता है, सोम सबको शांति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सबको ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगतका यज्ञ सांग संपूर्ण करता है। ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते, परंतु सब जगत्की भलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन, मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञ जनताकी भलाईके लिये करें और इस आत्मसर्वस्व समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करें। इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सूक्तने दिया है।

यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

अग्निकी ऊर्ध्वगति।

(२७) अग्निः।

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — अग्निः।)

उर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥
देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥
मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ ३ ॥
अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥
अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥
तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन्वसुधातरश्च ॥ ६ ॥
द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥
उरुव्यचसाऽग्नेर्धाम्ना पत्यमाने।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

अर्थ— (अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्निकी समिधाएं ऊंची होती हैं, तथा इस अग्निकी (शुक्रा शोचींषि ऊर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं। यह अग्नि (द्युमत्तमा) अति प्रकाशवाला, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) सुंदर रूपवाला, पुत्रोंसहित रहनेवाला, (तनू-न-पात्, असु-रः) शरीरको न गिरानेवाला, जीवन देनेवाला, (भूरि-पाणिः) अनेक हाथोंसे अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त है ॥ १ ॥

(देवेषु देवः देवः) सब देवोंमें मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृतसे मार्गको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करनेवाला, प्रेरक, सबको स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरतासे यज्ञको प्रेरित करता हुआ चलता है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शवसा घृता नमसा चित्) यह स्तुति किया गया अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छ एति) भली प्रकार चलता है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु स्रुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञोंमें स्रुचाओं [चमसों] की इच्छा करनेवाला अग्नि होता है। (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) वह यजमान इस अग्निकी महिमाकी उपासना करे ॥ ५ ॥

(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाला अग्नि हर्षके समयमें यजन करनेवाला होता है। (वसु-धा-तरः वसवः च अतिष्ठन्) धनोंको अधिक धारण करनेवाले अग्नि और वसु सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं ॥ ६ ॥

(अस्य व्रतं देवीः द्वारः) इसके व्रतकी दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलतासे रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा धाम्ना) अग्निके अति विस्तृत धामसे (पत्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पतिरूप बननेवाली, उत्तम रीतिसे चलनेवाली, समीपस्थित, परस्पर संगत, (उषासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अवतां) प्रातःकाल और सायंकाल हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देवं त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥
वनस्पतेऽव सृजा रराणः । त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥
अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः। इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥ (३१८)

अर्थ— हे (**दैवा होतारः**) दिव्य होता गण ! (**नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्नेः जिह्वया अभि गृणत**) हमारे ऊंचे यज्ञके अग्निकी जिह्वाके द्वारा प्रशंसा करो और (**नः स्विष्टये गृणत**) हमारी उत्तम इष्टिके लिये प्रशंसा करो। (**इडा सरस्वती भारती मही**) मातृभाषा, मातृसभ्यता, और पोषण करनेवाली मातभूमि ये (**तिस्रः देवीः**) तीन देवताएं (**इदं बर्हिः सदन्तां**) इस यज्ञमें विराजें ॥ ९ ॥

(**देव त्वष्टः**) हे त्वष्टा देव ! (**नः तत् तुरी-पं अद्भुतं**) हमारे लिये वह त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (**पुरुक्षु रायः पोषं**) निवासके लिये हितकारी धन और पुष्टि दे और (**अस्य नाभिं विष्य**) इसकी मध्य ग्रंथीको खोल दे ॥ १० ॥

हे वनस्पते ! (**रराणः अवसृज**) दान करता हुआ तू हमें दान कर। (**शमिता अग्निः त्मना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु**) शान्ति स्थापन करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिसे देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका स्वाद देवे ॥ ११ ॥

हे (**जातवेदः अग्ने**) ज्ञानी प्रकाशस्वरूप देव !(**स्वाहा कृणुहि**) तू स्वाहा रूप यज्ञ कर। तथा (**इन्द्राय यज्ञं**) इन्द्रदेवके लिये यज्ञ कर। (**विश्वे देवाः इदं हविः जुषन्तां**) सब देव इस हविका सेवन करें ॥ १२ ॥

यज्ञका महत्त्व ।

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसापर है। यज्ञयाग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खुला होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है। जिस प्रकार (**अग्नेः ऊर्ध्वाः शोचींषि**) अग्निकी ज्वाला ऊपर जाती है और कभी नीचेकी दिशामें नहीं जाती, ठीक उस प्रकार अग्निकी उपासना करनेवाला याजक सीधा उच्च मार्गसे उच्च गति प्राप्त करता है। यज्ञयागका यह महान् फल है।

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमिका आदर बढता है, क्योंकि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है। यज्ञमें इनके लिये अग्रस्थान मिलता है। यह बात नवम मंत्रमें कही है।

इस सूक्तमें कहे अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं। उन गुणोंका मनन करके उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अन्दर बढाने चाहिये। उन्नतिका यह सीधा मार्ग है।

दीर्घायु और तेजस्विता।

(२८) दीर्घायुः ।

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — त्रिवृत्, अग्न्यादयः।)

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥ १ ॥

अर्थ— (**शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**) सौ वर्षवाले दीर्घ जीवनके लिये (**नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते**) नव प्राणोंको नव इंद्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है। (**हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि**) सुवर्णमें तीन, चांदीमें तीन और लोहेमें तीन (**तपसा आविष्ठितानि**) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नव प्राणोंको नव इंद्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करते हैं। सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे इकठ्ठे जोड देते हैं। यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥
त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥
इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन्त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु ॥ ४ ॥
भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥
त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥

अर्थ— अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, (**प्रदिशः दिशः**) उपदिशाएं और दिशाएं, (**ऋतुभिः संविदानाः आर्तवः**) ऋतुओंके साथ मिले हुए ऋतुविभाग (**अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु**) इस तीनोंके योगसे मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

(**त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्तां**) इस तिहरे उपवीतमें तीन पुष्टियां बनी रहें। (**पूषा पयसा घृतेन अनक्तु**) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे। (**अन्नस्य भूमा**) अन्नकी विपुलता, (**पुरुषस्य भूमा**) पुरुषोंकी अधिकता, तथा (**पशूनां भूमा**) पशुओंकी समृद्धि (**ते इह श्रयन्तां**) तेरे यहां ये सब स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (**आदित्याः**) आदित्यो ! (**इमं वसुना सं उक्षत**) इसको तुम वसुओंसे सींचो। हे अग्ने ! (**वावृधानः इमं वर्धय**) तू स्वयं बढता हुआ इसको बढा। हे इन्द्र ! (**इमं वीर्येण सं सृज**) इसको वीर्यसे युक्त कर। (**अस्मिन् पोषयिष्णु त्रिवृत् श्रयतां**) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत स्थित रहे ॥ ४ ॥

(**भूमिः हरितेन त्वा पातु**) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे। (**विश्वभृत् सजोषाः अग्निः अयसा पिपर्तु**) सबका पोषण करनेवाला प्रेममय अग्नि लोहके द्वारा तुझे पूर्ण करे। (**वीरुद्भिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्यमानं दक्षं**) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलंकरहित शुभसंकल्पमय बल (**ते दधातु**) तेरे लिये धारण करे ॥ ५ ॥

(**इदं हिरण्यं जन्मना त्रेधा जातं**) यह सुवर्ण जन्मसे ही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ। उनमेंसे (**एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव**) एक अग्निको अतिप्रिय हुआ है। (**एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत्**) दूसरा निचोडे सोमसे बाहर निकलता है। (**एकं वेधसां अपां रेतः आहुः**) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं। (**तत् त्रिवृत् हिरण्यं**) वह तिहरा सुवर्ण (**ते आयुषे अस्तु**) तेरी आयुके लिये होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिसके तीनों धागोंमें क्रमशः भूमि, जल, अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशा उपदिशाएं, और ऋतु आदि काल विभाग ये नव दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दुःखोंसे पार करके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियां मिलती हैं। पोषणकर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे। अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियां हमें यहां मिलें ॥ ३ ॥

आदित्य हमें सब वसुओंकी शक्ति प्रदान करें। अग्नि हमारी वृद्धि करे। इन्द्र वीर्य बढावे। इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दुःखोंसे पार करनेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥

सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे। लोहेके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे। तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी शक्तियोंके साथ हमें उत्तम मनयुक्त बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

स्वभावतः सुवर्ण तीन प्रकारका है। एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रसके रूपसे प्राप्त होता है, और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे शरीरमें रहता है। यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥
दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥
इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥

अर्थ— (जमदग्नेः त्र्यायुषं) जमदग्निकी तिहरी आयु, (कश्यपस्य त्र्यायुषं) कश्यपकी तिहरी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षणं) अमृतका तीन प्रकारका दर्शन है। इससे (ते त्रीणि आयूंषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुष्योंको करता हूं ॥ ७ ॥

(यत् शक्राः त्रयः सुपर्णाः) जब समर्थ तीन सुपर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिहरे होकर एक अक्षरमें सब प्रकार मिलकर रह रहे हैं। वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृतके साथ सब अनिष्टोंको मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौतको दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(हरितं त्वा दिवः पातु) सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे, (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत तेरी अन्तरिक्षसे रक्षा करे, (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहा भूमिके स्थानसे तेरी रक्षा करे। (अयं देव-पुराः प्रागात्) यह देवोंकी पुरियोंको प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

(इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देवनगरियां है, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) वे सब प्रकारसे तेरी रक्षा करें। (त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी) तू उनको धारण करके तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः भव) वैरियोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो ॥ १० ॥

(देवानां हिरण्यं पुरं अमृतं) देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है। (यः प्रथमः देवः अग्रे आबेधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इनको बांधा था। (तस्मै दश प्राचीः नमः कृणोमि) उसको दसों अंगुलियां जोडकर नमस्कार करता हूं। (त्रिवृत् मे आबधे, अनु मन्यतां) यह तिहरा उपवीत अपने शरीरपर बांधता हूं, इसके लिये अनुमति दें ॥ ११ ॥

भावार्थ— जमदग्नि और कश्यपकी बाल, तरुण और वृद्ध अवस्थामें व्यापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृतका साक्षात्कार करनेवाली है। यह तीन प्रकारकी आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

तीन बडी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षरमें रहती हैं। उस अमृतसे सब अनिष्ट दूर होते हैं और उससे मृत्युको दूर किया जाता है ॥ ८ ॥

सुवर्ण द्युलोकसे, चांदी अन्तरिक्षसे और लोहा भूमिसे तेरी रक्षा करे। ये देवोंकी नगरियां ही प्राप्त हुई हैं ॥ ९ ॥

ये तीन देवनगरियां हैं। ये तीनों सबकी रक्षा करें। इनका धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओंको नीचे कर देता है ॥ १० ॥

देवोंकी सुवर्णमयी नगरी अमृतसे परिपूर्ण है। जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं। यह तिहरा उपवीत मैं अपने शरीरपर बांधता हूं, मुझे अनुमति दीजिये ॥ ११ ॥

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः । अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥
ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा । संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥
घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत्सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥ १४ ॥ (३३१)

अर्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृततु) तुझे बांधे। (अहः-जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवालेका जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुझको अत्यन्त बांधते हैं ॥ १२ ॥

(आयुषे वर्चसे) आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेजसे (सं-हनु कृण्मसि) संयुक्त करता हूं ॥ १३ ॥

(घृतात् उल्लुप्तं) घीसे भरा हुआ, (मधुना समक्तं) मधुसे सींचा हुआ (भूमिदृंह अच्युतं पारयिष्णु) भूमीके समान स्थिर और पार ले जानेवाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्न भिन्न करनेवाला और उनको (अधरान् कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौभगाय मा आरोह) बडे सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर आरोहण कर ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशनेवाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुझे अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और अन्य कालविभागोंके तेजसे तुझे संयुक्त करके तुझे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि पौष्टिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुदृढ, न गिरानेवाला और सब दुःखोंसे पार करनेवाला है। यह शत्रुओंको छिन्न भिन्न करता और उनको नीचे करता है। यह उपवीत बडा सौभाग्य मुझे देकर मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतका धारण ।

इस सूक्तमें यज्ञोपवीतके महत्त्वका वर्णन किया है। यज्ञोपवीतके वर्णनके विषयमें अत्यंत थोडेसे मंत्रभाग वेदमें हैं। परंतु यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश करते करते यज्ञोपवीतके महत्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। इस सूक्तका पठन करके पाठक यज्ञोपवीतका महत्त्व जानें और यज्ञोपवीत धारण करते समय मनमें समझें कि मैं इतने महत्त्वका यह यज्ञसूत्र धारण कर रहा हूं।

तीन धागे ।

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक सूत्रमें फिर तीन तीन धागे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नव सूत्र हो गये। ये तीन धागे इस प्रकार बनें—

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि । (मं. १)

'सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन' अर्थात् प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेके तार हों। इस प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये। 'अयस्' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ 'लोहा' है, परंतु इसका दूसरा अर्थ 'केवल धातुमात्र' ऐसा भी है। अर्थात् तांबा भी इसका अर्थ हो सकता है।

सुवर्णका यज्ञोपवीत ।

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना, चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये। ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें कुछ मंदसा विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरका स्वास्थ्य, बल और दीर्घायु प्राप्त होना संभव है। ये तीनों धातुओंके तार (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे परस्पर जुडे हुए हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुडी हुई अवस्थामें रहें, तभी ये तार कार्य करते हैं। जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण ।

शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान् नवभिः संमिमीते । (मं. १)

'सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नव प्राणोंको नव

इंद्रियोंमें मिलाना चाहिये ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इंद्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग शीघ्र न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अर्थात् प्राणको अपने शरीरके सब अवयवोंमें कार्य करने योग्य बनाना चाहिये। यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे होती है। जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढाते उनकी किसी अवयवमें प्राणशक्ति नहीं कार्य करती। ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है। कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है। यही कमजोरी आयुको क्षीण करती है।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये नव धागे उष्णतासे इकट्ठे हुए शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं। इस यज्ञोपवीतके नव धागोंमें निम्न लिखित नव देवतायें रहती हैं—

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च। आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ (मं. २)

' भूमि-अग्नि-आपः, अन्तरिक्ष-चन्द्रमा-दिशा; और द्यौः-सूर्य-ऋतु ये नव देवताएं इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। '

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और द्युस्थानीय तीन देव, ये सब नव देव यज्ञोपवीतके नव धागोंमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करें। यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट की गई है। यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपना कर्तव्य करना है। यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बडी भारी जिम्मेवारीका कार्य है। तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह त्रिवृत्त सूत्र धारण किया जाता है। इस संबंधसे अपना उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये। जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत यज्ञोपवीत नहीं रहता। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको इस मंत्रका उपदेश अपने मनमें अवश्य धारण करने योग्य है। इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियां हैं, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

त्रयः पोषाः त्रिवृति श्रयन्ताम्।
अन्नस्य भूमा। पुरुषस्य भूमा। पशूनां भूमा। (मं. ३)

' तीन पुष्टियां इस तिहरे यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें। अन्नकी विपुलता, अनुयायी मनुष्योंकी विपुलता, और पशुओंकी विपुलता ' ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें।

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले यज्ञ करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं और संगठन होकर मनुष्योंकी संघ शक्ति बढती है, यज्ञके कारण पर्जन्यादि ठीक रीतिसे होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है, और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लिये गौ आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियां बढाई जाती हैं, इस कारण पशुओंकी भी उन्नति होती है। ये तीनों लाभ यज्ञसे होते हैं और यज्ञका अधिकार इस यज्ञोपवीतसे प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञोपवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' आदित्यसे शक्ति, अग्निसे वृद्धि और इन्द्रसे वीर्य प्राप्त हो ' और इस त्रिवृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकारसे पोषण होवे। इस यज्ञोपवीतके एक एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति विद्यमान है, इसलिये जो मनुष्य इस भावनासे यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

भूमिः हरितेन पातु।
अग्निः अयसा पिपर्तु।
अर्जुनं वीरुद्भिः दक्षं दधातु ॥ (मं. ५)

' भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या तांबेके धागेसे अग्नि पूर्णता करे, तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी सहायतासे बल धारण होवे। ' इस प्रकार ये तीन देव यज्ञोपवीतके तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं। अर्थात् यज्ञोपवीत केवल सूत्रका ही बना नहीं है, प्रत्युत वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना है, यह भाव यहां देखने योग्य है। जो यज्ञोपवीतको केवल धागा ही समझते हैं वे उसके महत्त्वको नहीं जानते। जो सुवर्ण, चांदी और तांबेसे अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको धारण करेंगे उनको तो निःसन्देह विद्युत्संचार शरीरमें होनेके कारण बडा लाभ होगा ही, परंतु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करनेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत भी धारण करें, परंतु वह धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इसके मनोबल द्वारा आकर्षित हुई उक्त देवताएं इसकी अवश्य सहायता करेंगी।

षष्ठ मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद कहे हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधीका रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है। यज्ञोपवीत धारियोंको उचित है कि वे इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य बढावें और ऊर्ध्वरेता बनें। शरीरपोषणके लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल फलका ही सेवन करें

और उसके साथ दूध, घृत आदि हविष्य पदार्थोंका ही सेवन करें, अर्थात् मद्यमांसादिका सेवन न करें। और तीसरा सोना अर्थात् धन आदि प्राप्त करें। ये तीनों पदार्थ इस मंत्रमें उपलक्षण रूप हैं और इनसे 'वीर्य, अन्न और धन' का बोध मुख्यतया होता है। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको उचित है कि वे इन तीनोंका उचित प्रमाणसे उपार्जन करें। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंके ऊपर इतने कार्यका भार रखता है।

मनुष्यमें बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थाएं हैं, यज्ञोपवीतके तीन धागोंसे इन तीन अवस्थाओंका बोध होता है। इन तीन अवस्थाओंमें ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेसे यज्ञोपवीत धारण करना सार्थक होता है। यह बात सप्तम मंत्रके '**त्र्यायुषं**,' '**त्रीणि आयूंषि ते अकरं**' (मं. ७) इन शब्दोंसे व्यक्त होती है। बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीन आयुकी अवस्थाएं तीन आयु नामसे इस मंत्रमें कही हैं। जिस प्रकार सारे यज्ञोपवीतमें एक ही धागा तीनों सूत्रोंमें परिणत हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यके धर्माचरणका एक ही धागा पूर्वोक्त तीनों आयुओंमें आयुरूप हो जाना चाहिये।

ओंकारकी तीन शक्तियां।

एक ही 'ओं' रूपी अक्षरमें 'अ-उ-म्' ये तीन महाशक्तियां रहती हैं, '**त्रयः... एकाक्षरं... आयन्**' (मं. ८) तीन शक्तियां एक ही अक्षरमें बसतीं हैं। ये तीनों शक्तियां मृत्युको दूर करतीं हैं और अनिष्ट दुःखादिकोंको हटातीं हैं। ओंकारनामक एक ही अक्षरमें अकार-उकार-मकार नामक तीन शक्तियां हैं। ये तीन अक्षर यज्ञोपवीतके तीन सूत्र समझिये। जिस प्रकार इन तीनों अक्षरोंके एकरूप संयोगसे ओंकार रूप महानाद उत्पन्न होता है; उसी प्रकार तीनों सूत्रोंसे मिलकर एक यज्ञोपवीत होता है। इसलिये यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियोंका बोध करता है। अ-उ-म इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति' ये तीनों अवस्थाएं बोधित होती हैं। मनुष्यका संपूर्ण जीवन इन तीन अवस्थाओंमें व्याप्त है, मानो मनुष्यका जीवन रूपी जो एक महायज्ञोपवीत है उसके तीन धागे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये ही तीन हैं। इनको यज्ञरूप बनानेका कार्य यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको अवश्यमेव करना चाहिये। अ-उ-म के अनेक अर्थ हैं, उनका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस यज्ञोपवीत द्वारा कितने शुभ कर्मोंको करनेका भार यज्ञोपवीत धारियोंपर रखा गया है। विस्तार होनेके भयसे हम इन अक्षरोंके तत्त्वज्ञानका विचार यहां करके लेखका विस्तार बढाना नहीं चाहते। ओंकारके ऊपर बहुतसे ग्रंथ निर्माण हुए हैं, यदि पाठक उनके आशयको यहां विचारार्थ ध्यानमें लायेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस मंत्रने कितना महत्त्व पूर्ण उपदेश किया है।

देवोंके नगर।

हरितं दिवः पातु। अर्जुनं मध्यात् पातु।
अयस्मयं भूम्याः पातु॥ (मं. ९)

'सुवर्णका द्युलोकसे, चांदीका मध्य भागसे और लोहेका भूमि स्थानसे रक्षा करे।' इस मंत्रमें शरीरके तीनों भागोंका रक्षण करनेका कार्य तीन धातुओंसे निर्मित तीन धागे करें ऐसा कहा है। शरीरमें द्युलोक सिरमें, मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष लोक नाभिमें और भूलोक पावमें है। इसलिये सिरपर सुवर्ण, मध्यभागमें चांदी और पांवमें लोहा रखनेके समान यह एक ही (**त्रिवृत्**) तिहरा यज्ञोपवीत धारण करनेवालेकी रक्षा करे। '**अयस्**' शब्दका अर्थ यद्यपि यहां हमने लोहा ऐसा किया है तथापि सुवर्ण और चांदीसे कुछ भिन्न अन्य धातु ऐसा लेनेसे किसी अन्य धातुका बोधक यह शब्द हो सकता है। यह कौनसी धातु है इस विषयमें खोज करनी आवश्यक है। लोहा, तांबा या कुछ अन्य धातु यहां अपेक्षित है जिसके आभूषण बन सकते हैं।

तिस्रः देवपुराः त्वा सर्वतः रक्षन्तु।
त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी द्विषतां उत्तरः भव॥ (मं. १०)

'यज्ञोपवीतके ये तीन धागे (**देव-पुराः**) देवोंके, मानो, नगर ही हैं, इनमें दैवी शक्ति भरी है, इसलिये ये सब प्रकार तेरी रक्षा करें। तू उन तीनोंको धारण करके (**वर्चस्वी**) तेजस्वी बन और शत्रुओंकी अपेक्षा अधिक ऊंचे स्थानपर आरूढ हो।'

यज्ञोपवीतके तीन धागे ये केवल धागे नहीं हैं, ये देवोंके नगर ही हैं, अर्थात् इनमें अनंत दैवी शक्तियां भरी हैं। जो इस श्रद्धासे इस त्रिवृत यज्ञोपवीतको धारण करेगा वह तेजस्वी होगा और उसके तेजके प्रभावके कारण उसके सब शत्रु नीचे हो जायेंगे।

यह देवोंकी शक्तियोंसे परिपूर्ण त्रिवृत् यज्ञोपवीत जो मनुष्य अपने शरीरपर धारण करता है, (**यः देवानां अमृतं आवेधे**) जो इस देवोंके अमृतको अपने शरीरपर धारण करता है (**तस्मै नमः कृणोमि**। मं. ११) उसको नमस्कार करता हूं। अर्थात् जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं वे नमस्कार करने योग्य हैं। यह सूत्र धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है। इतने

महत्त्वका यह यज्ञोपवीत होनेके कारण इसके धारण करनेका अधिकार तब प्राप्त हो सकता है, जब कि श्रेष्ठ लोग धारण करनेकी अनुमति देवें—

त्रिवृत् मे आवेधे। अनुमन्यताम्। (मं. ११)

'यह (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत अपने शरीरपर मैं बांधता हूं अथवा धारण करता हूं, इस लिये मुझे अनुमति दीजिये।' आप जैसे श्रेष्ठ लोगोंकी अनुमति होने पर ही मैं धारण कर सकता हूं, इस लिये आप अनुमोदन कर मुझे कृतार्थ कीजिये। इस प्रकारकी प्रार्थना पहिले की जाय, तत्पश्चात् महाजनोंकी आज्ञा मिलनेके अनन्तर ही वह मनुष्य यज्ञोपवीत अपने शरीरपर धारण करे। जिसके मनमें आवे वह मनुष्य एकदम इस यज्ञोपवीतको धारण नहीं कर सकता। महाजन, महात्मा श्रेष्ठ लोग जिसको आज्ञा देवें, अर्थात् पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा सूचित हुए कर्तव्य करनेमें जो पुरुष समर्थ हो उसीको वे आज्ञा देवें, और वही पुरुष यज्ञोपवीत धारण करे। ऐसा करनेसे यज्ञोपवीतका महत्त्व स्थिर रह सकता है। विना योग्यताके यदि मनुष्य धारण करेगा, तो उसका वह केवल सूत्र ही होगा, परंतु पूर्वोक्त प्रकार जिसने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है, उसके शरीर पर धारण किया हुआ यह यज्ञोपवीत देवोंके नगरोंके समान अनंत दिव्य शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। यज्ञोपवीतको केवल सूतका धागा बनाना, अथवा उसको दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बनाना, इस प्रकार मनुष्य समाजके आधीन है।

न्याय, पुष्टि और ज्ञान।

इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके तीन सूत्र '**अर्यमा, पूषा और बृहस्पति**' (मं. १२) इन तीन देवताओंके साथ संबंध रखते हैं। '**अर्यमा**' = (**अर्यं मिमीते**) श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसका निश्चय जो करता है, उसको अर्यमा कहते हैं। पुष्टि करनेवालेका नाम 'पूषा' होता है, और ज्ञानीका नाम 'बृहस्पति' है। अर्थात् इन तीन धागोंसे ज्ञान, पोषण और न्यायकारिता इन तीन दैवी गुणोंकी सूचना मिलती है। जो यज्ञोपवीत धारण करना चाहते हैं, वे मानो, इन तीन गुणोंको अपने जीवनमें डालनेके उत्तरदाता हैं। देखिये यज्ञोपवीतने कितनी बडी भारी कर्तव्यदक्षता मनुष्य पर रखी है। जो ये कर्तव्य पालन करेंगे वे ही यज्ञोपवीत धारणके अधिकारी होते हैं।

जिस प्रकार एक वर्षमें छः ऋतु होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी संपूर्ण आयुमें छः ऋतु होते हैं। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी मानी है उसमें प्रायः बीस वर्षोंका एक एक ऋतु होता है। आयु कम माननेपर कम वर्षोंका भी ऋतु हो सकता है। इन ऋतुओं द्वारा आयु, बल और तेजकी प्राप्ति करनेके कर्तव्य यज्ञोपवीत द्वारा सूचित होते हैं, यह कथन तेरहवें मंत्रका है।

मनुष्यकी आयुमें जो छः ऋतु होते हैं, उन सब ऋतुओंमें अर्थात् मनुष्य अपनी आयुभरमें ऐसा यत्न करे कि जिससे उसको तेज और बल प्राप्त होकर दीर्घजीवन भी प्राप्त हो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करने द्वारा यह सब हो सकता है। इस लिये इस मंत्र द्वारा ये तीन गुण अपनेमें बढानेकी सूचना मिली है। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र तेज, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी सूचना देते हैं, यह बात तेरहवें मंत्रसे मिलती है। पाठक यह उपदेश ठीक प्रकार ध्यानमें रखें और उचित अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

अन्तिम चौदहवें मंत्रमें इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके कौनसे विशेष गुण हैं, इसके धारण करनेसे कौनसे लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन किया है। वे गुणबोधक शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

यज्ञोपवीतसे लाभ।

१ **पारयिष्णु**— दुःखोंसे पार करनेवाला, कष्टोंसे बचानेवाला,

२ **अ-च्युतं**— न गिरनेवाला अथवा न गिरानेवाला, इसके पहननेसे मनुष्य गिरावटसे बच सकता है,

३ **भूमि- दृंहं**— मातृभूमिको बलवान् बनानेवाला,

४ **सपत्नान् भिन्दत्**— शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ **अधरान् कृण्वत्**— वैरियोंको नीचे करनेवाला, दुष्टोंको हीनबल करनेवाला,

६ **मधुना समक्तं**— सब मधुरतासे युक्त, मधुरताको देनेवाला,

७ **घृतात् उल्लुप्तं**— घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ देनेवाला और पोषण करनेवाला, इस प्रकारका सामर्थ्यशाली यह यज्ञोपवीत है इसलिये हे यज्ञोपवीत! तू—

८ **महते सौभगाय मा आरोह**— बडे सौभाग्यके लिये मेरे शरीरपर आरोहण कर, अर्थात् मेरे शरीरपर चढ कर विराजमान् हो।

हर एक द्विजको उचित है कि वह इस प्रकारकी भावनासे और पूज्य भावसे यज्ञोपवीत पहने और अपने कर्तव्यकर्म करके अपनी उन्नतिका साधन करे।

यज्ञोपवीतकी यह महिमा है। पाठक इसका विचार करें और इस यज्ञोपवीत धारणसे अपना भाग्य बढावें। यज्ञोपवीतकी महिमा बढे और यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंसे सब जगत्का कल्याण होवे।

रोग-क्रिमि-निवारण ।

(२९) रक्षोघ्नम् ।

(ऋषिः — चातनः । देवता — जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥
तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥
यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥
अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

अर्थ — हे जातवेद अग्ने ! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भेषजस्य कर्ता असि) औषधका करनेवाला है। (पुरस्तात् युक्तः वह) पहिलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा । (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसा यह कार्य किया जा रहा है उसको तू जान। (त्वया गां अश्वं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नीरोग अवस्थामें हम प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैसा प्रबंध कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह मर्यादा गिर जावे, (यः नः दिदेव) जो हमें पीडा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैसा आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सब सीमा नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (अक्ष्यौ नि विध्य) इसके आंखोंको छेद डाल, (हृदयं नि विध्य) हृदयको वेध डाल, (जिह्वां नितृन्द्धि) जिह्वाको काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दांतोंको भी तोड डाल । हे (यविष्ट) बलवाले ! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्त भक्षकने खाया है (तं प्रति शृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी वैद्य ! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है । रोगनिवारणके उपाय जो यहां किये जाते हैं वे ठीक हैं वा नहीं, इसका निरीक्षण कर । तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम नीरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकें ॥ १ ॥

तू जल, औषधि, वायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबंध कर कि जिससे पीडा देनेवाले और मांसको क्षीण करनेवाले रोगजन्तुओंकी शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो जावे ॥ २-३ ॥

जिस मांसभक्षक रोगक्रिमीने इसके मांसको खाया है, उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥ ४ ॥

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥
आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥
क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ७ ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ— हे विद्वन् अग्ने! (**पिशाचैः अस्य आत्मनः**) मांसभक्षकों द्वारा इसके अपने शरीरका (**यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं**) जो भाग हरा गया, छीना गया और जो लूटा गया है और (**यतमत् जग्धं**) जो भाग खाया गया है, (**त्वं तत् पुनः आ भर**) तू वह फिर भर दे। और (**शरीरे मांसं असुं आ ईरयामः**) शरीरमें मांस और प्राणको स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

(**यः पिशाचः आमे सुपक्वे**) जो मांसभोजी क्रिमि कच्चे, अच्छे पके, (**शबले विपक्वे अशने मा ददम्भ**) आधे पके, विशेष पके भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे हानि पहुंचाता है, (**तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः**) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांसभोजी क्रिमी (**वि यातयन्तां**) हटाये जांय। और (**अयं अगदः अस्तु**) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

(**यतमः क्षीरे मन्थे अकृष्टपच्ये धान्ये**) जो दूधमें, मठेमें, बिना खेतीके उत्पन्न हुए धान्यमें तथा (**यः अशने मा ददम्भ**) जो भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे दबाता है। (**तत् आ०**) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हट जावे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(**यतमः क्रव्यात्**) जो मांसभक्षक क्रिमि (**अपां पाने**) जलके पान करनेमें और (**यातूनां शयने शयानं**) यात्रियोंके बिछोनेपर सोते हुये (**मा ददम्भ**) मुझको दबा रहा है (**तत् आ०**) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटाया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(**यतमः क्रव्यात्**) जो मांसभोजी क्रिमि (**दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मां ददम्भ**) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके शयन स्थानमें सोते हुए मुझको दबाता है (**तत् आ०**) वह अपनी संततिके साथ दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

भावार्थ— मांसभक्षक रोगक्रिमियोंने इस रोगीके जो जो अवयव क्षीण किये हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीरमें पुनः मांसकी वृद्धि होवे ॥ ५ ॥

जो शरीर क्षीण करनेवाला क्रिमि कच्चे, आधे पके, पक्के और अधिक पके हुए भोजनमें प्रविष्ट होकर सताते हैं, उनका समूल नाश किया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ६ ॥

दूध, छाछ, धान्य तथा अन्य भोजनके पदार्थों द्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगक्रिमि सताते हैं उनको दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसक्षीण करनेवाले कृमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ८ ॥

जो कृमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानन दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥
समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम् । गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥
सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् । अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥
एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः । तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥
तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा । जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥१५॥ (२७४)

अर्थ— हे जातवेद अग्ने ! (**क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि**) मांसभक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले, रक्त खानेवाले, क्रिमिको नाश कर । (**वाजी इन्द्रः तं वज्रेण हन्तु**) बलवान् इन्द्र उसको वज्रसे मार देवे, (**धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु**) निर्भय सोम इसका सिर काट देवे ॥ १० ॥

हे अग्ने ! (**यातुधानान् सनात् मृणसि**) पीडा देनेवाले क्रिमियोंको तू सदा नष्ट करता है । (**त्वा रक्षांसि पृतनासु न जिग्युः**) तुझे राक्षस संग्रामोंमें पराभूत नहीं करते । (**सह-मूरान् क्रव्यादः अनु दह**) समूल मांसभक्षकोंको जला दे । (**ते दैव्यायाः हेत्या मा मुक्षत**) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

हे जातवेदः ! (**अस्य यत् हृतं यत् पराभृतं**) इसका जो भाग हर लिया और नष्ट कर लिया है उस भागको (**समाहर**) पुनः ठीक प्रकार भर दे । (**अस्य गात्राणि वर्धन्तां**) इसके अंग पुष्ट हो जावें, (**अयं अंशुः इव आप्यायतां**) यह मनुष्य चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

हे जातवेदः ! (**अयं सोमस्य अंशुः इव आप्यायतां**) यह मनुष्य चंद्रमाकी कलाके समान बढे । हे अग्ने ! इसे (**विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कुरु**) निर्दोष, पवित्र व नीरोग कर और यह (**जीवतु**) जीवित रहे ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! (**एताः ते समिधः पिशाचजम्भनीः**) ये तेरी समिधाएं मांस खानेवाले रोगक्रिमियोंको दूर करनेवाली हैं । हे जातवेद ! (**त्वं ताः जुषस्व**) तू उनका सेवन कर और (**एनाः प्रति गृहाण**) इनको स्वीकार कर ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! (**तार्ष्ट-अघीः समिधः अर्चिषा प्रति गृह्णाहि**) तृषारोगका शमन करनेवाली इन समिधाओंको तू अपनी ज्वालाओंसे स्वीकृत कर । (**यः अस्य मांसं जिहीर्षति**) जो इसके मांसको क्षीण करना चाहता है वह (**क्रव्यात् रूपं जहातु**) मांसभोजी इसके रूपको छोड देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ— रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमि हैं, उनको इन्द्र और सोमके प्रयोगसे दूर किया जावे ॥ १० ॥

अग्नि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमि अग्निको परास्त नहीं कर सकते । अतः अग्निद्वारा इन रोगक्रिमियोंका कुल समूल नाश किया जावे ॥ ११ ॥

इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा बढता है उस प्रकार यह बढे ॥ १२ ॥

चन्द्रमाकी कलाके समान यह बढे, यह रोगी दोष रहित, पवित्र व निरोग होवे और दीर्घ कालतक जीवित रहे ॥ १३ ॥

जो समिधाएं यज्ञमें होमी जाती हैं वे रोगक्रिमियोंका नाश करनेवाली हैं। इनको जलाकर अग्निद्वारा ये रोगक्रिमि दूर हों ॥१४॥

जो क्रिमि रोगीके मांसको क्षीण करते हैं उनका पूर्ण रीतिसे नाश होवे । इन समिधाओंको जलाकर प्रदीप्त की हुई अग्नि इन रोगक्रिमियोंका नाश करे ॥ १५ ॥

रोगोंके कृमि।

इस सूक्तमें रोगजन्तुओंका वर्णन है। कुछ जातीके कृमि हैं जो शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और विविध यातनाएं उत्पन्न करते हैं, मनुष्यको इनसे बडे क्लेश होते हैं। इन क्रिमियोंको दूर करनेका साधन इस सूक्तमें बताया है। यह साधन वैद्य, औषधि और अग्नि है। इस सूक्तमें इन क्रिमियोंका जो वर्णन है वह पहिले देखिये—

(१) **यः दिदेव**— जो शरीरमें पीडा देते हैं, जिनके कारण शरीर मथित हुए समान अशक्त होता है, अवयव टूट जानेके समान जिसमें अशक्तता आती है। (मं. ३)

(२) **यतमः जघास** — जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है। (मं. ३-४)

(३) **पिशाच्**— (पिशिताच्) मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला। जो रोगक्रिमि शरीरमें घुसनेके बाद रक्त, मांस आदि धातु क्षीण होने लगते हैं। (मं. ४-१०)

(४) **हृतं, विहृतं, पराभृतं, जग्धं** — शरीरके रक्तमांसका हरण करते हैं, विशेष प्रकार लूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, और खा जाते हैं। (मं. ५)

(५) **क्रव्याद्**— (क्रवि-अद्) जो शरीरका कच्चा मांस खाते हैं। (मं. ८-११)

(६) **रुधिरः**— यह रक्तरूप होता है, रक्तमें मिल जानेवाला है, रक्तमें रहता है। (मं. ११)

(७) **मनोहनः**— मनकी मननशक्तिका नाश करता है। जब ये रोगक्रिमि शरीरमें जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है। (मं. १०)

(८) **यातुधानः**— (यातु) यातना (धानः) धारण करनेवाला। ये क्रिमि शरीरमें गये तो रोगीको यातनाएं होती हैं। (मं. ११)

(९) **रक्षः**— (क्षरणः) क्षीण करनेवाला। (मं. ११)

ये सब शब्द रोगजन्तुओंके गुण बताते हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करके रोगक्रिमियोंका स्वरूप जानें और उनसे होनेवाले रोगोंके कष्टोंका विचार करें। ये क्रिमि किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं, इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्तुओंका शरीरमें प्रवेश।

आमे, शवले सुपक्के, विपक्के, अकृष्टपच्ये धान्ये, अशने, क्षीरे, मन्थे, अपां पाने, यातूनां शयने ददम्भ। (मं. ६-८)

दिवा नक्तं ददम्भ। (मं. ९)

'कच्चा, आधे पका, अच्छा पूर्ण पका, अधिक पका जो अन्न होता है, खेतीके विना जो उत्पन्न होता है वह धान्य आदि पदार्थोंका भोजन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदिका पान करना, और अमंगल लोगोंके बिस्तरेपर सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमि दिनमें तथा रात्रीमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। यही बात अन्य रीतिसे यजुर्वेदमें आ गई है। देखिये—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजु. १६।६२)

'जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थ्यको वेध डालते हैं।' अर्थात् बीमार करते हैं। इसी मंत्रका स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं। पाठक इस दृष्टिसे यजुर्वेद मंत्र और अथर्ववेद मंत्रकी तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें।

आरोग्य प्राप्ति।

उक्त प्रकार रोगकृमि शरीरमें जाते हैं, फिर वहांसे उनको किस रीतिसे हटाना होता है इसका विचार अब करना है। इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः भिषक्। भेषजस्य कर्ता। क्रियमाणं अग्रे वेत्ति। (मं. १)

'सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है। किया जानेवाला प्रयोग पहिलेसे जानता है।' इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे। यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पताति। (मं. २, ३)

'सब देवोंसे सहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड डालता है।' इस प्रकार उसकी मर्यादा गिरानेके पश्चात् रोगकी जड स्वयं नष्ट हो जाती है। देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक देवताकी शक्तिसे जो चिकित्सा हो सकती है वह चिकित्सा करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना। मृत्तिका-चिकित्सा-जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सौरचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानसचिकित्सा, हवनचिकित्सा आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी सहायतासे होती हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है। चिकित्सक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है। इस प्रकार—

तं प्रतिश्रणीहि। (मं. ४)
अयं अगदः अस्तु। (मं. ५-९)

' उस रोगक्रिमिका नाश कर। और यह मनुष्य नीरोग हो जावे। और—

विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु। जीवतु। (मं. १३)

' इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर। यह मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे। ' वैद्यको उचित है कि वह रोगीकी ऐसी चिकित्सा करे कि रोगीके शरीरके सब दोष दूर हो जांय, रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे यक्ष्म रोग हट जावे। केवल रोगको रोकनेवाले वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही। इस लिये शरीर निर्दोष और मलरहित करके रोगका बीज दूर करना चाहिये। चौदहवें मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधः। (मं. १४)

' इन खून सुखानेवाले कृमियोंका नाश करनेवाली समिधाओंका वर्णन है। ' यज्ञीय वृक्षोंकी लकडियोंका यह गुण है। हवन सामग्रीको साथ रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है। हवन चिकित्साका यह तत्त्व है, पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकारकी चिकित्सासे—

गां अश्वं पुरुषं सनेम। (मं. १)

' गौवें, घोडे और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं। '

ग्यारहवें मंत्रमें अग्निचिकित्सासे इन रोगजन्तुओंको दूर करनेका संकेत है। जहां ये क्रिमि होते हैं वहां अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे वहांका स्थान नीरोग होता है।

संसर्ग रोग।

कई रोग एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं, मलीन लोगोंके बिस्तरेमें (**शयने शयानं**) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं। संसर्गके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संसर्ग दोष दूर होता है। मिलकर हवन करनेसे भी इसी कारण संसर्ग दोष दूर होता है।

रोग हटनेका लक्षण।

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर। असुं पेरयामः। (मं. ५)
सोमस्य अंशु इव आप्यायतां। (मं. १२, १३)

' शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना। ' यह नीरोगताका चिन्ह है। चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लगा तो समझना कि यह मनुष्य नीरोग है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार विचार करके बोध प्राप्त करेंगे।

दीर्घायुकी प्राप्ति।

(३०) दीर्घायुष्यम्।

(ऋषिः — उन्मोचनः (आयुष्कामः)। देवता — आयुष्यम्।)

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः आवतः) तेरे दूरसे दूरसे भी (ते असुं दृढं बध्नामि) तेरे अंदर प्राणको मैं दृढ बांधता हूं। (इह एव भव) यहां ही रह। (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजोंके पीछे न जा, (मा पितॄन् अनु गाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे रोगी! तेरे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूं। तू इस मनुष्य लोकमें दीर्घकाल तक रह। मरे हुए पूर्वजोंके पीछेसे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥
यद्दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ३ ॥
यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥
यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः। प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥
अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

अर्थ— (यत् स्वः पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेरुः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उसके लिये मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे (उभे उन्मोचन-प्रमोचने वदामि) दोनों छूटने और दूर रहनेकी विद्या कहता हूं ॥ २ ॥

(यत् स्त्रियै पुंसे अचित्त्या दुद्रोहिथ) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे बिना जाने द्रोह किया है अथवा (शेपिषे) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं मैं तुझे कहता हूं ॥ ३ ॥

(यत् मातृकृतात् एनसः) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृतात् च शेषे) यदि पिताके लिये पापसे (शेषे) तू सोता है (वाचा०) तो वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं तुझे कहता हूं ॥ ४ ॥

(यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत् ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भ्राता च सर्जतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर; (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला मैं तुझको करता हूं ॥ ५ ॥

हे (पुरुष) मनुष्य ! (सर्वेण मनसा सह इह एधि) संपूर्ण मनके साथ यहां रह। (यमस्य दूतौ मा अनु गाः) यमके दूतोंके पीछे मत जाओ। (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥

(उदयनं पथः विद्वान्) ऊपर चढनेके मार्गको जानता हुआ (अनुहूतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहां आ (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमणं अयनम्) प्रत्येक जीवित मनुष्यका चढना और आक्रमण करना ये दो गतियां हैं ॥ ७ ॥

(मा बिभेः, न मरिष्यसि) मत डर, तू कभी नहीं मरेगा। (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं। (तव अङ्गेभ्यः अङ्गज्वरं यक्ष्मं अहं निरवोचं) तेरे अङ्गोंसे शरीरके ज्वरको और क्षय-रोगको मैं बाहर निकाल देता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— जो तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य, जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं– एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

स्त्रीका अथवा पुरुषका द्रोह, माताका पाप और पिताका पाप, आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी ये ही दो उपाय हैं ॥ ३-४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन, आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्ण शक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे। कोई मनुष्य यमदूतोंके वशमें न जावे, और इस शरीर-में– अर्थात् जीवात्माकी नगरीमें– दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

उन्नतिका मार्ग जानना चाहिये। अर्थात् मनुष्य आरोग्य की उन्नति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥ ७ ॥

हे रोगी ! तू मत डर, तू मरेगा नहीं। तेरी पूर्ण आयु बनाता हूं। तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूं ॥ ८ ॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥
अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ ११ ॥
नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥
एतु प्राण एतु मन एतु चक्षुरथो बलम्। शरीरमस्य सं विदां तत्पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥
प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

अर्थ— (अङ्गभेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है (वाचा साढः यक्ष्मः) वचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (श्येन इव परस्तरां प्रापप्तत्) श्येनपक्षीकी तरह परे भाग जावे ॥ ९ ॥

(बोधप्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं। (अस्वप्नः यः च जागृविः) एक निद्रारहित है और दूसरा जागता है। (तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

(अयं अग्निः उपसद्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है। (इह ते सूर्यः उदेतु) यहां तेरे लिये सूर्य उदय होवे। (गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे, काले, अन्धकाररूपी मृत्युसे भी (परि उदेहि) परे उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है। (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे। (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिये नमस्कार है। (यः उत्पारणस्य वेद) जो पार करना जानता है (तं अग्निं अस्मै अरिष्ट-तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणवृद्धिके लिये आगे धर देते हैं ॥ १२ ॥

(प्राणः आ एतु) प्राण आवे, (मनः आ एतु) मन आवे, (चक्षुः अथो बलं) आंख और बल आवे। (अस्य शरीरं विदां सं एतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले। (तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु) वह पावोंसे प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने! (प्राणेन चक्षुषा सं सृज) प्राण और चक्षुसे संयुक्त कर। (तन्वा बलेन इमं सं सं ईरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर। (अमृतस्य वेत्थ) तू अमृतको जानता है। (मा नु गात्) तेरा प्राण न चला जावे। (भूमिगृहः मा नु भुवत्) भूमिको घर करनेवाला न हो अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

भावार्थ— शरीरका दुखना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और क्षयरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥ ९ ॥

तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो मानो ऋषि हैं। एक सुस्ती आने नहीं देता और दूसरा जगा देता है। ये तेरे प्राण-रक्षक हैं, ये दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

यहां प्राणाग्निकी तुम्हें उपासना करनी चाहिये। इससे तेरे अन्दर आत्मारूपी सूर्य प्रकाशित होता रहे। ऐसा करनेसे गूढ अन्धकाररूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

यम और मृत्युके लिये नमस्कार है, तथा जो मृत्युके पश्चात् ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है। मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियां शरीरमें फिरसे निवास करें और यह शरीर अपने पांवसे खडा रह सके ॥ १३ ॥

यह प्राण और चक्षुकी शक्तियोंसे युक्त हो। शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे। अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

मा ते॑ प्राण उप॑ दसन्मो अ॑पानोऽपि॑ धायि ते । सूर्य॒स्त्वाधि॑पतिर्मृ॒त्योरु॒दाय॑च्छतु र॒श्मिभिः॑ ॥ १५ ॥
इ॒यम॒न्तर्व॑दति जि॒ह्वा ब॒द्धा प॑निष्प॒दा । त्वया॒ यक्ष्मं॒ निर॑वोचं श॒तं रोपी॑श्च त॒क्मनः॑ ॥ १६ ॥
अ॒यं लो॒कः प्रि॒यत॑मो दे॒वाना॒मप॑राजितः । यस्मै॒ त्वमि॒ह मृ॒त्यवे॑ दि॒ष्टः पु॑रुष ज॒ज्ञिषे ।
स च॒ त्वानु॑ ह्वयाम॒सि मा पु॒रा ज॒रसो॑ मृथाः ॥ १७ ॥ (३६४)

अर्थ— (ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे। (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान न आच्छादित होवे। (अधिपतिः सूर्यः रश्मिभिः त्वा उदायच्छतु) अधिपति सूर्यकिरणोंसे तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः बद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अन्दर बंधी हुई जिह्वा (वदति) बोलती है। (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (तक्मनः च शतं रोपीः) ज्वरकी सौ प्रकारकी पीडा (निः अवोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अयं अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है। (यस्मै मृत्यवे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युको निश्चित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहां उत्पन्न होता है। (सः च त्वा अनु ह्वयामसि) वह और तुझे बुलाते हैं। और कहते हैं कि (जरसः पुरा मा मृथाः) बुढापेसे पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ— तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहे। सूर्य अपनी किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे अर्थात् जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वाक्शक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तू देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू वृद्धावस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु।

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं। पाठक इनका मनन करेंगे, तो उनको बहुत लाभ हो सकता है। यहां दीर्घायुके विषयमें मुख्य प्रश्न आत्मविश्वासका है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु।

इह एव भव, पूर्वान् पितॄन् मा अनुगाः।
ते असुं दृढं बध्नामि। (मं. १)

'यहां अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र न मर। तेरे शरीरमें प्राणोंको दृढतासे बांधता हूं।' ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता रहे हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घ आयु होनेमें सहायता होती है। 'तू मत मर जा' यह उसीको कहा जा सकता है, कि जिसके आधीन शीघ्र या देरीसे मरना हो। यदि मनुष्यके आधीन यह बात न होगी, तो 'इस समय न मर, वृद्धावस्थाके पश्चात् मर' इत्यादि आज्ञायें व्यर्थ होंगी। ये आज्ञाएं कंठरवसे कह रहीं हैं, कि मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर मृत्युको शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना अवलंबित है। मैं शीघ्र न मरूंगा, मैं दीर्घायु होऊंगा, मैं अपनी आयु धर्मकार्यमें समर्पण करूंगा' इस प्रकारकी मनकी सुदृढ भावना रही, तो सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी, परंतु यदि कोई विश्वकी क्षणभंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षणभंगुर बनेगा। आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायु प्राप्तिके अनुष्ठानोंकी बुनियाद है। अन्य अनुष्ठान तब सिद्ध हो सकते हैं, जब कि यह बुनियाद ठीक सुदृढ हुई हो।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'उन्मोचन और प्रमोचन' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरोगता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है। ये विधि क्या हैं, इसकी खोज करनी चाहिये। इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढानेवाला और दूसरा अकाल मृत्यु हरण करनेवाला है।

कुविचारसे अनारोग्य।

तृतीय मंत्रमें स्त्री पुरुषोंको शाप देना, गालियां देना, अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा है ऐसा कहा है। किसीके साथ द्रोह करना भी घातक है। बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो वैसे हीन विचारके शब्द सुनते हैं उनमें वैसे ही हीन भाव जम जाते हैं। इस

प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये बुरे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ बिगडनेसे ही शरीरमें रोगबीज प्रविष्ट होते हैं और वे रोगबीज उसी कारण वहां स्थिर होते हैं।

मातापिताका पाप।

मातापिताके पापाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः शेषे॥ (मं. ४)

'माता और पिताके किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पडा है।' इस मन्त्रभागमें स्पष्ट कहा है कि बीमारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी है। मातापिताके पापी आचार-व्यवहारके कारण जन्मतः ही लडकेका शरीर निर्बल होता है और बालक जन्मसे ही बीमारियोंका घर बन जाता है। गृहस्थ धर्ममें रहनेवाले लोग इस मंत्रका अवश्य विचार करें, क्योंकि यदि वे कुछ भी पाप करेंगे, तो वे अपने वंशको दुःखमें डालनेके दोषी हो सकते हैं। इससे पता चलता है कि, व्यभिचार, मद्यपान आदि दुष्ट व्यसनोंमें फंसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने वंशजोंको भी बीमारियोंके महासागरमें डाल देते हैं। वेदने यह मंत्र कहकर जनताके स्वास्थ्यके विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है, परंतु पाठकोंको चाहिये कि वे इसका मनन करें और आचरणमें लावें।

पंचम मंत्रमें कहा है कि [**भेषजं सेवस्व। त्वा जरदष्टिं कृणोमि। (मं. ५)**] योग्य औषधिका सेवन कर, इतना पथ्य करेगा तो मैं तुम्हें दीर्घायु बनाता हूं।' संदेह मत कर, तू पथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा।

मानसशक्ति।

षष्ठ मंत्रमें मनकी शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है—

पुरुष! सर्वेण मनसा सह इह एधि।
यमस्य दूतो मा अनुगाः। जीवपुरा अधि इहि॥
(मं. ६)

'हे मनुष्य! अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ तू यहां रह। यमके दूतोंके पीछे न जा। जीवोंकी पुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह।'

इस मंत्रका संबंध पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही घनिष्ट है। अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ इच्छापूर्वक 'मैं दीर्घायु बनूंगा' ऐसा मनमें निर्धार करना चाहिये। मनकी शक्ति विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी निश्चयसे सिद्धि हो सकती है। मनकी कल्पनासे रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बनता है। बलवान् निर्बल होता है और निर्बल भी सबलके समान कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें सुविचारोंकी धारणा करता हुआ नीरोगतापूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे। हीन विचार मनमें न आने दें। क्योंकि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है। मरनेके विचार कभी मनमें न आने दें। पूर्ण स्वास्थ्यके विचार ही मनमें स्थिर किये जावें।

उन्नतिका मार्ग।

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तदनुसार आचरण करें, आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम '**उदयनं पथः**' है, अर्थात् उच्चतर अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है। इसपरसे '**आरोहणं आक्रमणं**' अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और उसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभदायक है—

उदयनं पथः विद्वान् एहि।
आरोहणं आक्रमणं जीवतः अयनम्॥ (मं. ७)

'उन्नतिके मार्गको जानकर ही इस संसारमें रह। इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हितकारक है।' इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे। इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है—

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि।
(मं. ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो 'तू शीघ्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायु करता हूं।' जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। पाठक! विचार करके देखिये, तो मालूम होगा कि यह मार्ग सीधा है, परंतु मनुष्य प्रलोभनमें पडता है और फंसता है—

मार्गदर्शक दो ऋषि।

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं, ये ऋषि दशम मंत्रमें देखिये—

बोधप्रतिबोधौ ऋषी। अस्वप्नः जागृविः।
तौ प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम्॥
(मं. १०)

'मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो ऋषि हैं। इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। इनमेंसे एक (अ-स्वप्नः) सुप्त नहीं है और दूसरा सदा जागता रहता है। ये ही दो ऋषि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं। अतः ये दिन रात यहां जागते रहें। ' ये दो ऋषि यहां जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है। ज्ञानविज्ञानसे उसको यहांका व्यवहार कैसा करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। ठीक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रखता है और दीर्घायु होता है। व्यक्तिमें और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अथवा ज्ञान और विज्ञान जागते रहें। जबतक इनकी जाग्रति रहेगी तबतक उन्नति होना स्वाभाविक है। इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमसः परि उदेहि। (मं ११)

' गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे ऊपर उठ ' अर्थात् मृत्युके अंधकारमें न फंस और जीवनके प्रकाशमें नित्य रह। यहां पूर्वोक्त दो ऋषियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है। क्योंकि ये ही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं।

मृत्युको दूर करना।

यहां एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि ' मृत्यु अंधकार है ' और ' जीवन प्रकाशमय है। ' यह अनुभव सत्य है। जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभर व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शनैः शनैः छोटा छोटा हो जाता है। जब यह प्रकाशवर्तुल अंगुष्ट मात्र रह जाता है उस समय मनुष्य मरा होता है। मरनेवाले मनुष्यको मरनेसे पूर्व कुछ घण्टे ऐसा अनुभव आता है कि जगत्‌के अंदर व्यापनेवाला प्रकाश अब घरके अंदर ही रहा है और बाहर अन्धकार है। मृत्युको छाया रूप वर्णन किया है इसका कारण यह है। यह कविकल्पना नहीं है परंतु सत्य बात है। अपने आपको अन्धेरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है। प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपने आत्माका ही है बाहरका नहीं।

जीवनका लक्षण।

बारहवें मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युपार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें। बारहवे मंत्रमें यह कहनेके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवनका लक्षण बताया है। ' मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु और बल रहें और यह अपने पांवके बलसे खडा रहे। ' (मं. १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इसीसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है- ' शरीरमें प्राण, मन, आंख और बल न रहे और शरीर अपने पांवपर खडा न रह सके। ' इन शक्तियोंका यहां होना और न होना जीवन और मृत्यु है। और पूर्वोक्त प्रकार मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है।

पाठक इन मंत्रोंका अच्छी प्रकार विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें कही जीवन विद्याका ज्ञान हो सकता है।

घातक प्रयोगको दूर करना।

(३१) कृत्यापरिहरणम्।

(ऋषिः — शुक्रः। देवता — कृत्यादूषणम्।)

यां ते॑ चक्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुनः॒ प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिसको ये कच्चे बर्तनमें करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्रधान्यमें करते हैं, (आमे मांसे यां कृत्यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तां पुनः प्रति हरामि) उसको मैं हटा देता हूं ॥ १ ॥

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ २ ॥
यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ३ ॥
यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ४ ॥
यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ५ ॥
यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।
अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ६ ॥
यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।
दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ७ ॥
यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यां ते कृकवाकौ चक्रुः) जिसको वे पक्षिविशेषमें करते हैं, (यां वा कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको सींगवाले मेंढेमें अथवा बकरेमें करते हैं, (यां कृत्यां ते अव्यां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे भेडीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(यां ते एकशफे चक्रुः) जिसको वे एक खुरवाले पशुमें करते हैं, (पशूनां उभयादति) पशुओंमें जिनको दोनों ओर दांत होते हैं, उनमें जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधेमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

(यां ते अमूलायां चक्रुः) जिसको वे अमूला औषधिमें करते हैं, और (नराच्यां वा वलगं) नराची औषधिमें बल घटानेका जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ४ ॥

(यां ते गार्हपत्ये चक्रुः) जिसको गार्हपत्य अग्निमें करते हैं, (उत दुश्चितः पूर्वाग्नौ) और जिसको बुरी तरहसे प्रज्वलित पूर्व अग्निमें करते हैं तथा (यां कृत्यां शालायां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(यां ते सभायां चक्रुः) जिसको वे सभामें करते हैं, (यां अधि देवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां कृत्यां अक्षेषु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पासोंमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

(यां ते सेनायां चक्रुः) जिसको वे सेनामें करते हैं, (यां इषु-आयुधे चक्रुः) जिसको बाण और धनुष्यपर करते हैं, (यां कृत्यां दुन्दुभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको दुन्दुभी पर करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ७ ॥

(यां कृत्यां ते कूपे अवदधुः) जिस घातक प्रयोगको वे कूएमें करते हैं, (श्मशाने वा निचख्नुः) अथवा जिसको श्मशानमें गाड देते हैं, (यां कृत्यां सद्मनि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको घरमें ही करते हैं, (तां) उसको मैं हटाता हूं ॥ ८ ॥

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥
अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि । अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥
कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् । इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥ (३७६)

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

॥ इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (यां ते पुरुषास्थे चक्रुः) जिसको वे मनुष्यकी हड्डीमें करते हैं, (संकसुके अग्नौ चक्रुः) प्रज्वलित अग्निमें जो करते हैं, (म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं प्रति) चोरीसे प्रज्वलित किये मांस खानेवाले अग्निके प्रति (पुनः तां प्रति हरामि) फिर उसको मैं हटा देता हूं ॥ ९ ॥

(अपथेन एनां आ जभार) कुमार्गसे इस हिंसाको लाया है (तां पथा इतः प्र हिण्मसि) उसको सुमार्गसे यहांसे हटाते हैं (अधीरः मर्या धीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (अचित्त्या सं जभार) विना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ । परन्तु (पादं अंगुरिं शश्रे) उसने ही पांव और अंगुलिको तोड दी है । (अभगः) उस अभागीने तो (अस्मभ्यं भगवद्भ्यः भद्रं चकार) हम सौभाग्यवानोंके लिये तो उसने कल्याण ही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं शपथेय्यं) जडमें दुःख देनेवाले और गालियां देनेवालोंको (महता वधेन हन्तु) बडे वधोपायसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अस्त्रसे वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ— कच्चा बर्तन, मिश्रधान्य, कच्चा मांस, कुक्कवाक पक्षी, मेंढे, बकरी, भेडी, एक खुरवाले पशु, दोनों ओर दांतवाले पशु, गधा, अमूला औषधि, नराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अग्नि, पूर्वाग्नि, घर या कमरा, सभा, खेलका स्थान, पासे, सेना, बाण और धनुष्य, दुन्दुभी, कूवा, स्मशान, घर, पुरुषकी हड्डी, प्रज्वलित अग्नि, मांस जलानेवाला अग्नि आदि स्थानोंमें दुष्ट लोक घातक प्रयोग करते हैं । उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-९ ॥

कुमार्गसे ही यह हिंसक और घातक प्रयोग हुआ करते हैं । यद्यपि दूसरेने कुमार्गसे ऐसे प्रयोग किये, तो भी उनको ठीक प्रकार दूर करनेका उपाय हमें करना ही चाहिये। मनुष्य स्वयं उपाय न जानता हो, तो ज्ञानी पुरुषोंसे उपायको जान सकता है ॥ १० ॥

जो दूसरेकी हिंसा करनेका यत्न करता है वह दूसरेकी हिंसा करनेके पूर्व अपनी ही करता है । जो दूसरेकी हिंसा करना चाहता है वह अभागी है, उससे ईश्वरभक्त होनेसे जो भाग्यवान् होते हैं उनका कल्याण ही होता है ॥ ११ ॥

ईश्वर ही नीच मनुष्योंको दण्ड देवे ॥ १२ ॥

[इस सूक्तका विषय संदिग्ध होनेसे इसका विशेष स्पष्टीकरण करना कठिन है । यह खोजका विषय है ।]

यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

॥ पञ्चम काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चम काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका





अथर्ववेद

सुबोध भाष्य

षष्ठं काण्डम् ।

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

स्वा ध्या य - म ण्ड ल, पा र डी

*

तृतीय वार

•

संवत् २०१७, शक १८८३, सन् १९६१

*

* *

अऋण होना।



अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम ॥

(अथर्ववेद ६।११७।३)

" हम इस लोक में अऋण, परलोक में अऋण और तीसरे लोक में भी अऋण होवें। जो देवयान और पितृयान लोक हैं, उन के सब मार्गों में हम अऋण होकर चलेंगे।"

* *

*

मुद्रक और प्रकाशक— वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय-मण्डल, पोस्ट-'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' [जि. सूरत]



अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।]

षष्ठ काण्ड।

इस षष्ठ काण्डके प्रथम सूक्तमें ' सविता ' देवताका वर्णन है। सविता देवता सबकी उत्पत्ति करनेवाली, सबको प्रकाश देनेवाली और उत्तम चेतना देनेवाली है। संध्याके गुरुमन्त्रमें इसीका वर्णन है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह मंगलवाचक पहिला सूक्त है और इसका मनन करनेसे सबका शुभ मंगल हो सकता है।

इस षष्ठ काण्डमें प्रायः तीन मंत्रवाले सूक्त हैं। इस कारण इस काण्डकी ' प्रकृति तीन मंत्रवाले सूक्तोंकी है ' ऐसा कहते हैं; इससे भिन्न मंत्रसंख्यावाले सूक्त इस काण्डमें विकृति हैं। परंतु यहां स्मरण रखना चाहिये कि, अधिक मंत्रवाले कई सूक्त भी पुनरुक्त मंत्रभागोंको अलग करनेसे तीन मंत्रवाले सूक्त बनाये जा सकते हैं। तथापि कुछ सूक्त ऐसे रहेंगे कि जो निश्चयसे इस काण्डमें विकृति सूक्त ही कहे जायेंगे।

इस काण्डकी सूक्त व्यवस्था इस प्रकार है—

इस काण्डमें	१२२	सूक्त ३ मन्त्रवाले हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	३६६	है।
इस काण्डमें	१२	सूक्त ४ मन्त्रवाले हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	४८	है।
इस काण्डमें	८	सूक्त ५ मंत्रवाले हैं,	इनकी मंत्रसंख्या	४०	है।
कुल सूक्तसंख्या	१४२		कुल मंत्रसंख्या	४५४	

इस प्रकार इस काण्डके १४२ सूक्तोंमें ४५४ मंत्र हैं। इस काण्डमें १३ अनुवाक हैं, बहुधा प्रत्येक अनुवाकमें दस दस सूक्त हैं; तथापि तृतीय, सप्तम, एकादश और द्वादश इन चार अनुवाकोंमें प्रत्येकमें ग्यारह सूक्त हैं और त्रयोदशवें अनुवाकमें अठारह सूक्त हैं।

काण्डोंकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है। प्रथम काण्डमें १५३, द्वितीयमें २०७, तृतीयमें २३०, चतुर्थमें ३२४, पञ्चममें ३७६ और इस षष्ठ काण्डमें ४५४ मंत्र हैं। यह संख्या प्रथम काण्डकी मंत्रसंख्यासे तीन गुनी, तृतीयसे दुगनी और पञ्चमसे डेढ गुनी है। सूक्तसंख्या भी बहुत है। परंतु सूक्त प्रायः तीन मंत्रवाले होनेके कारण बढी संख्याका महत्व विशेष नहीं है, तथापि कुल अभ्यास इस काण्डमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक ही होना है। प्रथम पाठ छोटा देकर पश्चात् बडे पाठ देनेके समान ही यह व्यवस्था यहां दिखाई देती है—

*

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१ प्रथमोऽनुवाकः। १३ त्रयोदशः प्रपाठकः।				
१	३	अथर्वा	सविता	उष्णिक्, त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नी जगती। २, ३ पिपीलिकमध्य पुरउष्णिक्।
२	३	अथर्वा	वनस्पतिः, सोमः	उष्णिग्, १-३ परोष्णिक्।
३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	जगती १ पथ्याबृहती।
४	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	१ पथ्याबृहती, २ संस्तारपंक्तिः, ३ त्रिपदा विराड्गर्भा गायत्री।
५	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	इन्द्राग्नी	अनुष्टुप् २ भुरिक्।
६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	ब्रह्मणस्पतिः; सोमः	अनुष्टुप्,
७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	सोमः, ३ विश्वेदेवाः	गायत्री, १ निचृत्।
८	३	जमदग्निः	कात्मात्मदेवता	पथ्यापंक्तिः
९	३	जमदग्निः	कात्मात्मदेवता	अनुष्टुप्
१०	३	शन्तातिः	नानादेवताः (अग्निः, वायुः, सूर्यः)	१ साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती, ३ साम्नीबृहती।
२ द्वितीयोऽनुवाकः।				
११	३	प्रजापतिः	रेतः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
१२	३	गरुत्मान्	तक्षकः	अनुष्टुप्
१३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	मृत्युः	अनुष्टुप्
१४	३	बभ्रुपिंगलः	बलासः	अनुष्टुप्
१५	३	उद्दालकः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१६	४	शौनकः	चन्द्रमाः (मन्त्रोक्तदेवताः)	अनुष्टुप् १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्, ४ त्रिपदाप्रतिष्ठा।
१७	४	अथर्वा	गर्भदृंहणं	अनुष्टुप्
१८	३	अथर्वा	ईर्ष्याविनाशनं	अनुष्टुप्
१९	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः (नानादेवताः)	गायत्री, अनुष्टुप्।
२०	३	भृग्वंगिराः	यक्ष्मनाशनं	१ अतिजगती, २ ककुम्मती प्रस्तारपंक्तिः, ३ सतःपंक्तिः।
३ तृतीयोऽनुवाकः				
२१	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
२२	३	शन्तातिः	आदित्यरश्मिः, मरुतः	त्रिष्टुप्, चतुष्पदा भुरिग्जगती।
२३	३	शन्तातिः	आपः	अनुष्टुप्, २ त्रिपदागायत्री ३ परोष्णिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
२४	३	शन्तातिः	आपः	अनुष्टुप्
२५	३	शुनःशेपः	मंत्रोक्तदैवतं	अनुष्टुप्
२६	३	ब्रह्मा	पाप्मा	अनुष्टुप्
२७	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	जगती, २ त्रिष्टुप्।
२८	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	त्रिष्टुप् २ अनुष्टुप्, ३ जगती।
२९	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	बृहती, १-२ विराण्णाम गायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टी।
३०	३	उपरिबभ्रवः	शमी	जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा ककुम्मत्यनुष्टुप्।
३१	३	उपरिबभ्रवः	गौः	गायत्री

४ चतुर्थोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
३२	३	१-२ चातनः, ३ अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्, २ प्रस्तारपंक्तिः।
३३	३	जाटिकायनः	इन्द्रः	गायत्री, २ अनुष्टुप्।
३४	५	चातनः	अग्निः	गायत्री
३५	३	कौशिकः	वैश्वानरः	गायत्री
३६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	अग्निः	गायत्री
३७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	चन्द्रमाः	अनुष्टुभ्
३८	४	अथर्वा (वर्चस्कामः)	बृहस्पतिः, त्विषिः	त्रिष्टुप्
३९	३	अथर्वा (वर्चस्कामः)	बृहस्पतिः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्।
४०	३	अथर्वा (१-२ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	जगती ३ ऐन्द्रीअनुष्टुप्
४१	३	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, ३ त्रिष्टुप्।

५ पञ्चमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
४२	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः।)	मन्युः	अनुष्टुप् १-२ भुरिक्।
४३	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः।)	मन्युमशनं	अनुष्टुप्
४४	३	विश्वामित्रः	वनस्पतिः (मन्त्रोक्तदेवता)	अनुष्टुप् ३ त्रिपदा महाबृहती।
४५	३	अंगिराः प्रचेताः यमश्च	दुष्वप्ननाशनम्	१ पथ्यापंक्तिः, २ भुरिक् त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्।
४६	३	अंगिराः	स्वप्नं	१ ककुम्मती विस्तारपंक्तिः। २ त्र्यवसाना शक्करीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप्।
४७	३	अंगिराः	अग्निः, २ विश्वेदेवाः ३ सुधन्वा	त्रिष्टुप्
४८	३	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
४९	३	गार्ग्य	अग्निः	१ अनुष्टुप् २-३ जगती (३ विराट्)
५०	३	अथर्वा (अभयकामः)	अश्विनौ	१ विराड् जगती, २,३ पथ्यापंक्ति।
५१	३	शन्तातिः	आपः, ३ वरुणः	त्रिष्टुप्, १ गायत्री, ३ जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
६ षष्ठोऽनुवाकः । १४ चतुर्दशः प्रपाठकः ।				
५२	३	भागलिः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
५३	३	बृहच्छुक्रः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १ जगती
५४	३	ब्रह्मा	अग्नीषोमौ	अनुष्टुप्
५५	३	ब्रह्मा	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ जगती।
५६	३	शन्तातिः	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः, २ अनुष्टुप् ३ निचृत्।
५७	३	शन्तातिः	रुद्रः	१-२ अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्तिः।
५८	३	अथर्वा (यशस्कामः)	बृहस्पतिः, मंत्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ प्रस्तारपंक्तिः, ३ अनुष्टुप्
५९	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः, मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
६०	३	अथर्वा (यशस्कामः)	अर्यमा	अनुष्टुप्
६१	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः	त्रिष्टुप्, २-३ भुरिक्।
७ सप्तमोऽनुवाकः ।				
६२	३	अथर्वा	रुद्रः । मंत्रोक्तदेवताः	त्रिष्टुप्
६३	४	द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)	निर्ऋतिः, यमः, ४ अग्निः	जगती, १ अतिजगतीगर्भा ४ अनुष्टुप्
६४	३	अथर्वा	सांमनस्यं, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप्।
६५	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्तिः।
६६	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ त्रिष्टुप्।
६७	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्
६८	३	अथर्वा	मन्त्रोक्तदेवताः	१ पुरोविराडतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप्।
६९	३	अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)	बृहस्पतिः, अश्विनौ	अनुष्टुप्
७०	३	कांकायनः	अघ्न्या	जगती
७१	३	ब्रह्मा	अग्निः, ३ विश्वेदेवाः	जगती, ३ त्रिष्टुप्।
७२	३	अथर्वाङ्गिराः	शेपोऽर्कः	अनुष्टुप्, १ जगती, ३ भुरिक्।
८ अष्टमोऽनुवाकः ।				
७३	३	अथर्वा	सांमनस्यं नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १, ३ भुरिक्।
७४	३	अथर्वा	सांमनस्यं नानादेवताः त्रिणामा	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्।
७५	३	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुप्, षट्पदा जगती।
७६	४	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	सांतपनाग्निः	अनुष्टुप्, ३ ककुम्मती।
७७	३	कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)	जातवेदाः	अनुष्टुप्
७८	३	अथर्वा	१,२ चन्द्रमाः, ३ त्वष्टा	अनुष्टुप्
७९	३	अथर्वा	संस्फानः	गायत्री, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
८०	३	अथर्वा	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्, १ भुरिक्, ३ प्रस्तारपंक्तिः।
८१	३	अथर्वा	आदित्यः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
८	३१	भगः (जायाकामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्
९ नवमोऽनुवाकः।				
८३	४	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा निचृदार्षी अनुष्टुप्।
८४	४	अंगिराः	निर्ऋतिः	१ भुरिग्जगती, २ त्रिपदा आर्षी बृहती, ३-४ जगती, ४ भुरिक्त्रिष्टुप्।
८५	३	अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
८६	३	अथर्वा (वृषकामः)	एकवृषः	अनुष्टुप्
८७	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्
८८	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्।
८९	३	अथर्वा	रुद्रः, मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
९०	३	अथर्वा	रुद्रः	१,१ अनुष्टुप्, ३ आर्षी भुरिगुष्णिक्।
९१	३	भृग्वंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्
९२	३	अथर्वा	वाजी	त्रिष्टुप् १ जगती।
१० दशमोऽनुवाकः।				
९३	३	शन्तातिः	रुद्रः, ३ बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्
९४	३	अथर्वांगिराः	सरस्वती	अनुष्टुप् २ विराड् जगती।
९५	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
९६	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, ३ सोमः	अनुष्टुप् ३ त्रिपदाविराण्नाम गायत्री।
९७	३	अथर्वा	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप्, २ जगती, भुरिक्।
९८	३	अथर्वा	इन्द्रः	त्रिष्टुप्, २ बृहती गर्भास्तारपंक्तिः।
९९	३	अथर्वा	इन्द्रः, ३ सोमः सविता च	अनुष्टुप्, ३ भुरिक् बृहती।
१००	३	गरुत्मान्	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१०१	३	अथर्वांगिराः	ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप्
१०२	३	जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)	अश्विनौ	अनुष्टुप्
११ एकादशोऽनुवाकः। १५ पञ्चदशःप्रपाठकः।				
१०३	३	उच्छोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०४	३	प्रशोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०५	३	उन्मोचनः	कासः	अनुष्टुप्
१०६	३	प्रमोचनः	दूर्वाशाला	अनुष्टुप्
१०७	४	शन्तातिः	विश्वजित्	अनुष्टुप्
१०८	५	शौनकः	मेधा, ४ अग्निः	अनुष्टुप्, २ उरोबृहती, ३ पथ्याबृहती।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१०९	३	अथर्वा	पिप्पली, भैषज्यं	अनुष्टुप्
११०	३	अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्, १ पंक्तिः।
१११	४	अथर्वा	अग्निः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्।
११२	३	अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्
११३	३	अथर्वा	पूषा	त्रिष्टुप्, ३ पंक्तिः।

१२ द्वादशोऽनुवाकः।

११४	३	ब्रह्मा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११५	३	ब्रह्मा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११६	३	जाटिकायनः	वैवस्वतः	जगती, २ त्रिष्टुप्।
११७	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११८	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११९	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
१२०	३	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ पंक्तिः, ३ त्रिष्टुप्।
१२१	४	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१-२ अनुष्टुप्, ३,४ अनुष्टुप्।
१२२	५	भृगुः	विश्वकर्मा	त्रिष्टुप्, ४,५ जगती।
१२३	५	भृगुः	विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्। ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्।
१२४	३	अथर्वा (निर्ऋत्यपसरणकामः)	मंत्रोक्तदेवताः दिव्या आपः	त्रिष्टुप्

१३ त्रयोदशोऽनुवाकः।

१२५	३	अथर्वा	वनस्पतिः	त्रिष्टुप्, २ जगती।
१२६	३	अथर्वा	वानस्पत्यो दुन्दुभिः	भुरिक्त्रिष्टुप्
१२७	३	भृग्वंगिराः	वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्, ३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती।
१२८	४	अंगिराः (अथर्वांगिराः)	चन्द्रमाः, शकधूमः	अनुष्टुप्
१२९	३	अंगिराः (अथर्वांगिराः)	भगः	अनुष्टुप्
१३०	४	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप्, १ विराट्पुरस्ताद्बृहती।
१३१	३	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप्
१३२	५	अथर्वांगिराः	स्मरः	अनुष्टुप् १ त्रिपदानुष्टुप्, ३ भुरिक्, २, ४, ५ त्रिपदा महाबृहती, २,४ विराट्।
१३३	५	अगस्त्यः	मेखला	त्रिष्टुप्, १ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुप्, ४ जगती।
१३४	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिपदागायत्री।
१३५	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१३६	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, २ एकावसाना द्विपदा साम्नीबृहती।
१३७	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१३८	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः) [वीतहव्यः]	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्तिः
१३९	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती।
१४०	३	अथर्वा	ब्रह्मणस्पतिः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्, १ उरोबृहती, २ उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ३ आस्तारपंक्तिः।
१४१	३	विश्वामित्रः	अश्विनौ	अनुष्टुप्
१४२	३	विश्वामित्रः	वायुः	अनुष्टुप्

इस प्रकार षष्ठ काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार विभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ अथर्वा ऋषि के १-७, १३, १७, १८, ३२, ३६-४०, ५०, ५८-६२, ६४-६९, ७३, ७४, ७८-८१, ८५-९०, ९२, ९७-९९, १०९-११३, १२४-१२६, १२९-१३२, १३६-१४० ये ६१ सूक्त हैं।

२ शन्ताति ऋषि के १०, १९, २१-२४, ५१, ५६, ५७, ९३, १०७ ये ग्यारह सूक्त हैं।

३ भृग्वङ्गिराः ऋषि के २०, ४२, ४३, ९१, ९५, ९६, १२७ ये सात सूक्त हैं।

४ ब्रह्मा ऋषि के २६, ४१, ५४, ५५, ७१, ११४, ११५ ये सात सूक्त हैं।

५ कौशिक ऋषि के ३५, ११७-१२१ ये छः सूक्त हैं।

६ भृगु ऋषि के २७-२९, १२२, १२३ ये पांच सूक्त हैं।

७ अङ्गिराः प्रचेताः ऋषि के ४५-४८ ये चार सूक्त हैं।

८ विश्वामित्र ऋषि के ४४, १४१, १४२ ये तीन सूक्त हैं।

९ अथर्वाङ्गिरा ऋषि के ७२, ९४, १०१ ये तीन सूक्त हैं।

१० जमदग्नि ऋषि के ८, ९, १०२ ये तीन सूक्त हैं।

११ अङ्गिरा ऋषि के ८३, ८४, १२८ ये तीन सूक्त हैं।

१२ कबन्ध ऋषि के ७५-७७ ये तीन सूक्त हैं।

१३ गरुत्मान् ऋषि के १२, १०० ये दो सूक्त हैं।

१४ शौनक ऋषि के १६, १०८ ये दो सूक्त हैं।

१५ उपरिबभ्रव ऋषि के ३०, ३१ ये दो सूक्त हैं।

१६ चातन ऋषि के ३३, ३४ ये दो सूक्त हैं।

१७ जाटिकायन ऋषि के ३३, ११६ ये दो सूक्त हैं।

१८ शुक्र ऋषि के १३४, १३५ ये दो सूक्त हैं।

१९ प्रजापति ऋषि का ११ यह एक सूक्त है।

२० बभ्रुपिंगल ऋषि का १४ यह एक सूक्त है।

२१ उद्दालक ऋषि का १५ यह एक सूक्त है।

२२ शुनःशेप ऋषि का २५ यह एक सूक्त है।

२३ यम ऋषि का ४५ यह एक सूक्त है।

२४ गार्ग्य ऋषि का ४९ यह एक सूक्त है।

२५ भागलि ऋषि का ५२ यह एक सूक्त है।

२६ बृहच्छुक ऋषि का ५३ यह एक सूक्त है।

२७ काङ्कायन ऋषि का ७० यह एक सूक्त है।

२८ भग ऋषि का ८२ यह एक सूक्त है।

२९ उच्छोचन ऋषि का १०३ यह एक सूक्त है।

३० प्रशोचन ऋषि का १०४ यह एक सूक्त है।

३१ उन्मोचन ऋषि का १०५ यह एक सूक्त है।

३२ प्रमोचन ऋषि का १०६ यह एक सूक्त है।

३३ अगस्त्य ऋषि का १३३ यह एक सूक्त है।

इस प्रकार ३३ ऋषियोंके नामोंसे इस काण्डका संबंध है। प्रथम काण्डमें ८, द्वितीय काण्डमें १७, तृतीय काण्डमें ८, चतुर्थ काण्डमें १७, पञ्चम काण्डमें १२ और इस षष्ठ काण्डमें ३३ ऋषियोंका संबंध है। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ नाना देवताः, बहुदैवतम्, मन्त्रोक्तदैवतं के ३; ४; १०; ११; १६; १९; २५; ४१; ४४; ४८; ५२; ५३; ५८; ६२; ६८; ७३, ७५; ८१; ८३; ८९; ९१; ९३; ९५; १२०; १२१; १२४; १३४; १३५; १४० ये २९ सूक्त हैं।

२ सोम, चन्द्रमा के २; ६; ७; १६; १९; २१; ३७; ४१; ६५-६७; ७८; ८०; ९६; ९९; १२८ ये १६ सूक्त हैं।

३ अग्नि के १०; ३२; ३४; ३६; ४७; ४९; ६३; ७१; १०८; ११०-११२; ११७-११९; ये १५ सूक्त हैं।

४ वनस्पति के २; १५; ४४; ८५; ९५; ९६; १००; १२५; १२७; १३६-१३९ ये १३ सूक्त हैं।

५ विश्वेदेवाः देवता के ७; ४७; ५५; ५६; ६४; ७१; ११४; ११५; १२३ ये ९ सूक्त हैं।

६ रुद्र देवता के ५५-५७; ५९; ६१; ६२; ८९; ९०, ९३ ये ९ सूक्त हैं।

७ इन्द्र देवता के ३३; ६५-६७; ७५; ८२; ९८; ९९ ये ८ सूक्त हैं।

८ बृहस्पति के ३८; ३९; ५८; ५९; ६९ ये पांच सूक्त हैं।

९ निर्ऋति के २७-२९; ६३; ८४ ये पांच सूक्त हैं।

१० ब्रह्मणस्पति के ६; १०१; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं।

११ अश्विनौ के ५०; ६९; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं।

१२ यम के २७-२९; ६३ ये चार सूक्त हैं।

१३ आपः के २३, २४, ५१, १२४ ये चार सूक्त हैं।

१४ सांमनस्य के ६४, ७३; ७४ ये तीन सूक्त हैं।

१५ पराशर के ६५-६७ तीन सूक्त हैं।

१६ स्मर के १३०-१३२ तीन सूक्त हैं।

१७ वायु के १०, १४२ ये दो सूक्त हैं।

१८ यक्ष्मनाशन के २०, १२७ ये दो सूक्त हैं।

१९ ध्रुव के ८७, ८८ ये दो सूक्त हैं।

२० कालात्मा के ८, ९ ये दो सूक्त हैं।

२१ सविता के १, ९९ ये दो सूक्त हैं।

शेष सूक्त एक देवताका एक है देखिये, इन्द्राग्नी ५, सूर्य १०, रेतः ११, तक्षकः १२, मृत्युः १३, बलासः १४, गर्भदृंहणं १७, ईर्ष्याविनाशनं १८, आदित्यरश्मिः २२, मरुतः २२, पाप्मा २६, शमी ३०, गौः ३१, वैश्वानरः ३५, त्विषिः ३८, मन्युः ४२, मन्युशमनं ४३, दुष्वप्ननाशनं ४५, स्वप्नं ४६, सुधन्वा ४७, वरुणः ५१, अग्नीषोमौ ५४, अर्यमा ६०, अघ्न्या ७०, शेपोऽर्कः ७२, त्रिणामा ७४, सांतपनाग्निः ७६, जातवेदाः ७७, त्वष्टा ७८, संस्फानः ७९, आदित्यः ८१, एकवृषः ८६, वाजी ९२, सरस्वती ९४, मित्रावरुणौ ९७, कासः १०५, दूर्वाशाला १०६, विश्वजित् १०७, मेधा १०८; पिप्पली १०९, भैषज्यं १०९, पूषा ११२, वैवस्वतः ११६, विश्वकर्मा १२२, वानस्पत्यो दुन्दुभिः १२६, शकधूमः १२८, भगः १२९, मेखला १३३ ये अडतालीस देवताओंके प्रत्येकके एक एक ऐसे सूक्त हैं।

पहिलेके २१ और ये ४८ मिलकर ६९ देवताएं इस काण्डमें हैं। अर्थात् इतनी देवताओंका विचार इस काण्डमें हुआ है। अब इस काण्डके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

इस काण्डमें सूक्तोंके गण।

१ बृहच्छान्तिगण के १९, २३, २४, ५१, ५७, ५९, ६१, ९३, १०७ ये नौ सूक्त हैं।

२ स्वस्त्ययनगण के ३, ४, ७, १३, ३२, ३७, ४० ९३, ये आठ सूक्त हैं।

३ तक्मनाशनगण के २०, २६, ४२, ८५, ९१, १२७ ये छः सूक्त हैं।

४ पुष्टिकमंत्रगण के ४, १५, ३३, ७९, १०२ ये पांच सूक्त हैं।

५ अपराजितगण के ६५-६७ ९७, ये चार सूक्त हैं।

६ वर्चस्यगण के ३८, ५८, ६९, ये तीन सूक्त हैं।

७ पवित्रगण के ५१, ६२, ७३ ये तीन सूक्त हैं।

८ रौद्रगण के ५५, ६१, ९० ये तीन सूक्त हैं।

९ वास्तुगण के १०, ७३ ये दो सूक्त हैं।

१० चातनगणके ३२, ३४ ये दो सूक्त हैं।

११ अंहोलिङ्गगण के ३५, ३६ ये दो सूक्त हैं।

१२ अभयगण के ४०, ५० ये दो सूक्त हैं।

१३ इन्द्रमहोत्सव के ८६, ८७ ये दो सूक्त हैं।

१४ दुष्वप्ननाशनगण का ४५ यह एक सूक्त है।

१५ सांमनस्यगण का ७३ यह एक सूक्त है।

इस प्रकार इन सूक्तोंके गण हैं। पाठक यदि इन सूक्तोंका गण सूक्तोंके साथ साथ मिलकर विचार करेंगे, तो सूक्तोंका तात्पर्य समझनेमें बडी सुगमता होगी।

इतना विचार ध्यानमें रखकर अब इस काण्डका मनन कीजिये।



अथर्ववेद का सुबोध भाष्य।

षष्ठ काण्ड।

अमृतदाता ईश्वर !

[सूक्त १]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सविता।)

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः। सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (आथर्वण) अथर्वाके अनुयायी ! (सवितारं देवं) सविता देवकी (स्तुहि) स्तुति कर। (दोषो गाय) रात्रीके समय गा, (बृहत् गाय) बहुत भजन कर, (द्युमत् धेहि) तेजयुक्तकी धारणा कर ॥ १ ॥

(यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः) जो भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा (युवानं) युवा, (सुशेवं) उत्तम सुख देनेवाला और (अ-द्रोघ-वाचं) द्रोहहीन वाणीसे युक्त है (तं उ स्तुहि) उसीका गुणवर्णन कर ॥ २ ॥

(सः घा सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उभे सुष्टुती सुगातवे) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गोंपरसे हम जांय, इसके लिये (नः भूरि अमृतानि साविषत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य ! तू सर्वप्रेरक एक ईश्वरकी उपासना कर। रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर, और उसके तेजको मनमें धारण कर ॥ १ ॥

वही एक ईश्वर इस भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है, वह न बाल होता है और न वृद्ध होता है। अपितु सदा तरुण रहता है। वही सब सुखोंको देनेवाला है और हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, उसीका गुणगान कर ॥ २ ॥

वही सबको प्रेरणा देनेवाला एक देव, हम दोनों प्रकारके प्रशंसनीय मार्गोंपरसे प्रगति करें, इसलिये हमें अनंत सुख सदा देता रहता है ॥ ३ ॥

एक देवकी भक्ति।

इस सूक्तमें एक देवकी भक्ति करनेका उत्तम उपदेश है। विशेष विचार न करते हुए इस सूक्तका अर्थ देखनेसे, यह सूक्त सूर्य देवकी उपासना करनेका उपदेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। सूर्य परमात्माका प्रतिनिधि इस सूर्य मालामें है, इसलिये उसकी उपासना करनेसे परंपरया परमात्माकी उपासना हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है; परंतु यह प्रतीकोपासना साधारण अज्ञ बालबुद्धि जनोंकी मनःस्थिरताके लिये उपयोगी है। वेदमें अग्नि, विद्युत् और सूर्य इनके द्वारा पार्थिव, अन्तरिक्षीय और द्युलोक संबंधी तीन दृश्य तेजोंका दर्शन कराके परमात्मोपासनाका ही पाठ दिया होता है; इसी नियमके अनु-

सार यहां सविता देवके द्वारा सूर्यका दर्शन कराते हुए एक अद्वितीय परमात्माकी ही उपासना कही है इसका उत्तम प्रमाण यह है—

दोषो गाय। (मं. १)

' रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसकी भक्ति कर, उसकी उपासना कर, यदि ' दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें होती, तो ' रात्रीके समय उसका गुण गान कर ' ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्यकी उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रीके समय नहीं। इस सूक्तमें तो रात्रीके एकान्त समयमें उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है, देखिये—

दोषो गाय, बृहद् गाय। (मं. १)

' रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर ' इस प्रकार रात्रीके समय भजन करनेको ही कहा है यदि इस सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें अभीष्ट होती, तो उसकी उपासना रात्रीका नामनिर्देश करके कैसे कही होती ? इस सूक्तमें दिनका नाम तक नहीं है, परंतु रात्रीका स्पष्ट उल्लेख है, इतना ही नहीं परंतु उस रात्रीमें—

द्युमत् धेहि। (मं. १)

' तेजवाले स्वरूपकी मनमें धारणा कर। ' सूर्यका तेज दिनमें दिखाई देता है, रात्रीके समय नहीं। परंतु यहां तो रात्रीके समय सूर्यके तेजका ध्यान करना लिखा है; इस लिये, जो सूर्य रात्रीके समय उपासनाके लिये प्राप्त हो सकता है, और जिसके तेजकी धारणा रात्रीके समयमें भी की जा सकती है, उस सूर्यका वर्णन इस सूक्तमें है ऐसा हम कह सकते हैं। अर्थात् सूर्यका भी जो सूर्य परमात्मा है, जिसके शासनसे यह सूर्य यहां प्रकाश रहा है, उस परमात्मरूपी सूर्यकी उपासना इस सूक्त द्वारा कही है। इसके गुणका उपासनाके समय मनन करना चाहिये, जिनका वर्णन निम्न लिखित प्रकार इस सूक्तमें हुआ है—

१ **बृहत्** = वह सबसे बडा है, उससे बडा कोई नहीं है,
२ **द्युमत्** = वह प्रकाशवाला है,
३ **देव** = वह सब प्रकारसे दिव्य है, वह दाता प्रकाशक और ऐश्वर्ययुक्त है,
४ **सविता** = वह सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका ऐश्वर्य बढानेवाला है,
५ **सिन्धौ अन्तः** = इस संसारसमुद्रके गहरे स्थानमें भी वह विद्यमान है,
६ **सत्यस्य सूनुः** = सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, वह सत्य स्वरूप है,
७ **युवा** = वह सदा जवान है, वह न कभी बाल था और न कभी बुड्ढा होगा, सदा तरुण जैसा शक्तिशाली है,
८ **सुशेवः** = उत्तम सुख देनेवाला, किंवा (**सु-सेवः**) उत्तम प्रकार सेवा करने योग्य,
९ **अ-द्रोघ-वाक्**= हिंसारहित शब्दोंकी प्रेरणा करनेवाला,
१० **अमृतानि भूरि साविषत्** = अनंत सुखोंको देता रहता है।

ये दस गुण इस परमात्माके इस सूक्तमें कहे हैं, उपासकको इन गुणोंका मनन करना चाहिये। परमात्माके इन गुणोंका मनन करके, इनकी धारणा मनमें करके अपने अन्दर जहांतक हो वहां तक इन गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सर्वथा इन गुणोंका उत्कर्ष मनुष्यमें न भी हो सके, तो कोई हर्ज नहीं है, जिस अवस्था तक हो सके, उस अवस्थातक उत्कर्ष करना आवश्यक है।

परमात्माके इन गुणोंका मनन करनेसे उसके तेजःस्वरूपका साक्षात्कार सर्वत्र होने लगता है। योगमार्गमें प्रवृत्त होकर प्राणायाम ध्यानधारणाकी ओर थोडीसी प्रवृत्ति होनेसे ही प्रकाशदर्शन होने लगता है। इस प्रकाशदर्शनका नित्य स्मरण करनेसे और इसीको ध्यानमें स्थिर करनेसे योगसिद्ध उन्नतिके प्रकाशका मार्ग सिद्ध हो जाता है। यह तेजका केन्द्र इस संसार महासागरमें सर्वत्र उपस्थित देखना और उसके बिना कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा मनका निश्चय करना चाहिये। उसका तेज, उसके सत्यनियम और उसकी दया सर्वत्र अनुभव करनेसे उसकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है।

अहिंसक वाणी।

परमात्मा स्वयं हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, अतः जो मनुष्य उसके भक्त होना चाहते हैं, वे सदा द्रोहरहित वाणीका प्रयोग करें। ' **अद्रोघवाक्** ' अर्थात् जिन शब्दोंमें थोडा भी द्रोह नहीं, थोडी भी हिंसा नहीं, दूसरोंको कष्ट देनेका थोडा भी आशय नहीं, उस प्रकारकी वाणी मनुष्योंको बोलना उचित है। इस शब्द द्वारा ईश्वरभक्तको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये यह दर्शाया है। यदि स्वयं परमेश्वर कभी द्रोहमय शब्दोंका प्रयोग नहीं करता, तो उसके भक्तको भी ऐसे ही शब्द प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् भगवद्भक्त अपने मनमें हिंसाका भाव न रखे, हिंसाभाव वाणीसे प्रकट न करे, और हिंसाका कोई कर्म न करे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे कोई समय ऐसा आ जाता है, कि जिस समय उपासकके मनमें

हिंसाकी लहर उठती ही नहीं। यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब उसके सन्मुख हिंसक जन्तु भी हिंसावृत्ति भूल जाते हैं। आत्मोन्नतिके लिये इस प्रकार 'अद्रोह वृत्ति' की परम आवश्यकता रहती है।

अद्रोह वृत्ति केवल द्रोह निषेधको ही व्यक्त करती है, ऐसा कोई न समझे। द्रोह निषेधकी अपेक्षा '**दूसरोंका सुख बढानेके लिये आत्मसमर्पण**' करनेकी इस वृत्तिमें आवश्यकता है। अहिंसा, अद्रोह ये शब्द केवल हिंसा निवृत्ति ही नहीं बताते, प्रत्युत जनताकी सेवा करने द्वारा जो भगवान्‌की सेवा होती है, उसके करनेकी भी इसमें आवश्यकता है।

सत्यका मार्ग।

अहिंसाके साथ 'सत्य' का मार्ग भी इस सूक्तमें बताया है। परमात्माको '**सत्यस्य सूनुः**' कहा है, यहां 'सूनु' शब्दका अर्थ (**षु-प्रसवे**) प्रसव करना है। सत्यका प्रसव करनेका तात्पर्य सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना, अर्थात् सत्यरूप बनना है। परमात्मा सत्यका प्रवर्तक है, ऐसा कहनेसे ईश्वर भक्तको उचित है कि वह सत्यनिष्ठ बने। अपनी उन्नतिके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

अहिंसा वृत्ति और सत्यनिष्ठा इन दो भावनाओंसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और परमात्माका साक्षात्कार होता है।

दो मार्ग।

अहिंसा और सत्य ये दो प्रशंसनीय मार्ग हैं, इनसे ही मनुष्यमात्रका इहपरलोकमें कल्याण हो सकता है इन दो मार्गोंके विषयमें इस मन्त्रमें इस प्रकार कहा है।

उभे सुष्टुती सुगातये वः भूरि अमृतानि माधिषत्। (मं. ३)

"दोनों उत्तम प्रशंसनीय मार्गोंपर (सु) उत्तम रीतिसे (गातवे) जानेके लिये वह परमात्मा बहुत सुखसाधन हमें देता है।" यही उसकी अपार दया है। इस जगत्में उसने अनंत सुखसाधन बनाये हैं, और मनुष्योंको दिये हैं। इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य उन सुखसाधनोंका अवलंबन करके अहिंसा और सत्यके साधनद्वारा अपनी उन्नतिका साधन करे और अन्तमें परमात्माको प्राप्त करे। परमेश्वरकी अपार दया इस प्रकार अनुभव करके उसके ऊपर दृढ श्रद्धा रखनी योग्य है।

उक्त दो मार्ग ऐहिक अभ्युदय साधन और पारमार्थिक निःश्रेयस साधन ये भी हो सकते हैं। धर्मके ये दो अंग ही हैं। परमात्माने इस जगतमें जो सुखसाधन निर्माण किये हैं उनको लेकर अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करके परमगतिको मनुष्य प्राप्त हो।

अथर्वाका अनुयायी।

इस सूक्तका उपदेश '**अ-थर्वण**' के लिये किया है। '**थर्व**' का अर्थ कुटिलता, हिंसा, चंचलता आदि। '**अ+थर्व**' का अर्थ है '**अकुटिलता, अहिंसा और स्थिरता**' जो मनुष्य अकुटिलता और अहिंसा वृत्तिसे चलते हुए मनःस्थैर्य प्राप्त करते हैं अर्थात् योगमार्गका अनुष्ठान करके चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हैं, उनको अथर्वा कहते हैं। इस योगमार्गके जो अनुयायी होते हैं, उनको 'आथर्वण' कहते हैं। इन आथर्वणोंकी उन्नति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको आत्मोन्नतिके वेदप्रतिपादित योगमार्गका ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तसे अहिंसा और सत्यका महत्त्व जानकर उसके अवलंबनसे अपनी उन्नतिका साधन करें और वेदका उपदेश अपने दैनिक आचरणमें लाकर इहपरलोकमें परम उन्नति प्राप्त करें।

विजयी इन्द्र।

[सूक्त २]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सोमः, वनस्पतिः।)

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत। स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**ऋत्विजः**) ऋतुओंके अनुकूल यज्ञ करनेवालो! (**इन्द्राय सोमं सुनोत**) इन्द्रके लिये सोमरस निचोडो, (**च आ धावत**) और उसको अच्छी प्रकार शोधो। (**यः स्तोतुः मे वचः**) जो स्तुति करनेवाले मेरी स्तुति और (**हवं च**) मेरी प्रार्थना (**शृणवत्**) सुने ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः। विरप्शिन्वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥
सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यं अन्धसः इन्दवः) जिसके प्रति अन्नरसके अंश (आ विशन्ति) पहुंच जाते हैं (वृक्षं वयः न) वृक्षके प्रति जैसे पक्षी जाते हैं। हे (विरप्शिन्) विज्ञानयुक्त वीर ! (रक्षस्विनीः मृधः वि जहि) आसुरी वृत्तिके शत्रुओंका नाश कर ॥ २ ॥

(सोमपाव्ने वज्रिणे इन्द्राय) सोमपान करनेवाले शस्त्रधारी इन्द्रके लिये (सोमं सुनोत) सोमका रस निचोडो। (सः पुरुष्टुतः जेता युवा ईशानः) वह प्रशंसनीय विजयी युवा ईश है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे याजको ! इन्द्र देवके लिये सोमरस निचोडो और उस रसको छानकर पवित्र बनाओ। वह प्रभु ऐसा है कि जो हमारी प्रार्थना सुनता है और हमारे मनोरथ पूर्ण करता है ॥ १ ॥

उसी प्रभुके प्रति यह सोमयज्ञ पहुंचता है। हे वीर ! आसुरी भाववाले शत्रुओंको परास्त कर ॥ २ ॥

सोमपान करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये सोमरस तैयार करो। वही इन्द्र प्रशंसनीय विजयी युवा वीर है और वही सबका प्रभु है ॥ ३ ॥

इन्द्रके लिये सोमरस।

सोमरस निकालकर उसको छानकर पवित्र करके उसका प्रभुके लिये समर्पण करना चाहिये और अवशिष्ट रहे हुए रसका स्वयं सेवन करना चाहिये। यह सोमरस बडा बलवर्धक, पौष्टिक, आरोग्यवर्धक, उत्साहवर्धक और तेजस्विता बढानेवाला है। ईश्वरको भक्तिपूर्वक समर्पण करनेके बाद अवशेष भक्षण करनेका महत्व इस सूक्तमें है।

तृतीय मंत्रमें 'ईशान' शब्द है जो इन्द्र शब्दका विशेषण होनेसे यहांका वर्णन परमात्मपरक होनेका निश्चय कराता है। 'युवा, जेता, इन्द्र' आदि शब्द भी उसी प्रभुके वाचक प्रसिद्ध हैं।

रक्षाकी प्रार्थना।

[सूक्त ३]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — नानादेवताः।)

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥
पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

अर्थ— (इन्द्रापूषणौ नः पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (अदितिः मरुतः पान्तु) अदिति और मरुत् देव हमारी रक्षा करें। (अपां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन) मेघोंको न गिरानेवाला पर्जन्यदेव और सातों समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः उत द्यौः नः पातु) व्यापक देव और द्युलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(द्यावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) द्युलोक और पृथिवी लोक अभीष्ट अवस्था प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें। (ग्रावा सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें, (सुभगा सरस्वती देवी नः पातु) उत्तम ऐश्वर्यवाली विद्यादेवी हमारी रक्षा करे। (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) जो इसके रक्षक गुण हैं, वे भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

पा॒तां नो॑ दे॒वाश्विना॑ शु॒भस्पती॑ उ॒षासा॒नक्तो॒त न॑ उरुष्यताम् ।
अ॒पां नपा॒दभि॑ह्रुती॒ गय॑स्य चि॒द् देव॑ त्वष्टर्व॒र्धय॑ स॒र्वता॑तये ॥ ३ ॥

अर्थ— (**शुभस्पती अश्विनौ देवौ नः पातां**) उत्तम पालक अश्विनीदेव हमारी रक्षा करें। (**उत उषासानक्ता नः उरुष्यतां**) तथा उषा और रात्री हमारी रक्षा करें। (**अपां नपात् त्वष्टः देव**) हे जलोंको न गिरानेवाले त्वष्टा देव! (**गयस्य अभिह्रुती चित्**) घरकी दुरवस्थासे भी दूर करके (**सर्वतातये वर्धय**) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी वृद्धि कर ॥ ३ ॥

देवों द्वारा हमारी रक्षा ।

इस सूक्तमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है। इसमें पृथ्वीस्थानीय देव ये हैं—

१ **पृथिवी** = भूमि जिसपर सब मानवजाति रहती है,

२ **सप्त सिन्धवः** = सात समुद्र, जिनमें जल भरा पडा है,

३ **अग्निः, अस्य पायवः च** = अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियां,

४ **सोमः** = सोम आदि सब वनस्पतियां और औषधियां,

५ **ग्रावा** = पत्थर तथा अन्यान्य खनिज पदार्थ।

ये पांच देव पृथिवीस्थानीय हैं, ये अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। इनके अन्दर विविध शक्तियां हैं, इसलिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका सुख बढे ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये। उदाहरणके लिये अग्निका उपयोग पाक करने आदि कार्योंमें करनेसे लाभ और गृहादिक जलानेमें करनेसे हानि होती है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये। अब अन्तरिक्षस्थानीय देवोंके विषयमें देखिये—

६ **इन्द्र** = जो पर्जन्य देता है, विद्युत्का संचार करता है,

७ **मरुतः** = सब प्रकारके वायु, जो प्राणादि रूपसे सबकी रक्षा करते हैं,

८ **अपां नपात्** = जलोंको मेघोंमें धारण करनेवाला देव,

९ **त्वष्टा** = जो तोडने मोडनेका कार्य करता है और जो रूपोंको बनाता है।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं। इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्यका लाभ हो और कदापि हानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अब द्युस्थानीय देवताओंका विचार देखिये—

१० **द्यौः** = द्युलोक जहां सब तेजधारी सूर्यादि गोलक रहते हैं,

११ **पूषा** = सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है।

ये देव द्युलोकमें रहते हुए मनुष्यकी रक्षा कर रहे हैं, इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ **अश्विनौ** = श्वास और उच्छ्वास, प्राण और अपान, तारक (उभरी), मारक (तुर्फरी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है।

१३ **उषासानक्ता** = उषा और रात्री, यह काल है।

१४ **सरस्वती** = विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सभ्यता,

१५ **अदितिः** = अखंडित मूल शक्ति, और

१६ **विष्णुः** = सर्वव्यापक ईश्वर।

ये सब देव और देवताएं मनुष्यकी रक्षा करें। मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, कि जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्यसिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बडी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहायताकी याचना यहां की है।

दो उद्देश्य ।

मानवी उन्नतिके दो उद्देश्य हैं- (१) **गयस्य अभिह्रुती** = घरकी कुटिलता, हानि आदि दूर करना, और (२) **सर्वतातये वर्धय** = सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढना। उक्त देवताओंकी शक्तियोंसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये। पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंश रूपसे हैं, उनकी शक्तियोंकी उन्नति करके भी मनुष्यका बडा लाभ हो सकता है। इस सूक्तका विचार करनेसे इस ढंगसे बहुत लाभ हो सकता है।

अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — नानादेवताः ।)

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥
अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥
धियै समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयोंके साथ अदिती देवी, (मे दैव्यं वचः) मेरे देवोंके संबंधके वचनको सुनें, और (नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः पातु) हम सबके अजेय और पालना करनेवाले बलकी रक्षा करें ॥ १ ॥

अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत् देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें । (तस्य अभिह्रुतः द्वेषः अपगमेत्) उस शत्रुका कुटिल द्वेष दूर होवे । (अन्तितं शत्रुं यावयत्) ये सब पास आये शत्रुको दूर भगा दें ॥ २ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (धियै नः सं प्रावतं) बुद्धिके लिये हमारी उत्तम रक्षा करो । हे (उरु-ज्मन्) विशेष गतिवाले ! (अप्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ तू (नः उरुष्य) हम सबकी रक्षा कर । हे (द्यौः पितः) द्युलोकके पालक ! (या दुच्छुना यावय) जो दुर्गति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें पूर्व सूक्तमें कहे जो देवोंके नाम आ गये हैं वे ये हैं- ' त्वष्टा, अदिति, मरुतः ' । जो देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये वे ये हैं- ' पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, द्यौष्पिता । ' पूर्वके अनुसंधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

१ **पर्जन्यः** = मेघ, जल देनेवाला देव,
२ **ब्रह्मणस्पतिः** = ज्ञानका स्वामी, ज्ञान देनेवाला,
३ **अंशः** = प्रकाश देनेवाला,
४ **भगः** = भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला,
५ **वरुणः** = वरिष्ठ देव, सबसे श्रेष्ठ देव,
६ **मित्रः** = सबका हितकारी,
७ **अर्य-मा** = श्रेष्ठ कौन है इसका निश्चय करनेवाला,
८ **द्यौष्पिता** = द्युलोकका पालक देव ।
९ **पुत्रैः भ्रातृभिः सह अदितिः** = लडकों और भाइयोंके समेत अदिति देवी । अखंडित मूल शक्तिका नाम अदिति देवी है, इससे सूर्यादि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं इसलिये ये इसके पुत्र हैं । तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं । अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल शक्ति और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्रभागसे लेने योग्य हैं ।

यह सब दैवी शक्तियोंका समूह हम सबकी रक्षा करे ।

रक्षाका कार्य ।

रक्षा करनेका क्या तात्पर्य है यह इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके मनन योग्य देखिये । रक्षाके लिये अपनी बुद्धि उत्तम रहनी चाहिये । यह दर्शानेके लिये कहा है—

१ **धियै नः सं प्र अवतं**- ' उत्तम बुद्धिके विकास होनेके लिये हम सबकी उत्तम प्रकार विशेष रक्षा करो । ' मनुष्यको बुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है । मनुष्यकी रक्षा भी इसीलिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष शुद्ध, पवित्र, निर्दोष और कुशाग्र हो और कभी हीन न हो । (मं. ३)

२ **मे दैव्यं वचः**— मेरा भाषण दिव्य हो, अर्थात् उसमें देवके गुणोंका वर्णन हो, शुद्ध भाव हों, और कभी हीन भाव न हों । वाणीकी इस प्रकार शुद्धि होनेसे ही ऊपर कही बुद्धिकी उन्नति हो सकती है । इस सूक्तमें एक वाणीका उल्लेख करके सब अन्य इंद्रियोंकी प्रवृत्ति शुद्ध करनेका उपदेश सूचित किया है । जिस नियमसे वाणीकी शुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र, कर्ण आदि अन्यान्य इंद्रियोंकी भी शुद्धि होती है । इंद्रियोंको शुभ कर्ममें सदा निमग्न रखनेसे ही सब इंद्रिय शुद्ध हो सकते

हैं। यह नियम सब इंद्रियोंके विषयमें समान ही है। अपने इंद्रियोंमें 'दिव्य भाव' स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है। इस प्रकार सब इंद्रियां शुद्ध होनेसे बुद्धि भी इसी कारणसे शुद्ध होती है और विकसित होती है। (मं. १)

३ द्वेषः अपगमेत्— द्वेषभाव, निंदा करनेका स्वभाव, शत्रुत्व करनेका आशय अन्तःकरणसे दूर हो जावे। यह पवित्र बननेका मार्ग है। द्वेषभाव मनसे पूर्णतया हटा, तो मन शुद्ध हो सकता है। (मं. २)

४ दुच्छुना यावय— सब दुर्गतिको दूर कर। अपने इंद्रिय हीन कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेसे ही सब प्रकारकी दुर्गति प्राप्त होती है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि हो गयी तो दुर्गति अपने पास कदापि रहेगी ही नहीं। (मं. ३)

५ शत्रुं यावय— शत्रुको दूर भगा दे। अपने अन्दर कामक्रोधादि शत्रु हैं, समाजमें कामी, क्रोधी ये शत्रु हैं और राष्ट्रके भी शत्रु होते हैं। इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, सामाजिक और अन्य शत्रु दूर करनेका उपाय भी वहांकी शुद्धता करना ही है। इस कार्यके लिये अपने अन्दर बल चाहिये, उसका उपदेश इस प्रकार किया है—

६ नः दुष्टरं त्रायमाणं सहः— हमारे अन्दर शत्रुद्वारा पार करनेके लिये कठिन और जिससे अपनी रक्षा हो इस प्रकारका बल हमारा हो। बलके दो लक्षण यहां कहे हैं, वह बल ऐसा चाहिये कि जिसका (दुः+तरं) उल्लंघन शत्रु न कर सके। जब शत्रु आक्रमण करे उस समय वह पूर्ण रीतिसे परास्त हो, ऐसा अपना बल रहना चाहिये। इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये। इस प्रकारका बल बढ जानेसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे।

इस प्रकारका बल बढाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है। ब्रह्मणस्पति यह ज्ञान और विज्ञानका देव है और वह अपने ज्ञानके दानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढाता है। इसीलिये उसकी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करनी चाहिये। उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे और श्रद्धाभक्तियुक्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं।

यज्ञसे उन्नति।

[सूक्त ५]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — इन्द्राग्नी।)

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥
इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥
यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्। तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (घृतेन आहुत अग्ने) घीसे आहुति पाये हुए अग्नि! (एनं उत्तरं उन्नय) इस मनुष्यको अधिक ऊंचा उठा। (एनं वर्चसा सं सृज) इसको तेजसे संयुक्त कर। (च प्रजया बहुं कृधि) और प्रजासे समृद्ध कर॥ १ ॥

हे इन्द्र! (इमं प्रतरं कृधि) इस मनुष्यको ऊंचा कर। यह (सजातानां वशी असत्) यह मनुष्य स्वजातिके पुरुषोंके बीच सबको वशमें करनेवाला होवे। (रायस्पोषेण सं सृज) इसको धन और पुष्टि उत्तम प्रकार प्राप्त हो और (जीवातवे जरसे नय) दीर्घजीवनके लिये बुढापेतक सुखपूर्वक लेजा॥ २ ॥

हे अग्ने! (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं, (त्वं तं वर्धय) तू उसको बढा; (सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः) सोम और यह ब्रह्मणस्पति (तस्मै अधि ब्रवत्) उसको आशीर्वाद देवे॥ ३ ॥

हवनसे आरोग्य।

जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है, और सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसके विषयमें देखिये—

१ एनं उत्तरं = जिसके घरमें हवन होता है वह (उत्+तरः) अधिक उच्च बनता है, पूर्वकी अपेक्षा अधिक उन्नत होता है।

२ वर्चसा सं = जिसके घरमें हवन होता है वह तेजस्वी होता है।

३ प्रजया बहुः = जिसके घरमें हवन होता है उसकी उत्तम संतानें होती हैं।

४ इमं प्रतरं = जिसके घरमें हवन होता है, वह अधिक ऊंचा बनता है। हरएक प्रकारसे श्रेष्ठ होता है।

५ सजातानां वशी = सजातियोंको अपने आधीन करनेवाला होता है, जो प्रतिदिन हवन करता है।

६ रायस्पोषेण सं = उसका धन बढता है और पुष्टि भी बढती है। वह हृष्टपुष्ट होता है।

७ जीवातवे जरसे नय = उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

अर्थात् जिसके घरमें हवन होता है उसकी हरएक प्रकारसे उन्नति होती है। प्रतिदिन उसको सुख और सौभाग्य प्राप्त होता है। इसलिये प्रतिदिन हवन करना लाभकारी है। हवनसे आरोग्य, बल, दीर्घआयु प्राप्त होकर, धन, यश और अन्य सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस भी प्राप्त होता है।

शत्रुका नाश।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ब्रह्मणस्पतिः, सोमः।)

योऽ३स्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते। सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते ! (यः अदेवः अस्मान् अभिमन्यते) जो ईश्वरकी भक्ति न करनेवाला हमें नीचे करनेकी इच्छा करता है, (तं सर्वं) उस सब शत्रुका (सुन्वते यजमानाय मे रन्धयासि) सोमरससे यजन करनेवाले मेरे लिए नाश कर ॥ १ ॥

हे सोम ! (यः दुःशंसः) जो दुराचारी (सुशंसिनः नः आदिदेशति) सदाचार करनेवाले हम सबको आज्ञा करता है अर्थात् हमें आधीन करना चाहता है, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) इसके मुखमें वज्रसे आघात कर, जिससे (सः संपिष्टः अप अयति) वह चूर चूर होकर दूर होवे ॥ २ ॥

हे सोम ! (यः सनाभिः) जो स्वजातीय (यः च निष्ट्यः) और जो सबसे नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य (नः अभिदासति) हमें दास बनाना चाहता है, अथवा हमारा घात करता है, (तस्य बलं वधत्मना अप तिर) उसके बलको अपने वधसाधनसे नीचे कर, (मही द्यौः इव) जिस प्रकार बडा द्युलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है ॥ ३ ॥

शत्रुका लक्षण।

इस सूक्तमें शत्रुके लक्षण निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

१ अदेवः = जो एक अद्वितीय ईश्वरको नहीं मानता, देवकी भक्ति नहीं करता जो नास्तिक और सत्य धर्मपर अविश्वास रखता है।

२ अभिमन्यते = जो अभिमानसे भरा है, जो घमंडी है।

३ दुःशंसः = जिसके विषयमें सब लोग बुरा कहते हैं, सब लोग जिसकी निंदा करते हैं, अर्थात् जो अकेला सबका अहित करता है।

४ आदिदेशति = जो दूसरोंपर हुकुमत करनेका अभिलाषी है, जो दूसरोंको आज्ञा देना ही जानता है। जो दूसरोंपर जिस किसी रीतिसे अधिकार जमाना चाहता है।

५ अभिदासति = जो दूसरोंको दास बनाना चाहता है, दूसरोंका नाश करता है, दूसरोंको लूटता है।

शत्रुके ये पांच लक्षण हैं। इन लक्षणोंसे बोधित होनेवाले शत्रुको दूर करना चाहिये, फिर वह (सनाभिः) स्वजातीय, अपने कुलमें उत्पन्न हुआ हो, अथवा (नि-ष्ट्यः) निकृष्ट जातिका अथवा किसी हीन कुलमें उत्पन्न अथवा आचारहीन हो, या कैसा भी हो, उसको दूर करना चाहिये।

अद्रोहका मार्ग।

[सूक्त ७]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सोमः, ३ विश्वेदेवाः।)

येन॑ सोमादि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुह॑ः । तेना॒ नोऽव॒सा ग॑हि ॥ १ ॥
येन॑ सोम साह॒न्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः । तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत ॥ २ ॥
येन॑ दे॒वा असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम् । तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सोम) शान्तदेव ! (येन पथा अदितिः) जिस मार्गसे यह पृथिवी (वा मित्राः अद्रुहः यन्ति) अथवा सूर्य आदि देव परस्पर द्रोह न करते हुए चलते हैं, वे (तेन अवसा नः आ गहि) उसी मार्गसे अपनी रक्षाके साथ हमें प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे (साहन्त्य सोम) विजयी शक्तिसे युक्त सोम ! (येन असुरान् नः रन्धयासि) जिससे असुरोंको हमारे लिये तू नष्ट करता है, (तेन नः अधि वोचत) उस शक्तिके साथ हमें आशीर्वाद दे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! तुम (येन असुराणां ओजांसि अवृणीध्वं) जिससे असुरोंके बलोंका निवारण करते हैं, (तेन नः शर्म यच्छत) उस बलसे हमें सुख दो ॥ ३ ॥

प्रार्थना !

अद्रोहका विचार।

हे शान्त और सुखदायक ईश्वर ! जिस तेरे सुनियमके कारण सूर्यचन्द्रादि सब विविध लोकलोकान्तर एक दूसरेके साथ न टकराते हुए अपने मार्गसे भ्रमण करके कार्य कर रहे हैं, वह बल हमें दे। इस बलसे युक्त, उस विचारसे युक्त होते हुए हम एक दूसरेके साथ, आपसमें विरोध और लडाई न करते हुए, और अपना संघबल बढाते हुए हम अपनी उत्तम रक्षा कर सकेंगे। इसलिये 'अद्रोहका विचार' हमारेमें स्थिर हो जावे।

बलकी वृद्धि।

हे ईश्वर ! जिस बलसे तुम असुरों, राक्षसों और दस्युओंको नष्ट करते हो; उस बलका दान करनेका आशीर्वाद हमें दो। अर्थात् वह बल हमें प्राप्त हो और इस बलके प्राप्त होनेसे हम पूर्वोक्त शत्रुओंको दूर कर सकेंगे।

हे ईश्वर ! जिस बलसे शत्रुओंके बलोंको रोका जाता है, वह बल हमें प्राप्त हो, और उसके द्वारा हमें सुख प्राप्त हो।

तीन उपदेश।

इस सूक्तमें '(१) आपसमें अद्रोहका व्यवहार करना, (२) अपना बल बढाना, (३) और शत्रुओंके बलोंको रोकना अथवा अपना बल उनसे अधिक प्रभावशाली करना' ये तीन उपदेश हैं। इससे निःसन्देह सुख प्राप्त हो सकता है। इस सूक्तमें इन बलोंकी प्रार्थना ईश्वरसे की है, इस कारण यह उत्तम प्रार्थनासूक्त है। इसमें बलवाचक दो शब्द हैं, 'सहः' और 'ओजः'। इनमें 'सहः' शब्द मानसिक और आत्मिक बलका बोधक और 'ओजः' शब्द शारीरिक अथवा पाशवी बलका वाचक है। अर्थात् अपना सब प्रकारका बल बढे, यह इस प्रार्थनाका भाव है।

दम्पतीका परस्पर प्रेम।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — जमदग्निः देवता — कामात्मा।)

यथा॑ वृ॒क्षं लिबु॑जा स॒मन्तं॑ परिषस्व॒जे।
ए॒वा परि॑ ष्वजस्व मां यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ १ ॥
यथा॑ सुप॒र्णः प्र॒पत॑न् प॒क्षौ नि॒हन्ति॒ भूम्या॑म्।
ए॒वा नि ह॑न्मि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ २ ॥
यथे॒मे द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्यः प॒र्येति॒ सूर्यः॑।
ए॒वा प॒र्येमि॒ ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा लिबुजा वृक्षं समन्तं परिषस्वजे) जिस प्रकार वेल वृक्षको चारों ओरसे लिपट जाती है, (एव मां परि ष्वजस्व) इस प्रकार तू मुझे आलिंगन दे, (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली हो और (यथा मत् अपगा न असः) जिससे तू मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ १ ॥

(यथा प्रपतन् सुपर्णः) जैसे उडनेवाला पक्षी (भूम्यां पक्षौ निहन्ति) भूमिकी ओर अपने दोनों पंखोंको दबाता है, (एव ते मनः नि हन्मि) इस प्रकार तेरा मन अपने अंदर खींचता हूं, (यथा०) जिससे तू मेरी इच्छा करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ २ ॥

(यथा इमे द्यावापृथिवी) जिस प्रकार इस द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच (सूर्यः सद्यः पर्येति) सूर्यका प्रकाश तत्काल फैलता है, (एव ते मनः पर्येमि) इसी प्रकार तेरे मनको मैं व्यापता हूं (यथा०) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ ३ ॥

[सूक्त ९]

वाञ्छ॑ मे त॒न्वं१॒॑ पादौ॒ वाञ्छा॒क्ष्यौ॒३॒॑ वाञ्छ॑ स॒क्थ्यौ॒३॒॑।
अ॒क्ष्यौ॒॑ वृष॒ण्यन्त्याः॒ केशा॒ मां ते॒ कामे॑न शुष्यन्तु ॥ १ ॥
मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणो॒मि हृदय॒श्रिष॑म्। यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥
यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम्। गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे तन्वं पादौ वाञ्छ) मेरे शरीरकी और दोनों पैरोंकी इच्छा कर, (अक्ष्यौ वाञ्छ) मेरे दोनों आंखोंकी इच्छा कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) दोनों जंघाओंकी इच्छा कर। (वृषण्यन्त्याः ते अक्ष्यौ केशाः) बलकी इच्छा करती हुयी तेरी आंखें और बाल (कामेन मां शुष्यन्तु) कामसे मुझे सुखावें ॥ १ ॥

(त्वा मम दोषणिश्रिषं) तुझे मेरी भुजाओंमें आश्रित और (हृदयश्रिषं कृणोमि) हृदयमें आश्रय करनेवाली करता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे तू मेरे कार्यमें दक्ष हो और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुसार चल ॥ २ ॥

(यासां) जिनसे (नाभिः) मिलना (आरेहणं) आनन्ददायक है और जिनके (हृदि संवननं कृतं) हृदयमें प्रेमकी सेवा है, (घृतस्य मातरः गावः) घीको निर्माण करनेवाली यह गौवें, (अमुं मे सं वानयन्तु) इस स्त्रीको मेरे साथ मिला देवें ॥ ३ ॥

स्त्री और पुरुषका प्रेम !

गृहस्थधर्ममें रहनेवाले स्त्री और पुरुष परस्पर प्रेम करें और सुखसे गृहस्थाश्रमका व्यवहार करें, यह उपदेश इन दोनों सूक्तोंमें कहा है।

अष्टम सूक्तमें कहा है कि स्त्री-पुरुष गृहस्थाश्रममें परस्पर मिलकर रहें, एक दूसरेपर प्रेम करें और उनमेंसे कोई भी एक दूसरेसे दूर होनेका यत्न न करे। पुरुष यत्न करके अपनी स्त्रीका मन अपनी ओर आकर्षित करे और उसको अपने पास संतुष्ट रखे, जिससे वह बार बार पतिगृहसे दूसरी ओर भाग न जावे। जिस प्रकार सूर्य इस जगत्में अपने प्रकाशसे फैला रहता है, इसी प्रकार पति भी ऐसा आचरण करे कि जिससे स्त्रीके मनमें पतिके विषयमें आदर भरा रहे। इसी प्रकार स्त्रीका भी ऐसा व्यवहार हो कि जिससे पतिके मनमें स्त्रीका आदर बढे। इस प्रकार दोनों परस्पर आदर रखते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कार्य करें।

नवम सूक्तमें कहा है पति स्त्रीको और स्त्री पतिको आत्मसर्वस्व अर्पण करे। एक दूसरेके वियोगसे दुखी और साथ रहनेसे दोनों सुखी हों। स्त्री और पुरुष परस्परके कार्योंमें एक दूसरेकी सहायता करें और परस्परकी अनुकूलतासे चलें। परस्परकी अनुकूलतासे अपने सब व्यवहार करें। स्त्रियोंसे धर्मपूर्वक मिलना सुखदायी है, क्योंकि उत्तम स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रेम भरा हुआ रहता है, पतिके घरकी गौवें स्त्रियोंको आकर्षित करें।

इस प्रकार व्यवहार करके स्त्री-पुरुष सुखसे गृहस्थाश्रमके कार्य करें और परस्परकी अनुकूलतासे सुखी हों।

अष्टम सूक्तके प्रथम मंत्रके साथ अथर्व. १।३४।५ और २।३०।१ ये मंत्र तुलना करके देखिये। कुछ आशय समान है।

बाह्यशक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका संबंध।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — नानादेवताः, अग्निः, वायुः, सूर्यः।)

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥
प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥
दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— पृथ्वी, (श्रोत्राय) कान, वनस्पति तथा पृथ्वीके अधिपति अग्निके लिये (स्व-आह) प्रशंसा कहते हैं ॥ १ ॥ अन्तरिक्ष, प्राण, (वयोभ्यः) पक्षी तथा अन्तरिक्षके अधिपति वायुके लिये हमारी स्तुति हो ॥ २ ॥ द्युलोक, आंख, नक्षत्र और द्युलोकके अधिपति सूर्यकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें बाह्य सृष्टिसे व्यक्तिके अन्दरकी शक्तियोंका संबंध बताया है—

बाह्यलोक	उसमें प्राप्त पदार्थ	लोकाधिपति	व्यक्तिके शरीरमें इंद्रिय
पृथिवी	वनस्पति	अग्नि	कान (शब्दग्रहण)
अन्तरिक्ष	पक्षी	वायु	प्राण
द्युलोक	नक्षत्र	सूर्य	आंख

इस प्रकार व्यक्तिके इंद्रियोंका बाह्य जगत्के लोकों और देवोंके साथ संबंध है। यह संबंध जानकर सूर्य प्रकाशसे आंखकी, शुद्ध वायुसे प्राणकी, और अग्निसे श्रवणशक्तिकी शक्ति बढावें। यहां अग्निसे श्रवणशक्तिका संबंध खोजका विषय है।

॥ यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

पुंसवन।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — प्रजापतिः। देवता — रेतः, मन्त्रोक्तदेवता।)

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्रं पुंसवनं कृतम्। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तद् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

अर्थ— (अश्व-त्थः) अश्वत्थ वृक्ष (शमीं आरूढः) शमी वृक्षपर जहां चढा होता है (तत्र पुंसवनं कृतं) वहां पुंसवन किया जाता है। वह ही (पुत्रस्य वेदनं) पुत्र-प्राप्तिका निश्चय है। (तत् स्त्रीषु आ भरामसि) वह स्त्रियोंमें हम भर देते हैं॥ १ ॥

(पुंसि वै रेतः भवति) पुरुषमें निश्चयसे वीर्य होता है (तत् स्त्रियां अनु षिच्यते) वह स्त्रियोंमें सींचा जाता है, (तत् वै पुत्रस्य वेदनं) वह पुत्र प्राप्तिका साधन है, (तत् प्रजापतिः अब्रवीत्) यह प्रजापतिने कहा है॥ २ ॥

(प्रजापतिः अनुमतिः) प्रजापालक पिता अनुकूल मति धारण करे और (सिनी-वाली अचीक्लृपत्) गर्भवती स्त्री समर्थ होवे, ऐसा होने पर (पुमांसं उ इह दधत्) पुत्र गर्भ ही यहां धारण होता है, (अन्यत्र स्त्रैषूयं दधत्) अन्य परिस्थितिमें स्त्रीगर्भ धारण होता है॥ ३ ॥

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति।

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेके लिये एक उपाय इस सूक्तमें कहा है, वह औषधि प्रयोगका उपाय यह है—

शमीं अश्वत्थ आरूढः तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं, तत् स्त्रीष्वाभरामसि॥ (मं. १)

' (१) शमी वृक्षपर उगा और बढा हुआ पीपलका वृक्ष होता है, वह पीपल पुत्र रूप गर्भको धारण करानेवाला होता है। अर्थात् इसका औषध बनाकर यदि स्त्री सेवन करेगी तो वह स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेवाली बनेगी। (२) यह पीपल निश्चयसे पुत्र उत्पन्न करनेवाला है, (३) इसके सेवनसे निश्चयसे पुत्र उत्पन्न होता है, (४) पुत्र उत्पत्तिके लिये इस पीपलके औषधको स्त्रियोंको देना चाहिये।

शमीके वृक्षपर उगे पीपल वृक्षके पञ्चाङ्गका चूर्ण करके मधुके साथ सेवन किया जावे अथवा अन्य दूध आदि द्वारा सेवन किया जावे। इसके सेवनसे स्त्रीका गर्भाशय पुरुष गर्भ बनानेमें समर्थ होता है। जिस स्त्रीको लडकियां ही होती हैं उस स्त्रीको यह औषध देनेसे उसमें, गर्भाशयमें परिवर्तन होकर, पुरुष गर्भ उत्पन्न करनेकी शक्ति आ सकती है।

पुंसवन और स्त्रैषूय।

पुरुष पुत्र उत्पन्न होनेका नाम ' पुंसवन ' और लडकी उत्पन्न होनेका नाम ' स्त्रैषूय ' है। ये दोनों नाम इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जो पुरुष संतान निश्चयसे चाहते हैं वे इस औषधीका उपयोग करें। इस मंत्रके श्लेष अर्थसे और भी एक आशय व्यक्त होता है, वह देखने योग्य है—

१ अश्व+त्थः— अश्वका अर्थ वाजी है। वाजीकरणका अर्थ पुरुषको पुरुष शक्तिसे युक्त करना है। अश्व शब्दका अर्थ यहां घोडेके समान पुरुष धर्मसे युक्त और समर्थ पुरुष। (अश्व) घोडेके समान जो (त्थ, स्थः) रहता है ऐसा बलवान् पुरुष।

२ शमी— मनकी वृत्तियां उछलने न देनेवाली स्त्री, अर्थात् जो धर्मानुकूल गृहस्थधर्म नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री।

ऐसे स्त्रीपुरुषोंके संबंधसे निश्चित पुरुष संतान होती है। पाठक इसमें देखें कि इस स्त्रीपुरुषसंबंधमें वीर्यका बल अधिक होने और रजकी न्यूनता रखनेका विधान किया है इसी कारण निश्चयसे पुत्र संतान होती है। अर्थात् पुरुष अधिक बलशाली हुआ तो पुरुषसंतान और स्त्री बलशालिनी हुई तो स्त्रीसंतान होती है। यहां बलका अर्थ पुरुषवीर्य और स्त्रीरजका भाव लेना योग्य है।

द्वितीय मंत्र गर्भाधान परक है और स्पष्ट है। तृतीय मंत्रमें फिर श्लेषार्थसे कुछ विशेष आशय कहा है। वह अब देखिये—

१ प्रजापतिः— अपने संतानोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेमें समर्थ गृहस्थी पुरुष।

२ अनुमतिः— परस्पर अनुकूल प्रेमपूर्ण मन रखनेवाले स्त्री या पुरुष।

३ सिनीवाली— सिनका अर्थ है चन्द्रकला, उसका बल बढानेवाली स्त्री सिनीवाली है। जिस प्रकार शुक्लपक्षकी रात्रीमें चन्द्रकी कलायें बढती हैं, उस प्रकार जिस स्त्रीके गर्भाशयमें गर्भकी कलाएं बढती हैं।

ये शब्द बडे विचारणीय हैं। सन्तान उत्पन्न वहीं करें कि जो उनके पालन पोषणका भार सहन करनेमें समर्थ हो। सन्तानोत्पत्ति करना है तो स्त्री-पुरुष परस्पर अनुकूल संमति रखें, तो ही समान गुणवाला पुत्र होगा। उनमें विरोध होगा तो संतान भी विरुद्ध गुणधर्मवाली होगी। गर्भवती स्त्री समझे कि मेरे अन्दर चंद्रमा जैसा अपनी कलाओंसे बढनेवाला गर्भ रहा है और उसकी सुवृद्धिका प्रबंध करना मेरा कर्तव्य है। इस प्रकार व्यवस्था होनेसे पुरुष सन्तान होती है। इसके विपरीत अवस्था होनेसे स्त्री सन्तान होती है अथवा नपुंसक सन्तान होगी।

अर्थात् पुरुष वीर्यकी न्यूनता, स्त्री रजकी अधिकता, पुरुष और स्त्रीके मनोवृत्तियोंमें विरोध इत्यादि कारणसे स्त्री सन्तान और रजवीर्यकी समानतासे नपुंसक सन्तान होती है।

उत्तम वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें और वास्तविक रीतिसे प्रयोग करके देखें और इस पुंसवन और स्त्रैषूयके शास्त्रका निश्चय करें।

सर्प-विष-निवारण।

[सूक्त १२]

(ऋषिः — गरुत्मान्। देवता — तक्षकः।)

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्। रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा। यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥
मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु। मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूर्यः द्यां इव) जिस प्रकार सूर्य द्युलोकको जानता है, उस प्रकार मैं (अहीनां जनिम परि अगमं) सर्पोंके जन्मवृत्तको जानता हूं। (रात्री हंसात् अन्यत् जगत् इव) रात्री जैसी सूर्यसे भिन्न जगत्का आवरण करती है (तेन ते विषं वारये) उसी प्रकार तेरे विषका मैं निवारण करता हूं ॥ १ ॥

(ब्रह्माभिः ऋषिभिः देवभिः) ब्राह्मणों, ऋषियों और देवोंने (यत् पुरा विदितं) जो पूर्वकालमें जान लिया था (तत् भूतं भव्यं आसन्वत) वह भूत, भविष्यकालमें रहनेवाला ज्ञान है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष दूर करता हूं ॥ २ ॥

(मध्वा पृञ्चे) मधुसे सिंचन करता हूं, (नद्यः, पर्वताः, गिरयः मधु) नदियां, पर्वत, पहाड सब मधु देवें। (परुष्णी शीपाला मधु) परुष्णी और शीपाला मधुरता देवे। (आस्ने शं अस्तु) तेरे मुखके लिये शान्ति और (हृदे शं) हृदयके लिये शान्ति मिले ॥ ३ ॥

इस मंत्रमें नदियों और पर्वतोंके झरनों आदिके जलकी धारासे सर्पविष उतारनेका विधान प्रतीत होता है। परंतु निश्चय नहीं है। इसकी खोज सर्पविषचिकित्सकको करनी चाहिये। जलधारासे सर्पविष दूर करनेका विधान वेदमें अन्य स्थानमें भी है। परंतु उसका तात्पर्य क्या है, यह समझमें नहीं आता। यदि बिच्छूका विष चढ रहा हो तो उसपर जलकी धारा एक वेगसे गिरानेसे बिच्छूका विष उतारता है। यह अनुभव हमने लिया है। परंतु इससे सर्पविष उतरता है, ऐसा मानना कठिन है। इसी प्रकार इस सूक्तके अन्य विधान भी विचारणीय हैं। अर्थात् इस सूक्तका विषय अन्वेषणीय है। जो इसकी चिकित्सा जानते हों वे इसका अधिक विचार करें।

मृत्यु ।

[सूक्त १३]

(ऋषि — अथर्वा । (स्वस्त्ययनकामः) । देवता — मृत्युः ।)

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः । अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥
नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः । सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥
नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः । नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (**देववधेभ्यः नमः**) ब्राह्मणोंके शस्त्रोंको नमस्कार, (**राजवधेभ्यः नमः**) क्षत्रियोंके शस्त्रोंको नमस्कार (**अथो ये विश्यानां वधाः**) और जो वैश्योंके शस्त्र हैं उनको नमस्कार है और हे मृत्यो ! (**ते नमः अस्तु**) तेरे लिये नमस्कार होवे ॥ १ ॥

(**ते अधिवाकाय नमः**) तेरे आशीर्वादको नमस्कार और (**ते परावाकाय नमः**) तेरे प्रतिकूल वचनको भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (**ते सुमत्यै नमः**) तेरी उत्तम मतिके लिये नमस्कार और (**ते दुर्मत्यै इदं नमः**) तेरी दुष्ट मतिको भी यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(**ते यातुधानेभ्यः नमः**) तेरे यातना देनेवाले रोगोंको नमस्कार और (**ते भेषजेभ्यः नमः**) तेरे औषध उपायोंके लिये भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (**ते मूलेभ्यः नमः**) तेरे मूल कारणोंको नमस्कार और (**ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः**) ब्राह्मणोंको भी मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

मृत्युके प्रकार ।

इस सूक्तमें मृत्युके कई प्रकार कहे हैं, देखिये—

१ **देववधः** = देवोंके द्वारा होनेवाला वध अथवा मृत्यु । अग्नि, वायु, सूर्यादि देव हैं, ब्राह्मण भी देव हैं । इनके कारण होनेवाला मृत्यु । अग्नि प्रकोप, वायु बिगडने, सूर्यके उत्ताप, तथा ब्राह्मणादिकोंके कारण जो मृत्यु होती हैं ।

२ **राजवधः** = लडाईमें होनेवाला वध, अथवा राजपुरुषोंके व्यवहारोंसे होनेवाली मृत्यु ।

३ **विश्यानां वधः** = वैश्यों, पूंजीपतियों अथवा धनवानोंके कारण होनेवाली मृत्यु ।

इन तीन कारणोंसे मृत्यु होती हैं। अतः इनका सुधार होना चाहिये । तथा—

४ **अधिवाकः** = अनुकूल वचन ।

५ **परावाकः** = प्रतिकूल वचन ।

६ **सुमतिः** = उत्तम बुद्धि, और

७ **दुर्मतिः** = दुष्टबुद्धि ।

ये भी चार कारण हैं जिनसे मृत्यु होती है । अनुकूल वचनका अतिरेक होनेसे भी अविवेक होकर मृत्यु होती है, प्रतिकूल वचनसे निराशा होकर मृत्यु होती है । उत्तम बुद्धि होनेसे केवल बौद्धिक कार्योंका ही ध्यान करनेके कारण शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होकर मृत्यु होती है और दुर्मतिसे तो मृत्यु होती ही है । तथा—

८ **यातुधानः** = यातना देनेवाले रोग मृत्यु करते हैं, और

९ **भेषजं** = औषधि उपाय भी किसी किसी समय मृत्यु लानेवाले होते हैं ।

ये और इससे भिन्न जो भी मृत्युकी जडें हैं, उन सबको दूर करना चाहिये ।

यही ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंका कार्य है । इस कारण उनको नमस्कार है । सबको प्रयत्न करके इन सब मृत्युके कारणोंको दूर करके अपने आपको दीर्घजीवी बनानेका यत्न करना चाहिये ।

क्षयरोगका निवारण।

[सूक्त १४]

(ऋषिः — बभ्रुपिंगलः। देवता — बलासः।)

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्। बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥
निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा। छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥
निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिशुको यथा। अथो इट इव हायनोऽप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्थिस्रंसं परुस्रंसं) हड्डियों और जोडोंमें ढीलापन लानेवाले, (आस्थितं हृदयामयं) शरीरमें रहनेवाले हृदयके रोगको अर्थात् (सर्वं बलासं) सब क्षयरोगको और (यः अंगेष्ठाः च पर्वसु) जो अवयवों और जोडोंमें रहता है, उस सब रोगको (नाशय) नाश कर दे ॥ १ ॥

(बलासिनः बलासं निः क्षिणोमि) क्षयरोगीसे क्षयरोगको दूर करता हूं (यथा मुष्-करं) जिस प्रकार चोरी करनेवालेको दूर किया जाता है। (अस्य बंधनं छिनद्मि) इस रोगके संबंधको छेद डालता हूं, (उर्वार्वाः मूलं इव) जैसे ककडीके जडको काटते हैं ॥ २ ॥

हे (बलास) क्षयरोग! (इतः निः प्रपत) यहांसे हट जा। (यथा आशुंगः शिशुकः) जिस प्रकार शीघ्रगामी बछडा जाता है। (अथो अवीरहा अप द्राहि) और वीरोंका नाश न करनेवाला तू यहांसे भाग जा। (हायनः इटः इव) जैसा प्रतिवर्ष उगनेवाला घास नाशको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कफक्षय।

इस सूक्तमें 'बलास' शब्द है, इसका अर्थ कफ और कफक्षय है। यह शरीरके पर्वों, जोडों, हृदय और अन्यान्य अवयवोंमें रहता है और रोगोंका नाश करता है। इसको दूर करनेका वर्णन इस सूक्तमें है। इसमें जिस उपायका वर्णन है, उसका पता नहीं चलता। इसलिये क्षयरोग निवारणका जो उपाय इस सूक्तमें कहा है उसके विषयमें कुछ अधिक कहना, बिना अधिक खोज किये, कठिन है। पाठकोंमें जो वैद्य और मानसचिकित्सक होंगे वे इसका अधिक मनन करेंगे तो कुछ पता चल सकता है। हमारे विचारसे तो यह सूक्त मानस-चिकित्साका सूक्त है। अपने मनके स्वास्थ्य प्रभावपूर्ण विचारोंसे रोगीके रोग दूर होते हैं। इसका यहां संबंध प्रतीत होता है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करें।

मैं उत्तम बनूंगा।

[सूक्त १५]

(ऋषिः — उद्दालकः। देवता — वनस्पतिः।)

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः। उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥

अर्थ— (ओषधीनां उत्तमः असि) तू औषधियोंमें उत्तम है। (वृक्षाः तव उपस्तयः) अन्य वृक्ष तेरे समीप-वर्ती हैं। अतः (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाकर हमारा नाश करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुगामी होवे ॥ १ ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति। तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (सबन्धुः च असबन्धुः च) बन्धुवाला अथवा बन्धुरहित, (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तमः भूयासं) मैं उनमें उत्तम होऊंगा ॥ २ ॥

(यथा सोमः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः) जिस प्रकार सोम हविके पदार्थों और औषधियोंमें उत्तम बनाया है और (वृक्षाणां तलाशा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तमः भूयासं) मैं उत्तम बनूंगा ॥ ३ ॥

मैं श्रेष्ठ बनूंगा।

' मैं उत्तम बनूं, मैं श्रेष्ठ बनूं ' यह महत्वाकांक्षा मनुष्यमें होनी चाहिये। मनुष्यका अभ्युदय और निःश्रेयस इसी इच्छा पर निर्भर है। शत्रुको नीचे दबानेसे भी उनसे अपनी अवस्था उच्च बन सकती है, परंतु यहां कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अन्योंसे श्रेष्ठ बनो। अन्योंको नीचे गिराना नहीं है, अपितु अपनी योग्यता सबसे अधिक करनी है।

यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपास्ति अस्तु। (मं. १)

' जो हमारा नाश करना चाहता है वह हमारे पास उपस्थित होनेवाला होवे। ' तथा—

तेषां अहं उत्तमः भूयासम्। (मं. २)

' उनसे मैं सबसे उत्तम बनूंगा '। मैं अपनी योग्यता ऐसी बढाऊंगा कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे आश्रयसे रहनेवाले बनें।

अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे। और जगत्में जो उन्नतिके साधनके नियम हैं, उनको जानकर सबसे श्रेष्ठ बने।

सूचना— इस सूक्तमें आये ' उत्तम, तलाशा ' ये औषधियोंके भी नाम होंगे। परंतु इन औषधियोंका पता आजकल नहीं लगता। ' सोम ' भी आजकल प्राप्त नहीं है।

औषधिरसका पान।

[सूक्त १६]

(ऋषिः — शौनकः। देवता — चन्द्रमाः, मन्त्रोक्तदेवताः।)

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥
विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता। स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

अर्थ— (हे आबयो, आबयो, अनाबयो) फैलनेवाली और न फैलनेवाली औषधि! (ते रसः उग्रः) तेरा रस उग्र है। (ते करंभं आ अद्मसि) तेरे रसका हम पेय बनाते हैं ॥ १ ॥

(ते पिता विहल्हः) तेरा पिता विहल्ह है और (ते माता मदावती नाम) तेरी माता मदावती नामक है। (सः हिन त्वं असि) वही उनसे ही तू बनता है। (यः त्वं आत्मानं आवयः) जो तू अपने आत्माको रक्षा करता है ॥ २ ॥

(तौविलिके अव ईलय) प्रगतिके कार्यमें हमें प्रेरित कर। (अयं ऐलबः अव ऐलयीत्) यह भूमिके संबंधमें कार्य करनेवाला प्रेरणा करता है। हे (आल) समर्थ! (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला (निः अप इहि) हमसे दूर रह ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अर्थ— (पूर्वा अलसाला) पहिले तू आलसियोंको रोकनेवाली है, (उत्तरा सिलांजाला) दूसरी तू अणुओंतक पहुंचनेवाली है । तथा (नीलागलसाला) घर घरमें उपयोगी है ॥ ४ ॥

रसपान ।

इस सूक्तमें 'करंभ' शब्द है । दही और सत्तूका आटा मिलाकर बडा उत्तम पेय रस बनता है उसका यह नाम है । यह कष्टोंको हटानेवाला और बडा पुष्टि करनेवाला होता है । इसमें कई औषधियोंके रस मिलानेसे इसके गुण अधिक बढ जाते हैं ।

'विहल्ह' (पिता) वृक्षका 'मदावती' नामक (माता) औषधिपर कलम करनेसे जो औषधि बनती है वह (आत्मानं आवयः) आत्माकी-अपनी-रक्षा करनेवाली होती है । यह द्वितीय मंत्रका कथन है । यह मातापिताके स्थानकी औषधियां इस समय अप्राप्त हैं ।

इसी प्रकार इस सूक्तमें आये अन्यान्य नाम किन वनस्पतियोंके हैं, इसका पता नहीं चलता । आबयु, अनाबयु, विहल्ह (पिता), मदावती (माता), तौविलिका, ऐलब, बभ्रु, बभ्रुकर्ण, आल, अलसाला (पूर्वा), शिलाञ्जाला (उत्तरा), नीलागलसाला, इत्यादि नाम इस सूक्तमें आये हैं । इनका पता नहीं लगता । इसलिये इनपर अधिक लिखना असंभव है ।

गर्भधारणा ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — गर्भदृंहणम् ।)

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) भूतोंका गर्भ धारण करती है, (एव ते गर्भः) इस प्रकार तेरा गर्भ (सूतुं अनु सवितवे ध्रियतां) संतानको अनुकूलतासे उत्पन्न करनेके लिये स्थिर होवे ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) इन वनस्पतियोंका धारण करती है । इसी प्रकार संतान उत्पन्न होनेके लिये तेरे अंदर गर्भ स्थिर होवे ॥ २ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (पर्वतान् गिरीन् दाधार) पर्वतों और पहाडोंको धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुखसे प्रसूति होनेके लिये स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (विष्ठितं-जगत्) विविध प्रकारसे रहनेवाले जगत्को धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुख प्रसूतिके लिये स्थिर रहे ॥ ४ ॥

स्त्रीको अपने गर्भाशयमें गर्भ स्थिर रखनेकी इच्छा होती है, वह सफल करनेके लिये यह आशीर्वाद है ।

ईर्ष्या-निवारण।

[सूक्त १८]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ईर्ष्याविनाशनम्।)

ई॒र्ष्याया॒ ध्राजिं॑ प्रथ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒ताप॑राम्। अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं१॒॑ शोकं॒ तं ते॒ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥

यथा॑ भूमि॑र्मृ॒तम॑ना मृ॒तान्मृ॒तम॑नस्तरा। य॒थोत म॒म्रुषो॒ मन॑ ए॒वेर्ष्यो॑र्मृ॒तं मनः॑ ॥ २ ॥

अ॒दो यत्ते॑ हृ॒दि श्रि॒तं म॑न॒स्कं प॑तयिष्णु॒कम्। तत॑स्त ई॒र्ष्यां मु॑ञ्चामि॒ निरू॒ष्माणं॒ दृते॑रिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिं) तेरी ईर्ष्या-डाह-के पहिले वेगको (उत प्रथमस्याः अपरां) और पहिलेकी आगेकी गतिको तथा (हृदय्यं तं शोकं अग्निं) हृदयमें रहनेवाले उस शोक रूपी अग्निको (निर्वापयामसि) हम हटा देते हैं ॥ १ ॥

(यथा भूमिः मृतमनाः) जैसी भूमि मरे मनवाली है अथवा (मृतात् मृतमनस्तरा) मरेसे भी अधिक मरे मनवाली है, (उत यथा मम्रुषः मनः) और जैसा मरनेवालेका मन होता है (एव ईर्ष्योः मनः मृतं) उस प्रकार ईर्ष्या-डाह-करनेवालेका मन मरा होता है ॥ २ ॥

(अदः यत् ते हृदि श्रितं) जो तेरे हृदयमें रहा हुआ (पतयिष्णुकं मनस्कं) गिरनेवाला अल्प मन है, (ततः ते ईर्ष्यां निः मुञ्चामि) वहांसे तेरी ईर्ष्याको मैं हटाता हूं। (दृतेः ऊष्माणं इव) जिस प्रकार धौंकनीसे वायुको निकालते हैं ॥ ३ ॥

डाहको दूर करना।

दूसरेकी उन्नति देख न सकनेका नाम 'ईर्ष्या' अथवा डाह है। यह मनमें तब उत्पन्न होता है कि जब दूसरेका उत्कर्ष सहा नहीं जाता। यह ईर्ष्या कितनी हानि करती है, इस विषय में देखिये—

१ हृदय्यं शोकं अग्निं = हृदयके अंदर शोक उत्पन्न करती है, शोकसे हृदय जलने लगता है और यह आग आयुका क्षय करती है। (मं. १)

२ ईर्ष्योः मृतं मनः = ईर्ष्या करनेवालेका मन मरे हुए समान हो जाता है, मनमें कोई शुभ विचार नहीं आते, जीवनहीन मन होता है। इसलिये उसको 'मृतमनाः' मुर्दा मनवाला कहते हैं। वह (मृतात् मृतमनस्तरः) मुर्देसे भी अधिक मरा होता है। (मं. २)

३ पतयिष्णुकं मनस्कं = उसका मन गिरनेवाला होता है और छोटा संकुचित वृत्तिवाला होता है।

देखिये यह ईर्ष्या कितनी घातक होती है, हृदयको जलाती है, मनको मार देती है और उसका पतन कराती है। इसलिये यह ईर्ष्या मनसे दूर करनी चाहिये। ईर्ष्या दूर होनेसे हृदय शान्त होगा, मनमें सजीव चैतन्य कार्य करेगा और मन भी ऊपर उठानेवाले विचारोंसे परिपूर्ण होगा। इस कारण ईर्ष्या दूर होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्ष्या मनमें रहनेसे हानि होती है। इसलिये जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके मनुष्य ईर्ष्यासे अपने आपको दूर रखे।

आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना।

[सूक्त १९]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — चन्द्रमाः, नानादेवताः।)

पु॒नन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑वो धि॒या। पु॒नन्तु॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ पव॑मानः पुनातु मा ॥ १ ॥

अर्थ— (देवजनाः मा पुनन्तु) दिव्यजन मुझे शुद्ध करें। (मनवः धिया पुनन्तु) मननशील अपनी बुद्धिसे

पव॑मानः पुनातु मा क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑ । अथो॑ अरि॒ष्टता॑तये ॥ २ ॥
उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च । अ॒स्मान् पु॑नीहि॒ चक्ष॑से ॥ ३ ॥

पवित्र करें। (विश्वा भूतानि पुनन्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म, बल और दीर्घ आयुके लिये (अथो अरिष्टतातये) और कल्याणके विस्तारके लिये (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥

हे (देव सवितः) सबके उत्पादक देव ! तू (चक्षसे) तेरे दर्शन होनेके लिये (उभाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सवेन च) यज्ञसे (अस्मान् पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति, दीर्घ आयु बढानेके लिये और कल्याणकी प्राप्ति होनेके लिये विचार व आचारकी पवित्रतासे अपने आपकी पवित्रता करना हरएकको उचित है। उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वरप्रार्थना है। जो मनोभावसे यह प्रार्थना करेगा, उसकी पवित्रता होगी, इसमें संदेह नहीं है।

क्षयरोगनिवारण ।

[सूक्त २०]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — यक्ष्मनाशनम् ।)

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑त एति शु॒ष्मिण॑ उ॒तेव॑ म॒त्तो वि॒लप॒न्नपा॑यति ।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छतु॒ कं चि॑दव्र॒तस्तपु॑र्वधाय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥ १ ॥
नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥ २ ॥
अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (दहतः शुष्मिणः अस्य अग्नेः इव) जलानेवाले इस बलवान् अग्निके तापके समान यह ज्वर (एति) व्यापता है। (उत मत्तः इव विलपन् अपायति) और उन्मत्तके समान बडबडाता हुआ चला जाता है। (अव्रतः अस्मत् अन्यं कं चित् इच्छतु) यह अनियमवाले मनुष्यको आनेवाला ज्वर हमसे भिन्न किसी दूसरे मनुष्यको ढूंढ लेवे। (तपुः-वधाय तक्मने नमो अस्तु) तपाकर वध करनेवाले इस ज्वरको नमस्कार होवे ॥ १ ॥

रुद्र, (तक्मने) ज्वर, (त्विषीमते) तेजस्वी राजा वरुण (दिवे पृथिव्यै ओषधिभ्यः नमः) द्युलोक, भूलोक और औषधियाँ, इन सबके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

(अयं यः अभिशोचयिष्णुः) यह जो शोक बढानेवाला है, (विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि) सब रूपोंको पीले और निस्तेज बनाता है, (तस्मै ते अरुणाय बभ्रवे) उस तुझ लाल, भूरे और (वन्याय तक्मने नमः कृणोमि) वनमें उत्पन्न ज्वरको नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

ज्वरके लक्षण और परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरके लक्षण और परिणाम कहे हैं देखिये उनके सूचक शब्द ये हैं—

१ अग्निः इव दहन् = अग्निके समान जलाता है, ज्वर आनेके बाद शरीर अग्निके समान उष्ण होता है और वह उष्णता रक्तको जलाती है। (मं. १)

२ शुष्मिन् = शोष उत्पन्न करता है, सुखा देता है। शरीरको सुखाता है। (मं. १)

३ मत्त इव विलपन् = पागल जैसा रोगीको बनाता है, इस कारण वह रोगी मन चाहे बातें बडबडाता रहता है। (मं. १)

४ अव्रतः = यह ज्वर व्रतहीन अर्थात् नियम पालन न करनेवालेको ही आता है। अर्थात् नियमानुकूल व्यवहार करनेवालेको नहीं सताता। (मं. १)

५ तपुः वधः = यह ज्वर तपाके वध करता है। (मं. १)

६ तक्मा = बडे कष्ट देता है। (मं. १)

७ रुद्रः = यह रुलानेवाला है। (मं. २)

८ अभिशोचयिष्णुः = शोक बढानेवाला है। (मं. ३)

९ विश्वा रूपाणि हरिता कृणोति = शरीरको हरा पीला अर्थात् निस्तेज बनाता है। ज्वर आनेवालेका शरीर फीका होता है। (मं. ३)

१० वन्यः = वनमें इसकी उत्पत्ति है। (मं. ३)

इस सूक्तमें इतने ज्वरके कारण, लक्षण और परिणाम कहे हैं। व्रत पालन अर्थात् नियम पालन करनेसे यह ज्वर नहीं आता और आया हुआ हट जाता है। इसलिये इसको 'अव्रत' कहा है। पृथिवी-भूमी, ओषधी, वरुण राजाके सब जलस्थान, रुद्रके रुद्रसूक्तोक्त स्थान और रुद्र इनकी सुव्यवस्थासे यह ज्वर हट जाता है।

रुद्र सूक्तमें रुद्रका जो वर्णन है उसका विचार करनेसे पता लगता है कि यह ज्वर रुद्रका रूप है। रुद्रके दो प्रकारके रूप हैं, एक घोर (उग्र) और एक शिव (शान्त)। इनके सम रहनेसे मनुष्यको आरोग्य प्राप्त होता है और विषम होनेसे रोग सताते हैं। इस प्रकार योजना द्वारा ज्वर दूर करनेका उपाय जाना जा सकता है। यह वैद्योंका विषय है, इसलिये वैद्य लोग इसका अधिक मनन करें।

॥ यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

केशवर्धक औषधी।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — शंतातिः। देवता — चन्द्रमाः।)

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा। तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्। सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥
रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ। उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमाः याः तिस्रः पृथिवीः) ये जो तीन लोक हैं (तासां भूमिः उत्तमा) उनमें यह भूमि उत्तम है। (तासां त्वचः अधि) उनमें त्वचाके विषयमें (भेषजं अहं उ सं जग्रभं) यह औषध मैंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(भेषजानां श्रेष्ठं असि) औषधोंमें यह श्रेष्ठ है, (वीरुधानां वसिष्ठं) वनस्पतियोंमें यह बसानेवाला अर्थात् श्रेष्ठ है। (यथा यामेषु देवेषु) जैसे चलनेवाले देवोंमें (सोमः भगः वरुणः) सोम, भग और वरुण श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

हे (रेवतीः अनाधृषः सिषासवः) सामर्थ्य युक्त, अहिंसित और आरोग्य देनेवाले रेवती औषधियो! (सिषासथ) आरोग्य देनेकी इच्छा करो। (उत केशदृंहणीः स्थ) और बालोंको बलवान् करनेवाली हो। (अथो ह केशवर्धिनीः) और बालोंको बढानेवाली हो ॥ ३ ॥

'रेवती' औषधी केश बढानेवाली और बालोंको दृढ करनेवाली है। यह त्वचाके रोगोंके लिये भी उत्तम है। यह औषधि आजकल नहीं मिलती, इसलिये इसकी खोज करनी चाहिये।

वृष्टि कैसी होती है ?

[सूक्त २२]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — आदित्यरश्मिः, मरुतः ।)

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू दुः ॥ १ ॥
पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥
उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

अर्थ— (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हुए (सु-पर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्य किरण (कृष्णं नियानं दिवं) सबको आकर्षण करनेवाले सबके यानरूप द्युलोकस्थ सूर्यके प्रति (उत् पतन्ति) चढते हैं । (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे पृथ्वीको भिगाते हैं ॥ १ ॥

हे (रुक्मवक्षसः मरुतः) चमकनेवाले हृदयवाले वायु देवो ! (यत् एजथ) जब तुम वेगसे चलते हो तब (अपः ओषधीः) जलों और औषधियोंको (पयस्वतीः शिवाः कृणुथ) रसवाली और हितकारिणी करते हो । हे (नरः मरुतः) नेता मरुतो ! (यत्र च मधु सिंचत) और जहां मधुर जल सींचते हो (तत्र ऊर्जं सुमतिं च पिन्वत) वहां बल देनेवाला अन्न और उत्तम बुद्धि स्थापित करते हो ॥ २ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (तान् उदप्रुतः इयर्त) उन उदकसे भरपूर करनेवाले मेघोंको भेजो । (या वृष्टिः) जिनसे होनेवाली वृष्टि (विश्वाः निवतः पृणाति) सब निम्न स्थानोंको भर देती है । (ग्लहा) मेघोंका शब्द (एजाति) सबको कंपित करता रहे, (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार दुःखित कन्या पिताको कंपित कर देती है तथा वह शब्द (एरुं तुंदाना) मेघको प्रेरित करे, (पत्या जाया इव) जैसी पतिके साथ रहनेवाली धर्मपत्नी गृहस्थीके संसारमें प्रेरणा करती है ॥ ३ ॥

मेघ कैसे बनते हैं ?

सूर्यकिरण पृथ्वीके ऊपरका जल हरण करते हैं इस कारण उनको (हरिः, हरयः) ये नाम दिये हैं । वे सब स्थानको पूर्ण करते हैं, इसलिये सूर्यकिरणोंको (सु-पर्णाः सुपूर्णाः) कहते हैं अथवा उनकी विशेष गतिके कारण उनको यह नाम मिला है । ये किरण (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हैं, मानो जलका वस्त्र पहनते हैं और (दिवं उत्पतन्ति) द्युलोकमें— ऊपर आकाशमें— ऊपर जाते हैं । अर्थात् पृथ्वीके ऊपरका जलांश लेकर ये सूर्यकिरण ऊपर जाते हैं और (ऋतस्य सदनं) जलके स्थान अन्तरिक्षमें रह कर वहां मेघरूपमें परिणत होकर उन मेघोंसे पृथ्वीपर फिर वृष्टिरूपमें वही जल आता है । अर्थात् जो जल सूर्यकिरणसे ऊपर खींचा जाता है वही जल वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर आता है । यह कार्य सूर्यकिरणोंका है ।

यह सूर्यकिरणोंका कार्य सदा होता रहता है, वे समुद्रसे पानी ऊपर खींचते हैं, मेघ बनाते हैं और वृष्टि होती है, इस प्रकार जलकी शुद्धि होती है । पृथ्वीपरका जो जल ऊपर बाष्परूपसे खींचा जाता है वह वहां शुद्ध बनकर वृष्टिरूपसे फिर

पृथ्वीपर गिरता है, मानो, वह (मधु सिंचथ) मीठे शहदकी ही वृष्टि होती है। इस वृष्टिसे (ओषधीः शिवाः) हितकारक औषधियां बनती हैं और (पयस्वतीः) उत्तम रसवाली भी बनती हैं ये औषधियां रोगियोंके शरीरोंमें रहनेवाले दोषोंको (दोष-धीः) धोती हैं और उनको नीरोग बनाती हैं, इन औषधियों और विविध रसपूर्ण अन्नको खानेसे मनुष्य (ऊर्जं सुमतिं च) बल और उत्तम बुद्धिको प्राप्त करते हैं। यदि वृष्टि न हुई तो इन पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती और अकाल होता है, इसलिये मनुष्य निर्बल और मतिहीन बनते हैं। इस प्रकार वृष्टिका महत्त्व कितना है यह देखिये।

पानीसे भरे बादल वायुके द्वारा लाये जाते हैं और उनसे जो वृष्टि होती है वह पृथ्वीपरके तालाब, कुंवे, नदियां आदिकोंको भर देती है और इस कारण सर्वत्र आनंद फैलता है।

सारांशसे यह इस सूक्तका सार है। पाठक इसका विचार करके सृष्टिके विषयका विज्ञान जानें।

जल।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — आपः।)

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वरेण्यक्रतुः अहं) प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं (तत् सस्रुषीः) उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं और (दिवा नक्तं च अपसः सस्रुषीः) दिन रात जलकी धाराओंके प्रवाहोंमें बहनेवाले (देवीः अपः) दिव्य जलको (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ १ ॥

(ओताः कर्मण्याः आपः) सर्वत्र व्यापक और कर्म करानेवाले जल (प्रणीतये इतः मुञ्चन्तु) उत्तम गतिको प्राप्त करनेके लिये इस निकृष्ट अवस्थासे मुझे छुडावें और (सद्यः एतवे कृण्वन्तु) शीघ्र ही प्रगतिको प्राप्त करावें ॥ २ ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सबकी उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी इस सृष्टिमें (मानुषाः कर्म कृण्वन्तु) मनुष्य पुरुषार्थ करें। और (अपः ओषधीः) जल और जलसे उत्पन्न हुई औषधियां (नः शं शिवाः च भवन्तु) हमारे लिये कल्याण करनेवाली होवें ॥ ३ ॥

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला और प्रवाहोंमें बहनेवाला जल सब मनुष्योंको सुख और शान्ति देवे और उस जलसे हृष्ट-पुष्ट हुए मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ करके उन्नतिको प्राप्त करें।

[सूक्त २४]

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः। आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योत-भेषजम् ॥ १ ॥

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्। आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥२॥

अर्थ— (आपः हिमवतः प्रस्रवन्ति) जलधारायें हिमालयसे बहती हैं। हे (स-मह) महिमाके साथ रहनेवाले! (सिन्धौ संगमः) उनका संगम समुद्रमें होता है। वह (देवीः) दिव्य जलधाराएं (मह्यं तत् हृद्योत-भेषजं ददन्) मुझे वह हृदयकी जलनका औषध देती हैं ॥ १ ॥

(यत् यत् मे अक्ष्योः पार्ष्ण्योः प्रपदोः च) जो जो मेरे दोनों आंखों, एडियों और पांवोंमें दुःख (आदिद्योत) प्रकट होता है, (तत् सर्वं) उस सब दुःखको (भिषजां सुभिषक्तमाः आपः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य रूपी जल (निष्करन्) हटाता है ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१स्थन। दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ—(सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः) समुद्रकी पत्नियां और सागरकी रानियां (याः सर्वाः नद्यः स्थन) जो सब नदियां हैं, वे तुम (नः तस्य भेषजं दत्त) हमें उसकी औषधि दो (तेन वः भुनजामहै) उससे तुम्हारा हम उपभोग करें ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा।

इस सूक्तमें जलका चिकित्सा धर्म लिखा है। यहां जिस जलका वर्णन है वह जल हिमालय जैसे बर्फवाले पहाडोंसे बहनेवाला है, अन्य नहीं। यह हिमपर्वतोंसे बहनेवाले नद, नदी और अन्य झरने बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं। यह जल हृदयकी जलनको दूर करनेवाला है।

आंख, पीठ, एडी, पांव आदि स्थानकी पीडा भी इस जलसे दूर होती है। यह जल (भिषजां सुभिषक्तमाः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य और औषधोंसे भी उत्तम औषधी है।

ये सब नदियां महासागरकी स्त्रियां हैं, इनके जलप्रवाहोंमें औषध भरा पडा है, इसका उपयोग मनुष्योंको करना उचित है। यह नदीके जलप्रवाहका तथा सागरके जलका भी गुण हो सकता है।

जलका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह बात इसमें स्पष्ट नहीं हुई है। तथापि जलचिकित्साके विषयकी खोज करते समय इस सूक्तका बहुत उपयोग हो सकता है।

कष्टोंको दूर करनेका उपाय।

[सूक्त २५]

(ऋषिः — शुनःशेपः। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (पंच च याः पञ्चाशत् च) पांच और पचास जो पीडाएं (मन्याः अभि संयन्ति) गलेके भागमें होती हैं, (सप्त च याः सप्ततिः च) सात और सत्तर जो पीडाएं (ग्रैव्याः अभि संयन्ति) कण्ठके भागमें होती हैं तथा (नव च याः नवतिः च) नौ और नव्वे जो पीडाएं (स्कंध्याः अभि संयन्ति) कन्धेके ऊपर होती हैं (इतः ताः सर्वाः) यहांसे वे सब पीडाएं (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें (अपचितां वाकाः इव) जिस प्रकार पूजनीय सज्जनोंके सन्मुख साधारण लोकोंके वचन नष्ट होते हैं ॥ १-३ ॥

मनुष्य शुद्ध बनें और अपनी शुद्धतासे अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखोंको दूर करें। जिस प्रकार ज्ञानीके सन्मुख मूर्खकी वक्तृता नहीं ठहरती, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यके पास रोग और दुःख नहीं ठहरते।

पापी विचारका त्याग करो।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — पाप्मा।)

अव॑ मा पाप्मन्त्सृज व॒शी सन् मृ॑डयासि नः। आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पा॑प्मन् धे॒ह्यवि॑ह्रुतम् ॥ १ ॥

यो नः॑ पाप्मन् न जहा॑सि॒ तमु॑ त्वा जहिमो व॒यम्। प॒थामनु॑ व्यावर्त॑ने॒ऽन्यं पा॒प्मानु॑ पद्यताम् ॥ २ ॥

अ॒न्यत्रा॒स्मन्न्यु॑च्यतु सहस्रा॒क्षो अम॑र्त्यः। यं द्वेषा॑म॒ तमृ॑च्छतु॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमिज्ज॑हि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (मा अवसृज) मुझे छोड दे। (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें करता हुआ तू हमें सुख देता है, ऐसा प्रतीत होता है। हे (पाप्मन्) पापी विचार (भद्रस्य लोके) कल्याणके स्थानमें (मा अविन्हुतं आ धेहि) मुझे अकुटिल अवस्थामें रख॥ १॥

हे (पाप्मन्) हे पापी विचार ! (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोडता है, (तं त्वा उ वयं जहिम) उस तुझको हम छोड देते हैं। (पथां अनु व्यावर्तने) मार्गोंके अनुकूल घुमाव पर (पाप्मा अन्यं अनु पद्यतां) पापी विचार दूसरेके पास चला जावे॥ २॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्यः) हजार आंखवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मत् अन्यत्र नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे। (यं द्वेषाम तं ऋच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके पास जावे, (यं उ द्विष्मः तं इत् जहि) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर॥ ३॥

पापी मन।

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं। इसलिये मनसे पापी संकल्प सबसे प्रथम दूर करने चाहिये। मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर हो सकते हैं।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको वशमें करते हैं और थोडे प्रयत्नसे अधिक सुख प्राप्त करा देनेके प्रलोभनसे, अर्थात् सुख देनेके प्रलोभनमें फंसाते हैं। इस लिये इनसे बचना चाहिये।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये ऐसा करनेसे ही प्रगतिके मार्गकी अनुकूलता हो सकती है। तात्पर्य पापी विचार दूर करके चित्तको शुद्ध करनेसे ही उन्नतिका सच्चा मार्ग खुला हो सकता है।

पापी विचार हजार आंखवाला है, इसलिये वह हमारी न्यूनता और कमजोरी झटपट जानता है और उस मार्गसे अन्दर प्रविष्ट होता है। शरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये। पापी विचारको दूर करनेसे अन्दरकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे। यह आत्मशुद्धि द्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है।

कपोत—विद्या।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — यमः, निर्ऋतिः।)

देवाः॑ क॒पोत॑ इषि॒तो यदि॒च्छन् दू॒तो निर्ऋ॑त्या इ॒दमा॑ज॒गाम॑।
तस्मा॑ अर्चाम कृ॒णवा॑म॒ निष्कृ॑तिं॒ शं नो॑ अस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (इषितः निर्ऋत्याः दूतः कपोतः) भेजा हुआ दुर्गतिका दूत कपोत (यत् इच्छन् इदं आजगाम) जिसकी इच्छा करता हुआ इस स्थानके प्रति आया है। (तस्मै अर्चाम) उसकी हम पूजा करते हैं और

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥
हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने ।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु । मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

उससे (निष्कृतिं करवाम) दुःख निवारण हम करते हैं। (नः द्विपदे चतुष्पदे शं अस्तु) हमारे दो पांववालों और चार पांववालोंके लिये शान्ति होवे ॥ १ ॥

(इषितः कपोतः नः शिवः अनागाः अस्तु) भेजा हुआ कपोत हमारे लिये कल्याणकारी और निष्पाप होवे। हे (देवाः) देवो ! (नः गृहं शकुनः) हमारे घरके प्रति वह शुभसूचक होवे । (विप्रः अग्निः हि नः हविः जुषतां) ज्ञानी अग्नि हमारी हवि लेवे और (पक्षिणी हेतिः नः परि वृणक्तु) पंखवाला यह हथियार हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(पक्षिणी हेतिः अस्मान् न दभाति) पंखवाला यह हथियार हमें न दबावे । (आष्ट्री अग्निधाने पदं कृणुते) अंगीठीके अग्निके पास यह अपना पांव रखता है। (नः गोभ्यः उत पुरुषेभ्यः शिवः अस्तु) हमारे गौओं और मनुष्योंके लिये यह कल्याणकारी होवे। हे (देवाः) देवो ! (कपोतः इह नः मा हिंसीत्) यह कपोत यहां हमारी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

कबूतर दूरदूर देशसे वार्ता लानेका कार्य करता है। यह हानिकारक वार्ता न लावे। शुभ वार्ता लावे, इस विषयमें यह प्रार्थना है। कबूतरके अंदर यह गुण है कि वह सिखानेपर कहींसे भी छोडा जाय तो सीधा घरपर आता है। प्रवासी लोग ऐसे शिक्षित कबूतर अपने पास रखते हैं और जहां जाना होता है, वहां जाकर उस कबूतरके गलेमें चिट्ठी बांधकर उसको छोड देते हैं। वह छोडा हुआ कबूतर घर आता है और घरवालोंको प्रवासीका संदेश पहुंचाता है।

इस सूक्तके निर्देशोंसे पता लगता है कि, इस कपोतविद्यामें और भी अधिक बातें हैं, जिनसे यह कबूतर बुरा और भला भी बन सकता है। परंतु इसका पता अभीतक नहीं लगा है। यह सूक्त कुछ पाठभेदसे ऋ० १०।१६५।१-३ में है, परंतु वहां देखनेसे भी इसपर विशेष प्रकाश नहीं पडता है। अतः खोज करनेवाले पाठकोंको उचित है कि इस विषयकी खोज वे करें और इस विद्याका आविष्कार करें।

इसी विषयका अगला सूक्त है वह अब देखिये—

[सूक्त २८]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — यमः, निर्ऋतिः।)

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः ।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥
परीमेऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

अर्थ— (ऋचा प्र-नोदं कपोतं नुदत) मंत्रके द्वारा भेजने योग्य कपोतको भेजो। हम तो (इषं मदन्तः) अन्नको प्राप्त करके आनंदित होते हुए (दुरिता पदानि संलोभयन्तः) और पापके चिन्हरूपी इसके अशुभ पादचिन्होंको मिटाते हुए (गां परिनयामः) गौको चारों ओर ले जाते हैं। (ऊर्जं हित्वा) जलस्थानको छोडकर (पथि-ष्ठः प्र पदात्) मार्गमें स्थित प्रवासी आगे चला जावे ॥ १ ॥

(इमे अग्निं परि अर्षत) इन्होंने अग्निको प्राप्त किया है, (इमे गां परि अनेषत) इन्होंने गौको प्राप्त किया है। और (देवेषु श्रवः अक्रत) देवोंमें यश संपादन किया है। अब (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इन लोगोंको भय दिखा सकता है ? ॥ २ ॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः प्रथमः) जो पहिला (बहुभ्यः पंथां अनुपस्पशानः) अनेकोंके लिये मार्गोंका निश्चय करता हुआ (प्रवतं आससाद) योग्य मार्ग प्राप्त करता है (यः अस्य द्विपदः) जो इसके दो पांववालों और (यः चतुष्पदः ईशे) जो चार पांववालोंके ऊपर स्वामित्व करता है, (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस मृत्यु देनेवाले यमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

वार्ताहर कबूतरको मंत्रका पवित्र उच्चार करके और ईश्वरकी प्रार्थना करके पवित्र इच्छासे भेजो। कभी घातक इच्छासे न भेजो। हम गौओंको पालते हैं, उत्तम अन्नके सेवनसे आनंदित होते हैं और पापवासनाओंको दूर करते हैं; इस लिये हमारा प्रवासी सुखपूर्वक आगे बढता जायगा। इसमें संदेह नहीं है।

जो प्रतिदिन अग्निमें हवन करते हैं, गायका सत्कार करते हैं और यश बढानेवाला पुण्यकर्म करते हैं, उनको डरानेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं होता है। इस लिये मनुष्य इस उपायसे अपने आपको कष्टोंसे बचा सकता है।

यमका अधिकार द्विपाद और चतुष्पाद सबपर समान है। वह सब लोगोंके मार्गको अर्थात् जीवनके मार्गोंको यथावत् जानता है। इसलिये उस यमको सब मनुष्य नमस्कार करें।

यह आशय इन तीनों मंत्रोंका है। इसमें पांचके मंत्रमें जो कहा है कि सत्कर्म करनेवालोंको कोई डरा नहीं सकता, यह बात हरएकको विशेष लक्ष्यमें रखनी चाहिये। अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

[सूक्त २९]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — यमः, निर्ऋतिः।)

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्ये॑तु यदुलूको वदति मोघमेतत् । यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥
यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः । कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥
अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात् । पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम् ।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पतत्रिणी हेतिः अमून् नि एतु) पंखवाला हथियार इन शत्रुओंको नीचे करे। (उलूकः यत् वदति मोघं एतत्) जो उल्लू बोलता है वह व्यर्थ है। (यत् वा कपोतः अग्नौ पदं कृणोति) अथवा जो कबूतर अग्निके पास पांव रखता है वह भी व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई अशुभ नहीं होगा ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (यौ प्रहितौ अप्रहितौ ते दूतौ) जो भेजे हुए अथवा न भेजे हुए तेरे दोनों दूत (नः इदं गृहं आ इतः) हमारे घरको आते हैं; (कपोतोलूकाभ्यां तत् अपदं अस्तु) कपोत और उल्लूके द्वारा वह पद रखने योग्य न होवे, अर्थात् कोई अशुभकी सूचना देनेवाले प्राणी हमारे घरोंमें पांव न रखें ॥ २ ॥

(अ-वैरहत्याय इदं आ पपत्यात्) हमारे वीरोंकी हत्या न होनेकी सूचना देनेवाला यह होवे। (सुवीरतायै इदं आ ससद्यात) हमारे वीरोंके उत्साहके लिये यह सुचिन्ह होवे। (पराङ् पराची अनु संवतं) नीचे अधोवदन करके अनुकूल रीतिसे (परा एव वद) दूसरे बोल। (यथा यमस्य गृहे) जिस प्रकार यमके घरमें (अरसं त्वा प्रतिचाकशान्) निर्बल हुआ तुझे लोग देखें। (आभूकं प्रतिचाकशान्) केवल आया हुआ ही तुझे देखें अर्थात् तू शत्रुद्वत असमर्थ होकर यहां रह ॥ ३ ॥

ये सभी सूक्त बडे दुर्बोध हैं। कबूतर, उल्लू आदिकोंसे किस प्रकार अनिष्ट सूचनाएं मिलती हैं यह कहना कठिन है। परंतु इन सूक्तोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने वीर शत्रुपर हमला करनेको जब जाते हैं तब वे अपने साथ कबूतर ले जाते हैं और वहांका संदेश अपने घरमें अथवा अपने राष्ट्रमें भेज देते हैं। यह शुभ संदेश प्राप्त होवे और अपने वीरोंके मृत्यु आदिका अथवा अपने पराजयका संदेश न प्राप्त हो। इस विषयकी प्रार्थनाएं इन मंत्रोंमें हैं। परंतु इन सूक्तोंका विषय खोजका ही विषय है। इसलिये इन सूक्तोंपर अधिक लिखना असंभव है।

शमी औषधी।

[सूक्त ३०]

(ऋषिः — उपरिबभ्रवः। देवता — शमी।)

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥
यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि। मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः मधुना संयुतं इमं यवं) देवोंने मधुरतासे युक्त इस यव धान्यको (सरस्वत्यां अधि मणौ अचर्कृषुः) सरस्वतीके तटपर मणि जैसी उत्तम भूमिमें बोनेके लिये बार बार हल चलाया। वहां (शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः आसीत्) शतक्रतु इन्द्र हलका स्वामी था और (सुदानवः मरुतः कीनाशाः आसन्) उत्तम दानी मरुत किसान थे ॥ १ ॥

हे (शमि) शमी औषधि! (यः ते मदः) जो तेरा आनन्ददायक रस (अवकेशः विकेशः) विशेष केश बढानेवाला है (येन पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) जिससे तू पुरुषको बडा हर्षित करती है। इस लिये (त्वत् अन्या वनानि आरात् वृक्षि) तेरेसे भिन्न दूसरा जंगल मैं तेरे समीपसे हटाता हूं, (त्वं शतवल्शा विरोह) तू सैंकडों शाखावाली होकर बढती रह ॥ २ ॥

हे (बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्धे शतावरि शमि) बडे पत्तोंवाली उत्तम तेजस्वी, वृष्टिसे बढी, शतावरि शमि! (माता पुत्रेभ्य इव) माता पुत्रोंके लिये प्यार करनेके समान (केशेभ्यः मृड) केशोंके लिये सुख दे ॥ ३ ॥

खेती।

प्रथम मंत्रमें जौ नामक धान्य बोनेके लिये भूमीको उत्तम हल चलाकर तैयार करनेका विधान है। यह तो सर्वसाधारण खेतीके लिये ही उपदेश है ऐसा समझना चाहिये। जहां इंद्र हल चलाता है और मरुत् खेती करते हैं; वहां वह कार्य मनुष्योंको करनेमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये। अर्थात् खेतीका कार्य दिव्य कार्य है वह मनुष्य अवश्य करें।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि शमीका रस आनंद देता है और बालोंको बढाता है इसलिये इससे लोग बडे हर्षित होते हैं। अतः शमी वृक्षके आसपास उगनेवाले अन्य वृक्ष हटाने चाहिये जिससे शमीका वृक्ष अच्छी प्रकार बढ जावे। यहां उद्यानका एक उत्कृष्ट नियम कहा है। जो वृक्ष बढाना हो उसके आसपास कोई जंगल बढाने नहीं देना चाहिये। इससे उसकी उत्तम वृद्धि होती है।

तृतीय मंत्रमें शतावरी और शमीकी प्रशंसा है। इससे केशोंको बडा लाभ होता है। इस सूक्तका विचार वैद्य अवश्य करें। इनसे बालोंकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार होती है इसी बातका विचार होना चाहिये।

चन्द्र और पृथ्वीकी गति।

[सूक्त ३१]

(ऋषिः — उपरिबभ्रवः। देवता — गौः।)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

अर्थ— (अयं गौः) यह गतिशील चन्द्रमा (मातरं पुरः असदत्) अपनी माता भूमिको आगे करता है और (पितरं स्वः च प्रयन्) अपने पिता रूपी स्वयं प्रकाशी सूर्यके चारों ओर घूमता हुआ (पृश्निः आ अक्रमीत्) आकाशमें आक्रमण करता है ॥ १ ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥
त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अस्य रोचना) इसकी ज्योति (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अंदर संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अख्यत्) बडे स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ २ ॥

(वस्तोः त्रिंशत् धामा) अहोरात्रके तीस धाम अर्थात् मुहूर्त (अहः द्युभिः प्रति वि राजति) निश्चयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतंगः अशिश्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आश्रय करती है ॥ ३ ॥

चंद्र भूमिके चारों ओर भ्रमण करता है और भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी चारों ओर घूमता है। इस प्रकार भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है।

इसके किरण सब स्थावरजंगमके ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्यप्रकाशके महत्त्वको व्यक्त करते हैं।

अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इसीका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है। इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा हमारी वाणीको करनी योग्य है।

॥ यहां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

रोगक्रिमिनाशक हवन।

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १, २ चातनः; ३ अथर्वा। देवता — अग्निः।)

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥ १ ॥
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥
अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (एतत् यातुधानक्षयणं) यह पीडा देनेवालोंका नाश करनेवाली हविका (अन्तः दावे) अग्निकी प्रदीप्त अवस्थामें (सु जुहुत) उत्तम प्रकार हवन करो। हे अग्ने! (त्वं रक्षांसि आरात् प्रति दह) तू राक्षसोंको समीपसे और दूरसे जला दे। और (नः गृहाणां न उप तीतपासि) हमारे घरोंको न ताप दे ॥ १ ॥

हे (पिशाचाः) पिशाचो! (रुद्रः वः ग्रीवाः अशरैत्) रुद्रने तुम्हारी गर्दनोंको तोड डाला है। हे (यातु-धानाः) यातना देनेवालो! (वः पृष्टीः अपि शृणातु) वह तुम्हारी पसलियोंको भी तोड डाले। (विश्वतोवीर्या वीरुत्) अनंत वीर्योंवाली औषधिने (वः यमेन समजीगमत्) तुमको यमके साथ संयुक्त किया है ॥ २ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण! (नः इह अभयं अस्तु) हमारे लिये यहां अभय होवे। (अर्चिषा अत्रिणः प्रतीचः नुदतं) अपने तेजसे भक्षक शत्रुओंको दूर हटा दो। (मा ज्ञातारं) ज्ञानीको वे न प्राप्त करें। कहीं भी वे (मा प्रतिष्ठां विन्दत) स्थिरताको न प्राप्त हों। वे (मिथः विघ्नाना मृत्युं उप यन्तु) आपसमें एक दूसरेको मारते हुए वे सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

रोगनाशक हवन।

रोगके कृमियोंका नाश करनेवाला हवन प्रदीप्त अग्निमें उत्तम विधिपूर्वक करनेका उपदेश इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें किया है। इससे शरीरभक्षक सूक्ष्म रोगकृमि नाशको प्राप्त होते हैं। कृमि ये हैं—

१ पिशाचाः = मांसकी क्षीणता करनेवाले, रक्तकी क्षीणता करनेवाले,

२ यातुधानाः = शरीरमें यातना, पीडा उत्पन्न करनेवाले,

३ राक्षसः-क्षरासाः = क्षीणता करनेवाले और

४ अत्रिणः-अदन्ति इति = शरीर भक्षण करनेवाले ये रोगजन्तु अग्निमें किये हवनसे तथा—

५ विश्वतो वीर्या वीरुत् = अत्यंत गुणवाली वनस्पतीके प्रयोगसे क्षीण होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं।

ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — जाटिकायनः। देवता — इन्द्रः।)

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः। पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (जनाः) लोगो! (अस्य तुजे) इस प्रभुके बलमें (इदं रजः) यह लोकलोकान्तर, (वनं स्वः) यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग (आ युजः) संयुक्त हुआ है। इतना (इन्द्रस्य बृहत् रन्त्यं) इस प्रभुका बडा रमणीय सामर्थ्य है ॥ १ ॥

(धृषितः) पराजित हुआ शत्रु (धृषाणः शवः न आधृषे) हरानेवालेके बलकी बराबरी नहीं कर सकता और न (आ दधृषे) उसको हरा सकता है। (यथा पुरा व्यथिः) जिस प्रकार पहिले पीडासे थका हुआ शत्रु (इन्द्रस्य श्रवः शवः न आधृषे) प्रभुके प्रशंसनीय बलको गिरा नहीं सकता ॥ २ ॥

(इन्द्रः जनेषु तुविष्टमः पति आ) ईश्वर सब जन्म लेनेवालोंसे भी बडा समर्थ प्रभु है। (सः नः तां उरुं पिशङ्गसदृशं रयिं ददातु) वह हम सबको उस बडे सुवर्णसदृश धनको देवे ॥ ३ ॥

इसके सामर्थ्यसे यह भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक दृढ हैं। ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उस प्रभुका है। कोई शत्रु उस प्रभुका पराजय नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति ही विलक्षण प्रभावशाली है। सब उत्पन्न हुए पदार्थोंसे वह प्रभु अधिक समर्थ है, इसलिये वह हमें उत्तम धन देवे।

तेजस्वी ईश्वर।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — चातनः। देवता — अग्निः।)

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

अर्थ— (क्षितीनां वृषभाय अग्नये) पृथ्वी आदि सब लोकोंके महाबलवान् तेजस्वी ईश्वरके लिये (वाचं प्र ईरय) स्तुतिरूप अपनी वाणीको प्रेरित करो। (यः अग्निः) जो तेजस्वी प्रभु (तिग्मेन शोचिषा रक्षांसि निजूर्वति)

योरक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है। (यः परस्याः परावतः धन्व) जो दूरसे दूरवाले स्थानको (तिरः अतिरोचते) पार करके चमकता है। (यः विश्वा भुवना अभि विपश्यति) जो सब भुवनोंको अलग अलग भी देखता है और (सं पश्यति) मिले जुले भी देखता है। (यः शुक्रः अग्निः) जो तेजस्वी प्रकाशका देव (अस्य रजसः पारे अजायत) इस लोकलोकान्तरके परे प्रकट रहता है। (सः नः द्विषः अति पर्षद्) वह हमें सब शत्रुओंसे दूर करके परिपूर्ण बनावे ॥ १-५ ॥

ईश्वर सबसे महाबलवान् है, वह अपने तेजसे ही सब दुष्टोंको नष्टभ्रष्ट कर देता है। वह जैसा पास है उसी प्रकार दूरसे दूरवाले स्थानपर भी है। वह सब पदार्थमात्रको अलग अलग और मिलीजुली अवस्थामें भी यथावत् जानता है। वह अत्यंत तेजस्वी है और इस दृश्य जगत्के परे विराजमान है। वह सब उपासकोंको शत्रुओंसे बचाकर परिपूर्ण बनाता है।

विश्वका सञ्चालक देव।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — वैश्वानरः ।)

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥
वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥
वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् । ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**वैश्वानरः**) विश्वका नेता ईश्वर (**ऊतये**) हमारी रक्षा करनेके लिये (**परावतः नः प्र आयातु**) अपने श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आवे और वह (**अग्निः नः सुष्टुतीः उप**) प्रकाशका देव हमारी उत्तम स्तुतियां स्वीकार करे ॥ १ ॥

(**उक्थेषु अंहसु**) स्तुति करनेके समयमें (**अग्निः सजूः वैश्वानरः**) वह तेजस्वी विश्वका चालक प्रेमपूर्ण ईश्वर (**इमं नः यज्ञं उप आगमत्**) इस हमारे यज्ञके पास आवे ॥ २ ॥

(**वैश्वानरः**) विश्वका चालक देव (**अंगिरसां स्तोमं उक्थं च**) ज्ञानी ऋषियोंके स्तुतिस्तोत्रोंको (**च चाक्लृपत्**) समर्थ करता आया है। और वह (**एषु द्युम्नं स्वः आयमत्**) इनमें प्रकाशित होनेवाला आत्मतेज स्थिर करता है ॥ ३ ॥

विश्वका संचालक देव जो विश्वके संपूर्ण पदार्थोंका संचालन करता है, वह एक तेजस्वी, प्रेममय, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ देव है। वह उपासकोंको श्रेष्ठ आत्मतेज देता है।

जगत्का एक सम्राट्।

[सूक्त ३६]

(ऋषिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः । देवता — अग्निः ।)

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥
स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी । । यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥
अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋतावानं) सत्ययुक्त, (ऋतस्य ज्योतिषः पतिं) सत्यप्रकाशके स्वामी, और (अजस्रं घर्मं वैश्वानरं) निरंतर प्रकाशवाले सब विश्वके चालक ईश्वरकी (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं ॥ १ ॥

(सः विश्वा प्रति चाक्लृपे) वह सबको समर्थ बनाता है । (वशी ऋतूं उत् सृजते) और वह सबको अपने वशमें करनेवाला वसंत आदि ऋतुओंको बनाता है । और (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञके लिये उत्तम अन्न बनाता है ॥ २ ॥

(भूतस्य भव्यस्य कामः) भूतभविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जगत्की कामना पूर्ण करनेवाला (एकः सम्राट् अग्निः) एक सम्राट् प्रकाशमय देव (परेषु धामसु विराजति) दूरके स्थानोंमें भी विराजता है ॥ ३ ॥

सबका एक ईश्वर।

ईश्वर संपूर्ण जगत्का 'एक सम्राट्' है यह बात इस सूक्तमें बडी उत्तमतासे कही है । वह ईश्वर (परेषु धामसु विराजति) दूरसे दूर जो स्थान हैं उन स्थानोंमें भी विराजमान है । पास तो है ही परंतु अति दूर भी है । अर्थात् वह सर्वत्र है । सब (भूतस्य भव्यस्य) भूतकालमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका जैसा वह सम्राट् था, उसी प्रकार इस वर्तमान समयमें दिखाई देनेवाले सब जगत्का वह स्वामी है, इतना ही नहीं अपितु भविष्य कालमें उत्पन्न होनेवाले जगत्का भी वह स्वामी रहेगा । अर्थात् संपूर्ण जगत्का सब कालोंमें वह स्वामी है । और इससे भिन्न दूसरा कोई स्वामी नहीं है ।

वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है और इसीलिये वह (विश्वा चाक्लृपे) सबको सामर्थ्यवान् बनाता है । वह समर्थ है इसीलिये सबको (वशी) अपने वशमें रखता है, उसके शासनसे बाहर कोई नहीं है । वही सब प्रकारके अन्न और विविध ऋतुओंमें होनेवाले यजनीय पदार्थ और भोग्य पदार्थ उत्पन्न करता है ।

वह त्रिकालमें (ऋतावान) सत्यस्वरूप है और (ऋतस्य पति) सत्य नियमोंका पालन करनेवाला है, वही सब (वैश्वानर) विश्वका संचालक, विश्वको चलानेवाला है, सबका वही उपास्य और प्राप्त करने योग्य है ।

इस सूक्तमें एकेश्वरकी उत्तम उपासना कही है, इसलिये उपासनाके लिये यह उत्तम सूक्त है ।

शापसे हानि।

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः । देवता — चन्द्रमाः ।)

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् । शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः शपथः) हजार आंखवाला शाप (रथं युक्त्वा) अपना रथ जोतकर (मम शप्तारं अन्विच्छन्) मेरे शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ (उप प्र अगात्) उसके समीप आता है, (वृकः अवि-मतः गृहं इव) जिस प्रकार भेडिया भेडवालेके घरके प्रति आता है ॥ १ ॥

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् । शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥
यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् । शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (शपथ) दुष्ट भाषण ! (नः परिवृङ्धि) हमें छोड दे (दहन् अग्निः ह्रदं इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलस्थानको छोड देता है। (अत्र नः शप्तारं जहि) यहां हमारे शाप देनेवालेका नाश कर (दिवः अशनिः वृक्षं इव) आकाशकी बिजुली जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है॥ २॥

(अशपतः नः यः शपात्) शाप न देनेवाले हमको जो शाप देवे, (यः च शपतः नः शपात्) और जो शाप देनेवाले हमको शाप देवे, (अवक्षामं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हीनको मैं मृत्युके आधीन करता हूं। (पेष्ट्रं शुने इव) जिस प्रकार टुकडा कुत्तेके सामने फेंकते हैं॥ ३॥

शापसे हानि ।

शाप देनेसे, दूसरेको कटु वचन कहनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। शाप हजार आंखवाला अर्थात् महाक्रोधी अथवा महाक्रोधसे उत्पन्न होता है। जो शाप देता है, क्रोधके वचन कहता है, दूसरेको क्रोधसे बुरा कहता है, उसीका शाप उसको हजार गुना नाशक होकर उसको ढूंढता हुआ उसीपर वापस आता है। देखिये—

सहस्राक्षः शपथः शप्तारं अन्विच्छन् उपागात् । (मं० १)

'हजार गुना शाप बनकर शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ उसीके पास जाता है।' इसलिये शाप देनेवालेकी हानि हजार गुना होती है। अतः कोई किसीको शाप न देवे।

शपथ ! नः परिवृङ्धि । (मं० २)

'शाप हमारे पास न आवे' अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दूसरा हमारे उद्देश्यसे बुरा वचन न कहे। अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम बुरे शब्द भी न सुनें।

शपथ ! शप्तारं जहि । (मं० २)

'शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे।' अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है। इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले। कटु वचनसे अपना ही अधिक नाश होता है। इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आपको बडी साव- धानीसे बचा लेवे।

अवक्षामं मृत्यवे अस्यामि । (मं० ३)

'शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेजा जाता है।' अर्थात् शाप देनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचन भी न कहे।

'स्वस्त्ययन' अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) 'उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना' इस सूक्तका उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले। इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणयुक्त बनावे।

तेजस्विताकी प्राप्ति ।

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — अथर्वा वर्चस्कामः। देवता — त्विषिः, बृहस्पतिः।)

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (सिंहे, व्याघ्रे, उत पृदाकौ) सिंह, बाघ, और सांपमें है और (या अग्नौ, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज अग्नि, ब्राह्मण, और सूर्यमें है, (या सुभगा देवी इन्द्रं जजान) जो भाग्ययुक्त देवी तेज इन्द्रको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (वर्चसा संविदाना सा नः एतु) अन्न और बलसे युक्त होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे॥ १॥

या हुस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ २ ॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ३ ॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जुजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ४ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और बाघमें है (या हिरण्ये, अप्सु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज, सोना, जल, गौवें और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्ययुक्त तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेषु ऋषभस्य वाजे) रथ, अक्ष, और बैलके बलमें है, और (वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे) वायु, पर्जन्य और वरुणके सामर्थ्यमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्ये आयतायां दुन्दुभौ) क्षत्रियमें और खेंची हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोडेके बलमें और मनुष्यके पित्तमें जो बल होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

तेजके स्थान।

इस सूक्तमें तेज कहां कहां रहता है, इसका उत्तम वर्णन है। मनुष्यको ये गुरु करने चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये। देखिये—

१ सिंह— सिंहमें तेज है इसीलिये उसको वनराज कहते हैं। सिंहके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं ठहर सकता।

२ व्याघ्र— बाघ भी बडा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको 'नरसिंह, नर-व्याघ्र' कहते हैं। क्योंकि ये पशु अन्य पशुओंसे बडे तेजस्वी होते हैं।

३ पृदाकु— सांप भी बडा तेजःपुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है।

४ अग्नि— अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं।

५ ब्राह्मण— ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका बल रहता है।

६ सूर्य— सूर्य तो सब तेजका केन्द्र है ही। इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है।

७ हस्ती— हाथीमें गंभीरताका तेज होता है, उसकी शोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी शक्ति भी बडी होती है।

८ द्वीपी— यह नाम तरक्षु या व्याघ्रका है, यह बडा उग्र और तेजस्वी होता है।

९ हिरण्य— सोनेका तेज सब जानते हैं।

१० आपः— जल भी तेजस्वी होता है, 'उसमें जीवन नहीं अर्थात् जल नहीं,' ऐसा भाषाका भी व्यवहार होता है। जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

११ गौ— गौओंमें भी तेज है। पाठक भैंसका शैथिल्य और गौओंकी चपलताका विचार करेंगे तो उनको गौओंके तेजका पता लग जायगा।

१२ पुरुष— मनुष्यमें भी तेज होता है।

१३ रथ, अक्ष, वृषभ— इनके तेजका अनुभव सबको है। मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको 'नरर्षभ' अर्थात् 'मनुष्योंमें बैल' ऐसा कहते हैं। बैल बडा बलवान् और तेजस्वी होता है।

१४ वायु, पर्जन्य— यद्यपि वायु अदृश्य है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निस्तेज बनता है। पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है।

१५ क्षत्रिय— क्षत्रियमें अन्य मनुष्योंसे अधिक उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राज्यका शासन कर सकता है।

१६ दुन्दुभी, अश्व— ढोल बजते ही मनुष्यमें बडा उत्साह बढता है और घोडा भी बडा प्रभावशाली होता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इनमें

अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी कल्पना आनेके लिये देखिये- सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि इनमें तेज है, परंतु वह परस्पर भिन्न है। हरएक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। बाघका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये। देखिये—

अग्निमें तेज है, उसकी गति उच्च दिशाकी ओर होती है, वह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढाना चाहिये। अर्थात् मनुष्य तेजस्वी बने, उच्च अवस्थाकी ओर अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। इसी प्रकार सब अन्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये। पाठक इस प्रकार विचार करके हरएककी तेजस्विताके प्राप्त करने योग्य बोध लें और स्वयं तेजस्वी बनें।

इस जगत्‌में हरएक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परंतु मनुष्य ही बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। यदि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह सूक्त बडा महत्त्वपूर्ण है।

यशस्वी होना।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — अथर्वा वर्चस्कामः। देवता— त्विषिः, बृहस्पतिः।)

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं॒ सुभृ॑तं॒ सह॑स्कृतम्।
प्र॒सर्स्रा॑णम॒नु दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये ॥ १ ॥

अच्छा॑ न॒ इन्द्रं॑ य॒शसं॒ यशो॑भिर्यश॒स्विनं॑ नमसा॒ना वि॑धेम।
स नो॑ रास्व रा॒ष्ट्रमिन्द्र॑जूतं॒ तस्य॑ ते रा॒तौ य॒शसः॑ स्याम ॥ २ ॥

य॒शा इन्द्रो॑ य॒शा अ॒ग्निर्य॒शाः सोमो॑ अजायत। य॒शा विश्व॑स्य भू॒तस्या॒हम॑स्मि य॒शस्त॑मः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं) ईश्वरसे प्राप्त, सहस्रों वीर्योंसे युक्त, उत्तम भरपूर, (सहस्कृतं हविः यशः वर्धतां) बलसे प्राप्त किया हुआ यज्ञरूप मेरा यश बढे। इससे (दीर्घाय ज्येष्ठतातये) बडी श्रेष्ठताको फैलानेवाली (चक्षसे) दृष्टि प्राप्त होनेके लिये (प्रसर्स्राणं हविष्मन्तं मा अनु वर्धय) प्रगति करनेवाले अन्नयुक्त मुझको अनुकूलतासे बढा ॥ १ ॥

(यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं) अनेक यशोंसे युक्त होनेके कारण यशस्वी प्रभुको (नमसानाः नः अच्छ विधेम) नमस्कार करते हुए हमारे उदयके हेतुसे हम उत्तम प्रकार उसको पूजते हैं। (सः इन्द्रजूतं राष्ट्रं नः रास्व) वह तू प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अथवा तेज हमें दे। (तस्य ते रातौ यशसः स्याम) उस तेरे दानमें हम यशस्वी होवें ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) प्रभु यशस्वी है, (अग्नि यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम भी यशस्वी हुआ है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) संपूर्ण भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं यशवाला हूं ॥ ३ ॥

हजारों सामर्थ्य।

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (सहस्रवीर्य) प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है। सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है। यह सामर्थ्य (सहस्कृतं) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये। दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसका बल दूर होनेके पश्चात् स्वयं दूर होगी, इस कारण अपना बल बढाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करनी चाहिये। यह यश (हविः यशः) हवनके समान, यज्ञरूपी यश है। अर्थात् सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला है। जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाईके लिये आत्मसर्वस्वका त्याग करता है, तब उसको (इन्द्रजूतं यशः) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है।

यशका स्वरूप।

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे। (मं० १)

'दीर्घ दृष्टि और श्रेष्ठताका विस्तार इस यशसे होता है।' संकुचित दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी द्योतक है। इस कारण यशके साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिसके साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता रहती है।

प्रभुकी भक्ति।

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशस्विनं इन्द्रं नमस्यानाः विधेम। (मं० २)

'यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें।' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं। उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं रास्व। (मं० २)

'हे प्रभो! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे।' हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे।

इस जगत्में इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बनूंगा, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये। देखिये—

अहं यशस्तमः अस्मि। (मं० ३)

'मैं यशस्वी होऊंगा।' अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उस प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा। इस प्रकारकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे।

निर्भयताके लिये प्रार्थना।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु॒ नोऽभ॑यं॒ सोमः॑ सवि॒ता नः॑ कृणोतु।
अभ॑यं नोऽस्तू॒र्व॑१॒॑न्तरि॑क्षं सप्तऋषी॒णां च॑ ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ १ ॥
अ॒स्मै ग्रामा॑य प्र॒दिश॒श्चत॑स्र ऊर्जं॑ सुभू॒तं स्व॒स्ति स॑वि॒ता नः॑ कृणोतु।
अ॒श॒त्र्विन्द्रो॒ अभ॑यं नः कृणोत्व॒न्यत्र॒ राज्ञा॑म॒भि या॑तु म॒न्युः ॥ २ ॥
अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॑ उत्त॒रात्। इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी! (इह नः अभयं अस्तु) यहां हमारे लिये अभय होवे। (सोमः सविता नः अभयं कृणोतु) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे। (उरु अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु) यह बडा अन्तरिक्ष हमारे लिये अभयदायी होवे। और (सप्त-ऋषीणां च हविषा नः अभयं अस्तु) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अभय प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(सविता) सबकी उत्पत्ति करनेवाला देव (अस्मै नः ग्रामाय) इस हमारे नगर के लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति कृणोतु) बल, ऐश्वर्य और कल्याण करे। (इन्द्रः नः अशत्रु अभयं कृणोतु) प्रभु हम सब के लिये शत्रु रहित निर्भयता करे। (राज्ञां मन्युः अन्यत्र अभियातु) राजाओंका क्रोध औरोंपर चला जावे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो! (नः अधरात् अनमित्रं) हमारे लिये नीचेसे शत्रु दूर होवें। (नः उत्तरात् अनमित्रं) हमारे लिये उच्च भागसे निर्वैरता होवे। (नः पश्चात् अनमित्रं) हमारे लिये पीछेसे निर्वैरता होवे और (नः पुरः अनमित्रं कृधि) हमारे सामने निर्वैरता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सोम, सविता, सप्तऋषि, दिशा, इन्द्र, राजा, इन सबसे हम सब लोगोंको अभयता प्राप्त होवे। यह प्रार्थना इस सूक्तमें है। अभय प्रार्थना के लिये यह बडा उत्तम सूक्त है।

ये सब देव अपने अंदर भी हैं, सप्त इंद्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आंखमें है, चन्द्र मनमें है, दिशाओंने कानोंमें स्थान लिया है, इन्द्र मनमें रह रहा है, भूमि स्थूल शरीरके घनभागमें है, अन्तरिक्षका अन्तःकरण बना है, द्युलोकका मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंशरूपसे रहे ये देव हमारे शरीरके अन्दर निर्भयता स्थापित करें। अर्थात् शत्रुरूपी रोगों और कुविचारोंको दूर करके हमें अंदरसे शत्रुरहित करें। यह तब होगा जब कि हमारे अंदरके ये देवतांश शत्रुओंके वशमें न होंगे। अर्थात् सबके सब इंद्रिय सत्कर्ममें प्रवृत्त हों और असन्मार्गसे निवृत्त हों। इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग ज्ञात हो सकता है। पाठक स्मरण रखें कि निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये। निर्भयता अन्दरसे होनी है बाहरसे नहीं।

अपनी शक्तिका विस्तार।

[सूक्त ४१]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — चन्द्रमाः, बहुदेवत्यम्।)

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे। सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकूतये चित्तये) संकल्प, स्मृति, (मत्यै, श्रुतये, उत चक्षसे) मति, श्रवण और दर्शनशक्तिकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अपान, व्यान, (भूरि-धायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे धारण करनेवाले प्राण और (उरुव्यचे सरस्वत्यै) बहुत विस्तृत प्रभावशाली विद्यादेवीकी वृद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ २ ॥

(ये तनूपाः) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं वे (ये नः तन्वः तून-जाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं वे (दैव्याः ऋषयः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिषुः) हमें न छोडें। ये (अमर्त्याः मर्त्यान् नः अभि सचध्वं) अमर देव हम मरनेवालों से मिलकर रहें। (नः प्रतरं आयुः जीवसे धत्त) हमें उत्कृष्ट दीर्घ आयु जीवनके लिये धारण करें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तियाँ।

मन, चित्त, धारणावती बुद्धि, संकल्प शक्ति, स्मृति, मति, श्रवणशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञानविज्ञान इत्यादि अनंत शक्तियां मनुष्यके अन्दर हैं। इनका विकास करना चाहिये। मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसकी इन शक्तियोंकी वृद्धि हो और वे शक्तियां प्रशस्ततम सत्कर्ममें लग जांय। प्रथम मंत्रमें अन्तःकरणकी शक्तियां कहीं हैं और ज्ञानेन्द्रियोंका भी उल्लेख है। द्वितीय मंत्रमें प्राणोंका वर्णन है प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है। यद्यपि इन मंत्रोंमें कर्मेंद्रिय आदि अनेक शक्तियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इंद्रियशक्तियोंके अनुसंधानसे अन्य इंद्रियों, अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहां करना उचित है। अर्थात् अपने अन्दरकी संपूर्ण शक्तियोंका उत्कर्ष करनेका यत्न करना चाहिये।

ऋषि।

इस सूक्तके तीसरे मंत्रमें ऋषियोंका निश्चित पता दिया है। इससे ऋषियोंका आश्रय कहां है इसका उत्तम पता लग सकता है। देखिये—

तनूजाः तनूपाः दैव्याः ऋषयः। (मं० ३)

'शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले ये इंद्रिय रूपी ऋषि यहां हैं।' और यह शरीर ही उनका आश्रय है। इस आश्रममें ये रहते हैं, और यहांका सब कार्य करते हैं। ये इंद्रिय शक्तियां—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः। (मं० ३)

'ये इंद्रियरूपी ऋषि दैवी शक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है।' ये दैवी शक्तियां मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—

अमर्त्या दैव्या ऋषयः नः मर्त्यान् अभि सचध्वम्। (मं० ३)

'ये अमर शक्तिसे युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इंद्रिय शक्तियां हम सब मर्त्य मनुष्योंको चारों ओरसे प्राप्त हों। और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः धत्त। (मं० ३)

'उत्तम आयु दीर्घ जीवनके लिये हमें प्राप्त हो। अर्थात् हमारी इंद्रियोंमें वह दैवी शक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे।

सप्त ऋषि शब्द मनुष्य शरीरके इंद्रियोंका वाचक है, दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुख (वागिंद्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा- त्वचा, नेत्र, कान, जिव्हा, नाक, मन, और बुद्धि ये भी सप्त ऋषि हैं। इनमें दैवी शक्ति है यह जानकर इनको देवतारूप बनानेका यत्न मनुष्य करे और सब प्रकारसे समर्थ होकर कृतकृत्य बने।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

परस्परकी मित्रता करना।

[सूक्त ४२]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः। देवता — मन्युः।)

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः। यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥ १ ॥

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते। अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥ २ ॥

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च। यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (धन्वनः ज्यां इव) धनुष्यसे डोरीको उतारनेके समान (ते हृदः मन्युं अव तनोमि) तेरे हृदयसे क्रोधको हटाता हूं। (यथा संमनसौ भूत्वा) जिससे एक मनवाले होकर (सखायौ इव सचावहै) मित्रके समान हम परस्पर मिलकर रहें ॥ १ ॥

(सखायौ इव सचावहै) हम दोनों मित्र बनकर रहें इसलिये (ते मन्युं अव तनोमि) तेरा क्रोध हटाता हूं। (यः गुरुः) जो बडा क्रोध है उस (ते मन्युं) तेरे क्रोधको (अश्मनः अधः उप अस्यामसि) पत्थरके नीचे दबा देते हैं ॥ २ ॥

(ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च अभि तिष्ठामि) तेरे क्रोधको एडीसे और पांवकी ठोकरसे मैं दबाता हूं। (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल हो और (अवशः न अवादिषः) तू परतंत्रताकी बात न कहे ॥ ३ ॥

क्रोध

क्रोध ऐसा है कि, वह दिलोंको फाड देता है, विरोध उत्पन्न करता है और द्वेष बढाता है। इस क्रोधको मनसे हटाना चाहिये। जिस समय क्रोध हट जाता है, उस समय दिल साफ हो जाता है और परस्पर मेल होनेकी संभावना होती है। इस लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने मनसे क्रोधको इस प्रकार हटावे जिस प्रकार युद्धसमाप्तिके समय वीर पुरुष अपने धनुष्यसे रस्सीको हटा देते हैं। क्रोधको दूर करके उसको दूर ही दबाकर रखें, जिससे वह फिर अपने मन पर चढ न सके। यदि क्रोध फिर पास आने लगा, तो उसको ऐसी ठोकर मारनी चाहिये कि जिससे वह फिर ऊपर न चढने पावे। मनुष्यको उचित है कि वह कभी क्रोधके आधीन न होवे और क्रोधी वचन न बोले।

इस प्रकार क्रोधको दूर करके शान्ति धारण करनेसे परस्पर मिलाप होता है और संगठन होनेसे शक्ति बढ जाती है।

क्रोधका शमन।

[सूक्त ४३]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः। देवता — मन्युशमनम्।)

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च। मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति। दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि। यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं दर्भः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह दर्भ अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटानेवाला है, (अयं मन्योः विमन्युकस्य) यह क्रोधीके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अयं भूरिमूलः) जो यह बहुत जडोंवाला (समुद्रं अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है (पृथिव्याः उत्थितः दर्भः) भूमीसे उगा हुआ दर्भ (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्यां शरणिं वि) तेरे हनुके आश्रयसे रहनेवाला क्रोधका चिह्न दूर करते हैं, (मुख्यां वि नयामसि) तेरे मुखमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल होगा और (अवशः न अवादिषः) परवश होकर क्रोधी भाषण न करे ॥ ३ ॥

दर्भ।

यहां इस सूक्तमें दर्भको क्रोध शान्त करनेवाला कहा है। यह खोजका विषय है। वैद्यग्रंथोंमें दर्भका यह गुण नहीं लिखा है। यदि वैद्यलोग इसका अधिक विचार करेंगे, और समुद्र तीर पर उगनेवाले दर्भ नामक घासकी जडोंके रसमें यह गुण है, या और किस वनस्पतिमें यह गुण है इसका निश्चय करेंगे, तो क्रोधी मनुष्योंको शान्त स्वभावी बनानेका उपाय ज्ञात हो सकता है।

कौशिकी सूत्र (कौ० सू० ४।१२) में "अयं दर्भ इत्योपधिवत्" ऐसा कहा है। इससे पता लगता है कि समुद्र तीरपर उगनेवाले दर्भका मूल निकालकर उसको सिरपर अथवा शरीरपर धारण करने अथवा उसके सेवन करनेका विधान इस सूक्तमें है। संभव है दर्भकी जडोंमें मस्तिष्कको शान्त करनेके द्वारा क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो। यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है। जो कर सकते हैं वे वैद्यकी सलाहसे करके अनुभव लें और अपना अनुभव प्रकाशित करें।

रक्तस्रावकी औषधी।

[सूक्त ४४]

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता — वनस्पतिः, मन्त्रोक्तदेवता।)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्। अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक ठहरा है, (पृथिवी अस्थात्) यह सब जगत् ठहरा है, (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः अस्थुः) खडे खडे सोनेवाले वृक्ष भी ठहरे हैं। इसी प्रकार (अयं तव रोगः तिष्ठात्) यह तेरा रोग ठहर जावे ॥ १ ॥

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च। श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२॥
रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः। विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी॥३॥

अर्थ— (ते या शतं भेषजानि) तेरी जो सौ औषधियां और (सहस्रं संगतानि च) हजारों उनके मेल हैं, उनमें यह (श्रेष्ठं आस्रावभेषजं) सबसे श्रेष्ठ रक्तस्रावका औषध है; यह (वसिष्ठं रोगनाशनं) सबको बसानेवाला और रोगका नाश करनेवाला है ॥ २ ॥

(रुद्रस्य = रुत् + रस्य = मूत्रं) शब्द करनेवाले मेघका मूत्र अर्थात् वृष्टिरूपी जल (अमृतस्य नाभिः असि) अमृत रसका केन्द्र है। तथा (विषाणका नाम वा असि) यह विषाणका औषधी है जो (वातीकृतनाशनी) वात रोगको दूर करनेवाली है और (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंकी जडसे अथवा कारणसे उत्पन्न होनेवाले आनुवंशिक रोगको उखाडनेवाली है ॥ ३ ॥

रक्तस्राव और वातरोग।

जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश यथास्थानमें ठहरे हैं, जिस प्रकार वृक्ष ठहरे हैं, इसी प्रकार मनुष्यके रोग दूर जाकर ठहरें अर्थात् हमारे पास न आवें।

वैद्यशास्त्रमें सैकडों औषधियां हैं और हजारों प्रकार के उनके अनुपान हैं। इन सबमें रक्तस्राव को दूर करनेवाला और सुखपूर्वक मनुष्यको रखनेवाला जो औषध है वह सबमें श्रेष्ठ है।

जो अमृतका केन्द्र है और जो मेघसे वृष्टिद्वारा आता है, वह जलरूपी अमृतरस है, वह सबसे श्रेष्ठ है। विषाणका नामक औषधी वातरोगको दूर करती है और पितामातासे आनेवाले आनुवंशिक रोगोंको हटाती है।

इसमें जलचिकित्सा और विषाणका नामक औषधीसे चिकित्सा कही है। आनुवंशिक वातरोग और रक्तस्रावका रोग दूर करनेके लिये यह उपाय करना उचित है।

वृक्षोंकी निद्रा।

प्रथम मंत्रमें "ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः" कहा है। खडे खडे सोते हैं। वृक्ष खडे खडे सोते हैं, अर्थात् जिस समय नहीं सोते उस समय जागते भी हैं। यदि सोना और जागना वृक्षोंका धर्म है, तो डरना और आनंदित होना भी उनके लिये संभवनीय होगा। वृक्षोंमें मनुष्यवत् जीवन रहनेकी बात यहां वेदने कही है। पाठक इसका विचार करें।

दुष्ट स्वप्न।

[सूक्त ४५]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसो यमश्च। देवता — दुष्वप्ननाशनम्।)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ १ ॥
अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

अर्थ— हे (मनःपाप) मनके पाप! (परः अप इहि) दूर हट जा। (किं अशस्तानि शंससि) क्या तू बुरी बातें कहता है? (परा इहि) दूर जा। (त्वा न कामये) तुमको मैं नहीं चाहता। (वृक्षान् वनानि सं चर) वृक्षों और वनोंमें संचार कर। (मे मनः गृहेषु गोषु) मेरा मन मेरे घरों और गौवोंमें है ॥ १ ॥

(यत् अवशसा निःशसा पराशसा) जो पाप पासकी हिंसासे, निर्दयताकी हिंसासे और दूसरेकी हिंसासे अथवा

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

(यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम) जो जागते हुए और सोते हुए हमने किया है (अग्निः विश्वानि अजुष्टानि दुष्कृतानि) प्रकाशका देव सब अकरणीय दुष्कर्मोंको (असत् आरे अप दधातु) हम सबसे दूर रक्खे ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते इन्द्र) ज्ञानी प्रभु ! (यत् अपि मृषा चरामसि) जो भी कुछ पाप असत्याचरणसे हम करें, (अंगिरसः प्रचेताः) सबके अंगरसोंके समान व्यापक विशेष ज्ञानी देव (नः दुरितात् अंहसः पातु) हमें दुराचारके पापसे बचावे ॥ ३ ॥

पापी विचार ।

पाप विचार मनसे हटानेका उपदेश इस सूक्तमें कहा है । गृहस्थीका मन—

गृहेषु गोषु मे मनः । (मं. १)

" घरमें और अपने गौ आदिमें रहना चाहिये । " अन्य बातोंमें और कुविचारोंमें मन जानेसे दुष्ट स्वप्न आते हैं और उससे कष्ट होते हैं । इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनेको शुभ संस्कारयुक्त बनावे और अपने परिवारके हितमें दक्ष रहे । यदि कुविचार मनमें आ जाये, तो उसको कहना चाहिये कि—

मनस्पाप ! परा अपेहि, किं अशस्तानि शंससि ? परेहि, न त्वा कामये । (मं० १)

" हे पापी विचार ! दूर हट, मुझे तू बुरी बातें कहता है, चला जा, मैं मेरी इच्छा नहीं करता । "

इस प्रकार उस पापी विचारको कह कर उसको दूर करना चाहिये । पापी विचार बार बार मनमें घुसने लगते हैं, परन्तु उनको घुसने देना उचित नहीं है । अपने अंदर कौनसा विचार आवे और कौनसा न आवे इसका निश्चय स्वयं अपने आपको करना चाहिये । और यह शरीर अपना कार्यक्षेत्र है, यह जानकर उस कार्यक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी परंपरा ही स्थिर रखनी चाहिये । सबको विचार करना चाहिये कि—

यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम । (मं० २)

" जो जागते हुए और सोते हुए हम करते हैं " वही स्वप्नमें परिणत होता है, इस लिये जाग्रतिके हमारे सब व्यवहार उत्तम हुए, तो स्वप्न निःसंदेह ठीक होंगे । और किसी प्रकार बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे और मनमें कभी अशुभ संस्कार नहीं पड़ेंगे । इसी प्रकार—

मृषा चरामसि । (मं० ३)

" असत्य व्यवहार करेंगे । " तो उसका भी बुरा परिणाम होगा । सब कुसंस्कार असत्यके कारण उत्पन्न होते हैं । यदि मनुष्य असत्यको छोडकर सत्यका आश्रय करें तो वे निःसंदेह बुराईसे बच सकते हैं ।

पाठक इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके बोध प्राप्त करें । अब इसी विषयका दूसरा सूक्त देखिये—

[सूक्त ४६]

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न । वरुणानी ते माता यमः पितारुरुर्नामासि ॥ १ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

अर्थ— हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है, वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है । (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है । (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है ॥ १ ॥

हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्मः) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू (देवजामीनां पुत्रोऽसि) देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है । और (यमस्य करणः) यमके कार्योंका साधक है । तू (अंतकः असि) अंत करनेवाला है । (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है । हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझको (तथा) वैसा उपरोक्त जैसा (सं विद्म) हम जानते हैं । (सः) वह तू हे स्वप्न ! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नसे हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (**यथा कलां यथा शफं**) जिस प्रकार कला अर्थात् सोलहवां भाग और जिस प्रकार शफ अर्थात् आठवां भाग (**यथा ऋणं सं नयन्ति**) ऋणके अनुसार देते हैं (**एवा सर्वं दुष्वप्न्यं**) इस प्रकार सब दुष्ट स्वप्न हम (**द्विषते सं नयामसि**) शत्रुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ ३ ॥

दुष्ट स्वप्न यमका पुत्र ।

देवानां— यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है । स्वप्न इंद्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है । क्योंकि जाग्रत अवस्थामें इंद्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न, वासनाओंसे उत्पन्न होता है । हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृत गर्भसे कहा गया है ।

अररुः— पीडा देनेवाला । हिंसक । '**ऋगतिहिंसनयोः**' से बना है । तै. ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अररु नामवाला असुर ।

वरुणानी— वरुण अर्थात् अंधकारकी पत्नी ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है । अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है । अतएव कई वार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाती है ।

दुष्ट स्वप्नका मृत्युसे संबंध है इसलिये पूर्व सूक्तमें कहा है कि दुष्ट स्वप्नसे बचनेके लिये विचारोंकी शुद्धता करनी चाहिये । पाठक इस बातका संबंध यहां अवश्य देखें ।

इस मंत्रमें स्वप्नको देव पत्नियोंका पुत्र कहा गया है । पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्रमें '**देव जामीनां पुत्रः असि**' से की गई है । देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रिय विषयजन्य वासनायें हैं । उनका स्वप्न पुत्र है । यहांपर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है । पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायीमें किया है कि— '**साधकतमं**' (अष्टा. १।४।४२) अर्थात् जो कार्य साधनेमें समीपतम साधन है वह करण है । कार्यसाधक सब साधनोंमें जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है । इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यमके मारनेके कार्यमें स्वप्न सबसे अधिक आवश्यक साधन है । पाठक स्वप्नके इस विशेषणसे उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं ।

इसी मंत्रके भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिण्मः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥

अथर्व. १९।५७।३

हे (**देवानां पत्नीनां गर्भ**) देवोंके पत्नियोंके गर्भरूप तथा (**यमस्य कर**) यमके हाथ स्वप्न ! (**यो भद्रः**) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (**सः**) वह अंश (**मम**) मेरा होवे । (**यः पापः**) और जो तेरा पापी अनिष्टकारी अंश है (**तत्**) उस अंशको (**द्विषते**) द्वेष करनेवालेके प्रति (**प्र हिण्मः**) हम भेजते हैं । (**तृष्टानां**) तृषितों-लोभियों-क्रूरोंके बीचमें तू (**कृष्ण-शकुनेः**) काले पक्षीके-कौएके (**मुखं**) मुखकी तरह (**मा असि**) हमारे लिये बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरोंके लिए कौएका मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अथर्व. १६।५।१

हे स्वप्न ! (**ते जनित्रं विद्म**) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू (**ग्राह्याः पुत्रः असि**) ग्राहीका पुत्र है और (**यमस्य करणः**) यमके कार्योंका साधक है ।

इस मंत्रमें स्वप्नको ग्राहीका बेटा कहा गया है । गठिया आदि शरीरके जकडनेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं । उन रोगोंके कारण शरीरमें पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है । अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा है । यमस्य करणकी व्याख्या ऊपर कर आए हैं ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व. १६।५।२; १६।५।९

हे स्वप्न ! तू (**अन्तकः असि**) प्राणान्त करनेवाला है । तू (**मृत्युः असि**) मारनेवाला है ।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है ।

ॐ

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न
दुष्वप्न्यात् पाहि॥ अथर्व. १६।५।४

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। वहांपर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्रमें स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है। निर्ऋतिसे स्वप्नकी उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदिसे मनुष्यको निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्थामें कि गाढ निद्राका अभाव होता है। और कष्टादिकी दशामें मनुष्यको गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्रायसे स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तऽकोऽसि०। अथर्व.१६।५।४ वत्॥ अथर्व.१६।५।५

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य-दारिद्र्यका पुत्र कहा है। दरिद्रताके परितापसे भी मनुष्यको निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबीसे भी स्वप्न (वास्तविक निद्राका न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि०। अथर्व. १६।५।६

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको निर्भूतिका पुत्र कहा गया है। निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-सम्पत्तिका निकल जाना-नष्ट हो जाना। सम्पत्तिशालीकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रासे नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्तिविनाशका भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः
पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि॥ अथर्व० १६।५।७

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्नको पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कारको प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कारसे मनुष्यको इतना मानसिक कष्ट होता है कि उसके लिए निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूतिसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां
पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ अथर्व० १६।५।८

हे स्वप्न! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा चुके हैं। देवपत्नियोंका पुत्र स्वप्न किस प्रकार है यह वहां विशद रूपसे दर्शाया है।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्न विषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है। इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिलेके मंत्रोंसे यम व स्वप्न-का संबन्ध स्पष्ट होता है।

वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है। इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है, तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखनेको मिला है।

यह सूक्त बहुतसा दुर्बोध है, तथापि अथर्ववेदके अन्य सूक्तों-के साथ इसका विचार यहां करनेसे इसकी दुर्बोधता किंचित् कम हुई है। तथापि यह खोजका विषय है। जो पाठक स्वप्न-का विचार करनेवाले हैं और मनकी शक्तिका मनन करते हैं, वे इस सूक्तके विषयकी अधिक खोज करें।

अपनी रक्षाकी प्रार्थना।

[सूक्त ४७]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसः। देवता — १ अग्निः, २ विश्वेदेवा, ३ सुधन्वा।)

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥

अर्थ — (वैश्वानरः) विश्वका चालक, (विश्वकृत्) विश्वका निर्माण कर्ता, (विश्वशंभूः) विश्वको शान्ति देनेवाला, (अग्निः) प्रकाश देव (प्रातःसवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके यज्ञमें हमारी रक्षा करे। (सः पावकः नः द्रविणे दधातु) वह पवित्र करनेवाला हम सबको धनके बीच रखे। और इससे हम (आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम) दीर्घ आयु-वाले और साथ भोजन करनेवाले होवें ॥ १ ॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥
इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ- (विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत् और इन्द्र ये सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न दूर करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले और (प्रियं वदन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (वयं एषां देवानां सुमतौ स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं ऐरयन्त) जो चमसको हवनके लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां ऋतेन) उन कवियोंके सत्यपालनसे (इदं तृतीयं सवनं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है । (ते सौधन्वनाः स्वः आनशानाः) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले वीर आत्माका तेज प्राप्त करते हुए (नः स्विष्टिं वस्यः अभि नयन्तु) हमारे उत्तम फलके प्रति ले जावें ॥ ३ ॥

ईश्वरके गुण।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ वैश्वानरः = सब विश्वका चालक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आगे बढाता है ।

२ विश्वकृत् = सब विश्वका बनानेवाला, जगत्का निर्माण कर्ता,

३ विश्व-शं-भूः = जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है,

४ अग्निः = प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव ।

ये सब शब्द और विशेषतः पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके द्योतक हैं । यह ईश्वर हम सबकी रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढे और हमारी मंगलकामना सिद्ध होवे । हम आपसमें (प्रियं वदन्तः) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और (स्वः आनशानाः) हमारी आत्मा प्रकाशित होवे ।

इस सूक्तका यह उत्तम उपदेश पाठक नित्य स्मरणमें रखें ।

कल्याण प्राप्तिकी प्रार्थना।

[सूक्त ४८]

(ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ १ ॥
ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥
वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे देव ! (गायत्र-छन्दाः श्येनः असि) सबकी प्राण रक्षाका छंद धारण करनेवाला श्येनके समान गतिशील तू है । इसलिये (त्वा अनु आ रभे) तेरे लिये हम सत्कार्यका प्रारंभ करते हैं । (जगत्-छन्दाः ऋभुः असि) तू जगत्की भलाईका छंद धारण करनेवाला बडा कर्मकुशल है इसलिये (अनु०) तेरे लिये हम इस यज्ञका प्रारंभ करते हैं । (त्रिष्टुभ्-छन्दाः वृषा असि) तीनों- अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत संबंधी-साध्यसाधनका छन्द धारण करनेवाला तू महाबलवान् बैलके समान सामर्थ्यशाली है । इसलिये (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञकी उत्तम समाप्ति तक (मां स्वस्ति सं वह) मुझे सुखसे ले चल, (स्व-आ-हा) मैं अपनी शक्तिका सबकी भलाईके लिये त्याग करता हूं ॥ १-३ ॥

मेघोंका संचार।

[सूक्त ४९]

(ऋषिः — गार्ग्यः । देवता — अग्निः)

नहि ते॑ अग्ने त॒न्वः॑ क्रू॒रमा॒नंश॒ मर्त्यः॑ ।
क॒पिर्ब॑भस्ति॒ तेज॑नं॒ स्वं ज॒रायु॒ गौरि॑व ॥ १ ॥
मे॒ष इ॑व॒ वै सं च॒ वि चो॒र्व॑च्यसे॒ यदु॑त्तर॒द्रावुप॑रश्च॒ खाद॑तः ।
शी॒र्ष्णा शिरोऽप्स॑सा॒प्सो अ॒र्दय॑न्न॒ंशून् ब॑भस्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑ ॥ २ ॥
सु॒प॒र्णा वाच॑मक्र॒तोप॒ द्यव्या॑ख॒रे कृष्णा॑ इषि॒रा अ॑नर्तिषुः ।
नि यन्नि॒यन्त्युप॑रस्य॒ निष्कृ॑तिं पु॒रू रेतो॑ दधिरे सूर्य॒श्रितः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (**अग्ने**) प्रकाश स्वरूप देव ! (**मर्त्यः ते तन्वः क्रूरं नहि आनंश**) कोई मनुष्य तेरे शरीरकी क्रूरताको नहीं स्वीकार कर सकता। जिस प्रकार (**कपिः तेजनं बभस्ति**) क नाम उदकका पान करनेवाला मेघ प्रकाशको धारण करता है और (**गौः स्वं जरायु इव**) जिस प्रकार अपनी जरायुको गौ धारण करती है ॥ १ ॥

(**मेष इव वै**) निश्चयपूर्वक मेढोंके समान तू (**सं अच्यसे**) इकट्ठा होता है और (**च वि अच्यसे**) फैलता है। (**यत् उत्तरद्रौ खादतः उपरः च**) और उत्तम वनमें घास खाते हुए ठहरता है। (**शीर्ष्णा शिरः अप्ससा अप्सः अर्दयन्**) शिरसे सिरको और रूपसे रूपको दबाता हुआ (**हरितेभिः आसभिः अंशून् बभस्ति**) हरिद्वर्णके मुखोंसे किरणोंका धारण करता है ॥ २ ॥

(**सुपर्णाः आखरे द्यवि वाचं उप अक्रत**) अनेक किरण इस खोखले आकाशमें शब्द करते हैं और (**कृष्णाः इषिराः अनर्तिषुः**) जलका आकर्षण करनेवाले गतिमान किरण यहां नाच रहे हैं। (**यत् उपरस्य निष्कृतिं नि नियन्ति**) जब ठहरनेवाले मेघकी निष्कृति अर्थात् वृष्टिरूप परिणामको निश्चित करते हैं, जब वे (**पुरु रेतः दधिरे**) बहुत जल धारण करते हैं ॥ ३ ॥

यह सूक्त अत्यंत दुर्बोध है, परंतु निम्नलिखित भावार्थके अनुसंधानसे कुछ भाव पाठक जान सकते हैं—

' हे ईश्वर ! जिस समय तू क्रूर होता है, उस समय तेरे सन्मुख कोई भी मनुष्य ठहर नहीं सकता; तेरा क्रोध इतना असह्य है। काला मेघ भी प्रकाशको धारण कर सकेगा, अथवा गौ भी अपनी जरायुको खा जायगी, परंतु मनुष्य ईश्वरका कोप होनेपर क्षणमात्र भी ठहर नहीं सकता ॥ १ ॥

जिस प्रकार मेढे या बकरे किसी समय इकट्ठे होकर और किसी किसी समय अलग अलग होकर उपजाऊ भूमिपरका घास खाते हैं, और किसी किसी समय अपने सिरसे दूसरेके सिरको टकराते हैं और अपने शरीरसे दूसरेको घर्षण भी करते हैं और इस प्रकारकी लीला करते हुए घास खाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपसमें मिलते और कभी लडते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि ईश्वरके क्रोधके सन्मुख कोई ठहर नहीं सकता ॥ २ ॥

ईश्वरकी कृपासे ही सूर्यकिरण सब जगत्‌में नाच रहे हैं और जलका आकर्षण करते हुए वेगसे जा रहे हैं; येही मेघोंको बनाते हैं और उनसे वृष्टि करते हैं तब सब जगत्‌को शान्त करनेवाला जल पर्याप्त प्रमाणमें सबको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परमेश्वरके सामर्थ्यका ध्यान करना योग्य है।

धान्यकी सुरक्षा।

[सूक्त ५०]

(ऋषिः — अथर्वा अभयकामः। देवता — अश्विनौ।)

हृतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥
तर्द् है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥ २ ॥
तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (तर्दं समंकं आखुं हतं) नाश करनेवाले और भूमिमें बिल करके रहनेवाले चूहेको मारो। उसका (शिरः छिन्तं) सिर काटो। (पृष्टीः अपि शृणीतं) उसकी पीठ तोडो। वे चूहे (यवान् न इत् अदान्) जौ को कभी न खावें, (मुखं अपि नह्यतं) उनका मुख बंद करो, (अथ धान्याय अभयं कृणुतं) और धान्यके लिये निर्भयता करो ॥ १ ॥

(हे तर्द) हे हिंसक! (हे पतंग) हे शलभ! (हा जभ्य, उपक्वस) हे वध्य और दुष्ट! (ब्रह्मा इव असंस्थितं हविः) ब्रह्मा जिस प्रकार असंस्कृत हविको छोडता है, उस प्रकार (इमान् यवान् अनदन्तः अहिंसन्तः) इन जौको न खाते हुए और न नष्ट करते हुए (अपोदित) तुम दूर हट जाओ अर्थात् इसको छोड दो ॥ २ ॥

हे (तर्दापते) महा हिंसक! हे (वघापते) शलभों! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दाढवाले! (मे आशृणोत) मेरा भाषण सुनो। (ये आरण्याः व्यद्वराः) जो जंगली और विशेष खानेवाले हैं और (ये के च व्यद्वराः स्थ) जो कोई भक्षक हैं, हम (तान् सर्वान् जम्भयामसि) उन सबका नाश करते हैं ॥ ३ ॥

धान्यके नाशक जीव।

चूहे, पतंग, शलभ आदि जन्तु ऐसे हैं कि जो धान्यका नाश करते हैं, पौधोंको नष्ट करते हैं और शलभ तो ऐसे हैं कि जो करोडोंकी संख्यामें इकट्ठे मिलकर आते हैं, धान्यों और वृक्षोंपर धावा करते हैं और उसका नाश करते हैं। इनसे धान्यादिका बचाव करना चाहिये। इसलिये चूहों और शलभोंको मारना चाहिये ऐसा प्रथम मंत्रमें कहा है।

इस सूक्तमें इनका नाश करनेकी विधि नहीं कही है, केवल नाश करना चाहिये और धान्यका बचाव करना चाहिये इतना ही कहा है। यदि किसी स्थानपर इनके नाश करनेकी विधि मिल जाय, तो किसानोंका बहुत लाभ होगा। चूहे भी हजारोंकी संख्यामें आकर खेतोंका नाश करते हैं और शलभ तो करोडोंकी संख्यामें आते हैं। यदि कोई शोधक इनके नाशका उपाय निकाले, तो जगत् पर बडा उपकार हो सकता है।

अन्तर्बाह्य शुद्धता।

[सूक्त ५१]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — आपः, ३ वरुणः।)

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

अर्थ— (वायोः पवित्रेण पूतः) वायुके पवित्रीकरणके साधनद्वारा शुद्ध हुआ (प्रत्यङ् अति द्रुतः सोमः) प्रत्यक्ष छाना हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्र शक्तिका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥ २ ॥
यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मातरः आपः अस्मान् सूदयन्तु) माताके समान हितकारी जल हमें शुद्ध करे । (घृतप्वः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला जल हमें जलके द्वारा पवित्र करे । (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) दिव्य जल सब दोष बहा देता है, (आभ्यः उत् इत् शुचिः पूतः आ एमि) इससे ही शुद्ध और पवित्र होकर मैं आगे चलता हूं ॥ २ ॥

हे वरुण ! (मनुष्याः यत् किंच इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुछ भी दुराचार (दैव्ये जने चरन्ति) दिव्यजनोंके विषयमें करते हैं, (च इत् अचित्त्या तव धर्म युयोपिम) और जो बिना जानते हुए तेरे बताये धर्मको तोडते हैं, हे देव ! (नः तस्मात् एनसः मा रीरिषः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर ॥ ३ ॥

सोमका महात्म्य ।

सोमका वर्णन प्रथम मंत्रमें है । यह सोम प्रथमतः छाना जाता है, पश्चात् उसको हवा देनेके लिये एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें किया जाता है; जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह अपने अन्दर रहनेवाली इन्द्र शक्तिको बढानेवाला होता है । अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढती है ।

जलका महात्म्य ।

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है । जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब दोषोंको दूर करता है और अन्तर्बाह्य शुद्ध करनेके द्वारा बडा आरोग्य देता है ।

द्रोह न करना ।

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीका द्रोह और अपराध न करे । न जानते हुए भी जो द्रोह हुआ हो, उसके लिए परमेश्वरकी प्रार्थना करके क्षमा मांगनी चाहिये ।

इन तीन मंत्रोंमें शुद्धि द्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपदेश है । सोम शुद्ध होनेसे वह इन्द्रशक्तिकी सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसा वृत्तिसे आत्मशुद्धि होकर आत्मिक बल बढ जाता है । तीनों मंत्रोंका यह आशय देखने योग्य है । शुद्धि द्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है ।

॥ यहां पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

सूर्य-किरण-चिकित्सा ।

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — भागलिः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् । आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

अर्थ— (आदित्यः विश्वदृष्टः) सबका आदान करनेवाला, सब जिसको देखते हैं और जो (अ-दृष्ट-हा सूर्यः) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला सूर्य (रक्षांसि निजूर्वन्) राक्षसोंका नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः पुरः) पर्वतोंसे आगे (दिवः उत् एति) द्युलोकमें ऊपर आता है, अर्थात् उदित होता है ॥ १ ॥

नि गावो॑ गो॒ष्ठे अ॑सदु॒न् नि मृ॒गासो॑ अविक्षत ।
न्यू॑१र्मयो॑ न॒दीनां॒ न्य॑१दृष्टा॑ अलिप्सत ॥ २ ॥
आ॒यु॒र्ददं॑ विप॒श्चितं॑ श्रु॒तां कण्व॑स्य वी॒रुध॑म् ।
आभा॑रिषं वि॒श्वभे॑षजीम॒स्यादृष्टा॒न् नि श॑मयत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (गावः गोष्ठे नि असदन्) गौवें गोशालामें ठहरी हैं। (मृगासः नि-अविक्षत) मृग अपने स्थानमें प्रविष्ट हुए हैं। (नदीनां ऊर्मयः नि) नदियोंकी लहरें चली गई और अब वे (अदृष्टाः नि अलिप्सत) अदृष्ट होनेके कारण उनकी प्राप्तिकी इच्छा की जाती है ॥ २ ॥

(कण्वस्य आयुः-ददं) रोगीको आयु देनेवाली, (विपश्चितं श्रुतां वीरुधं) बुद्धि बढानेवाली प्रसिद्ध औषधि (विश्वभेषजीं आ आभारिषं) सब रोगोंकी औषधीको मैंने प्राप्त किया है और (अस्य अदृष्टान् नि शमयत्) इसके अदृष्ट दोषोंको दूर करते हैं ॥ ३ ॥

सूर्यका महत्त्व ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें सूर्यका महत्त्व वर्णन किया है। 'सूर्य' सब जलरसोंका आदान करता है, इसलिये वह 'आदित्य' कहलाता है। (विश्व-दृष्टः) उसको सब देखते हैं, वह आंखसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। वह सूर्य (अ-दृष्ट-हा) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला है। शरीरमें अथवा जगत्‌में जो रोग-बीज, दोष और हानिकारक रोगमूल हैं, उनको सूर्यके किरण नाश करते हैं। (रक्षांसि-क्षरांसि-निजूर्वन्) राक्षसों अर्थात् क्षीणता करनेवाले रोगजन्तुओंका नाश करता है। इस प्रकारका यह सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त होता है। सूर्यके ये गुण सौर चिकित्सा करनेवालोंको स्मरणमें रखने चाहिये।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि दिनमें गौवें भ्रमण करती हैं और रात्रीमें गोशालामें आकर निवास करती हैं। मृग भी इसी प्रकार विश्रामके लिये अपने स्थानमें आते हैं। नदीकी लहरें भी कभी वेगसे उठती हैं, तो दूसरे क्षणमें चली जाती हैं। अर्थात् इस जगत्‌में कोई अवस्था स्थिर नहीं है। रोग भी इसी कारण नाश होनेवाले हैं। रोगी यह मनमें ठीक प्रकार समझे कि इस नश्वर जगत्‌में रोग भी नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर रूपसे रहनेवाले नहीं हैं। अतः रोग दूर होंगे और आरोग्य मिलेगा, यह निश्चय रखना उचित है।

रोगीकी अवस्था इस सूक्तमें 'कण्व' शब्दसे कही है। शरीरकी पीडित अवस्थामें रोगी विलक्षण शब्द करता रहता है। इसको कण्व कहते हैं। ऐसी अवस्था रोगी यदि सुप्रसिद्ध (विश्व-भेषजी) सब रोगोंकी औषधीका सेवन करेगा, तो वह निःसंदेह रोगमुक्त होगा। इस मंत्रमें जो सब रोगोंकी शमन करनेवाली औषधि कही है, वह प्रथम मंत्रोक्त सूर्यप्रकाश ही है। सूर्यकिरणें ही यह वल्लीके रूपमें हमारे पास आती हैं। इस सूर्यप्रकाशमें ऐसा सामर्थ्य है, कि वे दृष्ट और अदृष्ट सब प्रकारके रोगबीजोंका नाश करते हैं। जहां सूर्यप्रकाश होता है, वहां कोई रोगबीज नहीं रह सकता। इतना प्रभाव सूर्यकिरणोंमें है। इस विज्ञानका विचार करनेसे मनुष्य अपना रहन सहन योग्य प्रकार करके सूर्य देवसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् नंगा शरीर सूर्यप्रकाशमें रखनेसे शरीरके रोगक्रिमी दूर होंगे, घरमें सूर्यप्रकाश आनेसे घरके रोग दूर होंगे, नगरमें सूर्यप्रकाश गलीगलीमें पहुंचनेसे सब नगर आरोग्यपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार सब मनुष्य इस सूर्यके प्रकाशसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य किरण जिनपर गिरते हैं, ऐसी वनस्पतियां खानेसे भी यही लाभ होता है। सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करनेवाली गौका दूध पीनेसे भी लाभ होता है। इस प्रकार योजनापूर्वक जानकर सूर्यकिरण चिकित्साका विषय सबको समझना चाहिये।



अपनी रक्षा ।

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — बृहच्छुक्रः । देवता — नानादेवताः ।)

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥
पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (प्र-चेतसौ द्यौः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवाले द्युलोक और भूलोक और (बृहन् शुक्रः दक्षिणया) बडा सामर्थ्यवान् सूर्य दक्षताके साथ (मे इदं पिपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे । (सोमः अग्निः) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये (स्वधा अनु चिकितां) अपनी धारणशक्तिका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवें । (वायुः सविता भगः च नः पातु) वायु सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे । (पुनः चक्षुः पुनः असुः नः एतु) फिर आंख और फिर प्राण हमारे पास आवें । (अ-दब्धः तनू-पाः वैश्वानरः) न दबाया जानेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विश्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंको जानता हुआ (अन्तः तिष्ठाति) अन्दर रहता है ॥ २ ॥

(वर्चसा पयसा सं) तेज और पुष्टिकारक दूधसे हम युक्त हों । (तनूभिः सं) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों । (शिवेन मनसा सं अगन्महि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों । (त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु) श्रेष्ठ कारीगर परमात्मा हमें यहां उत्तम बनावे । (यत् नः तन्वः विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनु मार्ष्टु) उसको अनुकूलतासे शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोकका बडा शक्तिशाली भाग्यवान् सूर्य, अन्तरिक्ष लोकका वायु, और भूलोकका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियां पूर्वोक्त प्रकार हमें पुनः प्राप्त हों । हम पापोंको छिपकर कर नहीं सकते, क्योंकि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक अन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे । हमारे शरीरमें जो कुछ हानिकारक पदार्थ घुसा हो, वह परमेश्वरकी योजनासे दूर होवे और हमारी शुद्धि होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें अपनी सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है । द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः असुः, चक्षुः नः पुनः एतु । (मं. २)

' आत्मा, प्राण, आंख आदि सब शक्तियां हमारे पास पुनः आवें । ' अर्थात् रोगादिके कारण शरीरपर जो विविध आपत्तियां आती हैं, उनसे चक्षु आदि सब इंद्रिय रोगी और विकल हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इंद्रिय नामशेष भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मर भी जाता है । अर्थात् जब शरीर ऐसा रोगी हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है । इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब शक्तियां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें बसें । अर्थात् रोग आदि आपत्तियां आनेप

भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो। यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मंत्रने बताया है—

(द्यौः बृहन् शुक्रः भगः सविता) द्युलोकका बडा सामर्थ्यशाली शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवी अग्निः सोमः) पृथ्वीके ऊपरका अग्नि और सोमादि वनस्पतियां (अनु स्वधा चिकितां, पातु, पिपर्तु) अनुकूलतासे अपनी धारक शक्ति देवें, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें। (मं. १)

द्युलोकमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सबकी शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढाकर पूर्ण करता है। अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका प्राण होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और दीर्घ आयु देता है पृथ्वीपरका सोम आदि वनस्पतियां रोग दूर करने द्वारा सबका आरोग्य बढाती हैं और सबको दीर्घायु करती हैं। अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियोंके यथायोग्य सेवनसे आसन्नमरण हुआ मनुष्य भी पुनः स्वस्थ हो सकता है। इससे—

पयसा, वर्चसा, शिवेन मनसा सं अगन्महि। (मं. ३)

'दुग्धादि अन्नपान, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मन प्राप्त हो सकता है।' आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमङ्गल विचारोंसे युक्त करे, क्योंकि विचार शुद्ध रहे तो बुराई पास नहीं आ सकती। स्वभाव तेजस्वी बनावे और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे। इतना प्रयत्न करनेपर भी जो कुछ रोगबीज या दोष शरीरमें घुस गया हो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वः यत् विरिष्टं मार्ष्टु। (मं. ३)

'ईश्वर हमारे शरीरके रोगादिको दूर करके हमारी शुद्धता करे।' क्योंकि मनुष्यका प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियां हो जाती हैं और दोष घुसते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब दोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरप्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अद्भुत दैवी बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब दोष और रोगबीज तथा अन्य विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है। कोई यहां यह न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी दोष या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैश्वानरः, अदब्धः, तनूपाः, विश्वा दुरितानि अन्तः तिष्ठाति। (मं. २)

'सब जगत्का नेता, कभी न दबनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे अन्दर रहता है।' जब वह जाग्रत रहता हुआ अंदर रहता है तब उसे छिपकर कोई कैसे पाप कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब बुरे और भले कर्मोंको वह जानता है, इसलिये उसीकी प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिये।

यह रीति है जिससे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अपनी उन्नतिका साधन कर सकता है।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि।

[सूक्त ५४]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — अग्नीषोमौ।)

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये। अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इदं तत् उत्तरं युजे) मैं इसके साथ उस श्रेष्ठको संयुक्त करता हूं। (अष्टये इंद्रं शुंभामि) फलभोगके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! (अस्य क्षत्रं महीं श्रियं वर्धय) इस राजाके राज्यको तथा महती संपत्तिको बढा, (वृष्टिः तृणं इव) जैसे वृष्टि घासको बढाती है ॥ १ ॥

भावार्थ— मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूं, अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करता हूं। हे ईश्वर! हमारे राजाका राज्य बढे और धन भी ऐसा बढे कि जैसी घास वृष्टिसे बढ जाती है ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् । इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥
सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्निषोमौ । (अस्मै क्षत्रं धारयतं) इसके लिये राज्यको धारण करो, (अस्मै रयिं) इसके लिये धन धारण करो । (इमं राष्ट्रस्य अभीवर्गे कृणुतं) इसको राष्ट्रकी मुख्य मंडलीमें स्थिर करो । तथा (उत्तरं युजे) मैं इसको अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूं ॥ २ ॥

(सबन्धुः च असबन्धुः च) भाइयों समेत या भाइयोंसे रहित (यः अस्मान् अभिदासति) जो शत्रु हमारा विनाश करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मेरे याजक यजमानके लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे । राष्ट्रके हित करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और श्रेष्ठके साथ बढता रहे ॥ २ ॥

कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइयों समेत हमारा नाश करना चाहे उसका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है । राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है । अपना श्रेष्ठोंसे संबंध जोडना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनुष्यका कर्तव्य यहां बताया है । इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निःसंदेह सफल होगी । अपना राज्य बढे, धन बढे, स्वराज्य न हो तो वह प्राप्त होवे, शत्रु दूर हो जावे और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे । यह इस प्रार्थनाका आशय है ।

उत्तम मार्गसे जाना ।

[सूक्त ५५]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — १ विश्वेदेवाः, १-३ रुद्रः ।)

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥
ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

अर्थ— (ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके आनेजानेके बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) द्युलोक और भूलोकके बीचमें चलते रहते हैं । (तेषां यतमः अज्यानिं वहाति) उनमेंसे जो मार्ग समृद्धि लाता है । हे (सर्वे देवाः) सब देवो ! (इह तस्मै मा परि धत्त) यहां उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार धारण करो ॥ १ ॥

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर ये सब ऋतु (नः स्विते दधात) हमें उत्तम अवस्थामें धारण करें । (नः गोषु प्रजायां आ भजत) हमें गौओं और प्रजाओंमें सुखका भागी करें । (वः इत् निवाते शरणे स्याम) तुम्हारे साथ निश्चयसे हम वातादिके उपद्रवरहित घरमें रहें ॥ २ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् सज्जनोंके जाने आनेके अथवा व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग हो, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छहों ऋतुओंमें उत्तम सुख लाभ हो, गौओं और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

इडावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षोंके लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत अन्न उत्पन्न करो। (तेषां यज्ञियानां सुमतौ) उन यज्ञकर्ताओंकी उत्तम बुद्धिमें तथा (सौमनसे भद्रे अपि स्याम) उत्तम मनमें तथा कल्याणमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— हरएक वर्ष उत्तम अन्न पर्याप्त प्रमाणमें उत्पन्न कर, और जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है उनके उत्तम शुभ संस्कारयुक्त मन और बुद्धिमें रह अर्थात् तेरे विषयमें उनकी संमति उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

' संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, और इद्वत्सर ' ये संवत्सरोंके पांच नाम क्रमशः प्रभवसे लेकर हरएक पंचयुगीके हैं। इसी प्रकार ' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चतुर्युगीके नाम हैं।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके शुभमार्गोमें भी जो मार्ग सबसे श्रेष्ठ हैं उन पर चलना चाहिये। अपना आचरण उत्तम रहा तो सब ऋतुओंसे लाभ होता है और अपने अंदर दोष हुआ तो हानि होती है। हरएकको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों। हरवर्ष खेतीसे इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके।

सर्पसे बचना।

[सूक्त ५६]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — १ विश्वेदेवाः, २-३ रुद्रः।)

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान् ।
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥ १ ॥
नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये। स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥
सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू। सं ते जिह्वाया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (अहिः सतोकान् सहपूरुषान्) सांप संतानों और पुरुषोंके समेत (नः मा वधीत्) हमें न मारे (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनों अर्थात् वैद्योंके लिये नमस्कार है। (संयतं न वि ष्परत्) बंद हुआ न खुल सकता है और (व्यात्तं न सं यमत्) खुला हुआ बंद नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

(असिताय नमः अस्तु) काले सर्पके लिये नमस्कार हो, (तिरश्चिराजये नमः) तिरछी लकीरोंवाले सांपको नमस्कार, (स्वजाय बभ्रवे नमः) लिपटनेवाले और भूरे रंगवाले सांपके लिये नमस्कार हो। तथा (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनोंके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे (अहे) सर्प! (ते दतः दता सं हन्मि) तेरे दांतोंको दांतसे मैं तोडता हूं। (ते हनू हन्वा सम् उ) तेरे ठोढीको ठोढीसे सटा देता हूं। (ते जिह्वां जिह्वया सं) तेरी जिह्वाको जिह्वासे तोडता हूं। (ते आस्यं आस्ना सं हन्मि) तेरे मुखको मुखसे फाडता हूं ॥ ३ ॥

मनुष्योंको अपने निवासस्थानमें ऐसा सुप्रबंध करना चाहिये, कि जिससे सर्पदंशसे मनुष्य या पशु कदापि न मरे। तृतीय मंत्रसे सर्पको मारना चाहिये ऐसा भी पता लगता है।

मंत्रोंका अन्य भाव दुर्बोध है और बडी खोजकी अपेक्षा रखता है।

जलचिकित्सा।

[सूक्त ५७]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — रुद्रः।)

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्। येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥
जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत। जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥
शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (इदं इत् वा उ भेषजं) यह जल निःसंदेह औषध है (इदं रुद्रस्य भेषजं) यह रुद्रका औषध है। (येन) जिससे (शतशल्यां एकतेजनां इषुं अपब्रवत्) अनेक शल्यवाले, एक दण्डवाले बाणके विरुद्ध शब्द बोला जाता है अर्थात् बाणका व्रण भी ठीक हो सकता है ॥ १ ॥

(जालाषेण अभि सिंचत) जलसे अभिषिंचन कराओ, (जालाषेण उप सिंचत) जलसे उपसिंचन कराओ। (जालाषं उग्रं भेषजं) जल बडा तीव्र औषध है। (तेन जीवसे नः मृड) उससे दीर्घ जीवनके लिये हमें सुखी कर ॥२॥

(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो, (नः मयः च) हमें सुख मिले। (नः च किंचन आम-मत् मा) हमें कोई आमवाला रोग न होवे। (रपः क्षमा) सडावटसे बचाव किया जावे, (नः विश्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध हो, (नः सर्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह जल उत्तम औषध है। वैद्य इसका प्रयोग करते हैं। शल्योंके व्रणको भी जलचिकित्सासे ठीक किया जा सकता है ॥ १ ॥

जलसे पूर्ण स्नान करो, आधा स्नान-कटिस्नान--भी जलसे करो। इससे रोग दूर होंगे, क्योंकि जल बडी तीव्र औषधि है। इस जलसे दीर्घजीवन प्राप्त होकर स्वास्थ्यका सुख भी प्राप्त हो सकता है ॥ २ ॥

जलसे शरीरकी शान्ति, समता, सुख और स्वास्थ्य प्राप्त होकर आमरोग दूर होते हैं, शरीरकी सडावट नष्ट होती है। जल पूर्ण औषधि है, जल निःसंदेह सबकी औषधि है ॥ ३ ॥

इस सूक्तका अभिप्राय स्पष्ट है। जलचिकित्साका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। जलसे संपूर्ण शरीर भिगानेसे पूर्ण स्नान होता है, और रोगवाला भाग भिगानेसे अर्धस्नान होता है। योजनापूर्वक इनका उपयोग करनेसे बहुत लाभ होता है। जैसा—

१– ब्रह्मचर्य पालनके लिये शिश्नस्नान शीत जलसे करना, तथा आसपासका प्रदेश अच्छी प्रकार भिगाकर शान्त करना।

२– कब्जी हटानेके लिये नाभीसे लेकर जंघातकका भाग पानीमें भीग जाय ऐसे बर्तनमें पानी डालकर बैठ जाना और कपडेसे पेट और नाभीके स्थानकी मालिश पानीमें करनेसे कब्जी हटती है। और आमके रोग दूर होते हैं। शरीरमें सडनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार नमकजलसे नेत्रस्नान करनेसे नेत्रदोष दूर होता है। बिच्छूके विषकी बाधा हो जावे तो ऊपरसे सतत जलधारा छोडनेसे विष उतरता है, परंतु इस विषयमें अधिक प्रयोग करना चाहिये।

ज्वरमें मस्तिष्क तपनेसे उन्माद हुआ तो सिरपर शीतजलकी पट्टी रखनेसे त्वरित उन्माद हट जाता है।

स्त्रियों या पुरुषोंके प्रमेह रोगके निवारणार्थ कटिस्नान उत्तम उपाय है। इन्द्रियस्नान और स्त्रियोंके लिये अन्तःस्नान भी उपयोगी है।

इस प्रकार योजनापूर्वक प्रयोग करनेसे प्रायः सभी रोग जलोपचारसे दूर हो सकते।

यशकी इच्छा।

[सूक्त ५८]

(ऋषिः — अथर्वा यशस्कामः । देवता — बृहस्पतिः । मन्त्रोक्ताः ।)

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥
यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥
यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (मघवान् इन्द्रः मा यशसं कृणोतु) महत्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी करे । (उभे इमे द्यावापृथिवी मा यशसं) ये दोनों द्यावापृथिवी मुझे यशस्वी करें। (सविता देवः मा यशसं कृणोतु) सविता देव मुझे यशस्वी करे। और (अहं दक्षिणायाः दातुः प्रियः स्याम्) मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊं ॥ १ ॥

(यथा इन्द्रः द्यावापृथिव्योः यशस्वान्) जिस प्रकार इन्द्र द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीच यशस्वी है। (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जिस प्रकार जल औषधियोंमें यशयुक्त हैं। (एवा विश्वेषु देवेषु) इस प्रकार सब देवोंमें और (सर्वेषु वयं यशसः स्याम) सबमें हम यशस्वी होवें ॥ २ ॥

(इंद्रः यशाः) इन्द्र यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम यशस्वी हुआ है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सब भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं अधिक यशवाला हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, सूर्य, इंद्र आदि सब मुझे सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊं ॥ १ ॥

इस त्रिलोकीमें सूर्य तेजस्वी है, जल औषधियोंमें रसवान मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ॥ २ ॥

इंद्र, अग्नि तथा सोम जैसे यशस्वी हुए हैं, उस प्रकार मैं अधिक श्रेष्ठ यशवाला होऊं ॥ ३ ॥

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम यश फैले। मनुष्यके सामने सूर्य, इंद्र, अग्नि और सोमके आदर्श रहें। सूर्य सबको प्रकाश देता है, इंद्र चेतना देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोग दूर करता है; इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वार्थ छोड परोपकारमें अपने आपको लगा रखते हैं, उनके यशका बीज इस परोपकारमें है। जो मनुष्य इस प्रकार निःस्वार्थ आचरण करेगा वह भी उनके समान ही प्रशस्त यशसे युक्त होगा।

अरुन्धती औषधि।

[सूक्त ५९]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः । मन्त्रोक्ताः ।)

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति । अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (अरुंधति) अरुंधती औषधि ! (त्वं अनडुद्भ्यः) तू बैलोंको, (त्वं धेनुभ्यः) तू गौओंको तथा तू (चतुष्पदे अधेनवे वयसे) चार पांववाले गौसे भिन्न पशुको तथा पक्षियोंको (प्रथमं शर्म यच्छ) पहिले सुख दे ॥१॥

भावार्थ— अरुन्धती नामक औषधी गाय, बैल आदि चतुष्पाद और पक्षी आदि द्विपादोंको नीरोग करती है और सुख देती है ॥ १ ॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती । करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥
विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् । सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अरुंधती ओषधिः देवीः सह) अरुंधती नामक औषधी सब अन्य दिव्य औषधियोंके साथ (शर्म यच्छतु) सुख देवे। तथा (गोष्ठं पयस्वन्तं) गोशालाको बहुत दुग्धयुक्त (उत पूरुषान् अयक्ष्मान् करत्) और मनुष्योंको रोग रहित करे ॥ २ ॥

(विश्वरूपां सुभगां जीवलां अच्छ-आवदामि) नानारूपवाली, भाग्यशालिनी जीवला औषधिके विषयमें उत्तम वचन कहते हैं, स्तुति करते हैं। (रुद्रस्य अस्तां हेतिं) रुद्रके फेंके रोगादि शस्त्रको (नः गोभ्यः दूरं नयतु) हमारे पशुओंसे दूर ले जावे, उनको नीरोग बनावे ॥ ३ ॥

भावार्थ— अरुन्धती तथा अन्य औषधियां सुख देनेवाली हैं, इनसे गौवें अधिक दूध देनेवाली बनती हैं। और सब प्राणी नीरोग होते हैं ॥ २ ॥

अनेक रंगरूपवाली, यह जीवन देनेवाली जीवला औषधि स्तुति करने योग्य है। पशुपक्षियों और मनुष्योंको होनेवाले रोग इससे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

अरुन्धती।

' अरु ' का अर्थ संधिस्थान, जोड, इस स्थानके रोग ठीक करनेवाली औषधि ' अरुंधती ' है। इसका आजकलका नाम क्या है इसका पता नहीं चलता। खोज करके निश्चय करना चाहिये। यह गौओंको खिलानेसे गौएं अधिक दूध देने लगती हैं। इसका सेवन मनुष्य करेंगे तो यक्ष्मा जैसे रोग दूर होते हैं। ' जीवला ' औषधि भी इसी प्रकार उपयोगी है, संभव है कि जीवला, अरुन्धती ये नाम एक ही औषधिके हों। यह खोजका विषय है।

विवाह।

[सूक्त ६०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अर्यमा।)

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः । अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥
अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती । अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं विषितस्तुपः अर्यमा) यह प्रशंसनीय सूर्य (अस्मै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (पतिं इच्छन्) पतिकी इच्छा करता हुआ (उत अजानये जायां) और स्त्रीरहित पुरुषके लिये स्त्रीकी इच्छा करता हुआ (पुरस्तात् आयाति) सन्मुखसे आता है ॥ १ ॥

हे (अर्यमन्) सूर्य ! (अन्यासां समनं यती) अन्य कन्याओंके संमानको अर्थात् विवाहरूपसे होनेवाले संमान उत्सवको जानेवाली (इयं अश्रमत्) यह बहुत थक गई है। हे (अंगो अर्यमन्) सूर्य ! इसलिये (अस्याः समनं अन्याः नु आयाति) इसके विवाहसंमानमें दूसरी कन्याएं भी आजावें ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य उदयको प्राप्त होकर अस्तको जाता है। इस कारण कन्या और पुत्रकी आयु बढती है। और जैसी जैसी आयु बढती है उसीके अनुसार स्त्रीपुरुषमें पतिपत्नीकी प्राप्ति करनेकी इच्छा भी प्रदीप्त होती है ॥ १ ॥

कन्याएं जिस समय दूसरी कन्याके विवाहसंस्कारमें जाती हैं, उस समय उनके मनमें अपने विवाहका विचार उत्पन्न होता है और उनको एक प्रकारका कष्ट होता है। इसलिये यह विचार कन्याके मनमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उस कन्याका विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् । धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (धाता पृथिवीं दाधार) परमेश्वरने पृथ्वीको धारण किया है (उत धाता सूर्यं द्यां) और उसी ईश्वरने सूर्यको और द्युलोकको धारण किया है। इसलिये वही (धाता) देव (अस्यै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (प्रतिकाम्यं पतिं दधातु) इच्छा करनेवाले पतिका धारण करे अर्थात् इसको ऐसा पति देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वरने पृथ्वी, सूर्य और द्युलोकको यथास्थान धारण किया है, इसलिये वह निःसंदेह इस कन्याके लिये अनुरूप पति भी दे सकता है ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कहीं हैं—

(१) विशिष्ट आयुमें पुरुषमें स्त्रीकी, और स्त्रीमें पुरुषकी इच्छा होती है। इसके पश्चात् विवाहका समय होता है।

(२) विवाहादि संस्कारोंमें संमिलित होनेसे कन्याओंमें विवाह विषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके विवाहका है।

(३) पत्नी पतिकी इच्छा करनेवाली और पति (अनु-कामः) पत्नीको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला होनेपर विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें सावधानी रखी जाय।

परमेश्वरकी महिमा ।

[सूक्त ६१]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः ।)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥
अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥

अर्थ— (आपः मह्यं मधुमत् आ ईरयन्ताम्) जल मेरे लिये मधुररससे युक्त होकर बहे। (सूरः मह्यं ज्योतिषे कं अभरत्) सूर्यने मेरे कारण प्रकाशके लिये किरण चारों ओर भर दिये हैं। (उत विश्वे तपोजाः देवाः) और सब प्रकाश देनेवाले देव (सविता देवः च मह्यं व्यचः धात्) और सूर्य देव भी मेरे लिये विस्तारको धारण करते हैं ॥ १ ॥

(अहं पृथिवीं उत द्यां विवेच) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको अलग अलग किया है। (अहं सप्त ऋतून् साकं अजनयं) मैंने सात ऋतुओंको साथ साथ बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत्) मेरी सत्य और अनृत जो भी वाणी बोली जाती है वह (विशः दैवीं वाचं अहं परि वदामि) मनुष्योंकी दैवी वाणी मैं ही सब प्रकारसे बोलता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जल परमेश्वरकी प्रेरणासे मधुररसके साथ बह रहा है, सूर्य उसीके लिये प्रकाशता है। सब अन्य देव उसीकी महिमाका विस्तार कर रहे हैं ॥ १ ॥

पृथ्वी, द्युलोक उसी ईश्वरने बनाये हैं, छः ऋतु और अधिक मास मिलकर सात उसी द्वारा बनाये गये हैं। मनुष्योंकी वाणी उसीकी प्रेरणासे बोली जाती है ॥ २ ॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अहं पृथिवीं उत द्यां जजान) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको उत्पन्न किया है । (अहं सप्त ऋतून् सिंधून् अजनयम्) मैंने सात ऋतुओं और सिंधुओंको बनाया है । (अहं सत्यं अनृतं यत् वदामि) मैं सत्य या अनृत जो भी बोलनेका है वह बोलता हूं । और (सखायौ अग्नीषोमौ अजुषे) मित्र, अग्नि और सोमको एक दूसरेके साथ मिलाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सप्त समुद्र और सात नदियां उसीकी आज्ञासे हुई हैं, अंदरकी प्रेरणा वही करता है और अग्निके साथ सोमशक्ति उन्होंने ही जोडी है ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना परमेश्वर करता है यह बात स्वयं परमेश्वरने इस सूक्तमें कही है ।

॥ यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

अपनी पवित्रता ।

[सूक्त ६२]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — रुद्रः । मन्त्रोक्ताः ।)

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥
वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः रश्मिभिः नः पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धि करे । (वातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे । (इषिरः नभोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे । (पयस्वती ऋतावरी) रसवाले, जलयुक्त, (यज्ञिये द्यावापृथिवी) पूजनीय द्युलोक और भूलोक (पयसा नः पुनीतां) अपने पोषक रससे हमें पवित्र करें ॥ १ ॥

(सूनृतां वैश्वानरीं आ रभध्वं) सत्य और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईशस्तुतिको प्रारंभ करो । (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) जिनका पृष्ठ भाग नहीं है ऐसी दिशायें जिन वाणियोंके शरीर हैं । (सध-मादेषु) सब मिलकर आनंदित होनेके अवसरमें (तया गृणन्तः वयं) उससे बोलते हुए हम सब (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविध रसके रूपसे, तथा द्युलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे । अर्थात् ये देवताएं हमारे शरीरमें आकर रह रही हैं और उन्होंने यहां ये रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

सब मनुष्य सत्य भाषण करें और ईश्वरके गुणगान करें । इस प्रकारकी वाणीके लिये अमर्याद स्थान हैं । हम उक्त प्रकारके वचन कहते हुए धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे आ रभध्वं) सब मनुष्योंकी ईशस्तुतिरूप वाणीको तेजस्विताके लिये बोलना आरंभ करो। (इह इडया सधमादं मदन्तः) यहां स्तुतिरूप वाणीसे साथ साथ आनंदित होते हुए हम (ज्योक् उच्चरन्तं सूर्यं पश्येम) चिरकालतक ऊपर उठे हुए सूर्यको देखते रहेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हम अन्तर्बाह्य शुद्ध हों, साथवालोंको पवित्र बनावें, शुभ वाणी बोलें और सब मिलकर आनन्दित होते हुए दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपने शरीरमें सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं। यहां अग्नि- ने वाणीका रूप लिया है, वायुने प्राणका रूप लिया है, जलने रसका रूप लिया है, द्युलोक सिरके स्थानमें है, पांवके स्थानमें पृथिवी है, इसी प्रकार अन्य अवयवोंमें अन्य देवताएं रह रही हैं। ये सब देवताएं अनृतसे मुक्त न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें। सत्य वाणी, सत्य विचार और सत्य आचार के लिये जितना चाहिये उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र है। इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य करते हुए, सत्यसे पवित्र बनकर धर्ममार्गसे धन कमावें और धनी बनें। शरीरकी शुद्धि करें, अन्तःकरणको पवित्र करें और अपने विचार, उच्चार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आक्रमण करें। सत्यसे निर्भय होनेवाले और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग निःसंदेह दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और पूर्ण आयुकी समाप्तितक आनंदके साथ रहते हैं। इस लिये मनुष्य अपनी पवित्रताका साधन करे और कृतकृत्य बने।

बंधनसे मुक्त होना।

[सूक्त ६३]

(ऋषिः — द्रुह्वणः । देवता — निर्ऋतिः, अग्निः, यमः ।)

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥
नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

अर्थ— (देवी निर्ऋतिः) दुर्गतिने (यत् यत् अविमोक्यं दाम ते ग्रीवासु आबबन्ध) जो जो सहजहीमें न छूटनेवाला बंधन तेरी गर्दनमें बांधा है, वह (ते आयुषे बलाय वर्चसे वि स्यामि) तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विताके लिये मैं खोलता हूं। अब तू (प्रसूतः अदो-मदं अन्नं अद्धि) आगे बढकर हर्षदायक अन्नका भोग कर ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है। हे (तिग्मतेजः) उग्र तेजवाले ! (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) लोहमय पाशोंको तोड डाल। (यमः त्वां पुनः इत् मह्यं ददाति) यम तुझको पुनः मेरे लिये देता है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस नियामक मृत्युको नमस्कार होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यके गलेमें दुर्गति, अलक्ष्मीके पाश सदा बंधे रहते हैं। बिना प्रयत्न किये ये पाश छूट नहीं सकते। और जबतक ये पाश गलेमें अटके रहते हैं तबतक दीर्घ आयु, बलकी वृद्धि और तेजस्विता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये हरएक मनुष्य ये पाश तोड डाले और आनन्द देनेवाला अन्न भोग भोगे ॥ १ ॥

अ॒य॒स्मये॑ द्रु॒प॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म् ।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ ३ ॥
संस॒मिद्यु॑वसे वृषन्न॒ग्ने विश्वा॑न्य॒र्य आ । इ॒डस्प॒दे सम्वि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्या भ॑र ॥ ४ ॥

अर्थ— जब तू (अयस्मये द्रुपदे वेधिषे) लोहमय काष्टस्तंभमें किसीको बांधती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है । (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधि रोहय) इसको उत्तम स्वर्गमें चढा ॥ ३ ॥

हे (वृषन् अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! आप (अर्यः) सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये आप (विश्वानि इत् सं सं आ-युवसे) सबको निश्चयसे मिला देते हैं और (इडः पदे समिध्यसे) वाणीके और भूमिके स्थानमें प्रकाशित होते हैं (सः नः वसूनि आ भर) वह आप हमें धन प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ— लोहे जैसे ये टूटनेके लिये कठिन दुर्गतिके पाश तोड दो। इस कार्यके लिये उग्र तेजवाले देवका आश्रय करो। यह सामर्थ्य सबका नियामक देव तुझको देगा, इसलिये उसको प्रणाम कर ॥ २ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उसको हजारों दुःख और सैकडों विनाश सदा सताते हैं। इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेल करके, इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ३ ॥

बलवान् ईश्वर सबके ऊपरका शासक है । वह सबकी संघटना करता है और सब पदार्थ मात्रोंके बीचमें प्रकाशित होता है और वही वाणीका प्रेरक भी है । वह ईश्वर हमें धनादि पदार्थ देवे ॥ ४ ॥

पारतंत्र्यका घोर परिणाम ।

पारतंत्र्यका, बंधनमें रहनेका घोर परिणाम इस सूक्तने इस प्रकार बताया है—

अविमोक्यं दाम । (मं० १)
अयस्मयाः पाशाः । (मं० २)
अयस्मये द्रुपदे वेधिषे, इह सहस्रं मृत्युभिः अभिहितः । (मं० ३)

' पारतंत्र्यके पाश सहजहीमें छूटनेवाले नहीं हैं । जिस प्रकार लोहेकी जंजीर तोडनेके लिये कठिन होती है । उसी प्रकार ये पारतंत्र्यके पाश तोडनेके लिये कठिन होते हैं । जो मनुष्य इन लोहमय पाशोंसे स्तंभसे बांधा जाता है उस पर हजारों दुःख और मृत्यु आती हैं, और उनसे मानो वह बांधा जाता है । '

परतंत्रताके बंधनमें पडा मनुष्य सैकडों आपत्तियोंसे घिर जाता है, और उसको मुक्त करनेका मार्ग भी नहीं दीखता, ऐसा वह दिङ्मूढसा हो जाता है । यह सब ठीक है, तथापि मनुष्यको बन्धनसे अपना छुटकारा पाना आवश्यक ही है, क्योंकि पारतंत्र्यमें किसी प्रकारकी भी उन्नति नहीं हो सकती । इसलिये कहा है कि—

अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत । (मं० २)

' लोहमय बंधनोंको तोड दो ।' क्योंकि जबतक ये पाश नहीं टूटते तबतक तुम्हारी उन्नति होना किसी प्रकार भी शक्य नहीं है।

पाश तोडनेसे लाभ ।

पारतंत्र्यके पाश तोडनेसे क्या लाभ होगा और बंधनमें सडते रहनेसे क्या हानि होगी इसका विवरण यह मंत्रभाग करता है—

ते तत् अविमोक्यं दाम आयुषे वर्चसे बलाय विष्यामि । प्रसूतः अदोमदं अन्नं अद्धि ॥ (मं. १)

' तेरा न टूटनेवाला पाश तोडता हूं । पाश टूटनेसे और तुझे स्वातंत्र्य मिलनेसे तुझे दीर्घ आयु, तेज और बल प्राप्त होगा और अन्न भोग पर्याप्त प्राप्त होंगे ।' पारतंत्र्यके बंध कितने भी अटूट हों, उनको तोडनेसे ये चार लाभ प्राप्त होंगे, लोग दीर्घायु होंगे, जनताका तेज बढेगा, लोग बलवान् होंगे और अन्न आदि भोग्य पदार्थ पर्याप्त परिमाणमें मिलेंगे । स्वातंत्र्यके ये लाभ हैं ।

पारतंत्र्यमें रहनेसे जो हानियां हैं उनका भी ज्ञान इससे हो सकता है, देखिये— लोगोंकी आयु क्षीण होगी, जनतामें बल नहीं रहेगा, उनमें तेजस्विता न होगी और किसीको खानेके लिये अन्न भी नहीं मिलेगा । हरएक परतंत्र मनुष्यको ये आपत्तियां भोगनी पडती हैं, इसलिये हरएकको उचित है कि वह पारतंत्र्यका बंधन तोड दे और बंधनसे मुक्ति प्राप्त करे । और अपने आपको स्वर्गधामका अधिकारी बनावे ।

पाठक इस रीतिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पारतंत्र्यके पाश तोडनेका उपदेश वेद कितनी दृढतासे कर रहा है, इसकी कल्पना हो सकती है । आशा है कि पाठक ऐसे वैदिक उपदेशोंसे उचित लाभ प्राप्त करेंगे ।

संघटनाका उपदेश।

[सूक्त ६४]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सांमनस्यम्)

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

अर्थ— (सं जानीध्वं) समान ज्ञान प्राप्त करो, (सं पृच्यध्वं) समानतासे एक दूसरेसे संबंध जोडो, (वः मनांसि सं जानतां) तुम्हारे मन समान संस्कारसे युक्त करो। (यथा पूर्वे संजानाना देवाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व समयके ज्ञानी लोग अपने कर्तव्यभागकी उपासना करते रहे, वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥

(मन्त्रः समानः) तुम्हारा विचार समान हो, (समितिः समानी) तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो, (व्रतं समानं) तुम सबका व्रत समान हो, (एषां चित्तं समानं) इन समस्त जनोंका- तुम्हारा- चित्त समान- एक विचारवाला होवे। (समानं चेतः अभिः सं विशध्वं) समान चित्तवाले होकर सब प्रकार कार्यमें प्रविष्ट हो, इसलिये (वः समानेन हविषा जुहोमि) तुम सबको समान हविके साथ युक्त करता हूं ॥ २ ॥

(वः आकूतिः समानी) तुम सबका संकल्प एक जैसा हो, (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों, (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारा मन समान हो (यथा वः सह सु असति) जिससे तुम सब मिलजुलकर उत्तम रीतिसे रहोगे ॥ ३ ॥

यदि अपनी संघटना इष्ट है तो तुम सबका ज्ञान एक जैसा हो, तुम समान भावसे एक दूसरेके साथ मिल जाओ, कभी एक दूसरेके साथ हीनताका भाव न धरो, सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त करो, अपने प्राचीन श्रेष्ठ लोक समय समयपर जिस प्रकार अपना कर्तव्यभाग करते रहे, उस प्रकार तुम भी कर्तव्य करो। तुम सब एक विचारसे रहो, तुम्हारी सभामें सबका समान अधिकार हो, तुम्हारे नियम सबके लिये समान हों, तुम्हारा चित्त एक भावसे भरा हो, एक विचार होकर किसी एक कार्यमें एक दिलसे लगो, इसी कारण तुम सबको समान शक्तियां मिली हैं। तुम सबके संकल्प समान हों, परस्पर विरोधी न हों, तुम्हारे अन्तःकरणके भाव सबके साथ समान हों, एक दूसरेसे विरोधी न हों, तुम्हारे मनके विचार भी समतायुक्त हों। इस प्रकार तुमने अपनी एकता और अपनी संघटना की, तो तुम यहां उत्तम रीतिसे आनन्दपूर्वक रह सकते हो। अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता। तुम्हारी इस संघटनासे ऐसा बल बढेगा कि तुम कभी किसी शत्रुसे न दबोगे। और अपना उद्धार अपनी शक्तिसे कर सकोगे।

संघटना करनेवाले पाठक इस सूक्तका बहुत विचार करें और अपना बल बढावें।

शत्रुपर विजय।

[सूक्त ६५]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः।)

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा। पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्युः अव) क्रोध दूर हो, (आयता अव) शस्त्र दूर हों, (मनोयुजा बाहू अव) मनसे प्रेरित बाहू दूर हों। हे (पराशर) दूरसे शरसंधान करनेवाले वीर! (त्वं तेषां शुष्म पराञ्चं मर्दय) उन शत्रुओंका बल दूर करके नाश कर। (अध नः रयिं आ कृधि) और हमें धन प्राप्त करा ॥ १ ॥

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ । वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (निर्हस्तेभ्यः यं निर्हस्तं शरूं अस्यथ) निहत्थे जैसे निर्बल शत्रुपर जो हस्तरहित करनेवाला शस्त्र तुम फेंकते हो, (अनेन हविषा अहं) इस हविसे मैं (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

(इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तं चकार) इन्द्रने पहिले असुरोंको निहत्था अर्थात् निर्बल किया। अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्वानः जयन्तु) मेरे सत्ववान् वीर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना कि उसके सन्मुख शत्रु निर्बल सिद्ध होवे, इस प्रकार अपना बल बढानेसे और योजनापूर्वक शत्रुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगी ।

[सूक्त ६६]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — चन्द्रः, इन्द्रः।)

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥
आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ। निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत् ॥ २ ॥
निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि । अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ— (नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हम पर हमला करनेवाला शत्रु निहत्था अर्थात् निर्बल होवे। (ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (महता वधेन समर्पय) उनको बडे वधके साथ मार डाल । (एषां अघहारः विविद्धः द्रातु) इनका विशेष घात करनेवाला वीर बिद्ध होता हुआ भाग जावे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओ ! (ये आतन्वानाः) जो तुम धनुष्य तानते हुए (आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ) खींचते हुए और बाण छोडते हुए दौडते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ। (इन्द्रः अद्य वः पराशरीत्) इन्द्र आज तुमको मार डालेगा ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंगा म्लापयामसि) इनके अंगोंको हम निर्बल कर देते हैं। और (एषां वेदांसि शतशः वि भजामहै) इनके धनोंको हम सैंकडों प्रकारसे आपसमें बांट देते हैं ॥ ३ ॥

[सूक्त ६७]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — चन्द्रः, इन्द्रः।)

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वर्त्मानि परि सस्रुतः) सब मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (अमित्राणां सेनाः परस्तरां मुह्यन्तु) शत्रुसेनाएं दूरतक घबरा जावें ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः। तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥
ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि। पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अमित्राः) शत्रुओ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणः अहयः इव चरत) सिर टूटे हुए सर्पोंके समान चलो। (अग्निमूढानां तेषां वः) हमारे आग्नेयास्त्रसे मोहित हुए तुम सबके (वरंवरं इन्द्रः हन्तु) वरिष्ठ वरिष्ठ वीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिनं आनह्य) इन हमारे वीरोंमें बलके साथ हरिणका चर्म पहिना दो। हमारे सैन्यसे शत्रुसैन्यमें (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर। (अमित्रः पराङ् एषतु) शत्रु परे भाग जावे और (गौः अर्वाची उप एषतु) उसकी भूमि या गौवें हमारे पास आ जावें ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शत्रुपराजय करनेके हैं। शत्रुको मोहित करके और घबराकर उन्हें ऐसे भगा देना चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे। उनमें जो शूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये कि, जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो जावे। ये तीनों सूक्त सरल हैं इसलिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्कता नहीं है।

मुंडन।

[सूक्त ६८]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मन्त्रोक्ता।)

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥
अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ २ ॥
येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं सविता क्षुरेण आ अगन्) वह सविता अपने छुरेके साथ आया है। हे (वायो) वायु! (उष्णेन उदकेन आ इहि) उष्ण जलके साथ आ। (आदित्याः रुद्राः वसवः सचेतसः उन्दन्तु) आदित्य, रुद्र और वसुदेव एकचित्तसे इसके बालोंको भिगावें। हे (प्रचेतसः) ज्ञानी जनो! तुम (सोमस्य राज्ञः वपत) इस सोम राजका मुण्डन करो ॥ १ ॥

(अदितिः श्मश्रु वपतु) अदिति बालोंका वपन करे, (आपः वर्चसा उन्दन्तु) जल तेजके साथ बालोंको गीला करे। (दीर्घायुत्वाय चक्षसे) दीर्घायु और उत्तम दृष्टिके लिये (प्रजापतिः चिकित्सतु) प्रजापालक इसकी चिकित्सा करे ॥ १ ॥

(विद्वान् सविता) ज्ञानी सविता (येन क्षुरेण) जिस छुरेसे (वरुणस्य राज्ञः सोमस्य अवपत्) श्रेष्ठ राजा सोमका वपन करता रहा, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मणो! (तेन अस्य इदं वपत) उससे इसका यह सिर मुंडाओ। (अयं गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान् अस्तु) यह गौवोंवाला, घोडोंवाला और सन्तानवाला होवे ॥ ३ ॥

बालोंका वपन करना अर्थात् हजामत बनवाना हो तो पहिले उष्ण जलसे बालोंको अच्छी प्रकार भिगोना चाहिये। भिगानेवाला विशेष ख्यालसे बाल भिगावे। उस्तरा लानेवाला निर्दोष उस्तरा ले आवे, उसको तीक्ष्ण करे। जितने ख्यालसे राजाके सिरका वपन करते हैं उतनी ही सावधानीसे बालकका भी सिर मुण्डाया जाय। किसी प्रकार असावधानी न हो। जिसका वपन करना हो उसकी आयु बढे और दृष्टि उत्तम हो ऐसी रीतिसे वपन करना चाहिये। वैद्य उस्तरे और जलकी परीक्षा करे और जिसकी हजामत होनी है उसकी भी परीक्षा करे। वपनके समय मनका भाव ऐसा रखे कि जिसकी हजामत की जा रही है वह दीर्घायु, स्वस्थ, गौओं और घोडोंका पालनेवाला तथा उत्तम संतानसे युक्त हो। इसके विपरीत भाव मनमें न रहें।



यशकी प्रार्थना।

[सूक्त ६९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — बृहस्पतिः, अश्विनौ।)

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥
मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत् पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरौ) पर्वतपर, (अरगराटेषु) चक्रयंत्रमें (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गौओंमें जो यश है, तथा (सिच्यमानायां सुरायां) बहनेवाली पर्जन्यधारामें तथा (कीलाले मधु) जो अन्नमें मधुरता है (तद् मयि) वह मुझमें हो॥ १॥

(शुभस्पति अश्विनौ) कल्याण देनेवाले दोनों अश्विदेव (सारघेण मधुना मा अंक्तं) सारवाली मधुरतासे मुझे युक्त करें। (यथा भर्गस्वतीं वाचं) जिससे भाग्यवाली वाणीको (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं॥ २॥

(मयि वर्चः) मुझमें तेज हो, (अथो यशः) और मुझमें यश, (अथो यज्ञस्य यत् पयः) और यज्ञका जो सार है (प्रजापतिः तत् मयि दृंहतु) प्रजापालक देव वह मुझमें दृढ करे (दिवि द्यां इव) जैसा द्युलोकमें प्रकाश होता है॥ ३॥

पहाड पर तपस्या करनेवाले मुनियोंमें, चक्रयंत्र चलानेवाले अथवा रथपर चढनेवाले वीरोंका जो यश है, उत्तम वृष्टि जल और श्रेष्ठ शुद्ध अन्नके विषयमें जो प्रशंसा होती है, उस प्रकारकी प्रशंसा मेरे विषयमें होती रहे। अर्थात् मैं भी उनकी तरह दूसरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करूं और यशस्वी होऊं। मेरे प्राण और बल उक्त प्रकार श्रेष्ठ कार्यमें समर्पित हों। मेरी वाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका भाग्य बढे। इस प्रकार आत्मयज्ञ करनेसे मुझमें तेजस्विता और यश बढे और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यश बढे।

इस सूक्तमें आत्मयज्ञद्वारा यश और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है।



गौ सुधार।

[सूक्त ७०]

(ऋषिः — काङ्कायनः। देवता — अघ्न्या।)

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से निहन्यताम् ॥ १ ॥
यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ २ ॥
यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा मांसं) जिस प्रकार मांसमें, (यथा सुरा) जैसे सुरामें (यथा अधिदेवने अक्षाः) जैसे जुएके पासोंमें (यथा वृषण्यतः पुंस) जैसे बलवान् पुरुषका (मनः स्त्रियां निहन्यते) मन स्त्रीमें रत होता है। हे (अघ्न्ये) गौ! (एवा ते मनः वत्से अधि निहन्यतां) इस प्रकार तेरा मन बछडेमें लगा रहे ॥ १ ॥

(यथा हस्ती पदेन) जैसे हाथी अपने पांवको (हस्तिन्याः पदं उद्युजे) हाथिनीके पांवके साथ जोडता है, और जैसा बलवान् पुरुषका मन स्त्री पर रत होता है, इस प्रकार गौका मन बछडे पर स्थिर रहे ॥ २ ॥

(यथा प्रधिः) जैसे लोहेका हाल चक्रपर रहता है, (यथा उपधिः) जैसे चक्र आरोंपर रहता है और (यथा नभ्यं प्रधौ अधि) जैसे चक्रनाभी आरोंके बीच होती है, जैसे बलवान् पुरुषका मन स्त्रीमें रत होता है, इस प्रकार गौका मन उसके बछडेमें स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार मद्यमांस, जूआ, स्त्रीव्यसन आदिमें साधारण मनुष्यका मन रमता है, उसी प्रकार अच्छे मनुष्यका मन श्रेष्ठ कर्मोंमें रमे। गौका मन अपने बछडेमें रमे। गौ नाम इंद्रिय माना जाय तो हरएक इंद्रियका बछडा उसका कर्म है। उस शुभ कर्ममें रमे।

यह सूक्त ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। अतः इसकी अधिक खोज करना चाहिये।

अन्न।

[सूक्त ७१]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — अग्निः। ३ विश्वेदेवाः।)

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बहुधा विरूपं यद् अन्नं अद्मि) बहुत करके विविध रूपवाला जो अन्न मैं खाता हूं, तथा (हिरण्यं अश्वं गां अजां उत अविं) सोना, घोडा, गौ, बकरी, भेड (यत् एव किं च अहं प्रति जग्रहाह) जो कुछ मैंने ग्रहण किया है, (होता अग्निः तत् सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसको उत्तम हवन किया हुआ करे ॥ १ ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥
यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् हुतं अहुतं) जो दिया हुआ या न दिया हुआ (पितृभिः दत्तं) पितरोंसे दिया हुआ, (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्योंसे अनुमोदित हुआ (मा आजगाम) मेरे पास आया है, (यस्मात् मे मनः उत् रारजीति इव) जिससे मेरा मन उत्तम रीतिसे प्रसन्न होता है, (होता अग्निः तत् सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसे उत्तम स्वीकारा हुआ करे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यत् अन्नं अनृतेन अद्मि) जो अन्न मैं असत्य व्यवहारसे खाता हूं, (दास्यन् अदास्यन् उत संगृणामि) दान करता हुआ, अथवा न दान करता हुआ जो मैं संग्रह करता हूं; वह (अन्नं) अन्न (महतः वैश्वानरस्य महिम्ना) बडे वैश्वानरकी– परमात्माकी– महिमासे (मह्यं शिवं मधुमत् अस्तु) मेरे लिये कल्याणकारी और मीठा होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— मैं जो अनेक प्रकारका अन्न खाता हूं, और सोना, चांदी, घोडा, गौ, बकरी आदि पदार्थ स्वीकार करता हूं, वह ठीक प्रकार यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ १ ॥

यज्ञमें समर्पित अथवा असमर्पित, पितृपितामहोंसे प्राप्त, मनुष्योंसे मिला हुआ, जो भी मेरे पास आया है, जिसके ऊपर मेरा मन लगा है, वह उत्तम रीतिसे यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ २ ॥

जो अन्न या भोग मैं लेता हूं, वे सत्यसे प्राप्त हों वा असत्यसे, उनका मैं यज्ञमें दान करता हूं, वे सब यज्ञमें दिये हों वा न दिये हों, परमात्माकी कृपासे वे सब मुझे मधुरता देनेवाले हों ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारका अन्न।

मनुष्य जो अन्न खाता है वह 'वि-रूप' अर्थात् विविध रंगरूपवाला होता है। दाल, चावल, रोटी, खीर आदिके रंग भी अलग और रूप भी अलग अलग होते हैं। इन अन्नोंके सिवाय दूसरे उपभोगके पदार्थ सोना, चांदी, गाय, घोडे, बैल, बकरी, भेड आदि बहुत हैं। सोना, चांदी, जेवर आदिसे शरीरकी सजावट होती है, घोडे दूर गमनके काम आते हैं, बैल खेतीके काम करते हैं। गाय, बकरी दूध देती है। इस प्रकार अनेकानेक पदार्थ मनुष्यके उपयोगमें आते हैं। ये सब यज्ञमें समर्पित हों, अर्थात् मेरे अकेलेके स्वार्थोपभोगमें ही समाप्त न हों, प्रत्युत सब जनताके कार्यमें समर्पित हों।

धनके चार भाग।

मनुष्यके पास जो धन आता है उसके कमसे कम चार भाग होते हैं, इनका विवरण देखिये—

१ पितृभिः दत्तं— मातापितासे प्राप्त। जन्मके संस्कारसे जो आता है।

२ मनुष्यैः अनुमतं— मनुष्यों द्वारा अनुमोदित अर्थात् अपने वंशसे भिन्न अन्य मनुष्योंकी संमतिसे प्राप्त हुआ धन।

३ हुतं आजगाम— किसीके द्वारा दानमें प्राप्त हुआ धन।

४ अहुतं आजगाम— किसीके द्वारा दान न देते हुए अन्य रीतिसे प्राप्त।

धन प्राप्त होनेके ये चार प्रकार हैं। इनमेंसे किसी भी रीतिसे प्राप्त हुआ धन हो, और उसपर अपना मन भी रत हुआ हो, वह धन यज्ञमें समर्पित होना चाहिये।

जो अन्न खाया जाता है, दान दिया जाता है और संग्रह किया जाता है, वह सब ईश्वरार्पण हो और हमारा उत्तम कल्याण करनेवाला हो।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है। पाठक इसका मनन करके लाभ उठावें।

वाजीकरण।

[सूक्त ७२]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — शेपोऽर्कः।)

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥
यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तीनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ — (यथा असितः) जिस प्रकार बंधनरहित मनुष्य (असुरस्य मायया वपूंषि कृण्वन्) आसुरी मायासे देहोंको बनाता हुआ (वशान् अनु प्रथयते) अपने पुट्ठोंको वशमें करता हुआ उनको फैलाता है, (एवा ते अयं शेपः) इस प्रकार तेरे इस शरीरांगको (सहसा अंगेन अङ्गं सं समकं अर्कः कृणोतु) बलके साथ एक अवयवसे दूसरे अवयवके सम होनेके समान यह अर्चनीय आत्मा पुष्ट करे ॥ १ ॥

(यथा पसः वातेन तायादरं स्थूलभं कृतं) जिस प्रकार शरीरांग वातसे सन्तानोत्पत्ति योग्य पुष्ट किया होता है और (यावत् परस्वतः पसः) जैसा पूर्ण पुरुषका शरीरांग होता है (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ २ ॥

(यावत् अंगीनं पारस्वतं) जैसा सुदृढ अंगवाले पूर्ण पुरुषका तथा जैसा (यावत् हास्तीनं गार्दभं अश्वस्य वाजिनः) हाथी, गधे और घोडेका होता है, (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ ३ ॥

शरीरांग सुदृढ और संतानोत्पत्तिके कार्यके लिये योग्य बने। पुरुष हीनांग न हो, दृढांग हो। इस सूक्तका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

॥ यहां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

एक विचारसे रहना।

[सूक्त ७३]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — सांमनस्यं, नानादेवताः।)

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥

अर्थ — वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति (इह आ यातु) यहां आवें और वसुओंके साथ यहां आवें। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो ! (सर्वे संमनसः) सब एक मनवाले होकर (अस्य उग्रस्य चेत्तुः श्रियं उपसंयात) इस शूर चेतना देनेवालेकी शोभाको बढाओ ॥ १ ॥

भावार्थ — सब ज्ञानी एक स्थानपर आवें। सब मनुष्य एक विचारसे रहकर अपने नायकका बल बढावें ॥ १ ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥
इहैव स्त मार्प यातार्ध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः शुष्मः वः हृदयेषु अन्तः) जो बल तुम्हारे हृदयोंमें है, (या आकूतिः वः मनसि प्रविष्टा) जो संकल्प तुम्हारे मनमें प्रविष्ट हुआ है। (तान् हविषा घृतेन सीवयामि) उनको अन्न और घृतके में जोड देता हूं। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो ! (वः रमतिः मयि अस्तु) तुम्हारी प्रसन्नता मुझ नायक पर रहे ॥ २ ॥

(इह एव स्त) यहां ही रहो, (अस्मत् अधि मा अप यात) हमसे दूर मत जाओ। (पूषा वः परस्तात् अपथं कृणोतु) पूषा तुम्हारे लिये आगे जानेका मार्ग बंद करे। (वास्तोष्पतिः वः अनु जोहवीतु) वास्तुपति तुम्हें अनुकूलतासे बुलावे। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्यो! (वः रमतिः मयि अस्तु) आपका प्रेम मुझपर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो लोगोंमें बल और विचार है, उसका पोषण योग्य उपायसे करना चाहिये। सब मनुष्य अपने नायकपर प्रसन्न रहें ॥ २ ॥

सब लोग एक स्थानपर स्थिर रहें। इधर उधर न भागें। भागनेका मार्ग उनको खुला न रहे। ईश्वर उनको अनुकूलतासे एक कार्यमें रखे। इस प्रकार सब लोग प्रेमसे एक नायकके नीचे रहें ॥ ३ ॥

संघटना ।

एक मुखिया अथवा नेता किंवा नायकके आधीन लोग रहें, तो उनका सांघिक बल बढता है। वे ही लोग बिखरे रहें, एक दूसरेसे दूर रहें, तो उनका संघबल घट जाता है। इसलिये जिनको अपना संघबल बढानेकी इच्छा है वे अपने एक नेताके आधीन प्रेमसे रहें। अपना संकल्प एक रखें और अपना हृदय एक इच्छासे ही भर दें। किसी कारण आपसमें कलह न करें और विभक्त न हों। अपने संघका यश बढानेके लिये सब मिल कर प्रयत्न करें। इस प्रकार करनेसे उनका संघबल बढ सकता है।



[सूक्त ७४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सांमनस्यं; नानादेवताः, त्रिणामा।)

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता। सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

अर्थ— (वः तन्वः सं पृच्यन्तां) तुम्हारे शरीर मिलें, (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिलें और (उ व्रता सं) तुम्हारे कर्म भी मिलजुल कर हों। (अयं ब्रह्मणस्पतिः वः सं) यह ज्ञानपति तुम्हें मिलाकर रखे। (भगः वः सं अजीगमत्) भाग्य देनेवाला भी तुम सबको मिलाये रखे ॥ १ ॥

भावार्थ— तुम्हारे शरीर, मन और कर्म सबके साथ एकसे अर्थात् समतासे युक्त हों। तुम्हें ज्ञान देनेवाला एकताका ज्ञान तुम्हें दें, तथा तुम्हारा भाग्य बढानेवाला तुम्हें मिलाये रखे ॥ १ ॥

तुम्हारे मन और हृदय एक हों। भाग्य प्राप्त करनेके लिये जो परिश्रम करने पडते हैं, उन श्रमोंको करते हुए तुम आपसमें मिलकर रहो ॥ २ ॥

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः । अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः मनसः संज्ञपनं) तुम्हारे मनको मिलकर रहनेका अभ्यास हो, (अथो हृदः संज्ञपनं) और हृदयको भी मिलनेका अभ्यास हो। (अथो भगस्य यत् श्रान्तं) और भाग्यवान्‌का जो परिश्रम है (तेन वः संज्ञपयामि) उससे तुम सबको मिलकर रहनेका अभ्यास हो ॥ २ ॥

(यथा अहृणीयमानाः उग्राः आदित्याः) जैसे किसीसे न दबनेवाले उग्र आदित्य (वसुभिः मरुद्भिः संबभूवुः) वसुओं और मरुतोंसे मिलकर रहें (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्) तीन नामवाले ! तू (अहृणीयमानः) न दबता हुआ (इह इमान् जनान् सं मनसः कृधि) यहां इन लोगोंको एक-विचारसे युक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शूर आदित्य, वसुओं और रुद्रोंसे मिलकर रहते हैं, उसी प्रकार तू भी स्वयं मिलकर रह और इन सब जनोंको मिलाकर रख ॥ ३ ॥

एकताका बल।

इस सूक्तमें मिलजुल कर रहने और अपनी एकतासे अपनी उन्नति साधन करनेका उपदेश है। हृदय, मन, विचार, संकल्प और कर्म आदि सबमें समता और एकता चाहिये। किसीमें विपरीत भाव हुआ तो भिन्नता होगी और संघभाव नष्ट होगा। देखो इस जगत्‌में आदित्य, वसु और रुद्र वस्तुतः भिन्न होनेपर भी जगत्‌के कार्यमें मिलजुलकर लगे रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य रंगरूप और जगत्‌की भिन्नता रहनेपर भी राष्ट्रकार्य करनेके लिये सब मिल जावें और एक होकर राष्ट्रकार्य करें।

शत्रुको दूर करना।

[सूक्त ७५]

(ऋषिः — कबन्धः। देवता — इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः।)

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति । नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥
परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा । यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ— (यः सपत्नः पृतन्यति) जो शत्रु अपनी सेनाद्वारा आक्रमण करता है, (अमुं ओकसः निः नुद) उस शत्रुको घरसे निकाल डाल। (एनं नैर्बाध्येन हविषा) इस शत्रुको बाधारहित समर्पणसे (इन्द्रः पराशरीत्) प्रभु या राजा मार डाले ॥ १ ॥

(वृत्रहा इन्द्रः) शत्रुका नाश करनेवाला इन्द्र (तं परमां परावतं नुदतु) उस शत्रुको दूरसे दूरके स्थानको भगा देवे। (यतः शश्वतीभ्यः समाभ्यः पुनः न आयति) जहांसे हमेशाके लिये फिर न आ सके ॥ २ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे ऊपर सैन्यसे हमला करता है अथवा अन्य प्रकार शत्रुत्व करता है, उसको अपने स्थानसे ऐसा भगाओ कि वह फिर कदापि उपद्रव देनेके लिये लौटकर न आ सके ॥ १ ॥

शूर लोग आपसमें मिलकर शत्रुको दूरसे दूर इस प्रकार भगा देवें कि वह कभी भी फिर लौटकर न आ सके ॥ २ ॥

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति । एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति ॥
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

अर्थ-- शत्रु (तिस्रः परावतः एतु) तीन दूरके स्थानोंसे भी दूर चला जावे। वह शत्रु (पंच जनान् अति एतु) पांचों प्रकारके जनोंसे दूर चला जावे। (तिस्रः रोचना अति एतु) तीन ज्योतियोंसे दूर भाग जावे, (यतः पुनः न आयति) जहांसे वह शत्रु वापस न आ सके। (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत कालतक अर्थात् हमेशाके लिये वह वापस न आ सके। (यावत् सूर्यः दिवि असत्) जबतक सूर्य आकाशमें हो तबतक वह शत्रु वापस न आ सके ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रु सब स्थानोंसे, सब लोगोंसे, और सब ऐश्वर्योंसे दूर हो जावे और हमेशाके लिये वह ऐसा अवस्थाम रहे कि, कभी वह लौटकर उपद्रव देनेके लिये वापस न आ सके ॥ ३ ॥

शत्रुको भगाना ।

व्यक्तिके, ग्रामके और राष्ट्रके शत्रुको इस प्रकार दूर करना चाहिये कि वह कभी फिर लौटकर वापस न आ सके। हरएक मनुष्यका यह कार्य है। शत्रुको अपने अंदर रहने देना योग्य नहीं है। उसको अपने देहमें, अपने घरमें, अपने स्थानमें अथवा अपने राष्ट्रमें दृढमूल होने देना कदापि योग्य नहीं है। शत्रु जब आ जावे, तब उसको ऐसा भगाना चाहिये कि वह किसी प्रकार लौटकर फिर न आ सके।

हृदयमें अग्निकी ज्योति ।

[सूक्त ७६]

(ऋषिः — कबन्धः । देवता — सान्तपनाग्निः ।)

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे । संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥
अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे । अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥
यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् । नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (ये एनं परिषीदन्ति) जो इसके चारों ओर बैठते हैं, इसकी उपासना करते हैं और (चक्षसे सं आदधति) दिव्य दृष्टिके लिये इसका आधान करते हैं, उनके (हृदयात् अधि) हृदयके ऊपर (संप्रेद्धः अग्निः जिह्वाभिः उदेतु) प्रदीप्त हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओंसे उदय होवे ॥ १ ॥

(सांतपनस्य अग्नेः पदं) तपनेवाले अग्निके पदको मैं (आयुषे आ रभे) आयुष्यके लिये प्राप्त करता हूं। (यस्य आस्यतः) जिसके मुखसे (उद्यन्तं धूमं अद्धातिः पश्यति) निकलनेवाले धूएंको सत्यज्ञानी देखता है ॥ २ ॥

(यः क्षत्रियेण समाहितां) जो क्षत्रियद्वारा समर्पित हुई (अस्य समिधं वेद) इसकी समिधाको जानता है (सः अभिह्वारे मृत्युवे) वह कुटिल स्थानमें भी मृत्युके लिये (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो इस अग्निके चारों ओर बैठकर हवनादि करते हैं, जो दृष्टिकी शुद्धताके लिये अग्निका आधान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्वलित होकर दूसरा ही आत्माग्नी प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

इस हृदयस्थानीय प्रदीप्त आत्माग्निके स्थानको दीर्घायुके लिये प्राप्त करते हैं, इस आत्माग्निका मुखसे वाणीद्वारा निकला हुआ धूवां अर्थात् उसका चिन्ह ज्ञानी लोग ही देखते हैं ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय आत्मसमर्पणद्वारा इसके मूलस्थानको जानता है, वह कठिन प्रसंगमें भी मृत्युके लिये अपना पैर तक नहीं देता, अर्थात् वह अजरामर होता है ॥ ३ ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति। अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे॥ ४॥

अर्थ— (पर्यायिणः एनं न घ्नन्ति) घेरनेवाले इसका घात नहीं करते और (सन्नान् न अव गच्छति) समीप बैठनेवाले इसको जानते भी नहीं। (यः विद्वान् क्षत्रियः) जो ज्ञानी क्षत्रिय (अग्नेः नाम आयुषे गृह्णाति) अग्निका नाम आयुके लिये लेता है॥ ४॥

भावार्थ— जो घेरनेवाले शत्रु हैं वे इस आत्माग्निका घात नहीं करते और समीप रहनेवाले भी इसको जाननेमें समर्थ नहीं होते। जो ज्ञानी क्षत्रिय इस आत्माग्निका नाम लेता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है॥ ४॥

अग्निसे दिव्य दृष्टि।

अग्नितापसे दृष्टिकी शुद्धता होनेका कथन इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें है, देखिये—

चक्षसे सं आ दधाति। (मं० १)

'दृष्टिके लिये अग्निका आधान करता है।' अर्थात् यज्ञकुण्डमें अग्निकी स्थापना करके यज्ञ करता है और अग्निमें हवन करता है। अग्निके समीप बैठकर हवन करनेसे दृष्टि सुधरती है यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

औंध रियासतमें कराड स्टेशनके समीप ओगलेवाडी नामक ग्राममें एक काच बनानेका बडा भारी कारखाना है। उसमें हरएक प्रकारके शीशेके पदार्थ बनते हैं। शीशा बनानेके लिये जो भट्टी होती है, उसके पास इतनी उष्णता होती है कि साधारण मनुष्य क्षणमात्र भी उसके पास खडा नहीं रह सकता। परंतु जो मनुष्य वही काम करते हैं वे भट्टीके पास ही रहते हैं। गत पंद्रह वर्षोंके अनुभवसे वहांके प्रबंधकर्ताने कहा कि, जो आंखके रोगी, या दृष्टिदोषसे कमजोर आंखवाले मनुष्य आये और उक्त काम करने लगे, उनके आंख सुधर गये। और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ कि अग्निके समीप इतनी उष्णतामें काम करनेके कारण एकके भी आंख बिगडे हों। यह अनुभव विचार करने योग्य है।

इससे भी अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन सबेरे और शामको, तथा वैदिक रीतिसे देखा जाय तो प्रातः, मध्यदिनमें और सायंकालको नियमपूर्वक अग्न्याधान करके नियमपूर्वक हवन करनेवालोंको नेत्रदोषकी बाधा नहीं हो सकती। तथा यदि उस हवनमें नेत्रदोष दूर करनेवाले हवनपदार्थ डाले जांय, तो अधिक लाभ होगा। इसमें संदेह नहीं।

यज्ञसे नेत्रदोष इस कारण दूर हो सकते हैं। पाठक इसका विचार करें और इसकी अधिक खोज करें।

हृदयका अग्नि।

यज्ञके बाह्य अग्निके प्रदीप्त होनेके पश्चात् और यज्ञाग्निकी हवनद्वारा उपासना करनेके अनंतर दूसरा ही एक अग्नि हृदयमें प्रदीप्त होता है, जिसका वर्णन देखिये—

हृदयात् अधि अग्निः उदेतु। (मं० १)

'हृदयकी वेदीपर एक अग्नि प्रदीप्त होता है' अर्थात् यह अग्नि केवल भौतिक अग्नि नहीं है। यह अभौतिक आत्मारूप अग्नि है। हृदयमें बुद्धिके परे आत्माकी उपस्थिति है यह बात सब जानते ही हैं। इसीका नाम 'सांतपनाग्नि' है जिससे अन्तःकरणमें प्रसन्नता और उत्साह रहता है, इसीको हृदयकी गर्मी अथवा मनका उत्साह कहते हैं। इस अग्निके प्रज्वलित होनेका ज्ञान ज्ञानीको ही होता है, कोई अन्य इसको नहीं जान सकता—

अस्य धूमं अद्धातिः पश्यति॥ (मं० २)

'इसके धूवेंको ज्ञानी देखता है।' धूवेंसे ही अग्निका ज्ञान होता है। जहां धूवां है वहां अग्नि होता है, यह न्याय सर्वमान्य है। अर्थात् धूवां देखनेका अर्थ धूंवेके नीचे रहनेवाले अग्निका अनुभव करना है। अग्निहोत्र करनेसे इस हृदयस्थानीय आत्माग्निकी जाग्रति होती है।

क्षत्रिय आत्मसमर्पणसे इस अग्निको जानता है, और जो स्वार्थ छोडता है उसको भी इसका ज्ञान होता है। खुदगर्ज अर्थात् केवल स्वार्थी जो मनुष्य होता है वह इसकी शक्तिसे अनभिज्ञ होता है।

इस आत्मशक्तिके प्रकट होनेसे शत्रु उसका कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् किसीके भी दबावसे वह दबता नहीं। विद्वान् क्षत्रिय इसीके बलसे दीर्घायु प्राप्त करता है, और अमर होता है।

भौतिक अग्निकी सहायतासे अभौतिक आत्माग्निका ज्ञान इस सूक्तने किया है। इस दृष्टिसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है।

सबकी स्थिरता।

[सूक्त ७७]

(ऋषिः — कवन्धः। देवता — जातवेदाः।)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥
य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्। आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥
जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः। सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक स्थिर हुआ है। (पृथिवी अस्थात्) पृथ्वी स्थिर है। (इदं विश्वं जगत् अस्थात्) यह सब जगत् स्थिर है। (आस्थाने पर्वता अस्थुः) अपने स्थानपर पर्वत भी स्थिर हुए हैं। अतः मैंने भी अपने (अश्वान् स्थाम्नि अतिष्ठिपं) घोडोंको यथास्थानमें ठहराया है ॥ १ ॥

(यः गोपाः परायणं उदानट्) जिस पृथ्वीपालक राजाने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया, (यः न्यायनं उदानट्) जिसने निम्न स्थान प्राप्त किया है, (आवर्तनं निवर्तनं) जिसमें आने और जानेका सामर्थ्य है (तं अपि हुवे) उसीकी मैं प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी! (निवर्तय) लौट आ, (ते अवृताः शतं) तेरे आवरण सैकडों हैं। और (ते उपावृतः सहस्रं) तेरे समीप अनेक मार्ग हैं। (ताभिः पुनः नः आ कृधिः) उनसे हमें फिर समर्थ कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, द्युलोक तथा सब जगत् यथास्थानमें स्थित हैं। पर्वत भी अपने स्थानमें स्थिर हैं। इसी प्रकार मनुष्य, घोडे आदि यथास्थानमें स्थिर रहें ॥ १ ॥

जिस भूपति राजाने उच्च और निम्न स्थान प्राप्त किये हैं, जो योग्य स्थानमें आता जाता रहता है, उसकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष अपने स्थानमें लौट जावे, उसकी आवरण और उपावरणकी शक्तियां अनेक हैं, उनसे वह हमें समर्थ करे ॥ ३ ॥

स्थिरता।

सब जगत् अपने स्थानमें स्थिर है। सूर्यादि गोलक भ्रमण करते हैं, तथापि कोई भी अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता है। और सब अपनी मर्यादामें रहनेके कारण सब जगत्के अवयव स्थिर हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने धर्मकी मर्यादामें रहकर स्थिर हो जाँय। इस प्रकार रहनेसे सबका सामर्थ्य बढता है।

स्त्रीपुरुषकी वृद्धि।

[सूक्त]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — १-२ चन्द्रमा, ३ त्वष्टा)

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (तेन भूतेन हविषा) उस किये हुए हविसे (अयं पुनः आप्यायतां) यह बार बार पुष्ट हो। (यां जायां अस्मै अवाक्षुः) जिस स्त्रीका इसके साथ विवाह किया है, (तां रसेन अभि वर्धत) उसको भी रससे पुष्ट करें ॥ १ ॥

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्। त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पयसा अभि वर्धतां) दूध पीकर पुष्ट होवे, (राष्ट्रेण अभि वर्धतां) राष्ट्रके साथ बढे, (सहस्रवर्चसा रय्या) सहस्र तेजोंवाले धनसे (इमौ अनुपक्षितौ स्तां) ये दोनों पतिपत्नी सदा भरपूर हों ॥ २ ॥

(त्वष्टा जायां अजनयत्) जगद्रचयिता देवने स्त्रीको उत्पन्न किया है। और (त्वष्टा अस्यै त्वां पतिं) उसी ईश्वरने इसके लिये तुझ पतिको उत्पन्न किया है। (त्वष्टा वां सहस्रं आयूंषि) रचयिता ईश्वर तुम दोनोंको हजारों वर्षोंतक रहनेवाला (दीर्घं आयुः कृणोतु) दीर्घ आयु करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस वैवाहिक यज्ञसे यह पति बढे और जिस कारण यह स्त्री विवाहमें इसे दी गई है, इस कारण विविध रसोंसे यह पति इसकी पुष्टि करे ॥ १ ॥

दोनों पतिपत्नी दूध पीकर पुष्ट हों, अपने राष्ट्रकी उन्नतिके साथ उन्नत हों, और इनके पास सदा हजारों तेजोंवाला धन भरपूर रहे ॥ २ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार स्त्रीकी उत्पत्ति की है, उसी प्रकार स्त्रीके लिये पतिको भी उत्पन्न किया है। वह ईश्वर इनके लिये उत्तम दीर्घ आयु देवे ॥ ३ ॥

गृहस्थीकी पुष्टि।

पति और पत्नी घरमें रहकर एक दूसरेकी पुष्टि और उन्नतिका विचार करें। कभी परस्परके नाशका विचार न करें। विशिष्ट गुणधर्मोंसे ईश्वरने जैसा स्त्रियोंको वैसा ही पुरुषोंको उत्पन्न किया है। इसलिये दोनोंको उचित है कि वे परस्परकी सहायता करके परस्परकी उन्नति करनेमें प्रवृत्त हों।

चहा, काफी, तमाखू, मद्य आदि न पीवें, परंतु गौका दूध ही आवश्यकतानुसार पीवें, दोनों दूध पीकर पुष्ट हों। अर्थात् उनके शरीरकी पुष्टि दूधसे होवे। इसी प्रकार दोनों स्त्रीपुरुष धनादि पदार्थोंका उपार्जन करें। और सुखसाधनोंसे भरपूर हों।

दोनों स्त्रीपुरुष एक दूसरेकी पूर्णता करते हुए दीर्घायु प्राप्त करें और सुखी हों ॥

हमारी रक्षा।

[सूक्त ७९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — संस्फानः।)

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥
त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं संस्फानः नभसः पतिः) यह बढनेवाला आकाशका पालक देव (नः अभि रक्षतु) हमारी रक्षा करे। तथा (नः गृहेषु असमातिं) हमारे घरोंमें असामान्य धन रहे ॥ १ ॥

हे (नभसः पते) आकाशके स्वामी देव! तू (त्वं नः गृहेषु) हमारे घरोंमें (नः ऊर्जं धारय) हमें प्रभूत अन्न दे। और (पुष्टं वसु आ एतु) पुष्टिकारक धन भी हमारे पास आवे ॥ २ ॥

भावार्थ— हे वृद्धि करनेवाले ईश्वर! हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर! तू हमारे घरोंमें धन, बल और पुष्टि दे ॥ २ ॥

देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥३॥

अर्थ— हे (देव संस्फान) वृद्धि करनेवाले देव ! तू (सहस्रपोषस्य ईशिषे) हजारों पुष्टियोंका स्वामी है। इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंको हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिवांसः स्याम) उस तेरे हम भागी होंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे वृद्धि करनेवाले देव ! तुम्हारे पास हजारों पोषक शक्तियां हैं। उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके भागी हम बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त।

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है। इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब हृष्ट, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा।

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — चन्द्रमाः।)

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् । शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥
ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः । तान्सर्वानह्व ऊतयेस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥
अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

अर्थ— जो (विश्वा भूता अवचाकशत्) सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

(ये त्रयः कालकाञ्जाः) जो तीन कालकञ्ज (दिवि देवाः इव श्रिताः) द्युलोकमें देवोंके समान रह रहे हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसकी रक्षाके लिये और (अरिष्टतातये अह्वे) कल्याणके लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरी उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्थं) द्युलोकमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः पृथिव्यां ते महिमा) समुद्रके बीच और पृथ्वीपर तेरी महिमा है। उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है। उसका महत्त्व और तेज विशेष है। वह तेज हमारे अन्दर जितना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

देवताओंके समान तीन काल- अर्थात् उष्णकाल, वृष्टिकाल और शीतकाल ये तीन काल कञ्ज-द्युलोकमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं। इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और कल्याणसाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्रारंभिक जलावस्थासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह द्युलोकमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है। इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, उसे परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूं ॥ ३ ॥

सूर्यादिकोंके अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उन शक्तियोंका समर्पण जगत्की भलाईके लिये करके उक्त समर्पण द्वारा परमेश्वरकी पूजा करे।

कङ्कणका धारण।

[सूक्त ८१]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — आदित्यः, मन्त्रोक्ताः।)

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि। प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥
परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥
यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या। त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

अर्थ— (यन्ता असि) तू नियामक है, (हस्तौ यच्छसे) दोनों हाथोंका तू नियमन करता है और उनसे (रक्षांसि सेधसि) विघ्नकारियोंको हटाता है। (अयं परिहस्तः) यह कंकण (प्रजां धनं च गृह्णानः) प्रजा और धन का ग्रहण करनेवाला (अभूत्) है ॥ १ ॥

हे (परिहस्त) कंकण ! (गर्भाय धातवे) गर्भके धारणके लिये (योनिं वि धारय) योनिका धारण कर। हे (मर्यादे) मर्यादे ! (पुत्रं आ धेहि) पुत्रको धारण कर। (तं त्वं आगमे आ गमय) उसको तू आगमनके समय बाहर आनेके लिये प्रेरणा कर ॥ २ ॥

(पुत्रकाम्या अदितिः) पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने (यं परिहस्तं अबिभः) जिस कंकणका धारण किया था, (यथा पुत्रं जनात् इति) जिसे पुत्रकी उत्पत्ति हो इस लिये (त्वष्टा तं अस्यै आ बध्नात्) त्वष्टाने उसको इस स्त्रीके लिये बांधा है ॥ ३ ॥

भावार्थ— कंकण नियममें रखता है, उसे हाथोंमें डालनेसे हाथोंका नियमन होता है और विघ्न दूर होते हैं। इसलिये इसको संतानका धारण करनेवाला कहते हैं। तथा यह धनका भी धारक है ॥ १ ॥

गर्भधारणाके योग्य गर्भाशयकी अवस्था यह बनाता है। इसके धारण करनेसे गर्भ धारण होता है और योग्य समयमें प्रसूति भी होती है ॥ २ ॥

पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने इसको प्रथम धारण किया था। कारीगर इसका निर्माण करे और पुत्रोत्पत्ति होनेकी इच्छासे स्त्रियोंके दोनों हाथोंमें कंकण धारण करावे ॥ ३ ॥

कंकण धारण।

स्त्रियां हाथमें कंकण धारण करती हैं। इसका संबंध गर्भाशय ठीक रहने, उत्तम संतान उत्पन्न होने और सुखसे प्रसूति होनेके साथ है। वैद्य लोग इसका विचार शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे करें और निश्चय करें कि, किस प्रकारका कंकण कौनसी स्त्रीको किस विधिसे धारण करना चाहिये। यह शास्त्रदृष्टिसे विचारने योग्य बात है।

कन्याके लिये वर।

[सूक्त ८२]

(ऋषिः — भगः। देवता — इन्द्रः।)

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः। इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

अर्थ— (आगच्छतः) आनेवाले (आगतस्य) आये हुए और (आयतः) अति समीप आनेवाले (वृत्रघ्नः वासवस्य शतक्रतोः इन्द्रस्य) शत्रुका नाश करनेवाले, धनवाले और सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्रका (नाम गृह्णामि) नाम मैं लेता हूं और (वन्वे) पसंद करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— आगमनके पहिलेसे इच्छा करके अब मेरे पास आया हुआ जो शत्रुपर विजय करनेवाला, धनवान्, सैंकडों उत्तम कर्म करनेवाला शूरवीर है, उसीको मैं अपनी पुत्रीके लिये वरके रूपमें पसंद करता हूं ॥ १ ॥

येन॑ सू॒र्यां सा॑वि॒त्रीम॒श्विनो॒हतुः॑ प॒था। तेन॒ माम॑ब्रवी॒द् भगो॑ जा॒याम वहता॒दिति॑ ॥ २ ॥
यस्तेऽङ्कुशो व॑सु॒दानो॑ बृ॒हन्नि॑न्द्र हिर॒ण्ययः॑। तेना॑ जनीय॒ते जा॒यां मह्यं॑ धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (येन पथा) जिस मार्गसे (अश्विना) अश्विदेवोंने (सूर्यां सावित्रीं ऊहतुः) सूर्यप्रभा सावित्रीका विवाह किया, (तेन) उसी मार्गसे (जायां आ वहतात् इति) भार्याको प्राप्त कर ऐसा (भगः मां अब्रवीत्) भगने मुझे कहा है ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) इन्द्र! (यः ते हिरण्ययः वसुदानः बृहन् अंकुशः) जो तेरा सुवर्णका धन देनेवाला बडा अंकुश है; हे (शचीपते) इन्द्र! (तेन जनीयते मह्यं) उससे स्त्रीकी इच्छा करनेवाले मुझे (जायां धेहि) भार्या दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार अश्विदेवोंने सूर्यप्रभाका विवाह किया, उसी प्रकार धनवान् वधूका पिता 'इस कन्याका स्वीकार कीजिये' ऐसा कहकर मुझे विवाहके लिये कहता है ॥ २ ॥

हे प्रभो! तेरे पास जो धनकी प्राप्ति करनेवाला जो उत्तम शस्त्र है उसके बलसे पत्नीकी इच्छा करनेवाले मुझ वरको भार्या प्राप्त हो ॥ ३ ॥

कन्याके लिये वर।

कन्याके लिये जो वर पसंद करना है वह निम्नलिखित गुणोंका विचार करके पसंद किया जावे—

(१) जनीयते— वर ऐसा हो कि जिसके मनमें धर्म-पत्नीकी प्राप्ति करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई हो। (मं० ३)

(२) आगच्छतः— कन्याके पिताके पास आनेकी इच्छा करनेवाला। (मं० १)

(३) आगतस्य— कन्याके पिताके पास पहुंचनेवाला। (मं० १)

(४) आयतः— कन्याके पिताके पास पहुंचा हुआ। (मं० १)

ये तीनों शब्द वरकी उत्कट इच्छा बताते हैं। आजकल कन्याका पिता वरको ढूंढता हुआ वरके शोधार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्रति घूमता रहता है। यह प्रथा अवैदिक प्रतीत होती है। वधूका पिता अथवा वधू वरकी खोजके लिये भ्रमण न करे अपितु वर अपनी योग्यता सिद्ध करे और वधूकी मांग करनेके लिये वधूके पिताके पास जावे। यह बात इन चार शब्दोंसे व्यक्त होती है। अब वरमें कौनसे गुण होने चाहिये, इसका विचार यह है—

(५) वासवः— वसु अर्थात् धन पास रखनेवाला। (मं० १)

(६) शतक्रतुः— सैंकडों उत्तम पुरुषार्थ करनेवाला। (मं० १)

(७) वृत्रघ्नः— शत्रुका नाश करके विजय प्राप्त करनेमें समर्थ। (मं० १)

(८) इन्द्रः— शत्रुका नाश करनेवाला शूर वीर। (मं० १)

ये चार शब्द वरके गुणोंका वर्णन करते हैं। विवाहके पूर्व वरने धन कमाया हुआ हो और शौर्य भी प्रकट किया हुआ हो। अपरीक्षित वर न हो।

वधूका पिता ऐसे वरका आदर करे और उसे कहे कि, (जायां आवहतात्) इस मेरी कन्याको स्वीकार कीजिये। आप स्वीकार करेंगे तो मैं बडा अनुगृहीत हूंगा। इत्यादि वचनोंसे वरके साथ बोले और कन्या देनेकी इच्छा प्रकट करे। कन्याका दान भी ऐसा ही हो कि जिस प्रकार प्रभाका सूर्यके साथ होता है, अर्थात् कन्याका मोल लेना या पतिके लिये धन देना आदि शर्तें न हों, वरके गुणोंका विचार मुख्य हो। (मं० २)

वर भी मनमें यही समझे कि मेरे पास शौर्य और वीर्य रहनेसे मैं धन कमाऊंगा और जब मैं धन कमाऊं और मेरा शौर्य प्रकट हो तब मेरा विवाह हो ही जायगा।

इस सूक्तमें जो वरकी पसंदीके और विवाह विषयके अन्य विचार कहे हैं वे बडे उत्तम हैं। वरका पिता और वर ये दोनों इस सूक्तका बहुत विचार करें।

विना शौर्यवीर्यके वैदिक विवाह होना असंभव है, ऐसा इस सूक्तके विचारसे स्वयं सिद्ध होता है। वरको उचित है कि वह अपने विवाहका विचार करनेके पूर्व धन कमावे। 'धीः श्रीः स्त्री' यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये, बुद्धिका विकास करके धनको प्राप्त करनेके पश्चात् स्त्रीकी प्राप्तिका विचार मनमें लाना चाहिये। आजकल जो बालविवाह करते हैं वे इस सूक्तका मनन विशेष करें।

॥ यहां अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

गण्डमालाका निवारण ।

[सूक्त ८३]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥
असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— (वसतेः सुपर्णः इव) अपने निवासस्थानसे जैसा गरुड दौडता है उस प्रकार, हे (अपचितः) गण्डमाला नाम रोगों ! (प्र पतत) भाग जाओ । (सूर्यः भेषजं कृणोतु) इसका औषध सूर्य बनावे और (चन्द्रमा वा उप उच्छतु) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

(एका एनी) एक चितकबरी, (एका श्येनी) एक श्वेत, (एका कृष्णा) एक काली, (द्वे रोहिणी) और लाल रंगवाले दो इतने इनमें भेद हैं । (सर्वासां नाम अग्रभं) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (अवीरघ्नीः अपेतन) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहांसे दूर भाग जाओ ॥ २ ॥

(रामायणी असूतिका) नाडीमें छिपी रहनेवाली यह रोगकी जड रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (अपचित् प्र पतिष्यति) यह गंडमाला दूर होगी। (इतः ग्लौः प्र पतिष्यति) यहांसे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (सः गलुन्तः नशिष्यति) यह सडनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(स्वां आहुतिं जुषाणः वीहि) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ भाग जा, (यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा) जो यह मैं मनसे हवन करता हूं वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— गंडमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है । इससे गण्डमाला शीघ्र दूर हो जाती है ॥ १ ॥

काली, श्वेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पांच प्रकारकी गण्डमाला होती है । इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनिमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और सडनेवाली ऐसे भेद होते हैं । ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला ।

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है । इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है ।

दुर्गतिसे बचना।

[सूक्त ८४]

(ऋषिः — अङ्गिराः। देवता — निर्ऋतिः।)

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥
भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु। मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥
एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्याः ते घोरे आसनि) जिस तेरे क्रूर मुखमें (एषां बद्धानां अवसर्जनाय) इन बद्ध हुओंकी मुक्तताके लिये (कं जुहोमि) अपने सुखकी आहुति देता हूं। (त्वा जनाः भूमिः इति अभिप्रमन्वते) तुमको लोक अपनी जन्मभूमि करके मानते हैं। और (अहं त्वा सर्वतः निर्ऋतिः परि वेद) मैं तुमको सब प्रकारके कष्टोंकी जड करके मानता हूं ॥ १ ॥

हे (भूते) उत्पन्न हुई! (हविष्मती भव) हवन करनेवाली हो (एषः ते भागः यः अस्मासु) यह तेरा भाग है जो हममें है। (इमान् अमून् एनसः मुञ्च) इनको पापसे छुडाओ, (स्वाहा-सु आह) मैं सच कहता हूं ॥ २ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति! (अनेहा एव उ त्वं) अविनाशिका होकर तू (एवो) निश्चयसे (अयस्मयान् बन्धपाशान् अस्मत् सु वि चृत) लोहेके बने बंधनोंके पाशोंको हमसे खोल दे। (यमः मह्यं त्वा पुनः इत् ददाति) यम मेरे लिये तुझको पुनः पुनः देता है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस यम मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (अथर्व. ६।६३।२)

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीको बांध देती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है। (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधि रोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा दे ॥ ४ ॥ (अथर्व. ६।६३।३)

भावार्थ— दुरवस्था बडी कठिन है, उसमें बंधे अतएव जो पराधीन हुए हैं, उनकी मुक्तता होनी चाहिये। इस कार्यके लिये अपने सुखको त्यागके प्रयत्न करना चाहिये। कई लोग तो इसी पराधीनताको अपना आश्रय मानते हैं और उसके निवारणके लिये प्रयत्न तक नहीं करते। परंतु यह दुरवस्था सबसे भयानक है ॥ १ ॥

जो दुरवस्थाका भाग अपने अंदर होगा, उसको प्रयत्नसे दूर हटाना चाहिये ॥ २ ॥

दुर्गतिको दूर करना चाहिये। लोहेके सब पाश तोडने चाहिये। इन पाशोंको तोडनेके लिये ही यम बार बार जन्म देता है अतः उसको नमन करना उचित है ॥ ३ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उनको हजारों दुःख और सैंकडों आपत्तियां सताती हैं, इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेलन करके इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ४ ॥

पराधीनता संपूर्ण दुःखोंका मूल है, अतः हरएकको उचित है कि वह पराधीनतारूप दुर्गतिके पाश तोडे और स्वतंत्रतारूप स्वर्गधाममें स्थान प्राप्त करे।



यक्ष्म-चिकित्सा।

[सूक्त ८५]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वनस्पतिः।)

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥
इन्द्रस्य वर्चसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च। देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥
यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः। एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं देवः वरणः वनस्पतिः) यह दिव्य वरण नामक औषधि (वारयाते) रोगनिवारण करती है। (अस्मिन् यः यक्ष्मः आविष्टः) इसमें जो रोग घुसा है (तं उ देवाः अवीवरन्) उसका देवोंने निवारण किया ॥ १ ॥

इन्द्र, मित्र, वरुण इनके वचनसे तथा (सर्वेषां देवानां वाचा) सब देवोंकी वाणीसे (ते यक्ष्मं वारयामहे) तेरा यक्ष्मरोग दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यथा वृत्रः) जैसा वृत्र (विश्वधा यतीः आपः तस्तम्भ) चारों ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंको रोक रखता है (एवा) उसी प्रकार (ते यक्ष्मं) तेरे रोगका (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्निद्वारा निवारण करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वरण वृक्षके उपयोग करनेसे यक्ष्मरोग दूर होता है ॥ १-३ ॥

वरुण वृक्ष।

वेदमें जिसका नाम 'वरण' है उसी वृक्षको संस्कृतभाषामें 'वरुण' कहते हैं। वरण वृक्षकी औषधिसे यक्ष्मरोग दूर होता है। इसको हिंदीमें 'बिलि' वृक्ष कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

कटुः उष्णः रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्धः
आग्नेयः विद्रधिवातघ्नश्च ॥ (रा० नि० व० ९)

वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातास्रक्रिमींश्चोष्णोऽग्निदीपनम्।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः ॥ (भा.)

'यह वरुण औषधि रक्तदोष दूर करनेवाली, शिरस्थानीय वातदोष दूर करनेवाली है, कटु, उष्ण, स्निग्ध तथा आग्नेय गुण युक्त है। श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, क्रिमिदोष इन रोगोंको दूर करता है।'

इस औषधिके ये गुण हैं। इसका नाम 'आग्नेय' ऊपर दिया है अतः तृतीय मंत्रमें—

वैश्वानरेण अग्निना यक्ष्मं वारये। (मं. ३)

कहा है। यहां अग्नि पदका अर्थ 'वरुण' वृक्ष करना उचित है। अर्थात् इस मंत्रका अर्थ 'वरुण वृक्षके प्रयोगसे यक्ष्म रोग दूर करता हूं।' ऐसा करना चाहिये। इस औषधि प्रयोगका विचार वैद्योंको करना चाहिये।

सबसे श्रेष्ठ हो।

[सूक्त ८६]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — एकवृषः।)

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्। वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे समर्थ, (दिवः वृषा) द्युलोकसे श्रेष्ठ (अयं पृथिव्याः वृषा) यह पृथिवीसे भी श्रेष्ठ (विश्वस्य भूतस्य वृषा) सब भूतोंसे श्रेष्ठ हो और तू (त्वं एकवृषः भव) अकेला ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भावार्थ— सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी, सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, उससे श्रेष्ठ बननेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी । चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥
सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

अर्थ-(स्रवतां समुद्रः ईशे) बहनेवालोंमें समुद्र मुख्य है। (पृथिव्याः अग्निः वशी) पृथिवीको वशमें रखनेवाला अग्नि है। (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है इस प्रकार (त्वं एकवृषः भव) तू अद्वितीय सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

(असुराणां सम्राड् असि) तू असुरोंका सम्राट् है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी मुख्य है और (देवानां अर्धभाक् असि) देवोंका अर्ध भाग तू है ऐसा तू (एकवृषः भव) सबसे श्रेष्ठ बन ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सब स्रोतोंमें समुद्र प्रबल है, पृथ्वीको वश करनेवाला अग्नि समर्थ है, और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू समर्थ और श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

असुरवृत्तिवालोंके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू श्रेष्ठ हो, तथा देवोंके अर्ध आसनपर बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला हो ॥ ३ ॥

सबसे श्रेष्ठ बनना।

अपना सामर्थ्य बढा कर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुरुषार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है। जो श्रेष्ठ होता है उसीकी प्रशंसा होती है, और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है। यह स्मरण रखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने।

राजाकी स्थिरता।

[सूक्त ८७]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ध्रुवः।)

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्। इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वा आहार्षं) तुझको यहां राजगद्दीपर लाता हूं। (अन्तः भूः) हम सबके अंदर आ। (ध्रुवः अविचाचलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहां ठहर। (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुझको चाहें। (राष्ट्रं त्वत् मा अधिभ्रशत्) राष्ट्र तेरेसे भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

(इह एव एधि) यहां आ। (मा अपच्योष्ठाः) कभी मत गिर, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्रः इव ध्रुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहां ठहर और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर समर्पणसे (एतं ध्रुवं अदीधरत्) इसको स्थिररूपसे धारण करता है। (तस्मै सोमः) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानपतिने (अधिब्रवत्) उपदेश दिया ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे राजन्! तुमको हम सब लोगोंने चुनकर इस राजगद्दीपर लाये हैं, अब तू इस राजसभामें आ और यहांका कार्य स्थिर होकर कर। चंचलता छोड दे। सब दिशाओंमें रहनेवाले तेरे प्रजाजन तुम्हारे विषयमें संतोष प्रकट करें। तेरेसे इस राज्यकी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राज्यपर रह, यहांसे मत गिर। स्थिर होकर यहांका कार्य कर। अपने स्थानसे पदच्युत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको ज्ञानी ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था, इस प्रकार तू भी आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहांके ज्ञानी जन जिस प्रकार सलाह दें उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता।

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश बडी उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है—

(१) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाको इस प्रकारका राज्यशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उन्नतिको प्राप्त करें, (३) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिसे राज्यशासन चलावे। इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा पदच्युत होगा। इस उपदेशसे पता लग सकता है कि कौनसे दुर्गुण रहनेसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है। देखिये—

(१) प्रजाकी अनुमतिके विना जो राजगद्दीपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, (३) जो चंचल वृत्तिका होता है, (४) जिसका अहित प्रजा चाहती है, (५) जिसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अधोगति होती है। (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिके विरुद्ध राज्यशासन चलाता है। इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है।

हरएक प्रजाजन तथा हरएक राजा इस सूक्तका विचार करे। इस सूक्तके मननसे प्रजाको भी पता लग जायगा कि उत्तम राजा कौनसा है और अधम कौनसा है; किसको राजगद्दी पर रखना चाहिये और किसको नहीं। राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किस कारण राज्यसे गिरावट होगी। राजा और प्रजा इन दोनोंको इस सूक्तसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है।

राजाकी स्थिरता।

[सूक्त ८८]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — ध्रुवः।)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥
ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) द्युलोक स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथ्वी स्थिर है, (इदं विश्वं जगत् ध्रुवं) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत स्थिर हैं उस प्रकार (अयं विशां राजा ध्रुवः) यह प्रजाओंका रंजन करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(राजा वरुणः ते ध्रुवं) राजा वरुण तेरे लिये स्थिर, (देवः बृहस्पतिः ध्रुवं) बृहस्पति देव तेरे लिये स्थिर, (इन्द्रः च अग्निः च ते ध्रुवं) इन्द्र और अग्नि तेरे लिये स्थिर (राष्ट्रं धारयतां) राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

(अच्युतः ध्रुवः शत्रून् प्र मृणीहि) न गिरता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर। (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा दे। (सर्वाः दिशः) सब दिशाओंमें निवास करनेवाली प्रजाएं (सध्रीचीः संमनसः) एक कार्यमें रत और एक विचारसे युक्त होकर, उन लोगोंकी (समितिः इह ते ध्रुवाय कल्पतां) सभा यहां तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, पर्वत और यह सब जगत् जिस प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर हो जावे ॥ १ ॥

राजा वरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नीचे गिरावे। सब प्रजाजन एक विचारसे युक्त होकर अपनी सभा द्वारा उत्तम राजाको राजगद्दीपर स्थिर रखें ॥ ३ ॥

स्थिरताके लिये।

राजा किन गुणोंके धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त कहता है कि 'द्यौ, पृथिवी, पर्वत, जगत्' ये किस रीतिसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे; देखिये इनके कौनसे गुण है—

१ द्यौः— आकाश तथा सूर्य। इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयं-प्रकाशी है। इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है।

२ पृथ्वी— पृथ्वी सबका उत्तम प्रकार धारण और पोषण करती है। जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारण-पोषण करता है वह स्थिर होता है।

३ पर्वत— अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते। इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रहता है।

४ जगत्— चलता है, परंतु अपनी मर्यादामें घूमता है। इस प्रकार जो अपनी मर्यादासे प्रगति करता है वह स्थिर होता है।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है। इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है—

५ विशां राजा ध्रुवः— प्रजाओंका रञ्जन करनेवाला राजा स्थिर रहता है।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ है और इसके रहनेसे ही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। 'राजा' शब्दका ही अर्थ (प्रजारंजकः) प्रजाको प्रसन्न करनेवाला है। इस प्रकारके प्रजाकी प्रसन्नता संपादन करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रखनेकी सहाय्यता करें। इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राज्यके लोग राजाकी सहाय्यता करें। इन देवतावाचक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग हैं—

१ बृहस्पतिः, अग्निः— ज्ञानी, विद्वान् आदि ब्राह्म बल,
२ इन्द्रः— शूर वीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल,
३ वरुणः— वरिष्ठ लोक।

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहाय्यता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें। इनकी सहाय्यता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहाय्यतासे अपनी स्थिरता करे। राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करे और अयोग्य राजाको कभी सहाय्यता न दे।

इस प्रकार राजा और प्रजाको यहा बोध देनेवाला यह सूक्त है। आशा है कि ये दोनों इसका मनन करके अधिकसे अधिक लाभ उठावेंगे।

परस्पर प्रेम।

[सूक्त ८९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — रुद्रः, मन्त्रोक्ताः।)

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दुत्तं सोमेन वृष्ण्यम्। ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥
शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः। वातं धूम इव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

अर्थ— (प्रेण्यः इदं यत् वृष्ण्यं शिरः) प्रेम करनेवालेका जो यह बलवान् सिर है, जो (सोमेन दत्तं) सोमने दिया है, (ततः प्रजातेन) उससे उत्पन्न हुए बलसे (ते हार्दिं परि शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते हैं ॥ १ ॥

(ते हार्दिं शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते हैं, (ते मनः शोचयामसि) तेरे मनको उत्तेजित करते हैं, (वातं धूम इव) वायुके पीछे जिस प्रकार धूवां जाता है, उस प्रकार (ते सध्र्यङ् मनः मां एव अन्वेतु) तेरा अनुकूल मन मेरे पास ही आवे ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रेम करनेवालेका सिर और हृदय प्रेमके साथ ही उद्दीपित होता है ॥ १ ॥
हृदयको और मनको उत्तेजित करते हैं जिस प्रकार धूवां वायुको अनुसरता है, उसी प्रकार मन हृदयको अनुकूल होवे ॥ २ ॥

मह्यं॑ त्वा मि॒त्रावरु॑णौ मह्यं॑ दे॒वी सर॑स्वती। मह्यं॑ त्वा॒ मध्यं॒ भूम्या॑ उ॒भावन्तौ॒ सम॑स्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (मित्रावरुणौ त्वा मह्यं) मित्र और वरुण तुझको मुझे देवें, (देवी सरस्वती मह्यं) सरस्वती देवी मुझे देवे। (भूम्या मध्यं) भूमिका मध्य तथा (उभौ अन्तौ) दोनों अन्तभाग (त्वा मह्यं समस्यतां) तुझको मुझे देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— मित्र, वरुण, सरस्वती, भूमिका मध्यभाग और अन्तिम भाग ये सब हम सबको मिलाकर रखें ॥ ३ ॥

एकताका मन्त्र।

मनुष्यका सिर और हृदय प्रेमसे उत्तेजित होता है। इस प्रकार उत्तेजित हुआ और प्रेमसे भरपूर हुआ मनुष्य ही इस जगत्में कुछ विशेष कार्य करनेमें समर्थ होता है।

हृदयके अनुकूल मन ऐसा होवे कि, जिस प्रकार वायुकी गतिके अनुकूल धूआं होता है। सरस्वती अर्थात् विद्याकी और भूमि अर्थात् मातृभूमिकी भक्ति ये दोनों मनको ऐसा अनुकूल करें, कि वह कभी हृदयको छोडकर अर्थात् उस नेताके हृदयसे दूर न भाग जावें।

इस प्रकार मनसे सुविचार और हृदयसे भक्ति करते हुए मनुष्य उन्नत हो सकते हैं।

शरीरसे बाणको हटाना।

[सूक्त ९०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — रुद्रः।)

यां ते॑ रु॒द्र इषु॒मास्य॒दङ्गे॑भ्यो॒ हृद॑याय च। इ॒दं ताम॒द्य त्वद् व॒यं विषू॑चीं॒ वि वृ॑हामसि ॥ १ ॥

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः। तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

नम॑स्ते रुद्रा॒स्य॑ते॒ नमः॒ प्रति॑हितायै। नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॒ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

अर्थ— (रुद्रः यां इषुं) रुद्र जिस बाणको (ते अङ्गेभ्यः हृदयाय च आस्यत्) तेरे अङ्गों और हृदयके लिये फेंकता है, (अद्य तां) आज उस बाणको (वयं त्वद् विषूचीं) हम तेरेसे विरुद्ध दिशासे (इदं वि वृहामसि) इस प्रकार दूर करते हैं ॥ १ ॥

(याः ते शतं धमनयः) जो तेरे शरीरमें सैकडों धमनियां (अङ्गानि अनु विष्ठिताः) अवयवोंमें रहती हैं (ते तासां सर्वासां) तेरी उन सब धमनियोंसे (विषाणि निः ह्वयामसि) सब विषोंको निश्शेष करते हैं ॥ २ ॥

हे रुद्र! (ते अस्यते नमः) फेंकते हुए तुझे नमस्कार हो। (प्रतिहितायै नमः) फेंके हुए बाणको नमन हो। (विसृज्यमानायै नमः) छोडे गये बाणको नमन हो और (निपतितायै नमः) लक्ष्यपर लगे बाणको नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ— शरीरमें लगे बाणको युक्तिसे हटाना चाहिये और शरीरको विषरहित करना चाहिये ॥ १-३ ॥

जल-चिकित्सा।

[सूक्त ९१]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः। देवता — यक्ष्मनाशनं, मन्त्रोक्ताः।)

इ॒मं यव॑मष्टायो॒गैः ष॑ड्यो॒गेभि॑रचर्कृषुः। तेना॑ ते त॒न्वो॒३ रपो॑ऽपा॒चीन॒मप॑ व्यये ॥ १ ॥

अर्थ— (इमं यवं) इस जौको (अष्टायोगैः षड्योगैः) आठ बैलजोडियोंवाले अथवा (षड्योगैः) छः बैलजोडियोंसे की हुई (अचर्कृषुः) कृषिसे उत्पन्न करते हैं। (तेन ते तन्वः) उससे तेरे शरीरके (रपः अपाचीनं अप व्यये) रोगबीजको भिन्न गतिसे दूर करते हैं ॥ १ ॥

न्य१ग्वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः। नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥
आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वातः न्यक् वाति) अपानवायु निम्न गतिसे चलता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य निम्न भागमें तपता है, (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ निम्न भागसे दूध देती है। इस प्रकार (ते रपः न्यक् भवतु) तेरा दोष दूर होवे ॥ २ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषधी है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोग दूर करनेवाला है, (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी औषधि है, (ताः ते भेषजं कृण्वन्तु) वह जल तेरे लिये औषध बनावे ॥ ३ ॥

जल सब रोगोंको दूर करनेवाली औषधि है, जल सब दोष शरीरसे दूर करता है और सब विष दूर करके आरोग्य देता है। जलप्रयोगसे अपानकी निम्न गति होती है और उस कारण बद्धकोष्ठता दूर होती है। बद्धकोष्ठ दूर होनेसे पूर्ण आरोग्य होता है। इस आरोग्यके लिये उत्तम जौका अन्न खाना चाहिये और इस पथ्यके साथ अष्टांगयोग अथवा षडंगयोग करना चाहिये। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं। पहिले दो अंग अथवा अंतिम दो छोडनेसे, षडंगयोग होता है। इससे भी रोग दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है ॥



अश्व।

[सूक्त ९२]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — इन्द्रः, वाजी।)

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥
जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वाजिन्) अश्व! (युज्यमानः वातरंहाः भव) जोतने पर वायुके वेगसे युक्त हो, (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) इन्द्रकी इस सृष्टिमें मनोवेगसे चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब ज्ञानसे युक्त मरनेतक उठनेवाले वीर तुझे नियुक्त करें। (त्वष्टा ते पत्सु जवं आ दधातु) त्वष्टा तेरे पांवोंमें वेग रखे ॥ १ ॥

हे (अर्वन्) गतिशील! (यः गुहा निहितः ते जवः) जो हृदयमें रहा हुआ तेरा वेग है, (यः श्येने वाते उत परीत्तः) जो वेग श्येनपक्षीमें और जो वायुमें है और जो अन्यत्र भी है; हे (वाजिन्) अश्व! (तेन त्वं बलवान्) उस वेगसे तू बलवान् होकर (समने पारयिष्णुः) संग्राममें पार करनेवाला होता हुआ (आजिं जय) युद्धमें विजय कर ॥ २ ॥

भावार्थ— घोडा वेगवान् हो, चलनेके समय मनके वेगके समान शीघ्र दौडे। ऐसे घोडेको वीर जोतें और ईश्वर ऐसे घोडेके पांवमें बडा वेग रखे ॥ १ ॥

जो वेग वायु, श्येन पक्षी और अन्य वेगवान् पदार्थोंमें है वह वेग इस घोडेमें हो। ऐसा वेगवान् और बलवान् घोडा युद्धमें विजयको प्राप्त करनेवाला हो ॥ २ ॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अन्हुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥ ३ ॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- हे (वाजिन्) अश्व! (ते तनूः तन्वं नयन्ती) तेरा शरीर हमारे शरीरको ले चलता हुआ (अस्मभ्यं वामं धावतु) हम सबके लिये अल्प कालमें पहुंचावे और (तुभ्यं शर्म) तुम्हारे लिये सुख देवे। (अन्हुतः देवः) अकुटिल देव (धरुणाय) सबकी धारणाके लिये (दिवि ज्योतिः इव) द्युलोकमें जैसा तेजस्वी सूर्य है, उसके समान (महः स्वं आ मिमीयात्) सबको बडा तेज निर्माण करके देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह घोडा मनुष्योंको अतिशीघ्र दूरतक पहुंचावे। वह स्वामीको सुख देवे और स्वयं सुखी होवे। द्युलोकमें सूर्यके समान ऐसा घोडा यहां चमकता रहे ॥ ३ ॥

उत्तम घोडेका वर्णन इस सूक्तमें है। घोडा बलवान् और चपल तथा शीघ्रगामी हो। युद्धमें जानेवाले सैनिक ऐसे घोडोंका उपयोग करें और विजय प्राप्त करें। इत्यादि बोध इस सूक्तमें है।

॥ यहां नवम अनुवाक समाप्त ॥

हमारी रक्षा।

[सूक्त ९३]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — रुद्रः।)

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥
मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्ये॒भ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥ २ ॥
त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (यमः) नियामक, (मृत्युः) मारक, (अघ-मारः) पापियोंको मारनेवाला, (निर्ऋथः) पीडक, (बभ्रुः) पोषक, (शर्वः) हिंसक, (अस्ता) शस्त्र फेंकनेवाला, (नीलशिखण्डः) नीले ध्वजसेयुक्त तथा (देवजनाः) सब दिव्यजन, (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेनाके साथ चढाई करनेवाले, (अस्माकं वीरान् परि वृञ्जन्तु) हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥

(अस्तं शर्वाय) शस्त्र फेंकनेवाले हिंसकके लिये (उत भवाय राज्ञे) और उन्नति करनेवाले राजाके लिये (मनसा घृतेन होमैः हरसा) मनसे, घीसे, होमोंसे और शक्तिसे (एभ्यः नमस्येभ्यः नमः कृणोमि) इन नमन करने योग्योंको नमन करता हूं। (अघविषः असद् अन्यत्र नयन्तु) पापरूपी विषसे परिपूर्ण लोक हमसे दूर हों ॥ २ ॥

(विश्वेदेवाः विश्ववेदसः मरुतः) सब दिव्य और सब जाननेवाले मरने तक कार्य करनेवाले वीर तथा (अग्नि-षोमौ पूतदक्षाः वरुणः) अग्नि, सोम, पवित्र बलवाला वरुण, (अघविषाभ्यः वधात् त्रायध्वं) पापियोंके वधसे हमें बचावें। (वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम) वायु और पर्जन्यकी सुमतिमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब शूरवीर हमारे बालबच्चों और हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥
जो नमन करने योग्य हैं उनका मनसे और दानके साथ सत्कार किया जावे। पापी हम सबसे दूर हों ॥ २ ॥
सब देव हमें पापियोंसे बचावें और हम उनकी उत्तम मतिमें रहकर उत्तम कार्य करें ॥ ३ ॥

संगठन का उपदेश।

[सूक्त ९४]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — सरस्वती ।)

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि । अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ २ ॥
ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती । ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः मनांसि सं) तुम्हारे मन एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्म एक विचारसे हों, (आकूतिः सं नमामसि) तुम्हारे संकल्पोंको एक भावमें झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो, (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं ॥ १ ॥ (अथर्व. ३।८।५)

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥
(अथर्व. ३।८।६)

(द्यावापृथिवी मे ओते) द्युलोक और भूलोक ये मेरेसे मिलेजुले हैं। (देवी सरस्वती ओता) सरस्वती देवी मेरेसे मिली है। (इन्द्रः च अग्निः च मे ओतौ) इन्द्र और अग्नि मेरे साथ मिले हैं। हे सरस्वति ! (इदं ऋध्यास्म) इससे हम समृद्ध हों ॥ ३ ॥ (अथर्व. ५।२३।१)

ये तीनों मंत्र पूर्वस्थानमें आये हैं। ऊपर उनका पता दिया है। इसलिये विशेष स्पष्टीकरण पूर्वस्थानमें ही पाठक देखें। तृतीय मंत्रका चतुर्थ चरण इस सूक्तमें पूर्वकी अपेक्षा भिन्न है, परंतु वह अति सरल होनेसे विशेष स्पष्टीकरणकी अपेक्षा नहीं रखता।



कुष्ठ औषधि।

[सूक्त ९५]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः । देवता — वनस्पतिः ।)

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

अर्थ— (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहांसे तीसरे द्युलोकमें (देवसदनः अश्वत्थः) देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है। (तत्र अमृतस्य चक्षणं) वहां अमृतका दर्शन होनेके समान (कुष्ठं देवाः अवन्वत) कुष्ठ औषधिको देवोंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥
(अथर्व. ५।४।३)

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत । गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौः) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका (दिवि अचरत्) द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधिको (देवाः अवन्वत) देवोंने प्राप्त किया है ॥ २ ॥ (अथर्व. ५।४।४)

(ओषधीनां गर्भः असि) औषधियोंका मूल तू है। (उत हिमवतां गर्भः) और हिमवालोंका भी तू गर्भ है। (तथा विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमात्रका गर्भ है; (मे इमं अगदं कृधि) तू मेरे इस रोगीको नीरोग कर॥ ३ ॥ (अथर्व. ५।२५।७)

ये भी तीनों मंत्र पूर्व स्थानमें आ गये हैं। अतः पाठक इनका विवरण पूर्वस्थानमें देखें। तृतीय मंत्रमें कुछ पाठभेद है, परंतु उसके विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

रोगोंसे बचना।

[सूक्त ९६]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता — वनस्पतिः, सोमः।)

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या॒दुत । अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः । सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः सोमराज्ञीः बह्वीः ओषधयः) जो सोम औषधि जिनमें मुख्य है ऐसी अनेक औषधियां हैं और जिनसे (शत-विचक्षणाः) सैकडों कार्य होते हैं, (बृहस्पति-प्रसूताः ताः) ज्ञानीके द्वारा दी हुई वे औषधियां (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापरूपी रोगसे बचावें॥ १ ॥

(मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझको दुर्वचनसे हुए रोगसे बचावें, (अथो उत वरुण्यात्) और जलके कारण होनेवाले रोगसे बचावें। (अथो यमस्य पड्वीशात्) अथवा यमके पाशस्वरूप असाध्य रोगोंसे बचावें तथा (विश्व-स्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधके पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे बचावें ॥ २ ॥

(यत् चक्षुषा मनसा) जो पाप चक्षु और मनसे तथा (यत् च वाचा) जो वाणीसे (जाग्रतः यत् स्वपन्तः उपारिम) जागते समय और जो सोते समय हम (उपारिम) प्राप्त करते हैं (नः तानि) हमारे वह सब पाप (सोमः स्व-धया पुनातु) सोम अपनी शक्तिसे पुनीत करके दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब औषधियोंमें सोम औषधि मुख्य है। इन औषधियोंसे सैकडों रोगोंकी चिकित्सा होती है। ज्ञानी वैद्य द्वारा ही ये औषधियां हमें रोगमुक्त करें ॥ १ ॥

दुर्वचनसे, जलके बिगडनेसे, यमके पाशरूप दोषोंसे और सब पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे औषधियां हमें बचावें ॥ २ ॥

आंख, मन, वाणी आदि इंद्रियों द्वारा जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें जो पाप हम करते हैं; उन पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सोम आदि औषधियां हमें बचावें ॥ ३ ॥

पापसे रोगकी उत्पत्ति।

इस सूक्तमें पापसे रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी कल्पना बताई है। सब रोग मनुष्योंके किये पापोंसे उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने आपको पापसे बचावेंगे, तो निःसंदेह वे रोगोंसे बच सकते हैं।

मनुष्य सोते हुए और जागते हुए अपने इंद्रियोंसे अनेक पाप करते हैं और रोगी होते हुए दुःखी होते हैं। इनको उचित है कि, ये पापसे बचे रहें और अपने इन्द्रियोंसे पाप न करें।

'शपथ' अर्थात् गालियां देना, बुरे शब्द बोलना और क्रोधके वचन कहना यह भी पाप है। इससे अनेक रोग होते हैं। क्रोध भी स्वयं रोग उत्पन्न करता है। अतः इससे बचना उचित है।

रोग होनेपर औषधिप्रयोगसे रोगनिवृत्ति हो सकती है, परंतु औषध (बृहस्पतिप्रसूत) ज्ञानी वैद्यद्वारा विचारपूर्वक दिया हुआ होना चाहिये।

इस रीतिसे इस सूक्तमें बहुत उत्तम बोध दिये हैं। यदि पाठक इन सबका योग्य विचार करेंगे तो वे अपने आपको बहुत कष्टोंसे बचा सकते हैं।

शत्रुको दूर करना।

[सूक्त ९७]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — देवः, मित्रावरुणौ।)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥
स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥
इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

अर्थ— (यज्ञः अभिभूः) यज्ञ शत्रुका पराभव करता है, (अग्निः अभिभूः) अग्नि शत्रुका पराजय करता है, (सोमः अभिभूः) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्रः अभिभूः) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है। (यथा अहं विश्वाः पृतनाः अभि असानि) जिससे मैं सब सेनाओंका पराभव करूं (एवा) इस प्रकार हम भी (अग्निहोत्राः इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाले होकर इस हविका समर्पण करेंगे ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वरुण ! आपके लिये (स्वधा अस्तु) यह अन्नभाग हो। (प्रजावत् क्षत्रं इह मधुना पिन्वतं) प्रजायुक्त क्षत्रिय बल यहां सींचो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरे बाधेथां) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और (कृतं चित् एनः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्र मुमुक्तं) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखायः) मित्रो ! (उग्रं ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं वीरं) उग्र स्वभावयुक्त, गांवको जीतनेवाले, गौको जीतनेवाले अथवा इंद्रियोंको वश करनेवाले, वज्र धारण करनेवाले वीर, (ओजसा अज्म प्रमृणन्तं) बलसे शत्रुबलका नाश करनेवाले और (जयन्तं) विजय करनेवाले (इन्द्रं अनु सं रभध्वं) इन्द्रके अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ— यज्ञ अर्थात् परोपकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं। उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूंगा। मैं इस विजयके लिये ऐसा आत्मसमर्पण करूंगा जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य अपने आपका समर्पण करता है ॥ १ ॥

इस राज्यमें सब क्षत्रियोंको उत्तम शूरवीर बालबच्चे हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करें कि, उससे सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवे ॥ २ ॥

जो शत्रुके गांवको जीतनेवाला, शूरवीर, शस्त्र धारण करनेवाला अपने बलसे शत्रुसेनाका नाश करता है, उस विजय संपादन करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥

विजयके साधन।

इस सूक्तमें विजयके कई साधन वर्णन किये हैं। प्रथम मंत्रमें इन साधनोंकी गणना की है, देखिये—

१ यज्ञः— यज्ञसे विजय होती है। यह सबसे मुख्य साधन है। यज्ञ अर्थात् 'सत्कार, संगठन और उपकार।' सत्कार करनेयोग्य जो हैं उनका सत्कार करना, अपने अंदर संगठनसे बल बढाना और दुर्बलोंके ऊपर उपकार करना यह यज्ञ है। इस यज्ञसे वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सब शत्रु दूर होते हैं। ये यज्ञ अनेक प्रकारके हैं। उन सबका यहां वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यज्ञ मातृभूमिका रक्षण करता है यह बात अथर्व० कां० १२।१।१ में भी कही है; वह मंत्र यहां पाठक देखकर इसके साथ उसकी तुलना करें।

२ अग्निः— अग्नि शब्दसे ज्ञान, प्रकाश और उष्णताका बोध यहां लेना योग्य है। ज्ञानसे विजय सर्वत्र होती है। प्रकाश भी विजय देनेवाला है और उष्णता अर्थात् गर्मी मनुष्यमें रही तो वह मनुष्य कुछ न कुछ पराक्रम करनेमें समर्थ हो सकता है।

३ सोमः— सोम आदि औषधियां रोगादि शत्रुओंका पराभव करती हैं।

४ इन्द्रः— शूरवीर शत्रुसेनाका पराजय करते हैं।

यज्ञ कैसा हो?

विजयप्राप्तिके लिये यज्ञ कैसा हो? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम मंत्रने कहा है कि जैसा अग्निहोत्रमें हवि आत्मसमर्पण करता है, अग्निहोत्र करनेवाले लोक अपनी आहुतियोंका जैसा समर्पण करते हैं, जिस प्रकार (न मम) इसपर अब मेरा अधिकार नहीं ऐसा कहते हुए समर्पण करते हैं, उस प्रकार जब आत्मसमर्पण होगा, तब शत्रुपर विजय प्राप्त होगी। विजय प्राप्त करनेवाले अपने आपका समर्पण पूर्ण रीतिसे करें, यही यज्ञ है और यही विजय देनेवाला है।

विजयके लिये (स्वधा अस्तु) स्वकीय धारणा शक्ति चाहिये। अपने अंदर धारणा शक्ति जितनी अधिक होगी उतना विजयप्राप्तिका निश्चय अधिक होगा।

साथ ही साथ क्षत्रियोंमें वीर पुरुष भी उत्तम प्रकारके निर्माण होने चाहिये। इन्हींसे विजय होती है। और सब लोगोंका प्रयत्न इस कार्यके लिये होना चाहिये कि अपने राष्ट्रके अंदर जो विपत्ति है वह पूर्णरूपसे दूर हो। और सब लोग विपत्ति और कष्टसे मुक्त होकर समृद्धि तथा सुख प्राप्त करें।

सब लोग शूरवीर, प्रतापी और पुरुषार्थी मनुष्यके अनुकूल अपना आचरण करें और कभी प्रतिकूल आचरण न करें। क्योंकि नेताके प्रतिकूल आचरण करनेसे नाश ही होगा और लाभ होनेकी आशा भी नहीं रहेगी।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

विजयी राजा।

[सूक्त ९८]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — इन्द्रः।)

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः जयाति) शूर पुरुषकी जय होती है, (न पराजयातै) कभी पराजय नहीं होती। (राजसु अधिराजः राजयातै) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी शोभा बढती है। हे राजा! तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईड्यः) शत्रुका नाश करनेवाला और स्तुतिके लिये योग्य, (वन्द्यः उपसद्यः नमस्यः भव) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भावार्थ— जो पुरुष शूर होता है, उसीकी जय होती है कभी पराजय नहीं होती। जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशंसनीय, वंदनीय और उपास्य होता है ॥ १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ २ ॥
प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे इन्द्र ! (त्वं अधिराजः) तू राजाधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान् हो। (त्वं जनानां अभिभूतिः भूः) तू प्रजाजनोंका समृद्धिकर्ता हो। (त्वं इमाः दैवीः विशः विराज) तू इन देवी प्रजाओंपर विराजमान हो। (ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु) तेरा दीर्घायुयुक्त क्षात्र तेज जरारहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है। हे (वृत्रहन्) शत्रुनाशक ! (उत उदीच्या दिशः शत्रुहा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहां नदियां जाती हैं वहां तकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है। तथा (वृषभः हव्यः दक्षिणतः एषि) बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंकी समृद्धि बढानेवाला होवे। अपनी प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बढाकर दीर्घ आयु भी बढावे ॥ २ ॥

चारों दिशाओंमें शत्रुओंको पराजित करके राजा विजयी बने, बलवान् बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा विजयी होकर किस रीतिसे यशका भागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है। इस सूक्तका भाव अति सरल और सुबोध है। ' शौर्य और बल बढाने और प्रजाकी समृद्धि वृद्धिंगत करनेसे राजा विजयी होता है ' यह इस सूक्तका मुख्य आशय है।

कल्याणके लिये यत्न।

[सूक्त ९९]

(ऋषिः — भृग्वंगिराः। देवता — वनस्पतिः, सोमः सविता च)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे। ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥
यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! (पुरा अंहुरणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व ही (वरिमतः त्वा त्वा अभि हुवे) श्रेष्ठ कर्मके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं। तथा (उग्रं चेत्तारं) शूरवीर चेतना देनेवाले (एकजं पुरुनामानं ह्वयामि) अकेले परंतु अनेक यशोंसे संपन्न पुरुषकी हम प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

(यः अद्य सेन्यः वधः) जो आज सेनाका शस्त्र हमें मारनेके लिये (उत् ईरते) ऊपर उठता है, (तत्र इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) वहां प्रभुके बाहु चारों ओर हम धरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो श्रेष्ठ कर्म करता है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये। इसी प्रकार जो शूरवीर, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यश प्राप्त करनेवाला है, उसीका गुणगान करना योग्य है ॥ १ ॥

जिस समय सेनामें हमला होता है और शस्त्रसे वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः। देव सवितः सोम राजन्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये॥३॥

अर्थ— (इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) प्रभुके बाहू चारों ओर हम धरते हैं, (त्रातुः नः त्रायतां) उस रक्षकके बाहु हमारी रक्षा करें। हे (सोम राजन् देव सवितः) सोम राजा देव। प्रभो। (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर॥ ३॥

भावार्थ— ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें। मनुष्यको यदि सचमुच कल्याणका साधन करना है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे॥ ३॥

कल्याणका मुख्य साधन

इस सूक्तमें जो कल्याणका मुख्य साधन कहा है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमनसम्। (मं. ३)

' कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम-उत्तम मन होना चाहिये।' यदि मन उत्तम शुभ संकल्पोंसे युक्त हुआ, तो ही मनुष्यका सचमुच कल्याण हो सकता है। मनमें दोष रहे, तो अवश्य कष्ट होंगे। इसी प्रकार कितनी भी आपत्ति आ गई तो भी उस समय प्रभुका हाथ अपनी पीठपर है ऐसा विश्वास होना चाहिये, इस विषयमें देखिये—

सेन्याः वधः जिघांसन् उदीरते।
तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम्॥ (मं. २, ३)

' जब सेनाके शस्त्र वधकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे।' प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बडी शान्ति देता है और बल भी बढाता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये- (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) उग्र बनकर जनताको श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना। ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है।

पाठक इस सूक्तका बहुत मनन करें; क्योंकि यह छोटासा सूक्त होनेपर भी बडा उत्तम उपदेश देता है और मनुष्यको श्रेष्ठ होनेकी प्रेरणा करता है।

विषनिवारणका उपाय।

[सूक्त १००]

(ऋषिः — गरुत्मान्। देवता — वनस्पतिः।)

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात्। तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम्॥ १॥
यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम्। तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम्॥ २॥
असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा। दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम्॥ ३॥

अर्थ— (देवाः विषदूषणं अदुः) देवोंने विषनिवारक उपाय दिया है। (सूर्यः अदात्) सूर्यने दिया है। (द्यौः अदात्, पृथिवी अदात्) द्युलोक और पृथ्वी लोकने भी दिया है। (सचित्ताः तिस्रः सरस्वतीः अदुः) एकविचारवाली तीनों सरस्वती देवियोंने विषनिवारक उपाय दिया है॥ १॥

हे (देवाः) देवो! (उपजीकाः यत् उदकं) उपजीक नामक औषधियां जो जल (धन्वनि वः आसिचन्) मरुदेशमें आपके समीप सींचती हैं, (तेन देवप्रसूतेन) उस देवसे उत्पन्न जलसे (इदं विषं दूषयता) इस विषका निवारण करो॥ २॥

हे औषधि! तू (असुराणां दुहिता असि) असुरोंकी दुहिता है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है। (दिवः पृथिव्याः संभूता) द्युलोक और भूलोकसे उत्पन्न हुई (सा विषं अरसं चकर्थ) वह तू विषको निर्बल बना॥ ३॥

भावार्थ— पृथ्वी, सूर्य, वायु, जल आदि सब देव विषको दूर करते हैं। तथा विद्याएं भी ऐसी हैं जो विष दूर करती हैं॥ १॥ मरुदेशमें भी जो जल होता है वह विष दूर करता है॥ २॥ औषधि भी विष दूर करनेवाली है॥ ३॥

यह सूक्त बडा दुर्बोधसा है। पहिले मंत्रमें कहा है कि पृथ्वी आदि अनेक देव विषनाशक गुण रखते हैं। अग्नि, जल, सोम आदिके प्रयोगसे विष दूर होनेकी बात वैद्यकग्रंथोंमें भी कही है।

द्वितीय मंत्रमें ' उपजीका ' मरुदेशमें जल उत्पन्न करती है वह जल विषनाशक है, ऐसा कहा है। यह उपजीका कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। ' उपजीक ' शब्दका अर्थ ' दूसरेके ऊपर रहकर अपनी उपजीविका करनेवाली। ' इससे संभव प्रतीत होता है कि वृक्षोंपर उत्पन्न होनेवाली कोई वनस्पति हो, जिसमें रस बहुत आता हो और जो मरुदेशमें भी विपुल रससे युक्त होती हो। इस वनस्पतिके रससे या उसके जलसे विष दूर होता है।

यह वनस्पति (असु-राणां दुहिता) प्राण रक्षण करनेवालोंकी सहायक और (देवानां स्वसा) इंद्रियोंके लिये भगिनीरूप है। अर्थात् यह आरोग्यवर्धक है, यह निर्जल भूमिमें उगती है और विष दूर करती है। वैद्योंको इस वनस्पतिकी खोज करनी चाहिये।

बल प्राप्त करना।

[सूक्त १०१]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — ब्रह्मणस्पतिः।)

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्र॒थय॑स्व च। य॒थाङ्गं॑ व॑र्धतां॒ शेप॒स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्ज॑हि ॥ १ ॥

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्यातु॑रम्। तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥

आ॒हं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि। क्रम॑स्वर्श॑ इ॒व रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (आ वृषायस्व) बलवान् हो, (श्वसिहि) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्धस्व प्रथयस्व च) बढ और अंगोंको फैला। (यथा शेपः अङ्गं वर्धताम्) जिससे प्रजननांग पुष्ट हो, और तू (तेन योषितं इत् जहि) उससे स्त्रीको प्राप्त हो॥ १॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी! (येन कृशं वाजयन्ति) जिससे कृश मनुष्यको पुष्ट करते हैं, (येन आतुरं हिन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसका अंग धनुष्य जैसा फैला॥ २॥

(अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इंद्रियको फैलाता हूं, (धन्वनि अधि ज्याम् इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं (ऋशः रोहितम् इव) जिस प्रकार रीछ हरिणपर धावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर॥ ३॥ (देखो अथर्व० ४।४।७)

भावार्थ— हे मनुष्य! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढा, शरीर पुष्ट कर, और मोटा ताजा कर। इस प्रकार सब शरीर उत्तम पुष्ट होनेके पश्चात् स्त्रीको प्राप्त कर॥ १॥

हे ज्ञानी पुरुष! जिस उपायसे कृशको पुष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें॥ २॥

धनुष्यकी डोरीके समान शरीरमें बल और लचीलापन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरिणपर रीछ हमला करनेके समान न थकते हुए तू सदा हमला कर॥ ३॥

चार प्रकारका बल ।

इस सूक्तमें चार प्रकारका बल कहा है। हरएकको यह चार प्रकारका बल प्राप्त करना चाहिये—

(१) आ वृषायस्व= यह वीर्यका बल है, शरीर वीर्यवान हो;

(२) श्वसिहि= प्राणका बल बढे, श्रमका थोडासा कार्य करते ही श्वास लगना नहीं चाहिये;

(३) वर्धस्व= शरीरकी लंबाई चौडाई पर्याप्त हो, मनुष्य अच्छा मोटा ताजा प्रतीत हो;

(४) प्रथयस्व= हरएक अवयव अच्छी प्रकार पुष्ट हो।

यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है। मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये। वीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और पुष्टि ये चार प्रकारके हैं। हरएक मनुष्यको अपना शरीर इन चतुर्विधबलोंसे युक्त करना चाहिये।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगी अथवा कृश हुआ तो उसको उचित है कि वह सुयोग्य वैद्यसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और हृष्टपुष्ट बने। उत्तम हृष्टपुष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही स्त्रीसे संबंध करे। अन्य अशक्त मनुष्य दूर रहे। तथा मनुष्य बलवान् बनकर सदा पराक्रम करे।

परस्पर प्रेम ।

[सूक्त १०२]

(ऋषिः — जमदग्निः। देवता — अश्विनौ।)

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते। एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥
आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव। रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥
आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अर्थ — हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (यथा अयं वाहः सं एति) जिस प्रकार यह घोडा साथ-साथ जाता है, और (सं वर्तते च) मिलकर साथ-साथ रहता है, (एवा ते मनः मां अभि) इस प्रकार तेरा मन मेरे (सं आ एतु) साथ आवे और (सं वर्ततां च) साथ रहे ॥ १ ॥

(अहं ते मनः आ खिदामि) मैं तेरे मनको खींचता हूं (पृष्ट्यां राजाश्वः इव) जिस प्रकार पीठके साथ बंधी गाडीको घोडा खींचता है। (यथा रेष्म-छिन्नं तृणं) जैसा वायुसे छिन्नभिन्न हुआ घास एक दूसरेसे लिपटता है, वैसा (ते मनः मयि वेष्टतां) तेरा मन मेरे साथ लिपटा रहे ॥ २ ॥

(तुरः भगस्य) त्वरासे प्राप्त होनेवाले, भाग्ययुक्त, (आञ्जनस्य मदुघस्य) अञ्जनके समान हर्षित करनेवाले (कुष्ठस्य नलदस्य हस्ताभ्यां) कूठ और नलके समान हाथोंद्वारा (अनुरोधनं उद्भरे) अनुकूलताको प्राप्त करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार गाडीको जोते हुए दो घोडे साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ चलते हैं, उस प्रकार परस्परका मन एक साथ रहे, परस्पर विरोध न करे ॥ १ ॥

जिस प्रकार घोडा गाडीको अपनी ओर खींचता है, उस प्रकार एक मनुष्य दूसरेके मनको खींचे और इस प्रकारके प्रेमके बर्तावसे मनुष्य परस्पर संगठित होवें ॥ २ ॥

त्वरासे कोई कार्य करना, भाग्य प्राप्त होना, अञ्जन आदि भोगविलास करना, हरएक प्रकारका आनन्द कमाना इत्यादि अनेक कार्योंमें परस्परकी अनुकूलता परस्परको देखना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रेमका आकर्षण ।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको प्रेमके साथ आकर्षित करे और इस प्रकार सब मनुष्य संगठित होकर रहें। स्त्रीपुरुष, पितापुत्र, भाईभाई तथा अन्य मनुष्य एक दूसरेको प्रेमसे आकर्षित करें और सब संगठित होकर एक विचारसे अपनी उन्नतिका साधन करें।

॥ यहां दशम अनुवाक समाप्त ॥

शत्रुका नाश।

[सूक्त १०३]

(ऋषिः — उच्छोचनः । देवता — इन्द्राग्नी, बहुदैवतम् ।)

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् । संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् । इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः । इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे शत्रुओ ! (बृहस्पतिः वः संदानं करत्) बृहस्पति तुम्हारा खंडन करे, (सविता संदानं) सविता नाश करे, (मित्रः संदानं, अर्यमा संदानं) मित्र और अर्यमा टुकडे करे, (भगः अश्विना संदानं) भग और अश्विदेव तुम्हारा नाश करे ॥ १ ॥

शत्रुओंके (परमान् अवमान् अथो अध्यमान् सं सं सं द्यामि) दूरके, पासके और बीचके सैनिकोंको काटता हूं, (इन्द्रः तान् परि अहाः) इन्द्र उन सबका निवारण करे । हे अग्ने ! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशमें स्वाधीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) झण्डोंको उठाकर (अमी ये अनीकशः युद्धं आयन्ति) ये जो अपनी-अपनी टुकडियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहाः) उनका इन्द्र निवारण करे, हे अग्ने ! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे बांधकर रख ॥ ३ ॥

भावार्थ— ज्ञानी, शूर, मित्र, न्यायकारी, धनवान्, अश्ववान् ये सब राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपनी-अपनी शक्तिसे शत्रुका संहार करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

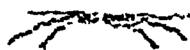
शत्रुसेनामें जो पासवाले, बीचके और दूरके सैनिक हैं, उनका निवारण किया जावे और जो पास मिलें उनको अपने आधीन किया जावे ॥ २ ॥

जो सैनिक झण्डोंको उठाकर छोटे-छोटे विभागोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकारसे नाश किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन।

जिस समय राष्ट्ररक्षाका प्रश्न उपस्थित हो उस समय (बृहस्पति) ज्ञानीजन, (सविता) शूर वीर, (मित्र) मित्रदलके लोग, (अर्य-मा) न्याय करनेवाले, 'श्रेष्ठ कौन है और कौन नहीं इसका प्रमाण निश्चित करनेवाले, (भगः) ऐश्वर्यवान, (अश्विनौ) अश्ववाले अर्थात् घोडोंपर सवार होनेवाले वीर, (इन्द्र) नरेन्द्रमंडल, शूर, वीर, (अग्निः) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हरएक प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें। इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे।

इस सूक्तमें जो देवतावाचक नाम आगये हैं वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, देवराष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं। वेही कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदेदार उसी प्रकारके अपने-अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है। जैसा देव करते हैं वैसा मनुष्य यहां करें और देव बन जांय।



शत्रुका पराजय।

[सूक्त १०४]

(ऋषिः — प्रशोचनः। देवता — इन्द्राग्नी, बहवो देवताः।)

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि। अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥
इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्। अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥
ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ। इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) पकडने और वश करनेसे (अमित्रान् आ द्यामसि) शत्रुओंको नष्ट करते हैं। (एषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो प्राण और अपान हैं उन (असून् असुना सं अच्छिदम्) प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूं ॥ १ ॥

(इन्द्रेण तपसा संशितं) इन्द्रने तपके द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं अकरं) यह पाश मैंने बनाया है, (ये अत्र नः अमित्राः सन्ति) जो यहां हमारे शत्रु हैं, हे अग्ने! (तान् त्वं आ द्य) उनका तू नाश कर ॥ २ ॥

(इन्द्राग्नी एनान् आ द्यतां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करें। (सोमः राजा च मेदिनौ) सोम और राजा भी आनंदसे यह कार्य करें। (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अमित्रेभ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड रखे ॥ ३ ॥

भावार्थ— शत्रुको पकडकर उनको प्रतिबंधमें रखनेके द्वारा हम उनका नाश करते हैं। उनके प्राणोंका बल ही हम कम करते हैं ॥ १ ॥

तपके द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके कार्यमें हमें सहायता करें ॥ ३ ॥

शत्रुको पकडना।

शत्रुको पकडकर उसको प्रतिबंध करना चाहिये। उससे शत्रुताका प्रतिबंध हुआ तो शत्रु नष्ट हुआ, यह बात स्पष्ट है। अपने तपके प्रभावसे शत्रु प्रतिबंधित होता है और तप न होनेसे शत्रु प्रबल होता है। इस बातका हरएक मनुष्य अनुभव कर सकता है। इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

खांसीको दूर करना।

[सूक्त १०५]

(ऋषिः — उन्मोचनः। देवता — कासा।)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— (यथा आशुमत् मनः) जिस प्रकार शीघ्रगामी मन (मनस्केतैः परा पतति) मनके विषयोंके साथ दूर जाता है, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी आदि रोग! (त्वं मनसः प्रवाय्यं अनु प्र पत) तू मनके प्रवाहके समान दूर भाग जा ॥ १ ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा सुसंशितः बाणः) जिस प्रकार अतितीक्ष्ण बाण (आशुमत् परापतति) शीघ्रतासे दूर जाकर गिरता है (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी ! (त्वं पृथिव्याः संवतं अनु प्र पत) तू पृथ्वीके निम्न स्थलमें गिर जा ॥ २ ॥

(यथा सूर्यस्य रश्मयः) जिस प्रकार सूर्यकिरण (आशुमत् परापतन्ति) वेगसे दूर भागते हैं, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी ! तू (समुद्रस्य विक्षरं अनु प्र पत) समुद्रके प्रवाहके समान दूर गिर जा ॥ ३ ॥

भावार्थ— मन, सूर्यकिरण और बाण इनका वेग बडा है। जिस वेगसे ये जाते हैं, उस वेगसे खांसीकी बीमारी दूर होवे ॥ १-३ ॥

(संभवतः खांसी निवारणका उपाय मनके नीरोग, संकल्प और सूर्यकिरणके संबंधमें होगा।)

घरकी शोभा।

[सूक्त १०६]

(ऋषिः — प्रमोचनः। देवता — दूर्वाशाला।)

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि। शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आयने परायणे) तेरे घरके आगे और पीछे (पुष्पिणीः दूर्वाः रोहन्तु) फूलोंसे युक्त दूर्वा घास उगे। (तत्र वा उत्सः जायतां) और वहां एक हौद हो, (वा पुण्डरीकवान् ह्रदः) अथवा वहां कमलोंवाला तालाब बने ॥ १ ॥

(इदं अपां न्ययनं) यह जलोंका प्रवाहस्थान होवे, (समुद्रस्य निवेशनं) समुद्रके समीपका स्थान हो, (ह्रदस्य मध्ये नः गृहाः) तालावके बीचमें हमारे घर हों, (मुखाः पराचीना कृधि) घरके द्वार परस्पर विरुद्ध दिशामें कर ॥ २ ॥

हे शाले ! (त्वा हिमस्य जरायुणा) तुझे शीतके आवरणसे (परि व्ययामसि) घेरते हैं। (नः शीतह्रदाः भुवः) हमारे लिये शीतल जलवाले तालाब बहुत हों, और हमारे लिये (अग्निः भेषजं कृणोतु) अग्नि शीत निवारणका उपाय करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— घरके आगे और पीछे दूर्वाका उद्यान हो, उसमें बहुत प्रकारके फूल उत्पन्न हों, वहां पानीका हौद हो, और कमलोंवाला तालाब हो ॥ १ ॥

घरके पास जलके प्रवाह चलें, घरका स्थान समुद्रके किनारेपर हो, अथवा तालाबके मध्यमें हो, और घरके दरवाजे या खिडकियां आमने-सामने हों ॥ २ ॥

घरके चारों ओर जल हो, शीत जलके हौद हों, और यदि सर्दी अधिक हुई तो शीतनिवारणके लिये घरमें अग्नि जलानेका स्थान हो ॥ ३ ॥

घरके आसपासकी शोभा कैसी हो, यह इस सूक्तने उत्तम रीतिसे बताया है। घरके चारों ओर बाग हो, कमलोंसे भरपूर तालाब हो, जलके नहर बहें, उद्यान उत्तम हो और चारों ओर रमणीय शोभा बने। ऐसा सुरम्य घरके आसपासका स्थान होना चाहिये। घरके द्वार और खिडकियां आमने सामने हों, जिससे घरमें शुद्ध वायु विना प्रतिबंध आ जाय। घरमें अग्नि जलती रहे। शीत लगने पर घरके लोग अग्निके पास जाकर शीतनिवारणका उपाय करें।

पाठक देखें कि वेदने कैसे उत्तम उद्यानयुक्त घरकी कल्पना दी है। हरएकको अपना घर जहांतक हो सके वहांतक उद्यान और जलसे युक्त करना चाहिये।

अपनी रक्षा।

[सूक्त १०७]

(ऋषिः — शन्तातिः। देवता — विश्वजित्।)

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥
त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥
विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥
कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वजित्) जगत्को जीतनेवाले! (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे। हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति! (नः द्विपात् चतुष्पात् च सर्वं रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और (यत् च नः स्वं) जो अपना धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगत्का विजय करनेवालेके पास दे। हे जगज्जेता! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सबकी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता! (मा कल्याण्यै परि देहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आधीन कर। हे कल्याणि! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि! (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा। हे सर्वज्ञ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्द रक्षणीय वस्तुमात्रको करे। वह रक्षक सबकी यथायोग्य रक्षा करे। रक्षक इन सब पदार्थोंको विश्वविजयीके पास देवे। और वह विश्वविजयी सबकी योग्य रक्षा करे। यह सब रक्षा सबके कल्याणके लिये हो, अर्थात सबकी रक्षासे सबका यथायोग्य उत्तम कल्याण हो। कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विशेष ज्ञानीके पास रहें क्योंकि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है- (१) हरएकको अपने अन्दर रक्षा करनेकी शक्ति बढानी चाहिये। (२) मैं विजय प्राप्त करूंगा ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये (३) सबको अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये यत्न करन चाहिये और (४) ज्ञानीकी संगतिमें सबको लगना चाहिये।

मेधा बुद्धि।

[सूक्त १०८]

(ऋषिः — शौनकः। देवता — मेधा।)

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि। त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥
मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥
यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः। ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥ ३ ॥
यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि। मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (मेधे) मेधाबुद्धि। (त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि) तू हमारे पास प्रथम स्थानमें पूजनीय है। तू (गोभिः अश्वेभिः आ गहि) तू गौओं और घोडों अर्थात् सब धनोंके साथ हमारे पास आ। तथा (त्वं सूर्यस्य रश्मिभिः नः आ गहि) तू सूर्यकिरणोंके साथ हमारे पास आ ॥ १ ॥

(अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं) मैं श्रेष्ठ ज्ञानियोंसे युक्त (ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां) ज्ञानियोंसे सेवित और ऋषियोंद्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकार की गई (मेधां देवानां अवसे हुवे) मेधाबुद्धिकी इंद्रियोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

(ऋभवः यां मेधां विदुः) कारीगर जिस बुद्धिको जानते हैं, (असुराः यां मेधां विदुः) असु अर्थात् प्राणविद्यामें रमनेवाले जिस मेधाको जानते हैं, अथवा असुरोंमें जो बुद्धि है, (यां भद्रां मेधां ऋषयः विदुः) जिस कल्याणकारिणी बुद्धिको ऋषि लोग जानते हैं (तां मयि आ वेशयामसि) वह बुद्धि मेरे अंदर प्रविष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

(भूतकृतः मेधाविनः ऋषयः) पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले बुद्धिमान् ऋषि (यां मेधां विदुः) जिस बुद्धिको जानते हैं, हे अग्ने ! (तया मेधया) उस मेधाबुद्धिसे (अद्य मां मेधाविनं कृणु) आज मुझे बुद्धिमान् कर ॥ ४ ॥

(मेधां सायं) बुद्धिको शामके समय, (मेधां प्रातः) बुद्धिको प्रातःकाल, (मेधां मध्यं दिनं परि) बुद्धिको मध्य दिनके समय (मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः) बुद्धिको सूर्यकी किरणोंसे (वचसा आ वेशयामसि) और उत्तम वचनसे अपने अंदर प्रविष्ट कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— धारणावती बुद्धि सबसे अधिक पूज्य है वह सब प्रकारके धनके साथ हमें प्राप्त हो। यह धारणावती बुद्धि ज्ञानियोंमें रहती है, ऋषि इसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मचारी इसका सेवन करते हैं, इसलिये इसकी प्रशंसा हम करते हैं। कारीगर, ऋषि और असुर जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। बुद्धिमान् ऋषि जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध थे वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। सबेरे, दोपहर, शामको तथा अन्य समय हमारा व्यवहार ऐसा हो कि हमें सद्‌बुद्धि प्राप्त हो और हमें सदुपदेश मिले ॥ १-५ ॥

यह सूक्त बुद्धिकी प्रशंसापर है। मेधाबुद्धि वह है कि जिसको धारणावती बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी मनुष्यकी विशेष योग्यता होती है। लोग ऋषियोंका विशेष सन्मान करते हैं इसका कारण यह है कि उनमें यह बुद्धि थी और रहती है। ब्रह्मचारीगण गुरुके सन्निध रहकर इस बुद्धिकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। यह बुद्धि रहनेसे ही मनुष्य इह परलोकमें उत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है।

कारीगर लोगोंमें एक प्रकारकी धारणाबुद्धि रहती है, असुरोंमें विश्वको जीतनेकी महत्त्वाकांक्षा रहती है, ऋषियोंमें बडी सत्वगुणी बुद्धि रहती है, यह बुद्धि विशेष सब रूपमें हमें प्राप्त हो। विशेष कर बुद्धिमान् ज्ञानी ऋषियोंमें जो विशाल बुद्धि थी वैसी बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रातःकालसे सायंकाल तक अपने प्रयत्नसे यह बुद्धि अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्य ऐसा प्रयत्नवान् हुआ तो वह इस बुद्धिको अवश्य प्राप्त कर सकेगा।

पिप्पली औषधि।

[सूक्त १०९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — पिप्पली।)

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३ुतातिविद्धभेषजी । तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥
पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि । यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥
असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः । वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पिप्पली क्षिप्तभेषजी) पिप्पली औषधी उन्माद रोगकी औषधि है, (उत अतिविद्धभेषजी) और महाव्याधिकी औषधी है, (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने उसको समर्थ बनाया है कि (इयं जीवितवै अलं) यह औषधि जीवनके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

(जननात् अधि आयतीः) जन्मसे आती हुई (पिप्पल्यः समवदन्त) पिप्पली औषधियां बोलती हैं कि, हमको (यं जीवं अश्नवामहै) जिस जीवको खिलाया जावे (सः पुरुषः न रिष्याति) वह पुरुष मरता नहीं ॥ २ ॥

तू (वातीकृतस्य भेषजीं) वात रोगकी औषधी (अथो क्षिप्तस्य भेषजीं) और उन्माद रोगकी औषधी है, उस तुझको (असुराः त्वा न्यखनन्) असुरोंने पहिले खोदा था और (पुनः देवाः त्वा उदवपन्) फिर देवोंने लगाया था ॥ ३ ॥

भावार्थ— पिप्पली औषधी उन्माद और वात अथवा महाव्याधिकी औषधी है। यह एक ही औषधी आरोग्य और दीर्घायुके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

जो रोगी पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगसे दुःखी नहीं होता, यह इस औषधिकी प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

इस वातरोग और उन्मादरोगकी औषधिका पता पहिले असुरोंको लगा, इसलिये इन्होंने इसको भूमीसे उखाडा और पश्चात् देवोंने इसको विशेषरूपसे बढाया ॥ ३ ॥

पिप्पली औषधि

पिप्पली औषधि अकेली ही मनुष्यके आरोग्यके लिये पर्याप्त है, इतना निश्चयपूर्वक कथन प्रथम और द्वितीय मंत्रमें है। जो पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगी नहीं होता यह बात द्वितीय मंत्रमें विशेष रीतिसे कही है। इस विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

> ज्वरघ्नी वृष्या स्निग्धोष्णा कटुतिक्ता दीपनी
> मारुतश्वासकासघ्नी श्लेष्मक्षयघ्नी च। (रा. नि. व. ६)
> मधुना सा मेदोवृद्धिकफश्वासकासज्वरघ्नी
> मेधाग्निवृद्धिकरी च। गुडेन सा जीर्णज्वरा-
> ग्निमान्द्यहरी च। तत्र भागैकं पिप्पल्या भाग-
> द्वयं च गुडस्येति। (भा. प्र. १)

'पिप्पली ज्वरनाशक, वीर्यवर्धक है, मेद-कफ-श्वास-खांसी-ज्वर इनका नाश करती है, बुद्धि और भूखको बढाती है। शहदके साथ भक्षण करनेसे मेद, कफ, श्वास, खांसी और ज्वर दूर करती है, बुद्धि और पाचनशक्ति बढाती है। गुडके साथ भक्षण करनेसे जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य दूर करती है। पिप्पली एक भाग और गुड दो भाग लेना चाहिये।'

इससे पता लगता है कि इस पिप्पलीके सेवनसे कितना लाभ हो सकता है और देखिये—

(१) पिप्पली रसायन- बुद्धिवर्धक है। इस विषयमें चरकका कथन है—

> तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च।
> पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः।
> प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा॥
> (चरक चि. १)

' घीमें भुनी और पलाशके क्षारसे मिश्रित पिप्पलियां शहद और घीके साथ मिलाकर सबेरे तीन और भोजनके पश्चात् तीन खानेसे उत्तम रसायनगुण प्राप्त होता है।' यह रसायन बुद्धिवर्धक है। कमजोर बुद्धिवाले वैद्यकी अनुमतिके साथ इसका प्रयोग करें।

(२) वर्धमानपिप्पलीरसायन— पहिले दिन दस पिप्पली दूधमें कषाय करके सेवन करना, दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस इस प्रकार दस दिन करना पश्चात् दसके अनुपातसे न्यून करके बीस दिन तक सेवन करना। षाष्टिक चावल दूधके साथ खाना, और जितना पचन हो उतना दूध पीना और घी भी खाना। यह उत्तम मात्रा है, जो अशक्त हैं वे छः या तीनके अनुपातसे भी सेवन कर सकते हैं। इसके गुण बहुत हैं। मनुष्य सुदृढांग बन सकता है। परन्तु ये सब प्रयोग उत्तम वैद्यकी अनुकूलतामें ही करना चाहिये। अन्यथा हानिकी संभावना रहेगी।

नवजात बालक।

[सूक्त ११०]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्निः।)

प्रत्नो हि कमीड्यो॑ अध्वरेषु॑ सनाच्च॒ होता॒ नव्य॑श्च॒ सत्सि॑।
स्वां चा॑ग्ने त॒न्वं॑ पि॒प्राय॑स्वा॒स्मभ्यं॑ च॒ सौभ॑ग॒मा य॑जस्व ॥ १ ॥
ज्ये॒ष्ठ॒घ्न्यां जा॒तो वि॒चृतो॑र्य॒मस्य॑ मूल॒बर्ह॑णा॒त् परि॑ पाह्येनम्।
अत्ये॑नं नेषद् दुरि॒तानि॒ विश्वा॑ दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥
व्या॒घ्रेह्न्य॑जनिष्ट वी॒रो न॑क्षत्र॒जा जाय॑मानः सु॒वीरः॑।
स मा व॑धीत् पि॒तरं॒ वर्ध॑मानो॒ मा मा॒तरं॒ प्र मि॑नी॒ज्जनि॑त्रीम् ॥ ३ ॥

अर्थ— तू (प्रत्नः हि अध्वरेषु कं ईड्यः) पुरातन और यज्ञोंमें सुखसे स्तुति करने योग्य (सनात् च होता) सनातन कालसे दाता और (नव्यः च सत्सि) नवीन जैसा सर्वत्र विद्यमान है। हे अग्ने! तू (स्वां तन्वं अस्मभ्यं पिप्रायस्व) अपने शरीर रूपी इस ब्रह्माण्डको हमें पूर्णरूपसे दे। और (सौभगं आ यजस्व) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर ॥१॥

(ज्येष्ठ-घ्न्यां जातः) ज्येष्ठका नाश करनेवालीमें यह उत्पन्न हुआ है। (वि-चृतोः यमस्य मूलबर्हणात् एनं परि पाहि) विशेष हिंसक यमके मूलछेदनसे इसकी रक्षा कर। (विश्वा दुरितानि एनं अति नेषत्) सब दुःखोंसे इसे पार करा और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये इसको पहुंचा ॥ २ ॥

(व्याघ्रे अह्नि) क्रूर दिनमें (वीरः अजनिष्ट) वीर पुत्र उत्पन्न हुआ है, (नक्षत्र-जाः जायमानः सुवीरः) योग्य नक्षत्रके समय उत्पन्न हुआ यह उत्तम वीर है। (सः वर्धमानः पितरं मा वधीत्) वह बढता हुआ पिताको न मारे, (जनित्रीं मातरं च मा प्र मिनीत्) उत्पादक माताको भी दुःख न दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वर पुरातन, पूजनीय, सुख देनेवाला, और नवीन जैसा सर्वत्र वर्तमान है। यह जगत् उसका शरीर है, वह हमें उससे सुख प्रदान करता है और ऐश्वर्य भी देता है ॥ १ ॥

जिस स्त्रीकी पहिली संतान मरती है उस स्त्रीका यह पुत्र है, मानो यमके द्वारमें ही यह है, इसलिये नाल छेदनके समयसे ही इसकी रक्षा करो, इसके सब कष्ट दूर हों और यह दीर्घायु हो ॥ २ ॥

चाहे किसी भी अनिष्ट समयमें यह लडका उत्पन्न क्यों न हुआ हो, यह उत्पन्न होनेके बाद उत्तम वीर बने, और बढता हुआ अपने माता पिताको कोई क्लेश न पहुंचावे ॥ ३ ॥

[यह सूक्त थोडासा क्लिष्ट है। इसके सत्य अर्थकी खोज विशेष करनी चाहिये। अभीतक इसके ठीक अर्थका निश्चय नहीं हुआ है।]

मुक्तिका अधिकारी।

[सूक्त १११]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — अग्निः।)

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥
अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्। कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥ २ ॥
देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥ ३ ॥
पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽससि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः बद्धः सुयतः लालपीति) जो बद्ध मनुष्य उत्तम बद्ध होनेके कारण बहुतसा आक्रोश करता है, (मे इमं पुरुषं मुमुग्धि) मेरे इस पुरुषको मुक्त कर। (यदा) जब मनुष्य (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित होता है (अतः ते भागधेयं अधि कृणवत्) तब तेरा भाग्य सब प्रकारसे होगा ॥ १ ॥

(अग्निः ते निशमयतु) तेजस्वी देव तेरे अन्दर शान्ति उत्पन्न करे (यदि ते मनः उद्युतं) यदि तेरा मन उखड गया है। (यथा अनुन्मदितः अससि) जिससे तू उन्मादरहित होगा, (भेषजं विद्वान् कृणोमि) वैसा औषध जानता हुआ मैं वैसा करता हूं ॥ २ ॥

(देव-एनसात् उन्मदितं) देवसंबंधी पापसे उन्माद हुआ हो (राक्षसः परि उन्मत्तं) राक्षसके पापसे उन्माद हुआ हो, (विद्वान् भेषजं कृणोमि) मैं जानता हुआ औषध करता हूं (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्माद-रहित हो ॥ ३ ॥

(अप्सरसः त्वा पुनः दुः) अप्सरोंने तुझे पुनः दिया है, (इन्द्रः पुनः, भगः पुनः) इन्द्र और भगने तुम्हें पुनः दिया है। (विश्वे देवाः त्वा पुनः अदुः) विश्वे देवोंने तुझे फिर दिया है, (यथा अनुन्मदितः अससि) जिससे तू उन्मादरहित हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो बद्ध है और बंधमुक्त होनेके लिये आक्रोश करता है, उसकी मुक्तता होती है। जो उन्मत्त नहीं बनता उसका भाग्य उदय होता है ॥ १ ॥

जिसका मन उदास हुआ है उसको परमेश्वर ही शान्ति देगा। जो उन्मत्त नहीं होता है उसकी उन्नतिके लिये उपाय हो सकता है ॥ २ ॥

देवी और राक्षसी पाप करनेके कारण जो उन्मत्त होते हैं, उनका उपाय करके उन्मादको दूर किया जा सकता है ॥ ३ ॥

अप्सरा, इन्द्र, भग और सब इतर देव इनकी सहायतासे इस रोगीको पुनः आरोग्य प्राप्त हुआ है। अर्थात् इसका उन्माद दूर हुआ है ॥ ४ ॥

मुक्त कौन होता है ?

जो मनुष्य बद्ध होनेकी अवस्थामें बद्धतासे त्रस्त हुआ होता है, और मुक्त होनेके लिये तडपता है, आक्रोश करता है और बद्धतासे पूर्ण असमाधान व्यक्त करता है, वह मुक्तिका अधिकारी है, देखिये—

यः सुयतः बद्धः लालपीति, इमं पुरुषं मुमुग्धि। (मं. १)

'जो उत्तम रीतिसे बद्ध हुआ मनुष्य आक्रोश करता है, उस पुरुषको मुक्त कर' जो बद्ध अवस्थामें संतुष्ट रहते हैं उनकी मुक्तता नहीं होती। क्योंकि वे जन्मसे ही गुलाम हैं और गुलामीमें रहनेके लिये सिद्ध हैं और गुलाम रहनेमें आनन्द मानते हैं अथवा कई तो अपनी गुलामी सुदृढ होनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं। ऐसे लोग तो सदा गुलामीमें रहेंगे ही। गुलामीसे मुक्त वे होंगे कि जो गुलामीमें रहना नहीं चाहते

और मुक्त होनेके लिये तडफते हैं और गुलामीसे छूट जानेके लिये महाआक्रोश करते हैं। 'मैं गुलामीसे संतप्त हूं, मैं इसके बाद गुलामीमें रहना नहीं चाहता, देवो! मुझे बन्धन तोडनेमें सहायता देओ, मैं मर जाऊंगा परंतु गुलामीमें नहीं रहूंगा' इस प्रकार आक्रोश द्वारा जो अपने मनके भाव व्यक्त करता है वह मुक्तिका अधिकारी है। इस प्रकार आक्रोश करता हुआ भी जो प्रमाद करेगा वह मुक्त नहीं होगा, परंतु प्रमाद-रहित होकर यत्न करेगा वही मुक्त होगा, इस विषयमें मंत्रका उपदेश देखिये—

यदा अनुन्मदितः असति, अतः भागधेयं अधि कृणवत्। (मं. १)

'जब उन्मत्त नहीं होता, तब पश्चात् उसका दैव उदय होता है' अर्थात् केवल गुलामीके विरुद्ध मनके भाव प्रकट करनेसे ही कार्य नहीं होगा, गुलामीसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि पागल बनेगा और अयोग्य वर्तन करेगा, तो उससे उसका लाभ नहीं होगा। अतः उसे उन्मत्त अथवा प्रमादी बनना नहीं चाहिये, प्रत्युत दक्ष और योग्य दिशासे स्वकर्तव्यतत्पर होना चाहिये, तभी उसका भाग्य उदयको प्राप्त हो सकता है। बंधसे मुक्त होनेकी आतुरता, मनके भाव स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करनेका धैर्य, दक्षतासे स्वकर्तव्य करना ये तीन साधन करनेके पश्चात् उसका भाग्य उदय होने लगता है।

सामान्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके ये उपाय हैं। यह मुक्ति आध्यात्मिक हो, राजकीय हो, सामाजिक हो, या रोगोंसे मुक्ति हो, ये नियम सब मुक्तियोंके लिये सामान्य हैं।

मन उखड जानेपर।

मुक्तिका पथ बडा कठिन है, किसी समय सिद्धि मिलती है और किसी समय उलटी हानि भी होती है। हानिके समय मन उखड जाता है, उदास होता है, किंकर्तव्यतामूढ होता है, उस समय—

यदि ते मनः उद्युतं, अग्निः नि शमयतु। (मं. २)

'यदि तेरा मन उखड गया हो, तो तेजस्वी देव तुझे शान्ति देवे।' उस समय मुक्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रभुकी प्रार्थना करे, प्रभुसे शान्ति प्राप्त होगी। मन कितना भी दुःखी हुआ हो प्रभुकी शरणमें जानेसे उसे शान्ति प्राप्त होगी। अतः मुक्तिकी इच्छा करनेवाले लोग उदासीनताके समय प्रभुकी शरण लें, अथवा कभी उदासीनता न आ जाय इस लिये प्रतिदिन उसकी भक्ति करें। इससे मन शान्त रहेगा, प्रमाद नहीं होंगे और उन्नतिका मार्ग सीधा खुला होगा।

पापके दो भेद।

पापके दो भेद हैं, एक देवोंके संबंधके पाप और दूसरे राक्षसोंके कारण होनेवाले पाप। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, औषधि आदि अनेक देवताएं हैं, इनके विषयमें पाप मनुष्य करते हैं, भूमिका अपहरण, जलका बिगाड करना, वायुको दोषी बनाना आदि जो हैं वे सब देवोंके संबंधमें पाप हैं। इन पापोंसे दोष होते हैं और मनुष्य प्रमाद करते हैं और दुःख भोगते हैं। दंभ, दर्प, अभिमान आदि राक्षसी भाव हैं, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है और दोषी होकर दुःख भोगता है। ये दो प्रकारके पाप हैं, मनुष्य इन दोनों प्रकारके पापोंसे अपने आपको बचावे, यह आदेश देनेके लिये निम्नलिखित मंत्रभाग है—

देव-एनसात् उन्मदितं, रक्षसस्परि उन्मत्तम्।
भेषजं कृणोमि यदा अनुन्मदितः असति॥ (मं. ३)

'देवताओंके संबंधके पापसे जो दोष हुआ है, और राक्षसोंके पापसे जो दोष हुआ है, उनको दूर करनेके लिये मैं उपाय करता हूं, जिससे तू उन्मादरहित होगा।' इस मंत्रका भाव अब पाठकोंके ध्यानमें आ गया होगा। ये दो प्रकारके दोष दूर होनेसे ही मनुष्यका भाग्य उदय होता है और उसके बंधन दूर हो सकते हैं, तथा मुक्ति भी उसको मिल सकती है।

अन्तिम मंत्रका भाव यह है कि जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार निर्दोष होता है, उसकी सब देवगण सहायता करते हैं और वह प्रमादरहित होता है।

यह सूक्त कुछ क्लिष्टसा है, तथापि इस दर्शायी हुई रीतिसे विचार करनेपर यह सूक्त कुछ अंशमें सुबोध हो सकता है।



पाशोंसे मुक्तता ।

[सूक्त ११२]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

मा ज्येष्ठं वधीदुयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥
उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥
येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने (अयं ज्येष्ठं मा वधीत्) यह बडे भाईका वध न करे । (एषां मूलबर्हणात् एनं परि पाहि) इनके मूल विच्छेदसे इसकी रक्षा कर । (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (विश्वे देवाः तुभ्यं अनु जानन्तु) सब देव तुझे अनुमति देवें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (त्वं पाशान् उन्मुञ्च) तू पाशोंको खोल (येभिः त्रिभिः एषां त्रयः उत्सिताः आसन्) जिन तीनोंसे इनके तीन बन्धनमें पडे हैं । (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (पितापुत्रौ मातरं सर्वान् मुञ्च) पिता, पुत्र और माता इन सबको छोड ॥ २ ॥

(येभिः पाशैः परिवित्तः विबद्धः) जिन पाशोंसे जेठे भाईके पूर्व विवाह करनेवाला बांधा गया है, (अंगे अंगे आर्पितः उत्सितः च) हरएक अंगमें जकडा और बांधा है, (ते विमुच्यन्तां) वे तेरे पाश खुल जांय (हि विमुचः सन्ति) क्योंकि वे खुले हुए हैं । हे (पूषन्) पोषक देव ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघात करनेवाला अंदर विद्यमान पाप दूर कर ॥ ३

भावार्थ-- छोटा भाई बडे भाईके नाशके लिये प्रवृत्त न होवे, किसीका मूल उच्छिन्न न होवे । रोग जडसे दूर हों और सब देवताओंकी अनुकूलता होवे ॥ १ ॥

सब बंधन करनेवाले पाश तोड दे । तीन गुणोंसे तीन लोग बांधे गये हैं । रोग जडसे दूर हों और माता, पिता और पुत्र कष्टोंसे बचें ॥ २ ॥

जिन कमजोरियोंके कारण बडे भाईके पूर्व ही छोटा भाई शादी करता है, वे लोभके पाश हरएक अवयवमें बंधे हैं । वे पाश खुले हों और गर्भघात आदि प्रकारके सब दोष दूर हों ॥ ३ ॥

सूक्त ११० के सदृश यह सूक्त है अतः उसके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें । गृह सुख बढानेके उत्तम आदेश इस सूक्तमें हैं ।

ज्ञानसे पापको दूर करना।

[सूक्त ११३]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — पूषा ।)

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मनुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ ३ ॥

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (देवाः एतत् एनः त्रिते अमृजत) देवोंने-इंद्रियोंने-यह पाप त्रितमें-मनमें-रखा और उसने (एनत् मनुष्येषु ममृजे) यह मनुष्योंमें रखा है (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकड रखा हो, तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरी उस पीडाको ज्ञानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी ! (मरीचीः धूमान् प्रविश) सूर्यकिरणोंमें या धुंएमें घुस जा अथवा (उदारान् अनु गच्छ) ऊपर आये भापमें अनुकूलतासे जा, (उत वा नीहारान्) अथवा कुहरमें लीन हो। (नदीनां तान् फेनान् अनु वि नश्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघातकीमें पापोंको रख ॥ २ ॥

(त्रितस्य अपमृष्टं द्वादशधा निहितं) त्रितका धोया हुआ पाप बारह प्रकारसे रखा है। यह (मनुष्य-एनसानि) मनुष्यके पाप हैं। (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकडा हो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे उस रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप मनुष्यमें व्यक्त होता है। यदि इससे विविध रोग हुए तब ज्ञानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सूर्यकिरण, अन्धेरा, कुहरा, अथवा दूसरे स्थान कहां भी पापी गया तो उसका पाप दूर नहीं होता। उसका जितना पाप होता है उतना सब गर्भघातकीमें रहता है ॥ २ ॥

मनका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है वह मनुष्योंमें रहता है। उससे विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपाय करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाते हैं वे सब संस्काररूपसे मनमें जमा होते हैं। उन पापोंका परिणाम मनुष्यशरीरमें रोगोंके रूपमें दिखाई देता है। ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते। सबसे अधिक पाप गर्भका घात करनेसे होता है। इनसे पापोंको दूर करना हो तो ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं।

॥ यहां एकादश अनुवाक समाप्त ॥

यज्ञका सत्य फल।

[सूक्त ११४]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — विश्वेदेवाः।)

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः। यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥
मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः। अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवासः) देवो! (वयं देवासः यत् देवहेडनं चकृम) हम स्वयं देवी शक्तिसे युक्त होते हुए भी जो देवोंका अनादर करते हैं, हे (आदित्याः) आदित्यो! (यूयं तस्मात् नः ऋतस्य ऋतेन मुञ्चत) तुम सब उससे हमें यज्ञके सत्य द्वारा छुडाओ ॥ १ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो! हे (यजत्राः) याजको! हे (यज्ञवाहसः) यज्ञ चलानेवालो! (यत् यज्ञं शिक्षन्तः न उपशेकिम) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करते हुए उसको यथावत् न कर सकें (नः ऋतस्य ऋतेन इह मुञ्चत) हमें यज्ञके सत्यद्वारा यहां मुक्त करो ॥ २ ॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवो! (वः शिक्षन्तः अकामाः न उपशेकिम) आपसे शिक्षा प्राप्त करते हुए हम विफल होकर यदि उसे पूर्ण न कर सकें, तो भी (मेदस्वता स्रुचा आज्यानि जुह्वतः) घृतयुक्त चमससे घीका हवन करते हुए हम (यजमानाः) यजमान तो हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवोंके संबन्धमें जो तिरस्कार कभी-कभी हमसे होता हो, तो उस पापसे हम यज्ञके सत्य फलके द्वारा मुक्त हों ॥ १ ॥

हम अपनी ओरसे सांग यज्ञकी तैयारी करते हैं तथापि उसमें जो त्रुटि होती है तो उस पापसे हम यज्ञके सत्यफलद्वारा मुक्त हों ॥ २ ॥

हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेपर भी जो दोष हमसे होता है उसका निवारण यज्ञमें जो घृतकी आहुतियां हम देते हैं, उससे हो और हम उत्तम यज्ञकर्ता बनें ॥ ३ ॥

मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी अनेक दोष उसमें होते हैं, सत्ययज्ञसे ही वे दोष दूर हो सकते हैं। यज्ञ करनेका भाव यह है कि जनताकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना। यह यज्ञ सब दोषोंको दूर कर सकता है।

पापसे बचना।

[सूक्त ११५]

(ऋषिः — ब्रह्मा। देवता — विश्वेदेवाः।)

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्। यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् विद्वांसः यद् अविद्वांसः) जो जानते हुए अथवा न जानते हुए (वयं एनांसि चकृम) हम पाप करें, हे (विश्वेदेवाः) सब देवो! (यूयं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत) आप एक मतसे उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योकरम् । भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥
द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३॥

अर्थ— (यदि जाग्रत् यदि स्वपन्) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एनस्यः एनः अकरं) मैं पापी होकर भी पाप करूं, तो (द्रुपदात् इव) खूंटेसे पशुको जैसा छोडकर मुक्त करते हैं उस प्रकार (भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्यकालका जो पाप है उससे मुझे छुडाओ ॥ १ ॥

(द्रुपदाद् इव मुमुचानः) जिस प्रकार पशु बंधनस्तंभसे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव) जैसे मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) अथवा जैसे छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार (विश्वे मा एनसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप हमसे हो उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मुझसे हो, वह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे स्तंभसे पशु छूट जाता है, शरीरसे स्नानकेद्वारा मल दूर होता है और जैसे छाननेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊंगा ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार।

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबंधशुद्धि। इसके तीन उदाहरण तृतीय मंत्रमें दिये हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि— (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे जिस प्रकार घी शुद्ध होता है। घी छानते हैं, उससे घीके अंदरके मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणके मल दूर करने चाहिये। यह अन्तःशुद्धि है।

२ बहिःशुद्धि— (मलात् स्नात्वा स्विन्न इव) जैसे शरीरपर लगे हुए मलकी स्नान करनेसे शुद्धता होती है। यह बहिःशुद्धि है। मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है।

३ संबंधशुद्धि— (द्रुपदात् मुमुचानः इव) स्तंभके बंधनसे जैसे पशुको छुडाते हैं अथवा फल परिपक्व होनेसे जिस प्रकार वह वृक्षसे छूट जाता है। उस प्रकार संबंधके लोभसे मुक्त होना। यह संबंधशुद्धि है।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं। मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है। मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना-सहना पवित्र रखे, तथा अपनी अन्तःशुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे। इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जागता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये। परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सत्संग और आत्मशुद्धिका प्रयत्न करनेसे पापसे छूटना संभव है।

यह सूक्त विशेष महत्वका है। पाठक इसका अधिक विचार करें और सब प्रकारसे शुद्धता प्राप्त करनेका प्रयत्न करें।

अन्नभाग।

[सूक्त ११६]

(ऋषिः — जाटिकायनः। देवता — विवस्वान्।)

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

अर्थ— (अग्रे कार्षीवणाः निखनन्तः) पहिले कृषी करनेवाले लोग भूमिको खोदते हुए (विद्यया अन्नविदः न) ज्ञानसे अन्न प्राप्त करनेवालोंके समान (यत् यामं चक्रुः) जो नियम करते रहे, (तत् वैवस्वते राजनि जुहोमि) उनको वैवस्वत अर्थात् बसानेवाले राजामें समर्पित करता हूं। (अथ नः यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु) अब हमारा यजनीय अन्न मधुर होवे ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥
यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैवस्वतः भागधेयं कृणवत्) सबको बसानेवाला राजा सबको अन्नका विभाग करे, (मधुभागः मधुना सं सृजाति) अन्नका मधुर भाग और मीठेके साथ युक्त करता है। (मातुः इषितं यत् एनः नः आगन्) माताके प्रेरित हुआ जो पाप हमारे पास आगया है, (यत् वा अपराद्धः पिता जिहीडे) अथवा जो हमारे अपराधसे पिताके क्रोधसे हुआ है ॥ २ ॥

(यदि मातुः यदि वा पितुः) यदि मातासे और पितासे (भ्रातुः पुत्रात्) भाईसे और पुत्रसे (इदं एनः नः चेतसः परि आगन्) यह पाप हमारे चित्तके पास आगया है, (यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते) जितने पितर हमसे संबंधित हैं, (तेषां सर्वेषां मन्युः शिवः अस्तु) उन सबका क्रोध हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रारंभमें खेती करनेवाले किसानोंने जो नियम बनाये, वेही राजाके पास संमत हुए, उनके पालनसे सबको अन्न मीठा लगने लगा और यज्ञके लिये भी समर्पित होने लगा ॥ १ ॥

राजाने भूमिसे उत्पन्न हुए अन्नका योग्य भाग बनाया, उसको अधिक मधुर मानकर लोग सेवन करते हैं। उसी प्रकार मातासे और पितासे भी हमारे पास अन्न भाग आता है, उसका भी हम वैसा ही सेवन किया करें ॥ २ ॥

माता, पिता, भाई, पुत्र इनसे हमारे पास जो भाग आता है, यदि उसके साथ उनका क्रोध भी हुआ हो, तो वह हमारे कल्याणके लिये ही होवे ॥ ३ ॥

प्रजाकी संमति ।

खेती करनेवाले सब प्रजाजन स्वसंमतिसे आपसके बर्तावके नियम करें, सब प्रजा द्वारा एकमतसे बनाये नियम राजा माने और उनके अनुसार राज्यशासन करे। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाका उत्तम कल्याण होगा और सबको अन्नका स्वाद अधिक मिलेगा। राजा अन्नका योग्य भाग करके सबसे लेवे और प्रजामें भी योग्य भाग बांट देवे। जो जिसको प्राप्त हो उसमें वह संतुष्ट रहकर उसका भोग आनंदके साथ करे और कोई किसी दूसरेके भागका अन्यायसे हरण न करे। मातापिता आदिका जो दायभाग आता है उसी प्रकार उनका क्रोध भी आया, तब भी उससे संतानका कभी अहित नहीं होगा, क्योंकि उसमें माता पिताका प्रेम रहनेके कारण उससे संतानका हित ही होगा ॥

ऋणरहित होना ।

[सूक्त ११७]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् अपमित्यं अप्रतीत्तं अस्मि) जो वापस करने योग्य परंतु वापस न करनेके कारण मैं ऋणी रहा हूं, और (यमस्य येन बलिना चरामि) नियन्ताके वशमें जिस ऋणके बलसे पहुंचा हूं, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणः भवामि) अब मैं उस ऋणको चुकाकर ऋणरहित हो जाऊं, (त्वं सर्वान् विचृतान् पाशान् वेत्थ) तू सब ऋणके खुले हुए पाशोंको जानता है ॥ १ ॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥
अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

अर्थ— (इह इव सन्तः एनत् प्रति दद्म) यहांही रहते हुए इस ऋणको चुका देते हैं, (जीवाः जीवेभ्यः एनत् निहरामः) इसी जीवनमें अन्य जीवोंके इस ऋणको हम निःशेष करते हैं। (यत् धान्यं अपमित्य अहं जघस) जो धान्य उधार लेकर खाया है, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणः भवामि) यह वह हूं और इस रीतिसे मैं ऋणरहित होता हूं ॥२॥

(अस्मिन् लोके अनृणाः) इस लोकमें हम ऋणरहित हो जांय, (परस्मिन् अनृणाः) परलोकमें ऋणरहित हो जांय, और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तृतीय लोकमें भी हम ऋणरहित हो जांय; (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयानके लोक हैं, (सर्वान् पथः अनृणाः आक्षियेम) इन सब मार्गोंमें हम ऋणरहित होकर रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो कर्जा लिया होता है वह समयपर वापस करना चाहिये। यदि वापस न किया जाय तो ऋण लेनेवाला दोषी होता है। इस दोषसे मुक्त होनेके लिये शीघ्र ऋणमुक्त होनेका यत्न करना चाहिये। सब अपने पाश तोडकर पहिले ऋणमुक्त होना योग्य है ॥ १ ॥

इस संसारमें जीवित रहनेतक ही अपने कर्जासे मुक्त होना चाहिये, अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्जा अपने बाल बच्चोंके लिये छोडना उचित नहीं। धान्यका कर्जा हो अथवा धन आदिका हो उसको शीघ्र वापस करना चाहिये।

इस लोकका ऋण दूर करना चाहिये, परलोकके ऋणसे मुक्त होना चाहिये, और अन्य ऋणोंसे भी मुक्त होना चाहिये। देवयान और पितृयाणके सब स्थानोंमें ऋणरहित होना योग्य है ॥ ३ ॥

मनुष्यको सब प्रकारके ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये। ऋणी रहकर मरना योग्य नहीं है। यह सूक्त सुबोध है, इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः ।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ १ ॥

अर्थ— (अक्षाणां गत्नुं उप लिप्समानाः) जुएके स्थानके प्रति जानेकी इच्छा करनेवाले हम (यत् हस्ताभ्यां किल्बिषाणि चकृम) जो हाथोंसे अनेक पाप करते हैं। (तत् नः ऋणं अद्य) वह हमारा ऋण आज (उग्रंपश्ये उग्रजितौ अप्सरसौ अनुदत्तां) उग्रतासे देखनेवाली और उग्रतासे जीतनेवाली दोनों अप्सराएं हमसे दिलावें ॥ १ ॥

भावार्थ— जुएके स्थानपर जाकर जो पाप किया जाता है और अन्यत्र जो पाप होता है, उसी प्रकार जो हम ऋण करते हैं, उस सबको दूर करना चाहिये ॥ १ ॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदुक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत् ।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥
यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः ।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥ ३ ॥

अर्थ– हे (उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्) उग्रतासे देखनेवाली और हे राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाली ! (यत् अक्षवृत्तं) जो जुएबाजीका पाप है और जो (किल्बिषाणि) अन्य पाप हैं, (नः एतत् अनु दत्तं) हमसे यह सब बदला दिया हुआ है। (ऋणात् ऋणं न एर्त्समानः) ऋणीसे ऋणको वापस न प्राप्त करनेपर ऋण देनेवाला (अधिरज्जुः यमस्य लोके नः आयत्) रस्सी लेकर यमके लोकमें हमारे पास आवेगा ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यस्मै ऋणं) जिसको ऋण वापस करना है, (यस्य जायां उपैमि) जिसकी स्त्रीके पास सहाय्य याचनार्थ जाता हूं तथा (यं याचमानः अभ्येमि) जिसके पास याचना करता हुआ पहुंचता हूं, (ते मत् उत्तरां वाचं मा वादिषुः) वे मुझसे अधिक कठोर भाषण न करें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) देवपत्नी अप्सराओ ! (अधीतं) स्मरण रखो यह मेरी प्रार्थना ॥ ३ ॥

भावार्थ– जुएका पाप, अन्य पाप और ऋण यदि दूर न किया जाए तो हमें बंधनमें जाना पडेगा ॥ २ ॥
जिससे ऋण लिया है अथवा जिससे कुछ याचनाकी है, वह हमें दुरुत्तर न बोले, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ३ ॥

[ये मंत्र कुछ अंशमें संदिग्ध हैं, इसलिये इनके विषयमें विशेष स्पष्टीकरण करना असंभव है। क्योंकि इनके कई शब्दोंका संबंध स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता।]

[सूक्त ११९]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ २ ॥

अर्थ-- (यत् अहं अदीव्यन्) जो मैं जुआ न खेलता हुआ (ऋणं) ऋण करूं, (उत अदास्यन् संगृणामि) और उसको न चुकाता हुआ चुकानेकी प्रतिज्ञा करता जाऊं, हे अग्ने ! (वैश्वानरः वसिष्ठः अधिपाः) विश्वका नेता सबको बसानेवाला अधिपति (नः सुकृतस्य लोकं इत् उन्नयाति) हमें पुण्यलोकमें जाने योग्य ऊपर उठावे ॥ १ ॥

(वैश्वानराय यत् ऋणं प्रतिवेदयामि) विश्वके नेताको मैं जो ऋण है वह कहूंगा, तथा (देवतासु यः संगरः) देवताओंमें जो प्रतिज्ञा हुई है, वह भी मैं कहूंगा। (सः एतान् सर्वान् पाशान् विचृतं वेद) वह इन सब पाशोंको खोलनेकी विधि जानता है। (अथ पक्वेन सह संभवेम) अब हम परिपक्कके साथ मिल जांय ॥ २ ॥

भावार्थ-- जुआ न खेलता हुआ अन्य कारणसे जो ऋणमें करता हूं, और उसको समयपर वापस न करता हुआ वापस करनेकी प्रतिज्ञा करता रहता हूं, उस दोषसे बचावे और ईश्वर मुझे ऊपर उठावे और पुण्य लोकमें पहूंचावे ॥ १ ॥

जो ऋण मैंने किया और उस संबंधमें जो प्रतिज्ञाएं मैंनेकी उन सबको मैं निवेदन करता हूं। इस प्रकारके पापोंसे ईश्वर मेरा बचाव करे, क्योंकि वही इन बंधनोंसे दूर करके हमें ऊपर उठानेके उपाय जानता है। हम परिपक्क हुए ज्ञानियोंके साथ रहें, जिससे हमसे दोष नहीं होंगे ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

अर्थ— (पविता वैश्वानरः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला विश्वका नेता मुझे पवित्र करे। (यत् संगरं आशां अभिधावामि) जिस प्रतिज्ञाको करता हुआ जिस आशाके पीछे मैं दौडता हूं, (अनाजानन् मनसा याचमानः) न जानता हुआ तथापि मनसे याचना करता हुआ (तत्र यत् एनः) वहां जो पाप होता है (तत् अप सुवामि) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वर सबको पवित्र करनेवाला है, वह मुझे पवित्र करे। जिस आशाके पीछे पडकर मैं वारवार याचना करता हूं; वह सब पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तका भाव स्पष्ट है। ऋण मोचनके ये सब सूक्त यही उपदेश विशेषतया करते हैं कि कोई मनुष्य ऋण न करे, और यदि करे तो उसको ठीक समयपर वापस करे। वृथा असत्य प्रतिज्ञाएं करते न रहे। इत्यादि बोध इन सूक्तोंसे साराशरूपसे प्राप्त होता है।

मातापिताकी सेवा करो।

[सूक्त १२०]

(ऋषिः — कौशिकः। देवता — मन्त्रोक्ताः।)

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् अन्तरिक्षं पृथिवीं उत द्यां) यदि हम अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोककी तथा (यत् मातरं पितरं वा जिहिंसिम) यदि हम माता और पिताकी हिंसा करें, (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह हमारा गार्हपत्य अग्नि (नः तस्मात् इत् सुकृतस्य लोकं उन्नयाति) हमें उस पापसे उठा कर पुण्यलोकमें पहुंचावे ॥ १ ॥

(अदितिः भूमिः माता नः जनित्रं) अदीन मातृभूमि हमारी जननी है। (अन्तरिक्षं भ्राता) अन्तरिक्ष हमारा भाई है और (द्यौः नः पिता) द्युलोक हमारा पिता है। वह (अभिशस्त्याः नः शं भवाति) विपत्तिसे हमें बचाकर कल्याणदायी होवे (जामिं ऋत्वा पित्र्यात् लोकात्) संबंधीको प्राप्त कर पितृलोकसे (मा अवपत्सि) मत गिर जा ॥ २ ॥

भावार्थ— इस संपूर्ण जगत्में हम कहीं भी हों, यदि हम वहां अपने मातापिताको कष्ट पहुंचाएं, तो तेजस्वी देव हमें उस पापसे मुक्त करे और पुण्यलोकमें जाने योग्य पवित्र हमें बनावे ॥ १ ॥

हमारी माता यह भूमि है और हमारा पिता यह द्युलोक है, अन्तरिक्ष हमारा भाई है। इस प्रकार जगत्से हमारा संबंध है। यह सब जगत् हमारा कल्याण करे और हमें विपत्तिसे बचावे। कोई ऐसा संबंधी न होवे कि जिसके कारण हमें पितृलोकसे गिरना पडे ॥ २ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्र सुहार्दः सुकृतः) जहां उत्तम हृदयवाले पुण्यकर्ता पुरुष (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरसे रोगको दूर करके (मदन्ति) आनंदित होते हैं, (अंगैः अश्लोणाः अह्रुताः) अंगोंसे अविकल और अकुटिल होकर (तत्र स्वर्गे पितरौ च पुत्रान् पश्येम) उस स्वर्गमें पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जहां शारीरिक रोग नहीं होते और जहां हृदयके उत्तम भावसे पुण्यकरनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, वहां हम पहुंचें और सुदृढ अंगोंसे रहें और अपने पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

कोई मनुष्य अपने मातापिताको किसी प्रकारका कष्ट न देवे । मातापिताको कष्ट देनेवाले गिरते हैं । परंतु जो मातापिताको सुख देता है वह ऐसे श्रेष्ठ लोकमें पहुंचता है कि जहां कभी रोग नहीं होते और शरीर स्वस्थ रहता है । इसलिये हरएक मनुष्य अपने मातापिताकी सेवा करे और उनको सुख देवे ।

बंधनसे छूटना ।

[सूक्त १२१]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥
उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ये अधमाः उत्तमाः ये वारुणाः) जो अधम और उत्तम वरुण देवके पाश हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अधि विष्य) पाशोंको तोडता हुआ हमसे उन पाशोंको दूर कर । (दुष्वप्न्यं दुरितं अस्मत् नि ष्व) बुरे स्वप्न और पाप हमसे दूर कर । (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) अब हम पुण्यलोकमें जावें ॥ १ ॥

(यत् दारुणि यत् च रज्ज्वां बध्यसे) जो काष्ठस्तंभमें और रस्सीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें और (यत् च वाचा बध्यसे) जो वाणीसे बांधा जाता है, (तस्मात्) उस बंधनसे (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (नः सुकृतस्य लोकं इत् उत् नयाति) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

(भगवती विचृतौ नाम तारके) भाग्यवान् छुडानेवाली और तारण करनेवाली दो देवताएं (उदगातां) उदयको प्राप्त हुई हैं । ये दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृतका भाग देवें जिससे यह जीव (बद्धक-मोचनं प्रैतु) बद्ध अवस्थामें छूटनेका साधन प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— निम्नस्थान, मध्यस्थान और उत्तमस्थान पर जो पाश हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न कर मनुष्य पापरहित होवे और उसका चिन्ह उत्तम स्वप्न आना उसके अनुभवमें आजावे । इस प्रकार वह निर्दोष होकर पुण्यलोकको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

जो अनेक प्रकारके बंधन हैं वे सब ईश्वरकी कृपासे दूर हो जांय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥

बंधनसे मुक्त करनेवाली और रक्षा करनेवाली दो शक्तियां हमें अमृतका भाग देवें, जिससे हम बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जांय ॥ ३ ॥

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— (विजिहीष्व) विशेष प्रगति कर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना। (योन्याः प्रच्युतः गर्भ इव) योनिसे बाहर आये बालकके समान (बन्धात् बन्धकं मुञ्चासि) बंधनसे बन्धनके कारणको अलग कर। (सर्वान् पथः अनु क्षिय) सब मार्गोंमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ— विशेष प्रगति कर, पुण्यस्थान प्राप्त कर, बंधनसे मुक्त हो, जैसे कि पूर्ण हुआ बालक माताके उदरसे छूटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें विराजता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये। इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे। कभी पापका विचारतक न करे। विचार शुद्ध होनेसे स्वप्न भी उत्तम आने लगेंगे और कभी बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे। सब बंधन पापसे मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं। पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इसीसे आगे अमृतका लाभ हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है।

इसलिये हे मनुष्य ! तू विशेष प्रयत्नसे उन्नतिलाभ कर, पुण्यवान बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत्में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके आनंदके साथ विराजमान हो जा।

पवित्र गृहस्थाश्रम।

[सूक्त १२२]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — विश्वकर्मा।)

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥
ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

अर्थ— हे (विश्वकर्मन्) हे समस्त जगत्के रचयिता ! तू (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्य नियमका पहिला प्रवर्तक है। इस बातको (विद्वान्) जानता हुआ मैं (एतं भागं परि ददामि) इस अपने भागको तेरे लिये पूर्णतासे देता हूं। (जरसः परस्तात् अस्माभिः दत्तं अच्छिन्नं तन्तुं) बुढापेके पश्चात् भी हमारे द्वारा दिया हुआ विच्छेदरहित जो यज्ञका सूत्र है, उससे हम (अनु संतरेम) निश्चयपूर्वक अनुकूलताके साथ पार हो जायगे ॥ १ ॥

(एके ततं तन्तुं अनु तरन्ति) कई लोग इस फैले हुए यज्ञसूत्रके अनुकूल रहकर पार हो जाते हैं। (येषां आयनेन पित्र्यं दत्तं) जिनके आनेसे पितृसंबंधी देय ऋणभाग दिया होता है। (एके अबन्धु ददतः) कई दूसरे बंधुगणोंसे रहित होकर भी (ददतः) दान देते हैं वे (प्रयच्छन्तः च इत् दातुं शिक्षान्) दान देते हुए यदि देनेके लिये समर्थ हुए, तो (सः स्वर्ग एव) वह स्वर्ग ही है ॥ २ ॥

भावार्थ— हे जगत्के रचयिता प्रभो ! तू ही सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक है, यह मैं जानता हूं, इसलिये मैं अपने भागको तेरे लिये समर्पित करता हूं। इस समर्पणसे जो अविच्छिन्न यज्ञ बनेगा, उसकी सहायतासे हम दुःखके पार हो जायगे ॥ १ ॥

इस यज्ञका आश्रय करके ही कई लोग पार हुए हैं। जिनका कुछ पैतृक ऋण चुकाना होता है, वे बंधनोंसे हीन होनेपर कठिन समय आनेपर भी उस ऋणको वापस करते हैं। ऐसे लोग जहां होते हैं, वहां स्वर्गधाम हो जाता है ॥ २ ॥

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥
यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥ ४ ॥
शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (**दम्पती**) स्त्रीपुरुषो! (**अनु आरभेथाम्**) अनुकूलताके साथ शुभ कार्यका प्रारंभ करो, (**अनुसंरभेथां**) अनुकूलताके साथ हलचल करो। (**एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते**) इस गृहस्थाश्रमरूपी लोकको श्रद्धा धारण करनेवाले प्राप्त होते हैं। (**यत् वां पक्वं**) जो तुम दोनोंका परिपक्व फल (**अग्नौ परिविष्टं**) अग्निद्वारा सिद्ध हुआ है, (**तस्य गुप्तये संश्रयेथां**) उसकी रक्षाके लिये परस्पर आश्रित हो ॥ ३ ॥

(**तपसा यन्तं बृहन्तं यज्ञं**) तपसे चलनेवाले बडे यज्ञके ऊपर (**सयोनिः मनसा अनु आरोहामि**) समान स्थानमें उत्पन्न हुआ मैं अनुकूलताके साथ मनसे चढता हूं, प्राप्त होता हूं। हे अग्ने! (**जरसः परस्तात् उपहूताः**) बुढापेके पहिले बुलाये हुए हम (**तृतीये नाके सधमादं मदेम**) तृतीय स्वर्ग धाममें साथ-साथ रहकर सुखको प्राप्त करें ॥ ४ ॥

(**इमाः यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः**) ये पूज्य शुद्ध और पवित्र स्त्रियां हैं, इनको (**ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि**) ज्ञानियोंके हाथोंमें पृथक्-पृथक् प्रदान करता हूं। (**अहं यत्कामः इदं वः अभिषिञ्चामि**) मैं जिस कामनासे इस रीतिसे तुमको अभिषिक्त करता हूं, (**सः मरुत्वान् इन्द्रः**) मरुतोंके साथ वह प्रभु (**मे तत् ददातु**) मुझे वह देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे स्त्रीपुरुषो! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें प्राप्त होनेपर शुभ कार्य करते रहो और उन्नतिके लिये हलचल करो। इस गृहस्थाश्रममें श्रद्धावान् लोग ही सुखपूर्वक रहते हैं। जो इसमें परिपक्व हुआ हो और जो पूर्ण हुआ हो, उसकी रक्षा करनेके लिये तुम दोनों प्रयत्न करो ॥ ३ ॥

जो यज्ञ तपसे होता है, उसीमें मन रख कर उसको पूर्ण करना योग्य है। इस प्रकार बुढापेतक कर्म करनेसे उच्च स्वर्गधाम प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ये पवित्र और शुद्ध कन्याएं हैं, इनको ज्ञानियोंके हाथमें पृथक्-पृथक् अर्पण करता हूं। जिस कामनासे मैं यह यज्ञ करता हूं वह मेरी कामना सफल हो जावे ॥ ५ ॥

पवित्र गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रमको अत्यंत पवित्र करके उससे आनंद प्राप्त करनेके विषयमें इस सूक्तमें बहुतसे अनमोल उपदेश दिये हैं। ये उपदेश हरएक गृहस्थाश्रमी पुरुषको मनन करने चाहिये। (१) संपूर्ण जगत्का निर्माता जो प्रभु है, वही सत्यनियमोंका पहिला प्रवर्तक है, ऐसा मानकर उसके लिये शुभ कर्म करना, उसके लिये यज्ञ करना और जो कुछ करना हो वह उसकी प्रीतिके लिये करना चाहिये। इस प्रकारके शुभ कर्मोंके करनेसे मनुष्य दुःखमुक्त होता है। (२) इस प्रकारके यज्ञसे ही मनुष्यका बेडा पार होता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। (३) जैसा अपना किया हुआ कर्जा अदा करना चाहिये, उसी प्रकार पितृपितामहोंका किया हुआ कर्जा भी उतारना चाहिये। जहां विशेष आपत्तिकी अवस्था प्राप्त होनेपर भी इस प्रकार ऋण वापस करते हैं और ठगते नहीं; वही देश स्वर्गधाम है। (४) गृहस्थाश्रममें स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वे सदा शुभकर्म करें, शुभ कर्मोंसे ही श्रेष्ठ लोक प्राप्त होते हैं। (५) जो परिपूर्ण हुआ है उसकी रक्षा कीजिये और उसको देखकर अन्यकी परिपक्वता संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। (६) सब यज्ञ

तपसे ही होते हैं। इस प्रकारके यज्ञ करनेका विचार मनसे सदा करना चाहिये। (७) यदि वृद्धावस्थातक इस प्रकारके शुभ कर्म किये तो उत्तम स्वर्गधामका आनन्द प्राप्त हो सकता है। (८) गृहस्थाश्रम करना हो तो पवित्र और शुद्ध स्त्रीके साथ करना चाहिये। (९) स्त्रीको भी ज्ञानी मनुष्यके हाथमें समर्पित करना चाहिये। इस प्रकार पवित्र स्त्री और ज्ञानी पुरुषसे जो गृहस्थाश्रम बनता है वह विशेष सुख देनेवाला होता है। (१०) ऐसी गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य ही अपनी कामना सिद्ध होनेका आनंद प्राप्त कर सकता है। प्रभु इसीको सिद्धि देता है।

इस सूक्तका इस प्रकार आशय है। जो पाठक इस सूक्तके मंत्रोंका अर्थ और भावार्थ विचारपूर्वक पढेंगे, वे यह आशय स्वयं जान सकते हैं। क्योंकि यह अतिस्पष्ट है।

मुक्ति।

[सूक्त १२३]

(ऋषिः — भृगुः। देवता — विश्वेदेवाः।)

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ १ ॥
जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥
देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सधस्थाः) साथ-साथ रहनेवालो! (वः एतं शेवधिं परि ददामि) तुमको यह खजाना मैं देता हूं, (यं जातवेदाः आवहात्) जिसको जातवेदाने तुमतक पहुंचाया है। जो (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यजमान कुशलताके साथ आवेगा (तं परमे व्योमन् जानीत) उसको परम स्वर्गमें स्थित जानो ॥ १ ॥

हे (सधस्थाः देवाः) साथ रहनेवाले देवो! (एनं परमे व्योमन् जानीत स्म) इसको परम स्वर्गधाममें स्थित जानो और (अत्र लोकं विद) इसीमें यह लोक है यह समझो। (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यज्ञकर्ता सुखसे पीछेसे आवेगा। (अस्मै इष्टापूर्तं आविः कृणुत स्म) इसके लिये इष्ट और पूर्ति प्रकटतासे प्राप्त हो ऐसा करो ॥ २ ॥

(देवाः पितरः) देव पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं अर्थात् (पितरः) पालक (देवाः) देवता हैं, पूजनीय हैं, और जो पूजनीय हैं, वे ही सच्चे पालक होते हैं। (यः अस्मि सः अस्मि) जो वास्तवमें मैं हूं, वही मेरी वास्तविक स्थिति है ॥ ३ ॥

भावार्थ— सर्वज्ञ देवने जो तुम्हारे स्थानतक पहुंचाया है, उस आत्मशक्तिके खजानेको मैं तुम्हें देता हूं। इसीके पीछे-पीछे जो यजमान आवेगा और वह परम स्वर्गधामको पहुंच जायगा ॥ १ ॥

सत्कर्म करनेवाला परम धाममें स्थित होता है, यह निश्चित बात है। यज्ञकर्ता उसी धाममें पहुंचता है, उसका इष्टापूर्तसे स्वागत करो ॥ २ ॥

स पंचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥
नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु । विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

अर्थ— (सः पचामि) वह मैं पकाता हूं, (सः ददामि) वह मैं देता हूं, (सः यजे) वह मैं यज्ञ करता हूं। (सः दत्तात् मा यूषं) वह मैं दानसे पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

हे राजन् (नाके प्रतितिष्ठ) स्वर्गधाममें प्रतिष्ठित हो, (तत्र एतत् प्रतितिष्ठतु) वहां यह हमारा यज्ञ प्रतिष्ठित होवे। हे राजन्! (नः पूर्तस्य विद्धि) हमारी पूर्तिका उपाय जान और हे देव! (सुमनाः भव) उत्तम मनवाला हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो पालन करते हैं वे देव हैं और जो दैवी भावसे युक्त हैं वे पालन करते ही हैं। मनुष्य अपनी योग्यता बाहर कितनी भी बतावे परन्तु जितनी अन्तरात्माकी अवस्था होगी उतनी ही उसकी वास्तविक योग्यता होगी ॥ ३ ॥

मैं यज्ञके लिये अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मैं यज्ञ करता हूं। मैं दान करनेसे कभी निवृत्त न होऊं ॥ ४ ॥

स्वर्गधाममें स्थिर हो जा। यह हमारा कर्म स्वर्गमें स्थिर रहे। अपनी पूर्णता करनेका उपाय जान और उत्तम मनसे युक्त हो ॥ ५ ॥

मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि शक्तिका खजाना अपनी आत्मामें है, बाहर नहीं है। अन्दरसे शक्ति प्राप्त होती है, बाहरसे नहीं। जो इस कल्पनाको मनमें धारण करते हैं, वे स्वर्गधाममें पहुंचते हैं। और जो समझते हैं कि शक्ति बाहरसे प्राप्त होती है, वे पीछे रह जाते हैं। जो सत्कर्म करते हैं, वे ही स्वर्गधामको प्राप्त होते हैं, अन्य लोग पीछे रह जाते हैं। सत्कर्मका अर्थ जनताका पालन करना, इसी कर्मसे देवत्व प्राप्त होता है और जिनमें देवत्व होता है, वे जनताका पालन करते ही हैं। मनुष्य अपनी शुद्धताके विषयमें ढोंग मचाकर दूसरोंको ठग सकता है, परंतु सत्कर्मकी कसौटीसे उसकी योग्यता वास्तविक जितनी होती है उतनी ही होती है, ढोंगसे उसकी योग्यता बढती नहीं। मनुष्य पकाना, देना, आदि जो कर्म करे वह यज्ञके लिये अर्थात् जनताकी भलाईके लिये ही करे और इस कर्मसे कभी पीछे न हटे। इसीसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और वहां सुख प्राप्त होता है।

वृष्टिसे विपत्तिका दूर होना।

[सूक्त १२४]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपः।)

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहतः दिवः अन्तरिक्षात्) बडे द्युलोकके अवकाशसे (अपां स्तोकः रसेन मां अभि अपप्तत्) जलके बूंदोंके रससे मेरे ऊपर वृष्टि हुई है। हे अग्ने! (अहं इन्द्रियेण पयसा) मैं इंद्रियके साथ, दूध आदि पुष्टिरसके साथ, (छन्दोभिः यज्ञैः सुकृतां कृतेन सं) छन्दोंसे यज्ञोंसे और पुण्य कर्म करनेवालोंके सुकृतसे युक्त होऊं ॥ १ ॥

भावार्थ— आकाशसे उत्तम पवित्र जलकी वृष्टि होती है, इस वृष्टिसे अन्न रस दूध आदि उत्पन्न होता है, इससे यज्ञ होता है और यज्ञसे सुकृत होता है। यह सुकृत प्राप्त करनेकी इच्छा हरएकको मनमें धारण करनी चाहिये ॥ १ ॥

यदि॑ वृ॒क्षाद॒भ्यप॑प्त॒त् फलं॒ तद् यद्य॒न्तरि॑क्षा॒त् स उ॑ वा॒युरे॒व ।
यत्रास्पृ॑क्ष॒त् त॒न्वो॒३॒॑ यच्च॒ वास॑स॒ आपो॑ नुदन्तु॒ निर्ऋ॑तिं परा॒चैः ॥ २ ॥
अ॒भ्य॒ञ्ज॑नं सुर॒भि सा स॒मृद्धि॒र्हिर॑ण्यं॒ वर्च॒स्तदु॑ पू॒त्रिम॑मे॒व ।
सर्वा॑ प॒वित्रा॒ वित॑ता॒ध्य॒स्मत् तन्मा ता॑री॒न्निर्ऋ॑ति॒र्मो अरा॑तिः ॥ ३ ॥

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (यदि वृक्षात् फलं अभि अपप्तत्) यदि वृक्षसे फल गिरे अथवा (यदि अन्तरिक्षात् तत्) यदि अन्तरिक्षसे यह जल गिरे, तो (स उ वायुः एव) वह वायु ही है अर्थात् वायुसे ही वह गिरता है। (यत्र तन्वः अस्पृक्षत्) जहां शरीरके भागसे वह जल स्पर्श करे अथवा (यत् वाससः) जहां कपडोंको स्पर्श करे, तो वह (आपः पराचैः निर्ऋतिं नुदन्तु) जल दूरसे ही अवनतिको दूर करे ॥ २ ॥

(अभ्यंजनं) तैलका मर्दन, (सुरभि) सुगंध, (हिरण्यं) सुवर्ण, (वर्चः) शरीरका तेज (सा समृद्धिः) यह सब समृद्धि है। (तत् उ पूत्रिमं एव) वह जल पवित्र करनेवाला है। (सर्वा पवित्रा वितता) सब पवित्र करनेवाले जगत्में फैले हैं। (अस्मत् अधि निर्ऋतिः मा तारीत्) हमपर दुर्गति मत आवे और (अरातिः मा उ) शत्रु भी हमला न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— वृक्षसे फल गिरनेके समान आकाशसे वायुमेंसे वृष्टिकी बूंदें हमारे पास आती हैं। उस जलसे हमारा शरीर और हमारे वस्त्र मलरहित होते हैं। इस वृष्टिसे बहुत धान्य उत्पन्न होने द्वारा हमारी विपत्ति दूर होवे ॥ २ ॥

शरीरको तैलका मर्दन करना, सुगंधिद्रव्यका उपयोग करना, सुवर्ण धारण करना, शरीर सुडौल और तेजस्वी होना यह सब समृद्धिके लक्षण हैं। जल समृद्धिका लक्षण होता हुआ पवित्रता करनेवाला है, उससे सब जगत्में पवित्रता फैली है। इस जलसे विपुल धान्यकी उत्पत्ति होनेसे हमारी विपत्ति दूर हो जावे और सब संपत्ति हमारे पास आ जावे। शत्रु भी हमें कष्ट न पहुंचावे ॥ ३ ॥

आकाशसे पवित्र अमृत जलकी उत्पत्ति होती है। उससे धान्य, फल, पुष्प आदि तथा वृक्ष वनस्पतियां भी उत्पन्न होती हैं। घास आदि उत्पन्न होकर उससे पशु पुष्ट और प्रसन्न होते हैं। अर्थात् इस प्रकार आकाशकी वृष्टि सब प्राणिमात्रोंकी विपत्तिको दूर करनेवाली है। वृष्टि न होनेसे सबपर विपत्ति आती है और वृष्टिसे वह दूर होती है यह जल शरीरको अंदरसे और बाहरसे निर्मल करता है, पवित्रता करना इसका स्वभाव धर्म है। वस्त्र आदिको भी यह पवित्र करता है। जब इस प्रकार उत्तम वृष्टिसे पशुपक्षी और मनुष्य आनंदयुक्त होते हैं, तब मनुष्य अभ्यंगस्नान करते, सुगंध शरीर पर लगाते, सुवर्णभूषणोंको धारण करते हैं और उनका शरीर भी यथायोग्य पुष्ट और सुडौल होता है। सर्वत्र पवित्रता होती है और सब विपत्तियां दूर होती हैं यह वृष्टिकी महिमा है, इसलिये मानो, वृष्टि यह परमात्माकी कृपासे ही होती है।

॥ यहां द्वादश अनुवाक समाप्त ॥

युद्धसाधन रथ।

[सूक्त १२५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभिः॒ संन॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) वृक्षसे बने रथ! (वीडु+अंगः हि भूयाः) तू सुदृढ अवयवोंसे युक्त हो। तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम वीरोंसे युक्त है। तू (गोभिः संनद्धः असि) गौके चर्मकी रस्सियोंसे खूब कसकर बंधा हुआ है। तू (वीडयस्व) हमें सुदृढ कर और (ते आस्थाता जेत्वानि जयतु) तुझपर चढनेवाला वीर विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

दिवस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्यः॒ पर्याभृ॑तं॒ सहः॑ ।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज ॥ २ ॥
इन्द्र॑स्यौ॒जो म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभिः॑ ।
स इ॒मां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑ रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥ ३ ॥

अर्थ— (दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्भृतं) द्युलोक और पृथ्वीलोकका बल इस रथरूपसे प्राप्त किया है और (वनस्पतिभ्यः सहः पर्याभृतं) वृक्षोंसे यह सामर्थ्य संग्रहित किया है । (अपां आत्मानं गोभिः परि आवृतं) जलोंसे बने आत्मारूप वृक्षसे उत्पन्न हुआ गौके चर्मसे बांधा (इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुदृढ रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे (देव रथ) दिव्य रथ ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका बल है, तू (मरुतां अनीकं) मरुतोंका सेनासमूह, (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नाभिः) वरुणकी नाभि है (सः त्वं) वह तू (नः इमां हव्यदातिं जुषाणः) हमारे इस अन्नदानका सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय अन्नका ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है । यह रथ हमारा सच्चा मित्र है, क्योंकि यह युद्धकी आपत्तिसे हमें पार करता है । यह रथ गोचर्मकी रस्सीसे दृढ बंधा है । इस सुदृढ रथसे हमारी विजय निःसन्देह होगी ॥ १ ॥

पृथ्वी और द्युलोकका बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है । जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है; इसलिये यह जलोंका आत्मा ही है, इसको गोचर्मकी रस्सियोंसे बांधकर दृढ बनाया है । अब यह इन्द्रके वज्रके समान दृढ है । इस रथमें अन्नादि पदार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभि है । अर्थात् देवोंका सत्वरूप रथ है । यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले वीर हमारे अन्नसे पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धमें बडा महत्वका साधन रथ है । वीर लोग इसपर चढकर युद्ध करते और विजय कमाते हैं । यह रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है और गौके चर्मकी रस्सीसे बांधकर सुदृढ बनाया जाता है । पृथ्वीपर यह रथ एक बडी भारी शक्ति है । मानो, इसमें देवोंका बल भरा है । इस लिये रथको अच्छी अवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये ।

दुंदुभि ।

[सूक्त १२६]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — दुन्दुभिः ।)

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥ १ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाडे ! तू (पृथिवीं उत द्यां उपश्वासय) पृथ्वीमें और द्युलोकमें भी जीवन उत्पन्न कर (पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विशेष रूपमें स्थित जगत् तेरे आश्रयसे रहे । (सः इन्द्रेण देवैः सजूः) वह तू इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला (दूरात् दवीयः) दूरसे दूर (शत्रून् अप सेध) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका शब्द होनेसे लोगोंमें एक प्रकारका नवचैतन्य उत्पन्न होता है । इस लिये वीरोंको युद्धमें चेतना देनेके लिये इस नगाडेका उपयोग करते हैं । इसमें दिव्य शक्ति है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही भगा देता है ॥ १ ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥
प्रामूं जयाभीऽमे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाडे ! (आक्रन्दय) शत्रुसेनाको रुला । (नः ओजः बलं आधाः) हमारे अंदर वीर्य और बल धारण कर । (दुरिता बाधमानः अभि स्तन) पापोंको बाधित करता हुआ गर्जना कर । (दुच्छुनां इतः अपसेध) दुःख देनेवाली शत्रुसेनाको यहांसे भगा दे । तू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्रकी मुष्टि है, तू (वीडयस्व) सुदृढ रह ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (अमुं प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजित कर (इमे अभि जयन्तु) ये वीर विजयी करें । (केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु) झंडेवाला नगाडा बहुत बडा नाद करे । (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे वीर घोडोंसे युक्त होकर हमला करें और (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथी वीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— दुन्दुभिका भयानक शब्द सुनकर शत्रुसेना घबडा जाती है और अपने सैन्यमें बल और वीर्य आता है । अपने सैन्यके दोष दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं । अर्थात् यह दुन्दुभि एक प्रकारका बल है, इसलिये यह दुन्दुभि हमें बल देवे ॥ २ ॥

यह दुन्दुभि शत्रुसेनाका पराजय करे, और हमारे सैन्यकी विजय होवे । अपने राष्ट्रीय झण्डेके साथ दुन्दुभि बडा शब्द करे । उस शब्दके साथ हमारे घुडसवार शत्रुपर चढाई करें । और हमारे रथी जयको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नगाडेका शब्द सेनामें बडा उत्साह बढाता है । इसलिये हरएक सेनाके साथ रणभेरी अर्थात् बडे नगाडे रहते हैं । यह एक विजय प्राप्तिका साधन है । इस दृष्टिसे यह दुन्दुभिका काव्य बडा मनोरंजक और बोधप्रद है ।

कफक्षयकी चिकित्सा ।

[सूक्त १२७]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता — वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं)

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते । विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ । वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) औषध ! (बलासस्य विद्रधस्य) कफक्षय, फोडे फुन्सी, (लोहितस्य विसल्पकस्य) रुधिर गिरना और विसर्प अर्थात् त्वचाके विकारका (पिशितं मा चन उच्छिषः) मांस बिलकुल शेष न रहे ॥ १ ॥

हे (बलास) कफरोग ! (ते यौ मुष्कौ कक्षे अपश्रितौ) तेरेसे बनी जो दो गिलटियां कांखमें उठी हैं । (तस्य भेषजं अहं वेद) उसकी औषध मैं जानता हूं । उसका (अभि चक्षणं चीपुद्रुः) उपाय चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

भावार्थ— खांसी, कफक्षय, फोडे, फुन्सी और त्वचापर बढनेवाला विसर्प रोग, खांसीके कारण रक्त गिरना, और मांसमें दोष उत्पन्न होना, यह सब इस चीपुद्रु नामक औषधिसे दूर होता है ॥ १ ॥

जिस रोगसे गिलटियां बढती हैं, उसकी भी यही चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः । वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ — (यः अंग्यः) जो अंगोंमें, (यः कर्ण्यः) जो कर्णमें, (यः अक्ष्योः) जो आंखोंमें, (यः विसल्पकः) जो विसर्प रोग है, (विसल्पकं विद्रधं हृदयामयं) उस विसर्प, फोडे और हृदयरोगको (विवृहामः) नाश करते हैं। (तं अज्ञातं यक्ष्मं) उस अज्ञात यक्ष्म रोगको (अधराञ्चं परा सुवामसि) नीचेकी गतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ — जो अंगोंमें, कानोंमें, आंखोंमें, हृदयमें, रक्तके अथवा मांसके रोग होते हैं, जो विसर्प रोग है और फोडे फुन्सीका रोग है, अथवा इस प्रकारका जो अज्ञात रोग है, उसको इस औषधि द्वारा हम निम्नगतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

' चीपुद्रु ' एक औषधि है। यह नाम वेदमें है अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलता। इस सूक्तमें इसका बहुत वर्णन है, परंतु यह वनस्पति इस समय अज्ञात ही है। इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है। इस औषधिकी खोज करनी चाहिये। इसका कोई दूसरा नाम आर्यवैद्यकग्रंथोंमें हो तो उसका भी पता लगाना चाहिये।

राजाका चुनाव।

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — सोमः, शकधूमः।)

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत । भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥
भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः । भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥
अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥
यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा । तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ — (यत् नक्षत्राणि शकधूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकधूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छत्) इसके लिये शुभ दिवस प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात्) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मध्यंदिने भद्राहं) हमारे लिये मध्यदिनमें शुभ समय हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका शुभ समय हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रातःकाल शुभ हो और (नः रात्री भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रिका समय शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकधूम) शकधूम ! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृधि) हमारे लिये शुभ दिवस कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकधूम) नक्षत्रोंके राजा शकधूम ! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रि और दिनका (भद्राहं अकरः) शुभ समय बना दिया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तेरे लिये सदा नमन है ॥ ४ ॥

भावार्थ — सब नक्षत्रोंने मिलकर, अपना एक संघटित राष्ट्र बन जाय इस हेतुसे, अपने लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥
इसके बननेसे प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रिके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥
राजा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र द्वारा मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥
जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका दिनरात हित करनेमें तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सम्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने।

प्रजा अपनी उन्नतिके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलावे, उसको सन्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपभोग लेवे। इस उपदेशको इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है। अलंकार इस प्रकार है।

'आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, उनका परस्पर कोई संबन्ध नहीं था। यह अनवस्था उन्होंने देखी और अपना एक बडा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है। इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुखका लाभ हुआ और उनकी सब आपत्तियां हट गईं।'

यह तो इसका उत्तानार्थ है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ श्लेषालंकारसे जाना जाता है और वह अर्थ सूक्तका गुह्य अर्थ है। इसमें जो 'न-क्षत्र' शब्द है वह शब्द क्षात्र धर्मसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा। ज्ञानी, व्यापारी और कारीगर यह प्रजा, इसमें क्षत्र वर्ग संमिलित नहीं। यह प्रजा—

इदं राष्ट्रं असात् इति। (मं० १)

अपना एक बडा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये —

नक्षत्राणि राजानं अकुर्वत॥ (मं० १)

'क्षत्रियोंसे भिन्न प्रजाओं अथवा क्षात्रगुणसे रहित प्रजाजनोंने अपना एक राजा बनाया।' पूर्वापर संबंधसे वह राजा क्षत्रियोंमेंसे चुना होगा। यह आशय 'शकधूम' शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है। स्वयं (शक) समर्थ होकर जो शत्रुओंको (धू) कंपायमान करता है उसका यह नाम है। सब प्रजाजनोंने देखा कि इस तेजस्वी पुरुषके राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे। और शत्रु परास्त होनेसे हमें सुखका लाभ होगा और हमारा राष्ट्र बडा तेजस्वी होगा।

इस प्रकार राजाका चुनाव करनेसे उनको 'भद्राहं' (भद्र+अहं) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब आनंदसे रहने लगे। कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बडे आनंदके साथ रहने लगी।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सन्मान करने लगे। इस प्रकार जो मनुष्य अपने राष्ट्रके लिये सुयोग्य राजाको चुनेंगे और उसका आदर करने लगेंगे, वे सब सुखी होंगे। इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होवे।

भाग्यकी प्राप्ति।

[सूक्त १२९]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — भगः।)

भगे॑न मा शांश॒पेन॑ सा॒कमिन्द्रे॑ण मे॒दिना॑। कृ॒णोमि॑ भ॒गिनं॒ माप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ १ ॥
येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा स॒ह। तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ २ ॥
यो अ॒न्धो यः पु॑न॒ःस॒रो भगो॑ वृ॒क्षेष्वाहि॑तः। तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ ३ ॥

अर्थ— (**शांशपेन भगेन मेदिना इन्द्रेण**) शंशप वृक्षकी शोभाके समान आनंद करनेवाले इन्द्रसे (**मा भगिनं कृणोमि**) मैं अपने आपको भाग्यशाली बनाता हूं। (**अरातयः अप द्रान्तु**) शत्रु दूर हों॥ १॥

(**येन वृक्षान् अभ्यभवः**) जिससे वृक्षोंका पराजय करता है, उस (**भगेन वर्चसा सह**) भाग्य और तेजके साथ (**मा भगिनं कृणु**) मुझे भाग्यवान् बना और (**अरातयः अप द्रान्तु**) शत्रु दूर भाग जांय॥ २॥

(**यः अन्धः**) जो अन्नमय और (**यः पुनः सरः**) जो बारंवार गतिवाला (**भगः वृक्षेषु आहितः**) भाग्यका अंश वृक्षोंमें रखा है (**तेन मा भगिनं कृणु**) उससे मुझे भाग्यवान् बना, (**अरातयः अप द्रान्तु**) शत्रु दूर भाग जांय॥ ३॥

भावार्थ— जिस प्रकार शंशपा वृक्ष सुंदर दीखता है, उस प्रकार ईश्वरकी कृपासे भाग्ययुक्त होकर मेरी सुंदरता बढे। साथ ही साथ मेरे शत्रु दूर भाग जावें॥ १॥

जिस प्रकार यह वृक्ष अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक सुंदर दीखता है, उस प्रकार भाग्य और तेज प्राप्त होकर मेरी शोभा बढे। मेरे शत्रु मुझसे दूर हो जांय॥ २॥

वृक्षोंमें जो अन्नका भाग और अन्य भाग होता है, उस प्रकार मुझमें पुष्टि और बल आवे। और मेरे शत्रु दूर हों॥ ३॥

अपने अंदर पुष्टि, बल, भाग्य, ऐश्वर्य और सौंदर्य बढें और अपने जो घातक शत्रु हैं वे दूर हो जांय। इस प्रकार इस सूक्तका आशय सरल है।

कामको वापस भेजो।

[सूक्त १३०]

(ऋषिः — अथर्वांगिराः। देवता — स्मरः।)

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (रथजितां राथजितेयीनां अप्सरसां) रथसे जीतनेवाली और रथसे जीतीगई अप्सराओंका (अयं स्मरः) यह काम है। हे देवो! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर करो, (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ १ ॥

(असौ मे स्मरतात् इति) यह मुझे स्मरण करे, (प्रियः मे स्मरतात् इति) मेरा प्रिय मुझे स्मरण करे। हे देवो! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ २ ॥

(यथा असौ मम स्मरात्) जिस प्रकार यह मेरा स्मरण करे (अमुष्य अहं कदाचन न) उसका मैं कदापि स्मरण न करूं, हे देवो! (स्मरं०) इस कामको दूर करो, वह मेरा शोक करे ॥ ३ ॥

हे मरुतो! (उन्मादयत) उन्मत्त करो। (अन्तरिक्ष! उन्मादय) हे अन्तरिक्ष! उन्मत्त करो। हे अग्ने! (त्वं उन्मादय) तू उन्माद कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ ४ ॥

कामको लौटा दो।

इसका आशय स्पष्ट है। किसीके विषयमें मनमें काम उत्पन्न हो जाय, तो उसको जिसके कारण वह काम उत्पन्न हुआ हो उसके पास वापस करना चाहिये। अपने मनमें उसको स्थान देना नहीं चाहिये। दूसरेके मनमें कितना भी काम विकार रहे परंतु उसको अपने मनमें स्थान देना नहीं चाहिये। जिस अवस्थामें दूसरे लोग-स्त्री या पुरुष-कामके कारण उन्मत्त, प्रमत्त और बेहोशसे होते हैं, वैसी अवस्था प्राप्त करनेपर भी कामका असर अपने मनपर नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार अपना मन काम विकारसे दूर रखना चाहिये।

[सूक्त १३१]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — स्मरः)

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्योऽ नि तिरामि ते। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्। ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आध्यः शीर्षतः पत्ततः) तेरी व्यथाएं सिरसे और पांवसे (नि नि नि तिरामि) बिल्कुल हटा देता हूं। हे (देवाः) देवो! (स्मरं प्रहिणुत) कामको दूर करो (असौ मां अनुशोचतु) वह काम मेरे कारण शोक करे ॥१॥

हे (अनुमते) अनुमति! (इदं अनुमन्यस्व) इसको तू अनुकूल मान। हे (आकूते) संकल्प! तू (इदं नमः सं) यह मेरा नमन स्वीकार कर। हे देवो! कामको दूर करो, और वह मेरे कारण शोक करे ॥ २ ॥

(यत् त्रियोजनं धावसि) जो तीन योजन दौडता है, अथवा (आश्विनं पञ्चयोजनं) घोडेपरसे पांच योजन आता है, (ततः त्वं पुनः आयासि) वहांसे तू पुनः आता है (नः पुत्राणां पिता असः) हम पुत्रोंका तू पिता है ॥ ३ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्तके समान ही कामविकारको दूर करनेकी सूचना देता है। कामविकारको दूर करना चाहिये। जिस किसीके विषयमें काम विकार उत्पन्न हुआ हो, वह चाहे शोक करता रहे, या तडफता रहे, परंतु स्वयं उस कामके वशमें नहीं होना चाहिये।

तृतीय मंत्रका कथन है कि चाहे कितना भी दूर-घरसे बहुत दूर-काम काजके लिये घरके मनुष्य क्यों न जायें, उनको अपने घर अवश्य ही वापस आना चाहिये और घरके बाल बच्चोंका पालन करना चाहिये। अर्थात् अपने घरमें आकर सोना चाहिये। बाहर दूसरेके घरमें सोना उचित नहीं। इस मंत्रका अर्थ प्रकरणानुकूल समझना चाहिये, अर्थात घरमें सोनेसे कामवशताकी संभावना कम होती है। इस विषयमें इतने संकेतसे ही पाठक जानसकते हैं कि, मंत्रका निर्देश क्या है। अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है।

[सूक्त १३२]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः। देवता — स्मरः।)

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥
यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवाः, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ) देव, सब देव, इन्द्रशक्ति, इन्द्र और अग्नि तथा मित्र और वरुण ये सब देव (यं शोशुचानं स्मरं) जिस शोक करानेवाले कामको (आध्या सह) व्यथाओंके साथ (अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जलके प्रतिनिधिभूत वीर्यमें सींचते हैं, (वरुणस्य धर्मणा) वरुण नामक जल देवके धर्मसे (ते तं तपामि) तेरे उस कामको तपाता हूं। अर्थात् उस तापसे वह तप्त होकर दूर होवे, और हमें कभी न सतावे ॥ १-५ ॥

सब देवोंने शरीरके अंदर जो रेत है उस रेतमें कामको रखा है। वहां रहता हुआ यह काम मनुष्योंको सताता है और विविध कष्ट देता है। यह काम जो उस रेतके स्थानमें रहता है उसके साथ (आध्या सह) अनेक आधियां अर्थात् मानसिक व्यथाएं रहती हैं। काम जहां होता है वहां मानसिक कष्ट बहुत होते हैं। इसका सिलसिला ऐसा है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ६३
(भ० गी० २)

' विषयोंके संगसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे भ्रम, भ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वस्वनाश होता है। '

इस प्रकार कामके साथ नाश लगा है। अतः उसको दूर करना चाहिये। जितना धर्मानुकूल काम हो उतना ही लेना चाहिये। धर्मविरुद्ध कामको छोड देना चाहिये। इसलिये कहा है कि कामके साथ अनेक विपत्तियां लगी हैं और विपत्तियोंसे मनुष्य (शोशुचान) शोकाकुल हो जाता है। यह काम सबको शोकसागरमें डालनेवाला है। (शुच् धातुके दो अर्थ हैं तेजस्वी होना और शोकयुक्त होना) ये दोनों इसके कर्म हैं। स्वयं तेजस्वी दीखता हुआ सबको शोकमें डाल देता है। इसलिये मनःसंयमसे उसको तपाना या सुखाना चाहिये, जिससे वह दूर होगा और कष्ट न दे सकेगा ॥

मेखलाबंधन ।

[सूक्त १३३]

(ऋषिः — अगस्त्यः । देवता — मेखला ।)

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥
आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥
मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥
श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

अर्थ— (**यः देवः इमां मेखलां आबबन्ध**) जिस आचार्य देवने इस मेखलाको मेरे शरीरपर बांधा है, (**यः संननाह**) जो हमें तैयार रखता है और (**यः उ नः युयोज**) जो हमें कार्यमें लगाता है। (**यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः**) जिस आचार्य देवके आशीर्वादसे हम व्यवहार करते हैं, (**सः पारं इच्छात्**) वह हमारे दुःखके पार होनेकी इच्छा करे और (**सः उ नः विमुञ्चात्**) वही हमें बंधनसे छुडावे ॥ १ ॥

हे मेखले ! (**आहुता अभिहुता असि**) तू सब प्रकारसे प्रशंसित है। तू (**ऋषीणां आयुधं असि**) ऋषियोंका आयुध है। तू (**व्रतस्य पूर्वा प्राश्नती**) किसी व्रतके पूर्व बांधी जाती है। तू (**वीरघ्नी भव**) शत्रुके वीरोंको मारनेवाली हो ॥ २ ॥

(**यत् अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि**) जिस कारण मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं, उस कारण मैं (**भूतात् पुरुषं यमाय निर्याचन्**) मनुष्य प्राणियोंसे एक पुरुषको मृत्युके लिये मांगता हूं और (**तं अहं**) उस पुरुषको मैं (**ब्रह्मणा तपसा श्रमेण**) ज्ञान, तप और परिश्रम करनेकी शक्तिके साथ (**एनं अनया मेखलया सिनामि**) इस पुरुषको इस मेखलासे बांधता हूं ॥ ३ ॥

यह मेखला (**श्रद्धाया दुहिता**) श्रद्धाकी दुहिता, (**तपसः अधिजाता**), तपसे उत्पन्न हुई, (**भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव**) भूतोंको बनानेवाले ऋषियोंकी भगिनी हुई है। हे मेखले ! (**सा**) वह तू (**नः मतिं मेधां आधेहि**) हमें उत्तम बुद्धि और धारणाशक्ति दे। (**अथो तपः इन्द्रियं च नः धेहि**) और तपशक्ति और उत्तम इंद्रियां हमें प्रदान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— गुरु शिष्यकी कमरमें मेखला बांधता है और उसको सत्कर्म करनेके लिये, मानो, तैयार करता है। ऐसे गुरुके आशीर्वादके साथ जो शिष्य व्यवहार करते हैं वे संपूर्ण दुःखोंसे पार होते हैं और अन्तमें मुक्ति भी प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

मेखलाकी सब प्रशंसा करते हैं, वह मेखला ऋषियोंका शस्त्र है। हरएक कार्य करनेके पूर्व कमर बांधकर तैयार होनेकी शिक्षा इससे मिलती है। इस प्रकार कटिबद्ध होकर कार्य करनेसे सब शत्रु दूर होते हैं ॥ २ ॥

मेखला बांधनेका अर्थ कटिबद्ध होना है। विशेष कार्यके लिये मेखला बंधन करनेसे मानो, वह मृत्युको स्वीकारनेके लिये ही सिद्ध होता है। सब ब्रह्मचारी मृत्युको स्वीकारनेके लिये ही तैयार होते हैं। इतना ही नहीं परंतु वे मनुष्योंमेंसे कई मनुष्योंको इस प्रकार मृत्यु स्वीकारनेके लिये तैयार करते हैं। ज्ञान, तप, परिश्रम और कटिबद्धता इन गुणोंसे वे युक्त होते हैं ॥ ३ ॥

❀

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे । सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

अर्थ— हे मेखले ! (यां त्वा पूर्वे भूतकृतः ऋषयः परिबेधिरे) जिस तुझको पूर्वकालके भूतोंको बनानेवाले ऋषि बांधते रहे (सा त्वं दीर्घायुत्वाय मां परिष्वजस्व) वह तू दीर्घायुके लिये मुझे आलिंगन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— मेखला श्रद्धासे बांधी जाती है। उससे तप करनेकी प्रवृत्ति होती है। श्रेष्ठ ऋषियोंसे यह कटिबंधनका प्रारंभ हुआ है। यह कटिबंधन सबको उत्तम बुद्धि, धारणा शक्ति, इंद्रियशक्ति और तप देवे ॥ ४ ॥

ऋषिलोग इस मेखलाको बांधते हैं, अतः यह मेखला हमें दीर्घायु देवे ॥ ५ ॥

कटिबद्धता ।

मेखलाबंधन ' कटिबद्धता ' का सूचक है। हरएक कार्यके लिये कटिबद्ध होना आवश्यक होता है, अन्यथा वह कार्य बन नहीं सकता। भाषामें भी कहते हैं कि कमर कसके वह मनुष्य इस कार्यको करने लगा है, अर्थात् कार्य ठीक होनेके लिये कमर कसनेकी आवश्यकता है। ऋषिलोग तथा ब्रह्मचारीगण मेखला बंधन करते थे इसका अर्थ यही है कि वे कमर कसके धर्म-कार्य करनेके लिये सदा तैयार रहते थे। इसी कारण वे यश प्राप्त करते थे।

साधारण कार्य करनेमें कोई विशेष डर नहीं होता है, परंतु कई ऐसे महान कार्य होते हैं कि उनके करनेसे प्राण जानेकी भी संभावना होती है। देशहित, राष्ट्रहित या जातिहित करने आदिके महान कार्योंमें कई मनुष्योंको अपने सर्वस्वकी आहुति देनी होती है, इस कार्यके लिये गुरु शिष्योंको तैयार करता है—

इमां मेखलां आबध्नन्, संननाह, नः युयोज । (मं० १)

' हमारे गुरुने यह मेखला हमपर बांधी, उसने हमें तैयार किया और हमें सत्कार्यमें लगाया ' यह गुरुका कार्य है और यही विद्या सीखनेका हेतु है। विद्या पढकर ब्रह्मचारीगण जनपदोद्धार करनेके कार्यके लिये सिद्ध हो जावें और अपने आपको उस कार्यमें तत्परताके साथ लगा देवें। पाठशालामें पढानेवाले गुरु भी ऐसे हों, कि जो अपने विद्यार्थियोंको इस ढंगसे तैयार करें और राष्ट्रीय विद्यापीठकी पढाई भी ऐसी होनी चाहिये कि, जिनमें पढे हुए विद्यार्थी जनहितके कार्य करनेके लिये सदा तैयार हों, सदा कटिबद्ध हों। जो शिष्य इस प्रकार अपने गुरुजीका आशीर्वाद लेकर कार्य करते हैं, उनका बेडा पार होजाता है—

यस्य प्राशिषा चरामः, स पारं इच्छात्, स नः विमुञ्चात् । (मं० १)

' जिस गुरुके आशीर्वादको प्राप्त करके हम कार्य करते हैं, वह हमें दुःखसे पार करता है और बंधनोंसे मुक्त भी करता है। ' ऐसे गुरु और ऐसे शिष्य जहां होंगे उस देशका सौभाग्य हमेशा ऊंची अवस्थामें रहेगा। इसमें संदेह नहीं है।

यह मेखला इस प्रकार कटिबद्धताकी सूचना देती है इसी-लिये लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। हरएक कार्यका प्रारंभ कर-नेके पूर्व इसी कारण मेखला बांधी जाती है और इसी कारण इससे शत्रुका बल कम होता है।

विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करनेके समय सर्वस्वनाशका भय होता है, मृत्युका भी भय होता है। यदि इस भयकी कल्पना न होगी तो वैसा समय आनेपर मनुष्य डर जायगा और पीछे हटेगा। ऐसा न हो इसलिये प्रारंभसे ही इस विद्यार्थीको यह शिक्षा दी जाती है कि—

अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि । । (मं० ३)

' मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं। ' ब्रह्मचारी समझता है कि मैंने मृत्युको ही आलिंगन दिया है। मृत्युको ही स्वी-कारा है। जब कोई मनुष्य आनंदसे मृत्युका अतिथि बनता है, तब और कौनसी अवस्था है कि जिसमें उसको डर लग जावे ? जिसने आनंदसे मृत्युको स्वीकारा उसका सब डर मिट गया, क्योंकि सबसे बडे भारी डरको उसने हजम किया है। ब्रह्मचारीको इस प्रकारकी शिक्षा मिलनी चाहिये। इस प्रकार-का निडर बना ब्रह्मचारी भी—

भूतात् यमाय पुरुषं निर्याचन् । (मं० ३)

' जनतासे मृत्युके लिये एक पुरुषकी याचना करता है। ' अर्थात् वह ब्रह्मचारी जैसा स्वयं निर्भय होकर कार्य करता है, उसी प्रकार अन्य मनुष्योंको भी निर्भय बनाता है, इस निर्भय बने हुए मनुष्य—

ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया । (मं० ३)

' ज्ञान, तप अर्थात् शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, परि-श्रम करनेका बल और मेखलाबंधन अर्थात् कटिबद्ध होनेका गुण ' इनसे युक्त होते हैं। और जो इनसे युक्त होते हैं वे सबसे श्रेष्ठ होते हैं।

मेखलाबंधनसे मति, धारणाबुद्धि, शीतोष्णसहन करनेका सामर्थ्य और सुदृढ इंद्रियकी प्राप्ति होती है। तथा दीर्घायु भी प्राप्त होता है। इस प्रकार मेखलाका महत्त्व है। पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें।

शत्रुका नाश।

[सूक्त १३४]

(ऋषिः — शुक्रः। देवता — मन्त्रोक्ता, वज्रः।)

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥
अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम् ॥२॥
यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि। जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥३॥

अर्थ— (अयं ऋतस्य वज्रः तर्पयतां) यह सत्यका शस्त्र तृप्ति करे, यह (अस्य राष्ट्रं अवहन्तु) इसके शत्रुभूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे। (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रका पराभव करता है, उस प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनोंको काटे और (उष्णिहा प्र शृणातु) धमनियोंको काट देवे ॥१॥

(उत्तरेभ्यः अधरः अधरः) उत्कृष्टोंसे नीचे और नीचे होकर (पृथिव्याः गूढः) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे। तथा (वज्रेण अवहतः शयाम्) वज्रसे मारा जाकर पड़ा रहे ॥२॥

हे वज्र! (यः जिनाति तं अन्विच्छ) जो हानि करता है उसको ढूंढ निकाल। (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुंचाता है उसीको मार डाल। (त्वं जिनतः सीमन्तं अन्वञ्चम् अनुपातय) तू दुःख देनेवालेके सिरको सीधा गिरा दे ॥३॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है। जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे होगा। यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥१॥

शत्रुका अधःपतन होवे, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें वज्रसे मारे जाकर भूमिपर गिर जावें ॥२॥

जो विनाकारण दूसरेका नाश करता है उसीका नाश करना योग्य है। उसी दुष्टका सिर काटा जावे ॥३॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग।

वज्र आदि शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जनताकी हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके कार्यमें ही किया जावे। सत्य पक्षकी सहायता करने और असत्यपक्षका विरोध करनेके कार्यमें इन शस्त्रोंका उपयोग किया जावे। असत्पक्षके लोग समयसमयपर प्रबल भी हुए तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं। उनका पक्ष ही ऐसा होता है कि, वह उनको उठने नहीं देता। जिसके कारण जनताकी हानि होती है, सब मिलकर उसका नाश करें।

[सूक्त १३५]

(ऋषिः — शुक्रः। देवता — मन्त्रोक्ता, वज्रः।)

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे। स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥

अर्थ— (यत् अश्नामि बलं कुर्वे) जो मैं खाऊं उससे मैं अपना बल बढावूं। (इत्थं वज्रं आददे) इस प्रकार मैं वज्र हाथमें लेता हूं और (अमुष्य स्कन्धान् शातयन्) उस शत्रुके कन्धोंको काटता हूं (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको काटता है ॥१॥

यत् पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः । प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥
यद् गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्र इ॑व संगि॒रः । प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत् पिबामि संपिबामि) जो मैं पीता हूं वह ठीक पी जाता हूं। (समुद्रः इव संपिबः) समुद्र जैसे तू पी (अमुष्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वयं अमुं सं पिबामः) हम उसको पी जाते हैं ॥२॥

(यत् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूं उसको ठीक गलेके नीचे उतार देता हूं (समुद्रः इव संगिरः) समुद्रके समान तू निगल। (अमुष्य प्राणान् संगीर्य) उसके प्राणोंको निगलकर (वयं अमुं संगिरामः) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मैं खाता हूं और गलेके नीचे उतारता हूं, उससे मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूं। जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टिजलोंको पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये हुए अन्नरसोंको अपनाता हूं और उनसे अपना बल बढाता हूं। और उस बलसे युक्त होकर हाथमें सत्य पक्षकी रक्षाके लिये शस्त्र लेता हूं और दुष्टोंका नाश करता हूं ॥ १-३ ॥

अपना बल बढाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके दमन करनेके कार्यमें करना चाहिये।

केशवर्धक औषधि।

[सूक्त १३६]

(ऋषिः — वीतहव्योऽथर्वा। देवता — वनस्पतिः।)

दे॒वी दे॒व्याम॑धि जा॒ता पृ॑थि॒व्याम॑स्योषधे । तां त्वा॑ नितत्नि॒ केशे॑भ्यो॒ दृंह॑णाय खनामसि ॥ १ ॥
दृंह॑ प्र॒त्नान् ज॒नया॑जा॒तान् जा॒तानु॒ वर्षी॑यसस्कृधि ॥ २ ॥
यस्ते॒ केशो॑ऽव॒पद्य॑ते॒ समू॑लो॒ यश्च॑ वृ॒श्चते॑ । इ॒दं तं वि॒श्वभे॑षज्या॒भि षि॑ञ्चामि वी॒रुधा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे ओषधे! तू (देवी देव्यां पृथिव्यां अधि जाता) दिव्य औषधी पृथिवी देवीमें उत्पन्न हुई है। हे (नितत्नि) नीचे फैलनेवाली औषधि! (तां त्वा केशेभ्यः दृंहणाय खनामसि) उस तुझ औषधिको केशोंको सुदृढ करनेके लिये खोदते हैं ॥ १ ॥

(प्रत्नान् दृंह) पुराने केशोंको दृढ कर, (अजातान् जनय) जहां नहीं उत्पन्न होते वहां उत्पन्न कर। (जातान् उ वर्षीयसः कृधि) और जो उत्पन्न हुए हैं उनको बडे लंबे बनाओ ॥ २ ॥

(यः ते केशः अवपद्यते) जो तेरा केश गिर जाता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो मूलके सहित टूट जाता है, (इदं तं विश्वभेषज्या वीरुधा अभिषिञ्चामि) इस केशको केशदोषको दूर करनेवाली लताके रससे भिगा देता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— नितत्नी नामक औषधी पृथ्वीपर उगती है उसके प्रयोगसे केश सुदृढ होते हैं। केश पुराने हों, जो टूटते हों, गिरजाते हों, इस औषधीके रसके लगानेसे वह सब दोष दूर होजाता है और बाल सुदृढ हो जाते हैं। जहां बाल उगते नहीं वहां इस औषधिका रस लगानेसे बाल आते हैं और जहां आते हैं वहांके बाल बडे लंबे हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

यह नितत्नी नामक औषधी केशवर्धक करके कही है, परंतु यह कौनसी औषधी है इसका पता नहीं चलता। वैद्योंको योग्य है कि वे इस औषधिकी खोज करें और प्रकाशित करें।

[सूक्त १३७]

(ऋषिः — वीतहव्योऽथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥
अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

अर्थ— (जमदग्निः यां केशवर्धनीं दुहित्रे अखनत्) जमदग्निने जिस केशवर्धक औषधिको अपनी कन्याके निमित्त खोदा (तां वीतहव्यः असितस्य गृहेभ्यः आभरत्) उसको वीतहव्य असितके घरोंके लिये भर लिया ॥ १ ॥

जो (अभीशुना मेया आसन्) केश अंगुलियोंसे मापे जाते थे वे (व्यामेन अनुमेयाः) हाथोंसे मापने योग्य होगये । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिर पर (असिताः केशाः) काले केश (नडाः इव वर्धन्तां) नरकट घासके समान बढें ॥ २ ॥

हे औषधे ! (मूलं दृंह) केशका मूल दृढ कर (अग्रं वि यच्छ) अग्र भागको ठीक कर और (मध्यं यामय) मध्यभागका नियमन कर । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिरके ऊपर (असिताः केशाः नडाः इव वर्धन्तां) काले केश नरकट घासके समान बढें ॥ ३ ॥

इस केशवर्धक औषधिके रसके उपयोगसे केश बहुत बढ जाते हैं । जलके स्थानमें जैसा घास बहुत बढता है उस प्रकार केश बढते हैं और केशोंके मूल भी सुदृढ हो जाते हैं, इस कारण वे टूटते नहीं । यह केशवर्धक औषधि वही है कि जो पूर्व सूक्तमें वर्णित है । यह औषधि अन्वेषणीय है । क्योंकि इसका पता नहीं चलता ।

क्लीब ।

[सूक्त १३८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे । इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥
क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि । अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥
क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे औषधे ! (त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा अभिश्रुता) तू औषधियोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ सर्वत्र प्रसिद्ध है । (अद्य इमं मे पूरुषं) आज इस मेरे पुरुषपशुको (क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब और ओसदश कर ॥ १ ॥

(क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब और ओसदश कर । (अथो कुरीरिणं कृधि) और सिरपर बाल रखनेवाला कर । (अथ इन्द्रः ग्रावभ्यां) और इन्द्र दो पत्थरोंसे (अस्य उभे आण्ड्यौ भिनत्तु) इसके दोनों अण्डकोश छिन्न-भिन्न करे ॥ २ ॥

हे क्लीब ! (त्वा क्लीबं अकरं) तुझे क्लीब बना दिया है । हे (वध्रे) निर्बल ! (त्वा वध्रिं अकरं) तुझे निर्बल बना दिया है । हे (अरस) रसहीन ! (त्वा अरसं अकरं) तुझे रसहीन बना दिया है । (अस्य शीर्षणि कुरीरं) इसके सिरपर बाल और इनमें (कुम्बं च अधिनिदध्मसि) आभूषण भी धर देते हैं ॥ ३ ॥

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्। ते ते भिनद्मि शम्यया॒मुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ४ ॥
यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना। एवा भिनद्मि ते शेपो॒मुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये ते देवकृते नाड्यौ) जो तेरी देवोंद्वारा बनाई नाडियां हैं, (ययोः वृष्ण्यं तिष्ठति) जिनमें वीर्य रहता है, (ते ते अधिमुष्कयोः अधि) वे तेरे दोनों अण्डोंके ऊपर (अमुष्या शम्यया भिनद्मि) इस दण्डेसे तोड देता हूं ॥ ४ ॥

(यथा स्त्रियः कशिपुने नडं अश्मना भिन्दन्ति) जिस प्रकार स्त्रियां चटाई बनानेके लिये नरकुलको पत्थरोंसे कूटते हैं। (एवा अमुष्य ते शेपः) इस प्रकार तेरा इंद्रिय (ते मुष्कयोः अधि भिनद्मि) तेरे अण्डकोशोंके ऊपर कूटता हूं ॥ ५ ॥

बैल घोडा आदि पुरुष पशुओंको पुरुषत्वसे हीन बनानेके लिये वीर्यकी नाडियां तोडना, अंडोंको कूटना, बधिया करना या अखता करने आदिकी विधि इसमें लिखी है। किसी औषधिका प्रयोग भी कहा है, परंतु उस औषधिके नामका पता नहीं लगता है। वीर्यनाडियां काटना, अण्डकोशोंको तोडना, इत्यादि बातें आज भी प्रसिद्ध हैं।

सौभाग्यवर्धन।

[सूक्त १३९]

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वनस्पतिः।)

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम। शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥
शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्। अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥
संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद। अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (मम सुभगंकरणी न्यस्तिका रुरोहिथ) मेरा सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली यह औषधी उत्पन्न हुई है। (तव शतं प्रतानाः) तेरी सौ प्रकारकी शाखाएं हैं और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) तेंतीस उपशाखाएं हैं। (तया सहस्रपर्ण्या) उस सहस्रपर्णी औषधिसे (ते हृदयं शोषयामि) तेरा हृदय शुष्क करता हूं ॥ १ ॥

(ते हृदयं मयि शुष्यतु) तेरा हृदय मेरे विषयमें विचारके सूख जावे। (अथो आस्यं शुष्यतु) और मुख सूख जावे। (अथो मां कामेन नि शुष्य) और मुझे कामसे शुष्क करके (अथो शुष्कास्या चर) शुष्क मुखवाली होकर चल ॥ २ ॥

हे (बभ्रु कल्याणि), पोषण करनेवाली अथवा पीले रंगवाली और कल्याण करनेवाली ! तू (संवननी समुष्पला) सेवन करने योग्य और उत्साह बढानेवाली है। तू (अमूं संनुद) उसको प्रेरित कर, (मां च संनुद) मुझे प्रेरित कर। हमारा (हृदयं समानं कृधि) हृदय समान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— सहस्रपर्णी औषधि सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली है। इसकी सैकडों शाखाएं होती हैं। इससे स्त्रीपुरुष वीर्यवान् होते हैं और परस्परके वियोगको सह नहीं सकते अर्थात् वियोग होनेपर सूख जाते हैं ॥ १-२ ॥

यह वनस्पति पुष्टि करनेवाली और सब प्रकार आनंद देनेवाली है, उत्साह भी बढाती है, इसलिये गृहस्थी स्त्रीपुरुषोंको सेवन करने योग्य है। स्त्रीपुरुषोंको परस्पर इच्छाकी प्रेरणा इसके सेवनसे होती है और दोनोंका हृदय समानतया परस्परके प्रति आकर्षित होता है ॥ ३ ॥

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम् । एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥
यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः । एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

अर्थ— (यथा उदकं अपपुषः) जिस प्रकार जल न पीनेवालेका (आस्यं अप शुष्यति) मुख सूख जाता है। (एवा मां कामेन नि शुष्य) इस प्रकार मेरे विषयक कामसे शुष्क होकर (अथो शुष्कास्या चर) सूखे मुखवाली होकर चल ॥ ४ ॥

(यथा नकुलः अहिं विच्छिद्य) जैसे नेवला सांपको काटकर (पुनः संदधाति) फिर जोडता है। (एवा वीर्यावति) इस प्रकार हे वीर्यावती ओषधि ! (कामस्य विच्छिन्नं) कामके टूटे हुए संबंधको (सं धेहि) जोड दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार जल न मिलनेसे मनुष्य सूख जाता है, इस प्रकार कामसे स्त्रीपुरुष परस्पर प्राप्तिकी इच्छासे सूखते हैं ॥ ४ ॥

जिस प्रकार नेवला सांपको काटता है और पुनः जोडता है, उसी प्रकार वियुक्त स्त्रीपुरुषोंको पुनः जोड देना योग्य है ॥ ५ ॥

सहस्रपर्णी ओषधि ।

इस सूक्तमें सहस्रपर्णी ओषधीका वर्णन है। यह ओषधी स्त्रीपुरुषोंको परस्पर संबंध करनेके योग्य पुष्ट और वीर्यवान बना देती है। इसके सेवन करनेपर स्त्रीपुरुषोंको परस्परका वियोग सहन करना असंभव है। निर्वीर्य पुरुष भी बडा उत्साहसंपन्न होता है। इस प्रकारकी यह सहस्रपर्णी ओषधी कौनसी वनस्पति है, इसका पता आजकलके वैद्यकग्रंथोंसे नहीं चलता। वैद्योंको इस विषयकी खोज करनी चाहिये।

नेवलेका सांपको काटना और जोडना ।

इस सूक्तके पंचम मंत्रमें ' नेवला सांपको काटता है और उसको फिर जोड देता है ' (नकुलः अहिं विच्छिद्य पुनः संदधाति) ऐसा कहा है। यह विश्वास प्रायः सर्वत्र भारतवर्षमें है अथर्ववेदमें भी यहां यही बात कही है। अतः इस विषयकी खोज करनी चाहिये। यदि इस प्रकारकी कोई वनस्पति मिली तो बडी लाभकारी हो सकती है।

दांतोंकी पीडा ।

[सूक्त १४०]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥
व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

अर्थ— (यौ व्याघ्रौ अवरूढौ) जो बाघके समान बढे हुए दो दांत (मातरं पितरं च जिघत्सतः) माता और पिताको दुःख देते हैं, हे ब्रह्मणस्पते ! हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (तौ दन्तौ शिवौ कृणु) वे दोनों दांत कल्याण करनेवाले कर ॥ १ ॥

(व्रीहिं अत्तं यवं अत्तं) चावल खाओ, जौ खाओ, (अथो माषं अथो तिलं) उडद और तिल खाओ। (एष वां भागः रत्नधेयाय निहितः) यह तुम्हारा भाग रत्नधारणके लिये निश्चित हुआ है। हे दांतो ! (पितरं मातरं च मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ २ ॥

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ ३ ॥

(सयुजौ स्योनौ सुमंगलौ दन्तौ उपहूतौ) साथ साथ जुडे हुए सुखदायी मंगलकारी दोनों दांत प्रशंसनीय हैं। (वां तन्वः घोरं अन्यत्र परैतु) तुम्हारे शरीरका कठोर दुःख दूर होवे। हे (दन्तौ) दांतो! (पितरं मातरं मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ ३ ॥

बालकोंको जिस समय दांत आते हैं, उस समय उनको बडे कष्ट होते हैं, उनमें भी दो दांत ऐसे हैं कि जिनके कारण बालकोंको बडा ही कष्ट होता है। बालकोंको कष्ट देख कर उनके मातापिता भी बडे दुःखी होते हैं।

इस समय बालकको चावल, जौ, उडद और तिल खाने देना चाहिये। जिस रीतिसे पचन हो जाय उस रीतिसे अच्छी प्रकार अन्न खाने देना चाहिये। इसके खानेसे दांत सुदृढ होते हैं और रत्नोंके समान सुन्दर होते हैं।

वैद्योंको सोचना चाहिये कि, यह पथ्य बालकोंसे किस प्रकार कराना चाहिये। हरएक बालकको दांतोंका कष्ट होता है, यदि यह पथ्य हितकारक सिद्ध हुआ, तो हरएक गृहस्थीका घर इससे लाभ उठा सकता है।

गौवोंपर चिह्न।

[सूक्त १४१]

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता — अश्विनौ)

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥
लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥
यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत । एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

अर्थ — (वायुः एनाः समाकरत्) वायु इन गौओंको इकट्ठा करे, (त्वष्टा पोषाय ध्रियतां) त्वष्टा पुष्टी करे, (इन्द्रः आभ्यः अधिब्रवत्) इन्द्र इनको पुकारे और (रुद्रः भूम्ने चिकित्सतु) रुद्र वृद्धिके लिये चिकित्सा करे ॥ १ ॥

(लोहेन स्वधितिना) लोहेकी शलाकासे (कर्णयोः मिथुनं कृधि) कानोंके ऊपर जोडीका चिन्ह कर। (अश्विनौ लक्ष्म अकर्तां) अश्विदेव चिन्ह करें, (तत् प्रजया बहु अस्तु) वह सन्ततिके साथ बहुत हितकारी हो ॥ २ ॥

(यथा देवासुराः चक्रुः) जिस प्रकार देवों और असुरोंने चिन्ह किये, (उत यथा मनुष्याः) और जैसे मनुष्य भी करते हैं, हे अश्विनौ! (एवा सहस्रपोषाय लक्ष्म कृणुतं) इस प्रकार हजार प्रकारकी पुष्टीके लिये चिन्ह करो ॥ ३ ॥

गौवोंको इकट्ठा किया जावे, उनको यथोचित जल, घास आदि देकर पुष्ट किया जावे और उनको रोगरहित रखा जावे। लोहेके शस्त्रसे गौओंके कानोंपर चिन्ह करना योग्य है। इससे पहचाननेमें सुभीता होता है। यह चिन्ह कानपर सब देशोंमें किया जाता है और इससे बहुत लाभ होते हैं। वेदमें अन्यत्र भी गौओंके कानोंपर चिन्ह करनेका उल्लेख आता है।

(अथर्व० १२।४।६ देखो)

अन्नकी वृद्धि।

[सूक्त १४२]

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — वायुः)

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव। मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥
आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि। तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥
अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः। पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

॥ इति षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ— हे यव ! (स्वेन महसा उच्छ्रयस्व) अपनी महिमासे ऊपर उठ और (बहुः भव) बहुत हो, (विश्वा पात्राणि मृणीहि) सब बर्तनोंको भर दे। (दिव्या अशनिः त्वा मा वधीत्) आकाशकी बिजली तेरा नाश न करे ॥ १ ॥

(आशृण्वन्तं देवं त्वा यवं) हमारी बात सुननेवाले देवरूपी तुझ यवको (यत्र अच्छावदामसि) जहां हम उत्तम प्रशंसाकी बात कहते हैं, वहां (द्यौः इव तत् उच्छ्रयस्व) आकाशके समान ऊंचा हो और (समुद्रः इव अक्षितः एधि) समुद्रके समान अक्षय हो ॥ २ ॥

(ते उपसदः अक्षिताः) तेरे पास बैठनेवाले अक्षय हों, (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरी राशियां अक्षय हों, (पृणन्तः अक्षिताः सन्तु) तृप्त करनेवाले अक्षय हों और (अत्तारः अक्षिताः सन्तु) खानेवाले भी अक्षय हों ॥ ३ ॥

अन्न आदि खाद्य पदार्थोंकी बहुत उत्पत्ति होवे। घरके धान्य भरनेके पात्र भरे हुए हों। और लोग उसको खाकर तृप्त हों, खानेवाले और खिलानेवाले भी उन्नत हों। प्रति वर्ष धान्य विपुल पैदा हो और सब लोग सुखी हों।

॥ यहां त्रयोदश अनुवाक समाप्त ॥

॥ अथर्ववेद षष्ठ काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदके षष्ठ काण्डका थोडासा मनन

इस षष्ठ काण्डमें १४२ सूक्त हैं और उनमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है। एक एक विषयका विचार करनेके समय निम्नलिखित प्रकरणोंके अनुसार सूक्तोंको विचार करेंगे तो पाठकोंको अधिक लाभ हो सकता है—

ईश्वर।

ईश्वर संबंधी विचार करनेवाले निम्नलिखित सूक्त इस काण्डमें है— '१ अमृत प्रदाता ईश्वर, ३४ तेजस्वी ईश्वर, ३५ विश्वका संचालक देव, ३६ जगत्‌का एक सम्राट्, ' ये चार सूक्त परमेश्वरका वर्णन करते हैं ' ३१ ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य, ६१ परमेश्वरकी महिमा,' ये दो सूक्त परमेश्वरका अपार वल बता रहे हैं। यह परमेश्वर अपने हृदयमें है यह बात '७६ हृदयमें अग्निकी ज्योति।' इस सूक्तद्वारा प्रगट हो रही हैं और इसकी पूजा करनेका मार्ग '८० आत्मसमर्पण से ईश्वरकी पूजा,' इस सूक्तद्वारा बताया है। यदि पाठक ये आठ सूक्त इकट्ठे पढेंगे, तो यह विषय उनके ध्यानमें ठीक प्रकार आ सकता है।

आत्मोन्नति।

आत्मोन्नतिके विषयमें निम्नलिखित सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं—

पापसे बचाव करनेके विषयमें '११३ ज्ञानसे पापको दूर करना, ११५ पापसे बचना ' ये दो सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं। पापसे बचकर अपनी पवित्रता करनी चाहिये। इसलिये इस विषयके सूक्त '६२ अपनी पवित्रता, २६ पापी विचारका त्याग करो, ४३ क्रोधका शमन, १९ आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना, ५१ अन्तर्बाह्यशुद्धता, १८ ईर्ष्या निवारण ' ये हैं।

संपूर्ण उन्नतिके लिये '१५ मैं उत्तम बनूंगा, ८६ सबसे श्रेष्ठ बनना ' यह इच्छा चाहिये। इसीसे सब उन्नति होगी। यह इच्छा न रही तो उन्नतिकी संभावना नहीं है। इसी प्रकार अपने अंदर शक्ति है और '४१ अपनी शक्तिका विस्तार' करना चाहिये यह प्रबल इच्छा अवश्य चाहिये। अन्यथा उन्नति होना कठिन होगा। '५८ यशकी इच्छा, ६९ यशकी प्रार्थना, ३९ यशस्वी होना, ३८ तेजस्विताकी प्राप्ति, ४८;९९ कल्याणके लिये प्रार्थना' ये सूक्त मनुष्यको यशकी अभिलाषासे ऊपर उठाना चाहते हैं। जो यश कमाना चाहता है वह '५५ उत्तम मार्गसे जाने' को तैयार होता है और श्रेष्ठमार्गपरसे जानेके लिये '४० निर्भय बननेकी प्रार्थना' करता है। क्योंकि निर्भय बननेके बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता और श्रेष्ठ बननेके बिना यशस्वी भी नहीं हो सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी उन्नतिके '१०८ मेधाबुद्धि' की प्राप्तिके लिये यत्न करे और अपने अन्दर उसकी वृद्धि करे।

मुक्ति।

मनुष्यकी अन्तिम श्रेष्ठतम अवस्था मुक्ति है। यह दर्शानेके लिये इस काण्डमें निम्नलिखित सूक्त हैं— '६३ बंधनसे मुक्त होना, १२१ बंधनसे छूटना, ११२ पाशोंसे छूटना, १२३ मुक्ति ' ये सूक्त देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि बंधनकी निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है. इस विषयका अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त '१२२ मुक्तिका अधिकारी' है. इन सब सूक्तोंमें कहा है कि जनताके उद्धारके कार्यमें आत्मसमर्पण करनेके बिना मुक्ति मिल नहीं सकती। देवोंके संबंधी पाप मनुष्य करता है और राक्षसोंसे मित्रता करता है, इसलिये बद्ध होता है, इत्यादि भाव इन सूक्तोंमें विशेष रीतिसे देखने योग्य है।

अपनी रक्षा।

बालकसे लेकर वृद्धतक सब मनुष्य चाहते हैं कि अपनी रक्षा हो, मैं सुरक्षित रहूं। इस लिये वेदमें भी अपनी रक्षा करनेका विषय विशेष रीतिसे कहा है। इस विषयके सूक्त ये हैं— '५३; ७२; ९३; १०७ अपनी रक्षा, ३; ४; ४७ रक्षाकी प्रार्थना, ७७ सबकी स्थिरता ' इत्यादि सूक्त इस विषयमें बडे उपयोगी हैं। अपनी रक्षा होनेका अर्थ यह है कि, अपना '८३ दुर्गतिसे बचाव' करना इस कार्यके लिये अपने अन्दर '१०१ बल प्राप्त करना' चाहिये। बलके बिना कोई मनुष्य दुर्गतिसे अपना बचाव नहीं कर सकता। हरएकको कटिबद्ध होकर अपने बचावका और अपनी उन्नतिका कार्य करना चाहिये। इसीलिये '१३३ मेखला-

बंधन ' करते हैं । यह सूक्त अनेक दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है ।

चिकित्सा ।

इस काण्डमें चिकित्सा विषयके सूक्त करीब २६ हैं । चिकित्सा विषय अथर्ववेदका प्रधान विषय है । इस काण्डमें 'क्षयरोगचिकित्सा ' के १३; २०; ८५; १२७, ये चार सूक्त हैं । इसी रोगके साथ 'खांसी ' का संबंध है इसलिये '१०५ खांसी को दूर करने ' का उपाय बतानेवाला सूक्त भी इन सूक्तोंके साथ ही पढना योग्य है ।

' जलचिकित्सा ' के सूक्त २३; २४; ५७, ९१ ये चार सूक्त हैं और ' सौरचिकित्सा ' का ५२ यह एक सूक्त है । रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेका हवन सूक्त ३२ में कहा है । ' सर्पविषनिवारण ' विषयपर सूक्त १२; ५६; ये दो सूक्त हैं और ' विषनिवारण ' पर १०० वां एक सूक्त विशेष महत्त्वका है और यह खोज करने योग्य है ।

१६ वें सूक्तमें ' औषधिरसपान ' का महत्त्वपूर्ण विषय है । ' केशवर्धन ' के विषयपर सूक्त २१; १३६; १३७ ये तीन सूक्त हैं । यह केशवर्धनका विषय सौंदर्यवर्धनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है ।

सूक्त ३० में ' शमी औषधि '; ४४ में ' रक्तस्रावकी औषधि '; ५९ में ' अरुंधति औषधि ; ९४ में ' कुष्ठ औषधि '; १०९ में पिप्पली औषधि ' का वर्णन बडा उपयोगी है । आयुर्वेदका वेदमें मूल देखना हो, तो ये सूक्त देखने योग्य हैं ।

८३ सूक्तमें ' गण्डमालाका निवारण '; ९३ में रोगोंसे बचना, ' ये वर्णन विशेष अन्वेषण करने योग्य विषय है । वीरोंके शरीरसे बाण निकालकर उनकी चिकित्सा करनेका विषय ९० वें सूक्तमें देखने योग्य है । ' दांतोंकी पीडा ' निवारणका उपाय १४० वें सूक्तमें भी देखने योग्य है ।

घोडा बैल आदियोंको क्लीब बनानेका विषय १३८ वें सूक्त में है । यह सूक्त कई कारणोंसे विशेष खोज करने योग्य है ।

चिकित्सा द्वारा रोगनिवृत्ति करके मृत्युको ही दूर किया जाता है । इन मृत्युके विषयके सूक्त १३; ४५, ४६ ये हैं । सब दुःखोंका कारण ' पाप ' है, यह बात सूक्त ३७ में कही है और इन कष्टोंको दूर करनेका विषय सू० २५ में है ।

कुटुंबका सुख ।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आधार है, यह आश्रम ब्रह्मचर्यव्रतकी समाप्ति होनेपर प्रारंभ होता है । वरके लिये वधूकी खोज करने और ' कन्याके लिये वर ' की खोज करनेका विषय ८२ वें सूक्तमें कहा है । यह ' गृहस्थाश्रम अत्यंत पवित्र ' है यह बात सू० १२२ में दर्शायी है । ' विवाह ' विषयका ६० वें सूक्तमें वर्णन किया है । दम्पति अर्थात स्त्रीपुरुष ' परस्पर प्रेमसे रहें ' यह उपदेश सू० ८; ९ इन दो सूक्तोंमें विशेष बलसे कहा है ।

तरुण पुरुषको तरुण स्त्री की प्राप्ति होते ही वे अपने माता पिताको भूल न जाय इसलिये सूक्त १२० में ' मातापिताकी सेवा करो ' यह आदेश दिया है । ऋण करके तेहवार बनानेसे गृहस्थाश्रम दुःखका सागर बनता है; इस लिये ' ऋणरहित होने ' का उपदेश सूक्त ११७-११९ इन तीन सूक्तोंमें बडी उत्तम युक्तियोंके साथ किया है । इसके पश्चात् क्रमप्राप्त विषय ' ७२ वाजीकरण, १७ गर्भधारण, ११ पुंसवन, ७८ स्त्रीपुरुषकी वृद्धि, ११० नवजात बालक ' ये हैं । इस क्रमसे इन सूक्तोंका अभ्यास पाठक करेंगे, तो इन सूक्तोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इतना होते हुए भी कामविषयक संयम रखनेका उपदेश सू० १३२ में विशेष सावधानीकी सूचना देनेवाला है । गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी काम विषयक संयम आवश्यक है । गृहस्थीका घर कैसा होना चाहिये, इस विषयका वर्णन सू० १०६ में पाठक अवश्य देखें । यह सूक्त हरएक गृहस्थीको मार्गदर्शक होगा । अपनी परिस्थितिमें अपने घरकी शोभा जहांतक बढाई जा सकती है, वहां तक बढाना चाहिये, यह उपदेश वेद इस सूक्त द्वारा देरहा है ।

गृहस्थियोंको ' ७० गोसुधार; १४१ गौवोंकी पहचानके लिये चिन्ह करना, ९२ अश्वपालन करना, २७-२९ कबूतरकी पालना ' करना इत्यादि विषयोंका विचार करना योग्य है ।

राज्यव्यवस्था ।

राज्यव्यवस्था विषयके सूक्त भी इस काण्डमें अनेक हैं । सू० १२८ में प्रजा अपने राष्ट्रके लिये स्वसंमतिसे ' राजाका चुनाव ' करे ऐसा कहा है । इससे राजा प्रजाका हित करनेपर ही राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है । तथापि ' राजाकी स्थिरता ' का विषय सू० ८७ और ८८ इन दो सूक्तोंमें विशेष रीतिसे कहा है । राजाको

उचित है कि वह ऐसा राज्यशासन चलावे कि, उसका '**विजय होवे**' यह विषय सूक्त २ और ९८ में पाठक अवश्य देखें।

राजाको उचित है कि अपने शासनद्वारा वह अपने '**राष्ट्रकी ऐश्वर्यवृद्धि**' (सू० ५४) करे, युद्धसाधन रथ और दुन्दुभि आदि (सू० १२५; १२६) तैयार रखे। शत्रुके आते ही उसका पराजय करनेकी तैयारी रखे यह इस सब उपदेशका तात्पर्य है।

शत्रुनाश।

शत्रुका नाश करनेका विषय जैसा राष्ट्रीय है वैसा ही वैयक्तिक भी है। इस विषयके सूक्त ६; ६५-६७; ७५; १०३; १०४; १३४-१३५ ये हैं। इनके बडे मननपूर्वक देखनेसे वैयक्तिक शत्रु दूर करनेका और सामाजिक तथा राष्ट्रीय शत्रुको दूर करनेका ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा। इस दृष्टिसे ये सूक्त बडे मननीय हैं।

संगठन।

इस काण्डमें संगठनका महत्त्व विशेष रीतिसे वर्णित हुआ है। सू० ६४ और ९४ में विशेषकर '**संगठन**' का उपदेश किया गया है। '**परस्पर मित्रता**' का उपदेश ४२; ८९; १०२ इन सूक्तोंमें किया गया है। सब लोग '**एक विचारसे रहें**' यह उपदेश सू० ७३-७४ में विशेष मनन करने योग्य है। और सूक्त ७ में '**अद्रोहका मार्ग**' कहा है वह सबको ध्यानमें धरना योग्य है। क्योंकि अद्रोह वृत्तिसे बर्ताव करनेके बिना संगठन होना असंभव है। इसलिये यह अद्रोह सूक्त पाठक विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे पढें।

यज्ञ

'**यज्ञसे उन्नति**' का विषय सू० ५ और '**यज्ञका सत्य फल**' मिलता है यह उपदेश ११४ वें सूक्तमें मनन करनेयोग्य है। यज्ञसे योग्य समयपर वृष्टि होती है और '**१२४ वृष्टिसे विपत्ति दूर होती हैं**' २१; ४९, **मेघोंका संचार होकर वृष्टि होती है**। ७१, ११६; १४१ **अन्न विपुल प्रमाण**' में प्राप्त होता है और सब लोगोंका कल्याण होता है।

इस प्रकार इस काण्डमें विशेष महत्त्वके विषय हैं तथापि कई सूक्त संदिग्ध, क्लिष्ट और समझमें न आनेवाले हैं। इसलिये बहुतसे सूक्त खोजके ही विषय हैं। आशा है कि सब पाठक विशेष प्रयत्न करेंगे तो यह काण्ड भी विशेष प्रयत्नके पश्चात् सुबोध बनेगा और लाभदायी सिद्ध होगा।

'संपादक'

अथर्ववेदके षष्ठ काण्ड की

विषय-सूची ।